पुरुषसूक्त

द्वितीय खण्ड



पुरुषसूक्त

द्वितीय खण्ड

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-४५



पुरुषसूक्त

द्वितीय खण्ड

प्रवचनात्मक व्याख्या



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज



श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी-४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

प्रथम संस्करण
विक्रमाब्द : २०५६
भगवत्पादाब्द : १२१४
ख्रीष्टाब्द : २००२

मूल्य : 125/- रुपये मात्र
एक सौ पच्चीस रुपये मात्र

श्री माधव प्रसाद भूत
(फर्म-बिहारी बन्धु)
184-5 कटरा नवाब
चाँदनी चौक, दिल्ली-6
द्वारा धन-साहाय्यित
मूल्य : दस रुपये मात्र

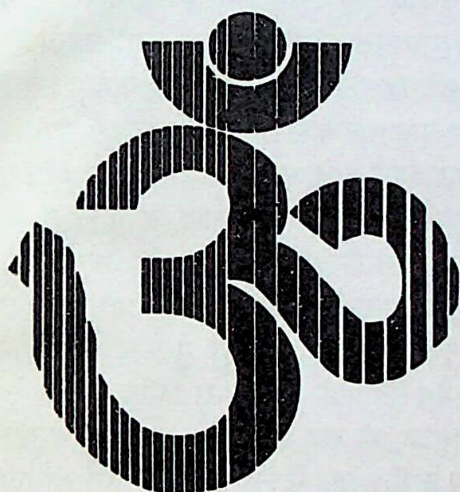
अक्षर योजना
मानस टाईपसैटर
दरियागंज,
नयी दिल्ली-२

मुद्रक
महिम पत्रण (प्रा. लि.)
आगरा

ॐ

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड



प्रवचन-४३

श्रुति पुरुषयज्ञ का वर्णन करते हुए बता रही है कि देवताओं के द्वारा इस पुरुषयज्ञ की निष्पत्ति हुई, इसीलिये वे देव बने। इस प्रकार के पुरुषयज्ञ को केवल देवता ही कर सकते हैं। 'देवता' मायने क्या ? बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि मनुष्य ही देव, मानव और दानव तीनों नामों से कहा जाता है। जो देवभाव से युक्त हो वह देव, जो मनुष्यभाव से युक्त हो वह मानव और जो आसुरी भावों से युक्त हो वह असुर है। मनुष्यों में ही देव, दानव और मानव तीनों सम्भव होते हैं। मनुष्य ही तत्तत् गुणों से सम्पन्न हुआ तीनों पदों का वाच्य होता है। देवताओं ने ही यज्ञ किया अर्थात् दैवीगुण वाले ही इस पुरुषयज्ञ को कर सकते हैं, आसुरी गुण वाले नहीं कर सकते। ऐसा क्यों ? यज्ञ में नियम है कि जिस सामग्री का प्रयोग किया जाता है, जिस चीज़ से यज्ञ किया जाता है, उसे शुद्ध बनाना पड़ता है। अशुद्ध सामग्री यज्ञ के काम नहीं आती। यहाँ पुरुष को स्वयं अपना ही यज्ञ (होम) करना है, अपनी ही आहुति देनी है। यदि उसकी पुरुष-सामग्री शुद्ध नहीं होगी, जिन इन्द्रियों, मन, देह आदि को वह अर्पण करना चाहता है उनमें यदि अशुद्धि रहेगी, तो वे हवन के काम कैसे आयेंगी ? देवभाव का मतलब हुआ— जिसने सामग्री को शुद्ध कर लिया है। सारे दैवी गुण इसको शुद्ध करने के लिये हैं। इसीलिये श्रुति ने कहा कि जो देवभाव-सम्पन्न है वही इस पुरुषयज्ञ को कर सकता है।

इन दैवी भावों को कैसे प्राप्त किया जाये ? मनुष्य प्रयत्न बड़ा करता है, यह नहीं कि साधक प्रयत्न नहीं करता, लेकिन प्रयत्न करने पर भी पद-पद पर फिसलन बढ़ती है, वह गिरता रहता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अपने बल के आधार पर इस फिसलन से बच नहीं सकते। जैसे जब कभी पहाड़ में ऊपर बर्फ पर चढ़ना होता है तब हाथ में एक विशेष प्रकार की लोहे की नोक वाली छड़ी लेकर चढ़ना पड़ता है। यदि उसके सहारे के बिना चढ़ने का प्रयत्न करते हैं तो गिर जाते हैं। केदार के ऊपर एक स्थल है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उपमन्यु से 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र की दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक तपस्या की थी। महाभारत में आता है कि भगवान् कृष्ण ने उपमन्यु से मंत्र-दीक्षा ली थी। वहीं पर उपमन्यु का आश्रम है। वहाँ की चढ़ाई बड़ी भयंकर है। हम एक बार वहाँ गये। भेड़ चराने वाले को अपने साथ ले लिया, क्योंकि सड़क का रास्ता तो है नहीं जो सीधे पहुँच जायें। हम लोगों ने अपने हाथ में छड़ियाँ ले लीं। लेकिन एक बड़ा ज़िद्दी साधु हमारे साथ था। उसके मन में यह भाव था कि 'यह भेड़ चराने वाला बिना छड़ी के चढ़ सकता है तो मैं क्यों नहीं जा सकता।' आदमी आदमी सब एक से हैं ! डेढ़ मील तक रास्ता ठीक था। लेकिन उससे आगे दो फर्लांग के रास्ते में वह सात जगह गिरा और अंत में खुद ही कहने लगा 'मैं यहीं बैठा हूँ, आप हो आओ।' जो हमारे साथ भेड़ चराने वाला था, वह बिना छड़ी के बड़े आनंद से चढ़ रहा था और हम लोग छड़ी के सहारे से धीरे-धीरे चढ़ते थे। चढ़ते हुए छड़ी के आगे लगी लोहे की नोक बर्फ में घुस जाती है, इसलिये पैर फिसलने पर भी आदमी नहीं

फिसलता, उसी के सहारे आदमी चलता है।

इसी प्रकार भगवान् भाष्यकार लिखते हैं

'अतस्त्वाम् आराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यःप्रभवति।।'

हे ब्रह्मविद्या ! हे लावण्यमयी ललिता ! तेरी आराधना विष्णु ब्रह्मा और रुद्र भी करते हैं, वे भी तुम्हारे सहारे को लेकर ही आगे बढ़ते हैं। जो 'अकृतपुण्यः' अर्थात् जो साधारण और बिना पुण्य किये हुए पुरुष हैं, वे तो तुमको प्रणाम भी नहीं कर सकते और तुम्हारी स्तुति करने के योग्य भी नहीं हैं। जिसकी आराधना ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र करते हैं, उसको प्रणाम करने की योग्यता भी दुर्लभ है। जिसने पुण्यों के द्वारा अपने जीवन को पवित्र नहीं बना लिया है, वह तुम्हारी आराधना करने के योग्य नहीं है। लोक में भी देखने में आता है कि बहुत बड़े आदमी को मिलने जाना हो तो मनुष्य बड़ी तैयारी करता है। इंग्लैण्ड में यदि राजा को मिलने जाना हो तो पहले एक कमरे में सिखाया जाता है कि उसके सामने जाकर कैसे झुकोगे। ऐसा नहीं कि रास्ते चलते राजा से मिल लो। इटली में यदि पोप से मिलने जाओ तो पहले सिखाया जाता है कि ऐसे नमस्कार करना, ऐसे झुकना, तब अंदर जा सकते हो। वहाँ अच्छे-अच्छे लोग तैयार होकर, सीखने के बाद अन्दर जाने की योग्यता वाले बनते हैं। मैले-कुचैले कपड़े पहने फूहड़ ढंग के व्यक्ति की अन्दर जाने की कोई सम्भावना नहीं। इसी प्रकार जिसकी आराधना ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र जैसे देवाधिदेव लोग किया करते हैं, उसके सामने, जिसके मन में पाप-कर्मों के संस्कार भरे पड़े हैं, वह नमस्कार करने भी नहीं जा सकता है। अकृतपुण्य

वहाँ नहीं पहुँच सकता।

भगवती ब्रह्मविद्या की तरफ चढ़ने पर हम शिवाग्नि को अपने अन्दर क्यों स्थित नहीं कर पाते ? शिवाग्नि को हृदय में स्थित न कर पाने का कारण ही यह है कि हम अकृतपुण्य हैं। यदि हम उसकी अनुग्रह-दृष्टि का सहारा ले लें तब तो आगे बढ़ सकते हैं। जैसे पहाड़ पर चढ़ने के लिये हमने छड़ी का सहारा लिया। छड़ी को पकड़ने के लिये पुण्य कर्मों की ज़रूरत है। केवल पुण्य कर्मों के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है। मुण्डकोपनिषद् की श्रुति स्पष्ट कहती है कि केवल पुण्य कर्म के सहारे परमात्मा को प्राप्त करना वैसे ही है जैसे बिना पेंदी की नाव में बैठकर नदी पार करना ! कुछ लोग इसका उलटा मतलब लगाते हैं कि फिर इन कर्मों का कोई लाभ नहीं है! जब खूब पुण्यकर्म करोगे तब उसका नतीजा होगा कि परमात्मा की, ब्रह्मविद्या की कृपा-दृष्टि रूपी छड़ी तुम्हारी पकड़ में आयेगी। पार कराने वाली तो वह ब्रह्मविद्यारूपिणी संवित् ही है, लेकिन बिना पुण्य कर्मों के वह पकड़ में ही नहीं आयेगी।

जिस प्रकार आसमान में बिजली की चमक बड़े ज़ोर से दीखती है लेकिन उस बिजली की चमक का तुम कोई उपयोग नहीं कर सकते, घर में आने वाली बिजली यद्यपि इतनी ज़ोर की नहीं है लेकिन उसका उपयोग कर सकते हो; इसी प्रकार जो निर्विकल्प, गुणातीत, सर्वभावनिर्मुक्त परब्रह्म परमात्मा है, उसको जब सुनते हो तब बिजली की तरह बात तो कौंध जाती है, चमक जाती है, लेकिन जैसे चमकती हुई बिजली देखने पर भी तुम्हारे काम नहीं आ सकती, ऐसे ही उस ब्रह्म के कौंधने से तुम्हारा काम नहीं

बनता। है तो उसका प्रकाश बहुत तेज़, आत्म-तत्त्व का श्रवण करने के साथ ही बिजली की तरह प्रत्येक अंतःकरण में कौंध जाता है, लेकिन उसका उपयोग नहीं कर पाते। दूसरी तरफ, परमात्मा का उपास्य परिच्छिन्न रूप है। ब्रह्मसूत्र में कई प्रकार के परिच्छेदों को उपनिषदों के आधार पर बताया कि हृदयरूप परिच्छेद, भ्रूमध्यरूप परिच्छेद, आकाश और काल रूप परिच्छेद में उसका ध्यान करो। ये सब परिच्छिन्न रूप किस उपयोग के, उनसे क्या मतलब सिद्ध होगा ? ब्रह्मसूत्र में पूरा एक प्रकरण ही इसको लेकर है। उपनिषदों के अनेक तत्त्वों का विचार करते हुए वहाँ यह निर्णय किया कि है तो वह अपरिच्छिन्न बिजली की तरह, लेकिन जब तक उसे परिच्छिन्न नहीं बना लोगे, व्यापक बिजली को तार के द्वारा घर में नहीं ले आओगे, तब तक वह व्यापक बिजली तुम्हारे काम नहीं आ पायेगी। इसी प्रकार आत्मज्ञान सुनने के साथ कौंध तो गया लेकिन उसका जो उपयोग बताया कि 'अनंत आनंदस्वरूप होकर प्रतिक्षण रहना ही उसका फल है', यह फल उत्पन्न नहीं हो पाता है। उसको जब तक परिच्छिन्न करके उपासना के द्वारा विषय नहीं करोगे तब तक काम नहीं बनेगा। पुण्यों के द्वारा ब्रह्मविद्या की कृपा-दृष्टि मिलती है, तभी उसके द्वारा पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

भगवान् भाष्यकार ने कहा, हे भगवती ! आपके आधार का जो अनंत आनंदरूप अधिष्ठान है, वही हुतवह है। मैं जो अपनी देह, प्राण, इन्द्रिय, मन की आहुति दूँगा, उसे परमात्मा तक पहुँचाने वाला वही है। उसी को अधिष्ठान बनाकर मैं आज इसमें प्रेमपूर्वक लग गया हूँ, इसमें मेरी एकरूपता हो गई है। अब मेरे हृदय में

वह परमेश्वररूप संवर्ताग्नि मौजूद है। जितना मैं बर्ताव, व्यवहार करता हूँ, वह शिव से अभिन्न है और भगवती समया बनी हुई है अर्थात् साधना का एक-एक सोपान मेरे लिये भगवती का रूप बना हुई है।

उसकी स्तुति में कोई कैसे समर्थ हो सकेगा ?

'यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते।

दयार्द्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति।'

भगवती की दो दृष्टियाँ हैं। भगवती की दोनों दृष्टियाँ हमारे ऊपर पड़ जाती हैं। जहाँ ब्रह्मविद्या की दृष्टि पड़ी वहाँ यह जो सारा विश्व-प्रपंच दीख रहा है वह जल जाता है। लोक-शब्द का मतलब है विषय। सात ऊपर के और सात नीचे के चौदह लोक क्यों कहे जाते हैं ? जितने हमारे विषय हैं, वे सिर में होने वाले सात छेदों के द्वारा ही देखे जाते हैं—दो आँखें, दो कान, दो नाक, एक मुँह—ये ही सप्त शीर्षण्य प्राण हैं। इनके द्वारा ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सबका अनुभव होता है। वह अनुभव पुनः दो प्रकार का है। इन्हीं के द्वारा कुछ चीज़ों को विषय करके हम ऊर्ध्व अर्थात् परमात्मा की तरफ जाते हैं और इन्हीं के द्वारा विषय करके हम परमार्थ मार्ग से भ्रष्ट होकर नीचे जाते हैं। इन्द्रियाँ तो वही सात हैं। इसी आँख के द्वारा बुरी चीज़ों को देखकर हम नीचे जाते हैं और इसी के द्वारा भगवद्विग्रह का दर्शन करके ऊपर जाते हैं। इन्हीं के द्वारा गंदे अश्लील गीत सुनकर नीचे जाते हैं और इन्हीं के द्वारा वेद आदि गीतों को सुनकर ऊपर जाते हैं। इसी जीभ के द्वारा भगवान् के पवित्र प्रसाद को लेकर हम ऊपर जाते हैं और इसी जीभ के द्वारा अमेध्य पदार्थों, अण्डे, मांस आदि

को खाकर हम नीचे जाते हैं। जीभ दो नहीं हैं। इसी जीभ के द्वारा हम दूसरे की निंदा करके नीचे जाते हैं और इसी जीभ के द्वारा परमात्मा की, शास्त्रों की बातों को बोलकर हम ऊपर जाते हैं। यही सप्त शीर्षण्य प्राण हैं। इसीलिये सात लोक ऊपर के और सात लोक नीचे के हैं, जिधर जाना चाहें जा सकते हैं।

जब भगवती की कृपादृष्टि होती है तब क्या होता है ? उनकी एक दृष्टि तो क्रोध की कल्पना से भरी हुई है। भगवती का क्रोध दो तरह का है। वेद माँ हैं। माँ का क्रोध दो तरह का होता है—एक, तंग आने का और दूसरा, दया वाला। लड़के का पेट खराब है, कहता है, 'माँ ! चाकलेट दो।' पहले माँ प्रेम करती है, 'बेटा जाने दो, नुकसान करेगा, कल दे दूँगी।' थोड़ी देर बाद फिर 'माँ चाकलेट दो' कहे तो माँ कहती है, 'देख ! एक बार मना कर दिया, बार-बार मुझे तंग मत कर।' थोड़ी देर बाद फिर कहे 'चाकलेट के बिना मन बड़ा खराब हो रहा है', तो माँ तंग आकर कहती है, 'ले, नहीं मानता तो खा ले।' यहाँ लड़के की दृष्टि में तो माँ कृपा कर रही है। यह बात ठीक से समझना क्योंकि यह रहस्य का विषय है। लड़का जो माँग रहा था वह माँ ने दे तो दिया लेकिन सचमुच माँ का क्रोध है कि 'यह तंग कर रहा है।' लड़का समझता है कि माँ की दया है, लेकिन तंग आकर जो माँ का क्रोध है, वह वास्तविक दया नहीं है। बार-बार कहने पर भी नहीं मानता, इसलिये दे दिया। इस देने में माँ को प्रसन्नता नहीं है। यह एक तरह का क्रोध हुआ जो बाहर से दया दीखता है लेकिन अंदर से क्रोध है।

दूसरा क्रोध है : लड़का कहता है, 'माँ ! मुझे स्कूल नहीं

जाना।' पहले प्रेम से कहेगी, 'चला जा।' फिर भी वह कहता है कि 'नहीं जाना है', तो झट जवाब देती है, 'रामू इसे पकड़ कर स्कूल ले जा, नहीं कैसे जाना है !' यहाँ क्रोध दिखाया। बाहर से क्रोध ही दीख रहा है लेकिन अंदर से माँ को प्रेम है, क्योंकि बच्चा सुधर जाये, इसलिए क्रोध के द्वारा भेज रही है। एक क्रोध में बाहर प्रेम, दया दीखता है, अन्दर क्रोध है; दूसरे में बाहर क्रोध हुआ।

इसी प्रकर जब उस परब्रह्ममहिषी, ब्रह्मविद्या संवित् भगवती से तुम संसार के पदार्थों को माँगते हो तब वह तुम्हें संसार के पदार्थ देती हुई दीखती है। लेकिन संसार के पदार्थ देते हुए उसके हृदय में तुम्हारे प्रति क्रोध है। वह सोचती है कि 'यह नहीं मानता' इसलिये देती है। दीखता है कि भगवती कृपा कर रही है और संसारी लोग उसे कृपा समझते हैं, लेकिन अन्दर से उसे क्रोध है। इसलिये देखोगे कि संसार के यावत् पदार्थ मनुष्य को मिलने पर भी कभी अंदर से सुख नहीं होता है। बच्चा वह चाकलेट खा तो लेता है, लेकिन सुखी नहीं होता क्योंकि पेट ज़्यादा खराब हो जाता है। संसार के विषयों की प्राप्ति भी इसी प्रकार की है। इससे विपरीत जब भगवती बाहर से क्रोध करते हुए दीखती है, बाहर से विषयों को हटाते हुए दीखती है, हृदय में वैराग्य की ज्वाला प्रकट करते हुए दीखती है, तब वह दया कर रही है। वह भगवती की कृपा-दृष्टि है। तब संसार के पदार्थों को देखकर उसे चैन नहीं है। जिस चीज़ को देखता है वह सब पोली, व्यर्थ, अंदर से रसहीन साररहित दीखती है। कोई चीज़ उसे चैन नहीं देती है। जब प्रदार्थ नहीं मिलते हैं, उस समय वह बैठकर निरंतर भगवती की चर्चा

अपने ही मन में करता है, उसी के विषय में सोचता है, उसी के विषय के ग्रंथ देखता है, मन से कल्पना करता है कि जब वह परब्रह्म महिषी मिलेगी तो मैं क्या करूँगा। इसी सोच में सारी रात निकल जाती है। ऐसे आदमी की आँखें चढ़ी रहती हैं। सप्तशती में भगवती कहती है 'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम्' अरे मूर्ख ! थोड़ी देर तक तू गर्जना कर ले, जब तक मैं मधु न पी लूँ। मूर्ख लोग यहाँ मधु का अर्थ शराब करते हैं क्योंकि आगे लिखा है कि उसकी आँखें लाल होकर डोलने लग गईं। सात्त्विक लोगों को शराब अच्छी नहीं लगी तो समझते हैं कि शहद पी होगी। लेकिन जिन्होंने उपनिषदें बाँच रखी हैं, वे जानते हैं कि उपनिषद् में मधु-विद्या है। परमात्मा की एक विशिष्ट उपासना है जिसे उपनिषद् में मधुविद्या कहा है। वही यहाँ मधु है। उस मधु से न रात में नींद और न दिन में चैन, लेकिन आँखें शराब पिये हुए जैसे व्यक्ति की तरह डोलती हैं। दूसरा मनुष्य समझता है कि इसके ऊपर किसी ने बड़ा क्रोध कर रखा है। वह तो वैराग्य की अग्नि में जल रहा है। संसारी लोग नहीं समझ सकते। दृढ वैराग्य की अग्नि जब जलने लगती है उस समय लोग समझते हैं कि 'यह बड़ा दुःखी है, इसको किसी तरह से सुखी किया जाये।' यह बाहर से दीखने वाली अग्नि दुःख देने वाली है लेकिन यह उस ब्रह्मविद्या की परम कृपा है, अंदर की कृपा है। बाहर से भले ही दुःखरूप दीखती है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं जब जीव भगवती के अन्दर क्रोध की कल्पना करता है, तब कल्याण है और जब भगवती जीव के ऊपर तंग आकर क्रोध करती है तब अकल्याण है। जब

यह वैराग्यानल जल जाता है, तभी शिवाग्नि हृदय में प्रकाशित होती है। उस समय संसार का कोई पदार्थ मनुष्य को शान्ति नहीं दे पाता।

जब महाभारत युद्ध की तैयारी हो गई तब भगवान् ने अर्जुन से कहा 'इस भयंकर युद्ध में न जाने क्या होगा और जीतना ज़रूरी है। इसलिये तू मेरे साथ चल, और भगवती की आराधना कर।' भगवान् कृष्ण और अर्जुन दोनों भगवती के मन्दिर में गये और जाकर दोनों ने भगवती की अर्चना-पूजा की। रात्रि भर आराधना-पूजन करते हुए जागरण किया। वहाँ अर्जुन ने यह प्रार्थना की थी कि 'आपकी पूर्ण कृपा से मैं पूर्ण विजयी बनूँ।' आचार्य नीलकंठ अपनी टीका में लिखते हैं कि 'पूर्ण' शब्द सुनते ही भगवान् कृष्ण को हँसी आ गई ! सीधा ही कह देता कि 'मैं विजयी बनूँ।' क्योंकि भगवती की पूर्ण कृपा भयंकर होने वाली है ! अर्जुन तो बेचारा यह कहकर वहाँ से आ गया। अर्जुन सरल हृदय का था, वीर और बहादुर तो बड़ा था लेकिन उसके हृदय में कुटिलता बिल्कुल नहीं थी। युद्ध के अन्दर वह चाहे तो सबको हरा दे, इतनी विलक्षण उसकी शक्ति तो थी, लेकिन हृदय बड़ा कमज़ोर था। इसलिये भगवती ने सोचा कि इसने सरल हृदय से प्रार्थना की है तो अब मैं इसकी प्रार्थना पूरी करूँ। अर्जुन का क्या हाल हुआ?

'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भुमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।'

यह उस भगवती की कृपा का फल हुआ। अर्जुन बेचारा लड़ने को तैयार होकर आया था। वैराग्य की अग्नि उसके हृदय में दहक

उठी, यही उसकी कृपा है। अर्जुन कहता है कि मुझे वह चीज़ नहीं दीखती जिसके द्वारा मेरे हृदय के अन्दर जो वैराग्य उदय हुआ है उसको कोई शांत कर सके। मेरी इन्द्रियाँ शोक के द्वारा जल रही हैं। उस जलने को कोई शांत कर सके, ऐसा कुछ उपाय मुझे नहीं दीखता है। विचार करो, कि इतने बहादुर अर्जुन के अन्दर भी जब वैराग्य की अग्नि का उदय हुआ तो उसका अंग-प्रत्यंग जलने लग गया। कहता है, 'भगवन् ! आप कहते हैं कि इन्हें जीत ले और मैं कहता हूँ कि यदि मुझे तीनों लोकों का राज्य मिल जाये तो भी यह कोई समस्या का हल नहीं है।' पुराने लोग कहा करते थे कि बच्चों को गीता न बाँचने दो। वे बेचारे ठीक ही कहते थे ! यदि कोई सचमुच गीता का प्रथम अध्याय बाँच ले तो फिर संसार के काम का नहीं रह सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि वह संसार में कोई कार्य नहीं करेगा, बल्कि माता-पिता, पुत्र, पत्नी ये सब जो उसे पशु बनाने को तैयार हैं, अब वह उनका पशु नहीं बन सकेगा। तुम कहते हो 'कर्तव्य करो।' वह प्रश्न पूछेगा 'कर्तव्य करने से क्या मिलेगा ?' कहोगे 'आगे उत्तम लोक और यहाँ नाम मिलेगा।' उसी का जवाब अर्जुन दे रहा है 'यदि मुझे इन्द्र पद भी मिल गया तो क्या मुझे शान्ति होनी है ? कर्त्तव्य इससे ज़्यादा और क्या देगा ?' जब यह दृढता होती है और वैराग्य की अग्नि जल जाती है तब मनुष्य उसको सहन नहीं कर सकता। संसारी लोगों की दृष्टि में वह आदमी व्यर्थ हो गया, क्योंकि उनको तो अपना पशु चाहिये और यह हाथ से निकल गया ! वस्तुतः यही भगवती की कृपा हो गई। जब भगवती की कृपा हुई तब ऊर्ध्व और निम्न सारे के सारे लोक उसकी दृष्टि

क्योंकि जब तक दैवी गुणों से युक्त नहीं होगे तब तक देवों के लायक कर्म करने की योग्यता नहीं आयेगी। भोक्ताभाव दो प्रकार का है—एक परिच्छिन्न भोक्तृत्व और दूसरा अपरिच्छिन्न भोक्तृत्व। परिच्छिन्न भोक्तृत्व भी दो प्रकार का है—एक विराट्-रूप से परिच्छिन्न भोक्तृभाव और दूसरा पुरुषरूप से परिच्छिन्न भोक्तृभाव। भोक्तृभाव में जब तक अहं रहता है तब तक परिच्छिन्नता बहुत अधिक रहती है अर्थात् एक इन्द्रिय से भोग करने काल में दूसरी इन्द्रिय की तरफ वृत्ति नहीं रह पाती। तदपेक्षया जब अहंभाव निवृत्त हो जाता है तब देह भर में व्यापक चेतना का उदय होता है। यह जीव का भोक्तृभाव हुआ।

देव कौन-से हैं ? सामान्य देवों की बात न कहकर श्रुति 'साध्य देवों' की बात कह रही है। 'साध्या देवाः' का अर्थ बताते हुए भगवान् सायणाचार्य भाष्य में कहते हैं 'साध्याः सृष्टिसाधन-योग्याः प्रजापतिप्रभृतयः।' साध्य एक देव-समूह का नाम है। देवता भी गणों में होते हैं जिसे आजकल आप लोग 'यूनियन' कहते हो ! एक उद्देश्य से एक प्रकार का कार्य करने वालों का जो समूह होता है उसको गण कहते हैं। कई देवता गणों में होते हैं। जैसे आदित्यगण में बारह देवता हैं जो द्वादश आदित्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार वसुगण के अन्दर आठ देवता हैं, उन्हें अष्टवसु कहा जाता है, रुद्रगण में ग्यारह देवता एकादश रुद्र कहे जाते हैं। देवताओं के गणों में साध्य देवता भी एक गण है। ये साध्य देवता कौन-से हैं ? भगवान् सायणाचार्य बताते हैं कि जो समग्र सृष्टि को चलाने वाले सामर्थ्य के हों, उन्हें साध्य देव कहते हैं। इन्हें साध्य क्यों कहा गया ? साध्य उसे कहते हैं जो

साधनों के द्वारा प्राप्त करने के योग्य हो। सीधी भाषा में जो साधने के योग्य हो, जिसे सिद्ध किया जाना चाहिये। गणितशास्त्र में रेखागणित में जिसे थ्योरम कहते हैं, उसी को साध्य कहते हैं, जिसको साधना चाहिये या जो साधन के योग्य हो, वह साध्य है। इनको साध्य देवता इसीलिये कहा जाता है कि इनकी साधना करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। कल बताया था कि देव की अनंत शक्तियाँ हैं। सृष्टि के आदि से लेकर अनंत देवताओं का प्रादुर्भाव है, उन सबमें परमात्मा तो एक-जैसा ही है लेकिन जिन रूपों की, जिन शक्तियों की उपासना करने से परमात्मा की प्राप्ति हो, उनको साध्य देव कहा जाता है। अन्यों की उपासना करने से तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है। जैसे किसी के ऊपर मंगल की दृष्टि हो तो कहते हैं यह लड़की मंगली है। वह दृष्टि उस पर अच्छी नहीं है। मंगल की दृष्टि खराब न रहे इसके लिये मंगल ग्रह की उपासना की; मंगल ग्रह के अन्दर भी तो परमात्मा की शक्ति ही मौजूद है, लेकिन इस उपासना के फलस्वरूप मंगल की कुदृष्टि हट जायेगी, परमात्मा की प्राप्ति होने वाली नहीं है। दो प्रकार के देवगण हुए—एक, जिनके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है और दूसरे जिनके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है। लोक में भी इसी प्रकार का भेद होता है। यदि पुलिसगण को तुमने साध्य बनाया तो वह तुमको चोरों से बचा सकता है लेकिन यदि तुमको किसी उद्योग का प्रमाणपत्र या लाइसेंस लेना है तो उसमें पुलिस वाले तुम्हारा कोई फायदा नहीं कर सकते। हैं दोनों ही सरकार के गण। दोनों ही सरकार के गण होने पर भी जो जिस कार्य में समर्थ है, वही उस कार्य

को निष्पन्न कर सकेगा। जो देवगण उपासना करने पर परमात्मा की तरफ ले जाते हैं उनको साध्य देव कहा और जो उनसे भिन्न हैं, वे भी देव हैं लेकिन साध्य देव नहीं हैं।

ये साध्य देव कैसे बनें ? अन्यत्र भगवान् सायणाचार्य बताते हैं कि इनकी साध्यता इस बात की है कि इन्होंने ईश्वर से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है। जिन्होंने विराट् उपासना के द्वारा ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त कर लिया है वे ईश्वर के साथ एकता प्राप्त किये होने के कारण परमेश्वर की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। दूसरे परमेश्वर की शक्ति होने पर भी परमेश्वर से एकता प्राप्त नहीं किये हुए हैं, इसलिये परमेश्वर-प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते। यह गणों का भेद है। परमेश्वर से एकता प्राप्त करने का विषय थोड़ा समझने का है कि परमेश्वर से एकता मायने क्या? ईश्वर व्यापक है, इसलिये परमेश्वर के साथ एकता का मतलब है सबके साथ एकता। इसीलिये बृहदारण्यक वार्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'सर्वभूतात्मभूतोऽसौ सर्वानन्यत्वदर्शनः।
जगदुत्पत्तिसंहारैः क्रीडन्निव विचेष्टते।।'

ये जो साध्य देव हैं जिन्होंने परमेश्वर के साथ एकता को प्राप्त किया है, वे सर्वभूतात्मभूत हैं अर्थात् सारे प्राणी उनके साथ एकात्मभूत हो गये हैं अर्थात् उनकी आत्मा के साथ वे एक हो गये हैं। सब प्राणियों की आत्मा के साथ उन्हें एकता प्राप्त हो गई। इसलिये 'सर्वानन्यत्वदर्शनः' सब के साथ उनकी अनन्यता की दृष्टि है कि 'कोई हमसे भिन्न नहीं है', ऐसा उनका दर्शन है। यह सुनते ही मनुष्य के हृदय में एक प्रश्न आता है : एक

शरीर के साथ ही यदि ऐक्य प्राप्त किया तो इसके ही दुःख से निपटना असम्भव हो रहा है, यदि सारे प्राणियों की आत्मा से एक हो गये तो उस दुःख से निपटना और कठिन हो जायेगा ! लोग कह देते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन उस की जिम्मेवारी जब सामने आती है तब भागते हैं। तुम ब्रह्म हो। ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय होता है। इसलिये तुम इसकी सृष्टि, स्थिति, संहार को करने वाले हो। इस समय भारतवर्ष में सारी चोरबाजारी करने वाले तुम हो। जिम्मेदारी लेते समय कोई ब्रह्म बने रहना नहीं चाहता।

जैसे घर के अंदर आदमी तब तक मालिक बना रहना चाहता है जब तक घर की व्यवस्था ठीक चल रही है। जिस समय व्यवस्था में कोई न्यूनता आई तब वह उसे सहन नहीं कर पाता। फिर वह जिम्मेवारी छितराता है कि 'यह पत्नी की जिम्मेवारी थी, यह पुत्र की जिम्मेवारी थी, इसमें मैं क्या कर सकता था।' यदि जिम्मेवारी छितरानी थी तो जिस समय तुम अपने को जिम्मेवार कह रहे थे, उस समय छितराने वाली बात कहाँ गई थी ? पहले कहा 'हमारे हाथ में ताकत दो, हम गरीबी हटायेंगे।' फिर कहते हैं, 'क्या करें बंगला देश का युद्ध आ गया, क्या करें लोग काम नहीं करते हैं।' 'मुझे ताकत दो' यह कहते समय तो अपने को सर्वसमर्थ कह रहे थे। जिस समय जिम्मेवारी आई तब छितराने लग गये। इसी प्रकार मनुष्य जब अपने को ब्रह्मरूप से तादात्म्य करता है तब तो बड़ा सुख अनुभव करता है, लेकिन जब ब्रह्म की जिम्मेवारी लेने की बात आती है तब झट छितराने लग जाता है। इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि वह व्यापकता की

दृष्टि बोलता है, वास्तव में है नहीं।

यदि वस्तुतः सर्वभूतात्मभूत और सर्वानन्यता का दर्शन हो जायेगा तो सब प्राणियों में अपने को देखता हुए उसकी अनुभूति का रूप कैसा बनेगा ? संसार में जो इतना बड़ा दुःख है उससे उसे भी क्या ऐसा दुःखी हो जाना पड़ेगा ? इतने दुःख को वह सम्भालेगा कैसे, जब एक ही दुःख को वह नहीं सम्भाल पा रहा था ? भगवान् सुरेश्वराचार्य इसकी बड़ी विस्तृत मीमांसा करते हैं। जीव-ईश्वर के अद्वैत सिद्धान्त को मानने वालों के सामने यह एक बड़ी भारी समस्या है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि विचार करके देखो तो दो प्रकार के प्राणी देखने में आते हैं। एक, सामर्थ्य वाले और दूसरे, बिना सामर्थ्य वाले। बिल्कुल सीधी-सच्ची बात कहते हैं। आजकल के व्यापारी बड़े दुःखी हैं और पहले के व्यापारी बड़े सुखी थे। पहले नौकरी करने वाला व्यापार करना चाहता था और आज व्यापार करने वाला नौकरी में जाना चाहता है। इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि पहले व्यापारी सामर्थ्य वाला था। पाँच लाख रुपया उसके पास होता था तो वह तीन लाख का व्यापार करता था अर्थात् दो लाख की सामर्थ्य उसके पास अधिक थी, इसलिये उसका व्यापार सुख का होता था। व्यापार में धन की सामर्थ्य होने से ही सुख होता है। आज यदि पास में पाँच लाख है तो व्यापार एक करोड़ का करते हैं ! जब पाँच लाख वाला एक करोड़ का व्यापार करता है तो सामर्थ्यहीन होकर करता है। इसीलिये रात-दिन चिंताग्रस्त है। थोड़ा-सा ढीलापन आया और मुँह के बल गिरे।

जैसे धन की सामर्थ्य का प्रश्न है, ऐसे ही विद्या की सामर्थ्य

भी होती है। किसी व्यक्ति को पाँच हज़ार मंत्र याद हैं और वह चार हज़ार मंत्र बोलता है तो सुख से बोलता है, उसका व्याख्यान तो आगे चलता चला जायेगा। लेकिन यदि पाँच हज़ार मंत्र याद हैं और पचास हज़ार मंत्रों का व्याख्यान करने का प्रयत्न करेगा तो हमेशा तनाव बना रहेगा, कहाँ का विषय किधर को चला जाये कुछ पता नहीं। जो समर्थ होता है उसका कई विषयों में सीधा जवाब होता है कि 'यह मेरा विषय नहीं है।' अगर कोई भौतिक विज्ञान जानने वाला आइंस्टाइन के पास जाकर उस विषय का प्रश्न करे तो वह जवाब दे देगा। यदि उससे कोई पूछे कि हमें जीव-विज्ञान की बात बताओ तो आइंस्टाइन सीधा कह देगा कि 'यह मेरा विषय नहीं है, जुलियन हक्सली से जाकर पूछो।' चाहे वह जितना बड़ा फिज़िक्स का विद्वान् हो, यदि वह यह कोशिश करने लगेगा कि 'मैं जीवविज्ञान का जवाब दूँ' तो ऊट-पटांग बोलेगा। जब सामर्थ्य से आगे काम करोगे, तब दुःख होगा और जब तक सामर्थ्य के अन्दर काम करोगे तब तक सुख होगा।

जैसे विद्या की सामर्थ्य ऐसे ही राज्य की सामर्थ्य होती है। जितनी मेरी राज्य करने की सामर्थ्य है, मैं उतने राज्य को सम्भालूँगा तब तो मैं भी सुखी और प्रजा भी सुखी होगी। लेकिन जिसकी सामर्थ्य तो कम है और किसी न किसी प्रकार से बड़ी सामर्थ्य का पद प्राप्त कर लेता है, उसे भी दुःख होगा और उसकी प्रजा भी दुःखी होती रहेगी। इसलिये सुख-दुःख का कारण सर्वत्र सामर्थ्य ही है। सामर्थ्य के अनुसार कार्य करने वाला सुखी रहता है और सामर्थ्य के बाहर कार्य करने वाला दुःखी रहता है।

इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा कि कार्य के कारण मनुष्य को दुःख नहीं होता बल्कि सामर्थ्य से अधिक कार्य करने के लिये प्रवृत्ति करना ही दुःख का हेतु है। सामर्थ्य से बाहर कार्य करने का कारण क्या होता है ? सामर्थ्य से बाहर कार्य करने का कारण मिथ्या अहंता, अभिमान है। लड़की के ब्याह में मेरी सामर्थ्य पचास हज़ार रुपया खर्च करने की है लेकिन मैं एक लाख खर्च करता हूँ, तो उसमें अहंता ही कारण है कि लोग मुझे लखपति समझें। ऐसे ही यदि मेरा विषय भौतिक विज्ञान है और मैं जीव-विज्ञान के विषय में जवाब देना चाहता हूँ तो उसमें भी कारण अहंता है कि लोग मुझे सर्वज्ञ समझें। यदि मैं पाँच लाख रुपये से एक करोड़ का काम करना चाहता हूँ तो अहंता है कि मैं करोड़पतिवत् आचरण करूँ। सर्वत्र दुःख का हेतु अहंता बनी, लेकिन गलत अहंता ही दुःख का हेतु है। जितना मैं परिच्छिन्न हूँ, उतना ही यदि मैंने अहं रखा तो सुख और उससे अधिक अहं को बढ़ाना चाहा तो दुःख मिलने लगेगा।

हमारे एक मित्र हमें एक दिन सुना रहे थे : एक सज्जन को सभा में बड़ा क्रोध आ गया। क्रोध करना बुरी बात है। थोड़ी देर बाद जब उनका क्रोध शांत हुआ तब दुःख इस बात का नहीं था कि क्रोध आ गया, उन्हें यह बात दुःख दे रही थी कि लोगों के सामने क्रोध किया तो लोग क्या समझेंगे ! उन्होंने यह अहंता कर रखी थी कि 'मैं परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान वाला हूँ, इसलिये काम-क्रोध-भयोद्वेग से रहित हूँ।' जब लोग कहते थे कि 'आप काम-क्रोध-भयोद्वेग से रहित हैं' तो बड़े प्रसन्न होकर स्वीकार करते थे। सबके सामने क्रोध आ गया तो 'लोग क्या कहेंगे' इस

बात से बड़े दुःखी हो गये। यदि दुःख इस बात का होता कि 'मुझे क्रोध आ गया' तब तो कोई बात नहीं थी। लेकिन उनके दुःख का कारण क्रोध नहीं, बल्कि यह अभिमान है कि मैं 'परमात्मा की अनुभूति वाला हूँ, काम-क्रोध-भयोद्वेग से रहित हूँ।' ऐसा व्यक्ति मन में दुःखी होने पर भी बाहर नहीं कह पाता कि मैं दुःखी हूँ। जैसे पाँच लाख रुपया लगा कर एक करोड़ का व्यापार करने वाला हुण्डी सामने आने पर दुःखी होकर भी दूसरे से कह नहीं पाता कि 'मेरे पास रुपया घट गया है।' मन कीं वह बात नहीं कह पाता। उलटा उस बेचारे को दिखाना पड़ता है कि मेरे पास कमी नहीं है। रुपये की कमी जितना दुःख नहीं देती, उतना 'रुपये की कमी का किसी को पता न लग जाये', यह बात दुःख देती है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'ईश्वरत्वात् च तस्यास्मद्दुःखैर्न स्यात् समागमः।
अस्माकं दुःखसम्प्राप्तिः अनैश्वर्यकृतैव तु।।'

दुःख का कारण बताते हैं। जिसने वस्तुतः साध्यदेव बनकर परमेश्वर के साथ एकता प्राप्त की उसमें तो ईश्वरत्व है, ऐश्वर्य है अर्थात् सामर्थ्य है। सामर्थ्य होने के कारण हमारे साथ एकता का अनुभव करने पर भी हमारे दुःखों के साथ उनका समागम नहीं होता। जैसे तुम्हारे नौकर हैं। उन नौकरों का पालन-पोषण तुम करते हो। एक नौकर को दस रुपये की आवश्यकता का दुःख होता है। उसके दुःख को दूर करने के लिये तुम दस रुपये दे भी देते हो। नौकर कहता है कि 'हमारे मालिक बड़े अच्छे हैं,

हमारे दुःख से दुःखी हो जाते हैं' अर्थात् दस रुपये निकालकर दे देते हैं। लेकिन तुम दस रुपये निकालकर देते हो तो कोई दुःख थोड़े ही होता है ! क्योंकि तुम्हारे पास लाख रुपये खर्च करने की सामर्थ्य है। यदि तुमने उसमें से दस रुपये दे दिये तो उसके दुःख के साथ दुःखी भी देखे गये पर सच्चा दुःख हुआ भी नहीं। लेकिन मान लो सामर्थ्य नहीं है, बनाई हुई सामर्थ्य है; वही पाँच लाख और एक करोड़ रुपये के व्यापार वाली बात। तुम्हारे पास खुद रुपये की कमी है और तुम्हारे एक कर्मचारी को ब्याह के लिये दस हज़ार रुपये की ज़रूरत है। कहता है, 'लाला जी ! दस हज़ार रुपये दे दो, आप बड़े दयालु हैं, बड़ा दान करते हैं, धीरे-धीरे पूरा कर लूँगा या मेरे थोड़े से गहने रखकर दे दो।' उस नौकर का दुःख तुम्हें ऊपर से नीचे तक दुःख दे रहा है। नौकर दुःखी है, इस बात का दुःख, और यदि उसे दस हज़ार रुपये दे दो तो हुण्डी का क्या होगा ? इसलिये दस हज़ार निकालकर दे भी नहीं सकते। उस नौकर को रखने की सामर्थ्य तो तुम्हारे अंदर थी नहीं; फिर भी रख लिया है। इसलिये पहला तो नौकर का दुःख दुःखी कर रहा है कि उसकी सहायता नहीं कर सकते, फिर 'उसकी सहायता न करने से हमारे पास धनाभाव का पता न लग जाये, फर्म न बैठ जाये', यह दुःखी कर रहा है। इन सब दुःखों का कारण नौकर का दुःख नहीं है, तुम्हारी सामर्थ्य का अभाव है। नौकर दस साल से कह रहे थे कि 'हमारे मालिक हमको सुख देने वाले हैं' लेकिन तुम्हार वह अभिमान झूठा था। यदि यह अभिमान सच्चा होता तो उसके दुःख से दुःखी होकर तुम उसे दस हज़ार दे देते और तुमको कोई दुःख नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे पास दस लाख

खर्च करने के लिये होते। विचार करके देखो तो पता लगेगा कि यही दुःख का कारण है।

लड़की के साथ लड़के का ब्याह करना है, लेकिन ऐसी लड़की के साथ अपने लड़के का ब्याह करेंगे जो दो लाख रुपये दहेज में लायेगी। बड़ा मीठा लगता है। लेकिन कभी ख्याल किया कि जिसका पिता दहेज में दो लाख देगा उसके घर का खर्च भी पाँच हज़ार रुपये महीने होगा, तभी तो वह दो लाख दे सकता है। लड़की ले आये, बड़ा अच्छा किया। अब लड़की आकर कहती है कि आपका 'रसोइया अच्छा नहीं है। घर में परोसने वाले अलग चाहिये।' अब तुम दुःखी हो रहे हो कि आजकल की लड़कियाँ कितना रुबाब देती हैं। तुम तो चाहते थे कि वह आकर खुद रोटी सेककर खिला देगी, रसोइया चला जाये तो उस पर खाना-कपड़ा मिलाकर जो सौ रुपये खर्च होते हैं वे बच जाते। लेकिन उसने आकर तुम्हारा दो सौ रुपये का खर्चा और बढ़ा दिया। अपनी पत्नी और लड़की के लिये आज तक सत्तर रुपये से बढ़िया साड़ी नहीं लाये और उसे दो सौ रुपये की साड़ी भी पसंद नहीं आती। अब तड़प रहे हो। क्या कारण है ? तुमने दो लाख का दहेज लेते समय यह नहीं सोचा कि दो लाख का दहेज लेने की मेरी सामर्थ्य है या नहीं। अब जन्म भर दुःखी ही होना है। सर्वत्र यह नियम है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि वह जो सच्चा ईश्वर है, वह सामर्थ्य वाला है, वह तो हमारे दुःखों को दूर करने में सामर्थ्य वाला है। विराट् उपास्ति के द्वारा जो उनके साथ एक है वह हमारे हृदय में बैठा हुआ भी, हमारे साथ एकता प्राप्त किये हुए भी,

हमारे दुःख से दुःखी होता हुआ भी उस दुःख से समागम वाला नहीं है, उस दुःख को दूर कर देता है। सामर्थ्य वाला दुःख को दूर करेगा और असामर्थ्य वाला केवल इस बात से दुःखी होता रहेगा कि 'हाय ! मैं दुःख दूर नहीं कर पाया।' हमको दुःख क्यों होता है ? भगवान् सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कह दिया 'हमको दुःख की प्राप्ति इसलिये होती है कि हम अनैश्वर्य और असामर्थ्य वाले हैं। जीव-ईश्वर की एकता को स्वीकार करते ही यह शंका उठती है कि ईश्वर सब प्राणियों से एक है तो कहीं अधिक दुःखी तो नहीं होगा ! उसका जवाब मिल गया कि तुम जैसे-जैसे आगे बढ़ोगे, वैसे-वैसे तुम में सच्चा ऐश्वर्य अर्थात् सच्ची सामर्थ्य आती जायेगी। दुःख का कारण सामर्थ्यहीनता है, और कोई दुःख का कारण नहीं है। यह मूल चीज़ समझने की है। जितनी-जितनी सामर्थ्य बढ़ती चली जायेगी, उतना-उतना तुमको चाहे जितना बड़ा समष्टि का कार्य करना पड़े, वह दुःख नहीं दे सकेगा। साध्य वे हुए जिन्होंने ईश्वर के साथ वास्तविक एकता प्राप्त कर ली है, अर्थात् जो सचमुच सामर्थ्य वाले हो गये हैं। चूँकि उनमें सामर्थ्य है, इसलिये जब तुम उनकी उपासना करते हो तब वे धीरे-धीरे तुमको उस परमेश्वर की तरफ ले जाते हैं। जो साध्य देव नहीं हैं, उन्होंने ईश्वर से एकता प्राप्त नहीं की है। वे कुछ कर्मों के द्वारा देवपद पर तो पहुँच गये हैं लेकिन देवपद पर पहुँचने पर भी उनमें सामर्थ्य सीमित है। यदि उनसे उस सामर्थ्य से ज़्यादा माँगोगे तो वे बेचारे कहाँ से देंगे ! जब नहीं दे पायेंगे तब तुम्हारे मन में आयेगा कि 'इनमें कुछ बल नहीं है।' मनुष्य की एक विलक्षण प्रकृति है : दस दिन तक तुम माँ से कोई चीज़ माँगते रहो और वह तुम्हें देती रहे।

ग्यारहवीं बार माँगो और उसने नहीं दिया तो उस दिन तुम्हारे मन में दृढ हो जायेगा कि 'माँ ने अमुक दिन वह चीज़ नहीं दी।' दस दिन का देना याद नहीं रहेगा। दस दिन तक घर वाली बढ़िया भोजन बनाकर खिलाती रही। ग्यारहवें दिन नमक कुछ बेशी पड़ जाये तो पाँच साल बाद भी बात चलेगी तब याद आयेगा कि 'उस दिन तुमने आलूदम बिगाड़ दिया था।' अच्छा याद नहीं रहेगा। यह एक विचित्र प्रकृति है। इसी प्रकार तुमने किसी देवता का दस बार अनुष्ठान करके उससे कुछ प्राप्त किया और वह देता रहा। ग्यारहवीं बार सामर्थ्य न होने के कारण उसने नहीं दिया तो तुम्हारी वृत्ति बनेगी कि 'यह सब ढकोसला है'। उस समय पहले दस बार का दिया हुआ याद नहीं रहेगा। इतना ही नहीं, कोई याद दिलायेगा तो तुम जवाब दोगे कि 'ऐसे तो सबको मिल जाया करता है।' और यदि कहीं क्रोध के चक्कर में पड़ गये तो और कट्टर नास्तिक बन जाओगे।

अपने ही मठ के एक महात्मा थे, उनका शरीर शांत हो गया है। वे गणेशजी के बड़े जबरदस्त उपासक थे। एक बार कलकत्ते के बड़ी माहेश्वरी सेठ उनके पास आये। पहले से परिचय था। बात-बात में उसने कहा 'मेरी शादी को नौ साल हो गये हैं लेकिन अभी तक बच्चा नहीं हुआ।' उस समय गणेशचतुर्थी आने वाली थी। उनके मन में आ गया और उन्होंने उससे कह दिया कि 'गणेश चतुर्थी को १००८ लड्डुओं से भगवान् गणेश का पूजन हमारे यहाँ करा देना तो उनकी कृपा से काम हो जायेगा।' उसको बड़ी प्रसन्नता हुई, कहा 'आप ही के हाथों लड्डू चढ़ें।' महात्मा बड़े नियम से अनुष्ठान करने वाले थे। उन्होंने सारा पूजन किया जिसमें

चार-पाँच हज़ार रुपये खर्च हो गये। उन्होंने सोचा कि समर्थ सेठ है, अच्छी तरह से खर्च किया। सेठ पैसे साथ लाया नहीं था, कहा, 'कलकत्ते जाकर रुपया भेज दूँगा।' महात्मा ने कहा, 'कोई बात नहीं, आ जायेंगे।' सेठ कलकत्ते चला गया। भगवान् गणेश की कृपा से उसके यहाँ साल भर के अन्दर बच्चा पैदा हो गया। महात्मा की आदत नहीं थी कि रुपयों के लिये चिट्ठी लिखें, सोचा आयेगा तो दे देगा, कोई ऐसी बात नहीं है। दो-तीन साल बाद वह सेठ आया। इस बीच वह किसी कर्मकाण्डी के संग में फँस गया था। स्वामी जी ने जिक्र किया 'तुम उस बात को भूल गये ?' उन्होंने सोचा कि अब तो यह और भी ज़्यादा गणेश जी का भक्त हो गया होगा। लेकिन उसने कहा—'स्वामी जी ! यह तो सब अपने कर्मों से मिलता है, जो लिखा है, वह मिलता है। देवता क्या दे सकते हैं! वैसे आपने पूजा कराई थी तो जो हजार-पाँच सौ लगे हों, ले लो।' महात्मा क्रोध वाले थे ही और जहाँ अपने इष्ट का प्रसंग हो वहाँ तो भक्त का क्रोध और ज़्यादा उमड़ जाता है। कहा—'अब एक पैसा तुझसे नहीं लेना है। रुपये लेने का प्रसंग नहीं है लेकिन अगर लड़का तेरे कर्मों का है तो तेरे पास रहेगा और यदि गणेश जी की कृपा से है तो गणेश जी के पास रहेगा।' चार महीने में वह लड़का मर गया ! अब वह और उसके घर वाले सब आये कहने लगे, 'बड़ी ग़लती हो गई।' महात्मा ने कहा, 'किसी देवता का ऐसे परीक्षण नहीं किया जाता, अब तो तुम किसी कर्मकाण्डी के पास जाओ। तेरे कर्म ही तुझे फल देंगे।' आज उस बात को पच्चीस साल हो गये, उसने बच्चा गोद ही लिया है। देवता की सामर्थ्य से यदि कोई चीज़ प्राप्त भी हो जाती है

तो मनुष्य अपनी बुद्धि लगाकर उसमें देवता का उपकार नहीं मान पाता। यदि कहीं दस चीज़ें प्राप्त हुईं और एक चीज़ प्राप्त नहीं हुई तब तो उसे और दृढता हो जाती है कि यह सब कुछ नहीं है। यह नास्तिक का लक्षण है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि साध्य देव वे हुए जिनके पास सामर्थ्य पूर्ण है लेकिन वे धीरे-धीरे तुमको परमात्मा की तरफ ले जायेंगे। जो साध्य देव नहीं हैं उनकी उपासना से फल मिल भी गया तो किसी काल में न मिलने के कारण, अथवा तुम्हारे मन के अनुसार पूर्ण रूप से न मिलने के कारण तुम पुनः नास्तिकता की तरफ चले जाओगे, ईश्वर से दूर होते जाओगे। यह साध्य देवों और सामान्य देवों का भेद यहाँ श्रुति ने कहा कि जिन्होंने पुरुषयज्ञ के द्वारा ईश्वर के साथ एकात्मभाव प्राप्त कर लिया है, ऐसे साध्य देवता वस्तुतः मनुष्य को परमात्मा की तरफ ले जाते हैं, क्योंकि उनमें सामर्थ्य है। इतनी सामर्थ्य होने पर सब के साथ अनन्य हुए भी, सब प्राणियों में अपने आपको देखते हुए भी, उनके दुःख में वस्तुतः दुःखी इसलिये नहीं बनते कि वे सामर्थ्यहीन नहीं हैं। यदि सामर्थ्यहीन होकर दूसरे प्राणियों के साथ अनन्य आत्मबोध हुआ तो उनके दुःख की सीमा नहीं रहती।

आजकल का नारा है कि परिवार मत बढ़ाओ, दुःखी होओगे। बहुत लड़के होंगे तो परवरिश कैसे करोगे ? वेदांती कभी यह बात कहने वाला नहीं है। वह कहेगा कि परिवार से मत घबराओ, परिवार के पोषण के लिये अधिक मेहनत करो, अपनी सामर्थ्य को बढ़ाओ। जितना बड़ा परिवार हो, उतनी बड़ी साभर्थ्य बढ़ाओ कि 'मैं सारे परिवार को सुखी करूँगा।' यह नहीं कि उससे भागो,

यह तो सामर्थ्य की कमी की बात हुई। वैदिक का दृष्टिकोण सामर्थ्य बढ़ाना है। सामर्थ्य न बढ़ाना, परिस्थितियों से झुकना द्वैतवादी का दृष्टिकोण है, क्योंकि वह तो सीमित को मानता है। जितना-जितना यह असीम आत्मदर्शन होता है उतना तुम्हारा परिवार बढ़ता है और जो लोग दो-चार परिवारों का ही पोषण करने में सामर्थ्य वाले नहीं हैं, वे सर्वभूतात्मता के नाम से ही घबरा जायेंगे। असीम आत्मदर्शन होने पर तो अनंतकोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारा परिवार बन जायेगा, सबका दुःख तुम्हारा दुःख हो जायेगा। जो चार का दुःख ही नहीं सम्भाल पाते, वे वहीं घबरा जाते हैं। यहाँ सामर्थ्य का अभिवर्द्धन है। वह सामर्थ्य कैसे बढ़ती है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-४६

पुरुषयज्ञ करने वाला जिस अवस्था को प्राप्त करता है, वह साध्य देवावस्था है। देवों के दो भेद हैं—'साध्य देव' जिनकी उपासना परमेश्वर की प्राप्ति कराती है और दूसरे, 'देवता' जो क्षुद्र फल देते हैं, परमेश्वर की प्राप्ति के साक्षात् कारण नहीं बनते। क्यों नहीं बनते ? क्योंकि वे स्वयं परमेश्वर से अभिन्न नहीं बने हैं। साध्य देव वे हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को, अपनी अहंता को सर्वथा समाप्त कर दिया। चूँकि उनके अंदर अहंता का अभाव है इसलिये उनके अंदर केवल परमात्मा का संकल्प ही कार्य करता

है, यह उनकी सर्वभूतात्मरूपता है। इस सर्वभूतात्मरूपता के कारण ही वे समग्र सृष्टि के कार्यों को करते हुए भी उनके दुःखों से लिप्त नहीं होते। दुःखों की प्राप्ति होने के प्रति कारण पदार्थों से तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा बद्ध हो जाना है। दुःख के प्रति कारण बन्धन या असमर्थता ही है। सामर्थ्याभाव होने पर दुःख होता है। 'अस्माकं दुःखसम्प्राप्तिः अनैश्वर्यकृतैव तु' भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बताया कि हमें जो दुःख की प्राप्ति होती है उसका कारण अनैश्वर्य है अर्थात् ईश्वरभाव से रहितता, सामर्थ्यरहितता है। जैसे-जैसे सामर्थ्य का अभिवर्द्धन होता है वैसे-वैसे दुःख घटता है।

जब तक चेतना है तब तक उसमें से ज्ञान, इच्छा, क्रिया की सामर्थ्य कभी जाने वाली नहीं है, यह निश्चित समझना। जहाँ, जिस देहादि में चेतन है, वहाँ वह चेतन कुछ न कुछ अवश्य जानेगा। पदार्थ होगा तो पदार्थ को जानेगा, पदार्थ का अभाव होगा तो पदार्थ के अभाव को जानेगा। इसी प्रकार जहाँ चेतन है वहाँ इच्छा अवश्य है। या किसी पदार्थ की इच्छा होगी अथवा पदार्थ के अभाव की इच्छा होगी। पदार्थ के अभाव की इच्छा को निवृत्ति कहते हैं और पदार्थ के भाव की इच्छा को प्रवृत्ति कहते हैं। जहाँ चेतन रहेगा वह या पदार्थ की तरफ प्रवृत्ति करेगा या पदार्थ से निवृत्ति करेगा, लेकिन इच्छा का लोप सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जहाँ चेतन रहेगा, वहाँ क्रिया ज़रूर रहेगी। पदार्थ और पदार्थ का अभाव दोनों ज्ञान का विषय हैं। घड़े को भी जानते हो और इस कमरे में घड़ा नहीं है—इस बात को भी जानते हो। इसी प्रकार रसगुल्ले को चाहते हो या 'मुझे रसगुल्ला नहीं खाना है' यह चाहते

हो। जैसे पदार्थ का ज्ञान और पदार्थाभाव का ज्ञान दोनों हैं तो ज्ञानरूप ही, वैसे ही पदार्थ की इच्छा और पदार्थ के अभाव की इच्छा दोनों हैं तो इच्छारूप ही। जहाँ चेतन रहेगा, वहाँ इच्छा भी हमेशा रहेगी। इसी प्रकार क्रिया भी दो प्रकार की है : विषय को लेकर क्रिया अथवा विषय की तरफ जो क्रिया होती है वह और उसको रोकने की क्रिया। जैसे किसी गेंद को लुढ़काना एक क्रिया है, वैसे ही उस गेंद को लुढ़कने से रोकना भी तो क्रिया ही है। जो गेंद-बल्ला खेलते हैं, उसमें एक गेंद को फेंकता है और दूसरा उसको बल्ले से रोकता है। दोनों परिश्रम करते हैं। गेंद मारना जैसे क्रिया है, बल्ले से उसको रोकना भी वैसी ही क्रिया है। जैसे ज्ञान में भी पदार्थ का ज्ञान और पदार्थ के अभाव का ज्ञान, इच्छा में भी पदार्थ की इच्छा और पदार्थ के अभाव की इच्छा, वैसे ही क्रिया में भी पदार्थ की क्रिया और पदार्थ के अभाव की क्रिया है। जहाँ चेतन रहेगा, वहाँ ज्ञान, इच्छा, क्रिया अवश्य रहेंगे।

असामर्थ्य का मतलब होता है कि इन तीनों चीज़ों में दो का तीसरे के साथ विरोध हो जाना। मैं जानता हूँ कि सत्य बोलना ठीक है लेकिन धन कमाने के लिये झूठ बोलने की मेरी इच्छा है और झूठ बोलने की क्रिया भी करता हूँ। यहाँ इच्छा और क्रिया का ज्ञान के साथ विरोध हो गया। इसका नाम अनैश्वर्य या असामर्थ्य है कि सत्य बोलना ठीक जानने पर भी इच्छा और क्रिया के साथ उसका विरोध है। मैं चाहता हूँ कि मेरे घर में रहने वाले सब लोगों के पास सब कमरों में एक वातानुकूल लग जाये, लेकिन कैसे लगता है—इसका ज्ञान नहीं है और न लगाने की क्रिया कर सकते हैं, बाजार से खरीद कर भी नहीं ला सकते। यहाँ इच्छा

का ज्ञान और क्रिया से विरोध हुआ। इसी प्रकार चिकित्सक या वैद्य रोगी को दवा देने की क्रिया करता है लेकिन उसे यही पता नहीं है कि इसका रोग क्या है और न रातभर पुस्तकों को लेकर पढ़कर यह पता लगाने की इच्छा ही है। क्रिया तो कर रहा है और चाहता भी है कि रोगी का रोग दूर हो जाये और रोगी ठीक हो जाये, लेकिन न तो उसको ठीक करने के लिये निदान कर पा रहा है और न उतनी इच्छा ही है कि सारी रात जगकर पता ही लगाये। यहाँ क्रिया का ज्ञान और इच्छा से विरोध है। इसलिये असामर्थ्य का मतलब होता है कि इन तीन के अंदर दो का एक से विरोध हो जाना। यह असामर्थ्य ही दुःख का बीज है।

संसार में आदमी सबसे झगड़ सकता है लेकिन कौन-सा ऐसा झगड़ा है जो मनुष्य को भयंकर कष्ट देता है ? वह घर का झगड़ा है। यदि पति और पत्नी का झगड़ा है तो वह जितना कष्टप्रद होता है, उतना कष्टप्रद मकान-मालिक और किरायेदार का झगड़ा नहीं होता। दुकान में पिता-पुत्र का झगड़ा जितना कष्टप्रद होता है, उतना हिस्सेदारों का झगड़ा कष्टप्रद नहीं होता। हिस्सेदार को तो यह कहने में देरी नहीं लगती कि 'भैया ! तेरी-मेरी नहीं बनती तो आज से हिस्सेदारी खत्म करते हैं, अपना बने सो ले जाओ और मेरा बने सो दे जाओ।' लेकिन पुत्र को क्या कहें ! कितना भी व्यापार खराब हो, अंत में उसी का है और ठीक रहे तो भी अंत में उसी का है। यह जानते हुए भी अपनी आँखों के सामने देखते-देखते मिट्टी का तेल लगाकर आग कैसे लगा दें ! हिस्सेदार को निकालना तो सरल हो गया, ग़लती करता है तो निकाल दो, आगे हिस्सेदार को कुछ नहीं देना पड़ेगा; लेकिन लड़के को निकाल

दोगे तो भी अंत में उसी के पास सब जाना है। व्यापार में पिता-पुत्र का झगड़ा जो कष्ट दे रहा है, वह कष्ट कभी भागीदारों में नहीं होता। इसी प्रकार मकान-मालिक और किरायेदार का झगड़ा कभी उतना कष्ट नहीं दे सकता जितना पति और पत्नी का झगड़ा कष्ट देता है। इसका कारण यह है कि घर का झगड़ा हमें रात-दिन सालता रहेगा।

पति और पत्नी का झगड़ा भी असल में आंतरिक झगड़ा नहीं है। उसकी अपेक्षा भी आंतरिक झगड़ा शरीर के दो अंगों में आपस में झगड़ा है। जिसे तुम्हारे खून का कैंसर कहते हैं उसमें खून का ही एक बिन्दु दूसरे बिन्दु को खाने लगता है। पति-पत्नी झगड़ा करके कम से कम रात में जब नींद लेते हैं तब तो शान्त हो जाते हैं। लेकिन खून के दो कणों का आपस में झगड़ा तो एक क्षण भी शांत नहीं हो सकता। यह उस झगड़े की अपेक्षा ज़्यादा अंतरंग है। जैसे शरीर के अंदर खून में झगड़ा, ऐसे ही शरीर के अंदर हमारा झगड़ा होता है। पेट में एक प्रकार का अम्ल निकलता है जो भोजन को पचाता है। अगर वह अम्ल ज़्यादा निकलता है तो मनुष्य के रक्त में पहुँचने से रक्त में उत्तेजना आती है, उसी को पित्त बढ़ना कहते हो। यदि इन दोनों तत्त्वों में विरोध हो जाये तो अम्लपित्त की शिकायत हो जाती है। इसमें बाहरी कारण कुछ नहीं है, शरीर के ही दो अंगों का विरोध हो गया। अथवा पेट कहता है कि 'हमें ऐसा भोजन दो जो खूब चबाया हुआ हो।' दाँत कहते हैं कि 'हमें चबाना अच्छा ही नहीं लगता।' बहुत-से लोग भोजन करते हैं, लेकिन उसे अच्छी तरह से चबाते नहीं जबकि एक कौर को बत्तीस बार चबाने का विधान है। अच्छी तरह

चबाओगे तो छह महीने में विचित्र स्थिति देखोगे कि भोजन आधा हो जायेगा अर्थात् खाने की मात्रा कम होती जायेगी। शरीर की पुष्टि बढ़ जायेगी और वायु या वादी का फूलना खत्म हो जायेगा। व्यापारी को तो खुश होना चाहिये कि घर का आधा खर्च बच जायेगा ! भोजन कम खाओगे, शरीर ज़्यादा पुष्ट होगा, वादी नहीं बढ़ेगी। इसलिये पेट कहता है, 'हे दाँत ! यह काम भगवान् ने तुम्हें दे रखा है, मुझ पेट में भगवान् ने दाँत नहीं बनाये। तुम बिना पूरा चबाये देते हो तो मैं उसका क्या करूँ ?' दाँत कहते हैं कि 'हम इतना परिश्रम क्यों करें?' तुझे भरने के लिय हम बत्तीस बार क्यों चलें ? हम तो केवल इतने छोटे टुकड़े कर देंगे जो गले से नीचे उतर जायें, बस इससे ज़्यादा काम करने वाले नहीं हैं।' बदहज़मी इसीलिये हो जाती है कि दाँत और पेट का आपस में झगड़ा रहता है। दाँत कहते हैं—'तू इतनी भूख लगाता ही क्यों है कि मुझे इतना काम करना पड़े ! तू ज़रा कम काम किया कर तो मुझे भी कम काम करना पड़े।' यदि छह महीने के लिये पेट और दाँतों का समन्वय हो जाये तब दाँतों का काम भी खुद कम हो जायेगा, जब आधा खाने लगोगे तो दाँतों का काम भी कम हो ही जायेगा। शरीर के अन्दर होने वाला यह विरोध पति-पत्नी के विरोध से भी भयंकर है। बुखार या ज्वर क्या है ? शरीर के रक्त के अणुओं के अन्दर परिवर्तन लाया जाता है, उसी का नाम ज्वर है। ज्वर शरीर के रक्तकणों का आपस में संघर्ष है। शरीर में एक सफेद रक्त होता है, उसकी संख्या बढ़ जाती है। बस जितना यह बढ़ा, उतना ही तुम्हारा बुखार तेज़ होता जायेगा।

शरीर के युद्ध या संघर्ष की अपेक्षा मन के विचारों में,

अंतःकरण में संघर्ष होना और भयंकर है। बाहर के संघर्ष से घर का संघर्ष बुरा, घर के संघर्ष से शरीर का संघर्ष बुरा और शरीर के संघर्ष से मन का संघर्ष बुरा होता है। मन में दो विरोधी बातें आती हैं कि 'मैं यह काम करूँ या न करूँ।' लड़की के लिये सम्बन्ध आ रहे हैं। एक आदमी लखपति है, लड़का देखने में सुन्दर है, घर का व्यापार है, लेकिन लड़का पढ़ा-लिखा नहीं है, स्वभाव भी उसका तेज़ है, खर्चीले स्वभाव का है। दूसरा लड़का गरीब माँ-बाप का है, नौकरी कर रहा है, पढ़ा-लिखा बहुत अच्छा है, रंग ज़रा पक्का है, स्वभाव और शील उसका बड़ा सुन्दर है। लड़की के लिये दो लड़के सामने आये। मन में संघर्ष चलता है कि 'यह या वह।' यह संघर्ष जब तक हल नहीं होगा, तब तक रात में जब भी अकस्मात् आँख खुलेगी तब झट मनीराम कहेगा कि 'रंग पर ध्यान दूँ या स्वभाव पर ? नौकरी करता है; हो सकता है कि थोड़े दिनों बाद इसकी तरक्की हो जाये ! लेकिन आज के ज़माने में गरीब को कौन तरक्की देता है ! इसलिये लाख रुपये वाला ही ठीक है। स्वभाव ज़रा खराब है तो क्या हुआ ? लड़की जाकर उसको सुधार लेगी, धीरे-धीरे स्वभाव बदल जाता है। लेकिन मेरे जेठ जी का स्वभाव तो अभी तक नहीं बदला !' रात में एक बजे पानी पीने के लिये आँख खुली थी लेकिन मन का युद्ध छिड़ गया। इसलिये शरीर के युद्ध से भी खराब मन का युद्ध है।

एक हमारे प्रिय व्यक्ति कहते हैं कि 'मुझे जब चिन्ता हो जाती है तब एक दिन में मेरा एक किलो वजन घट जाता है।' ऐसा होता है। हमारे यहाँ एक प्रसिद्धि है : एक पहलवान बड़ा तगड़ा था। राजा का हाथी बाजार से निकला करता था। वह पहलवान

भी एक हाथी की तरह ही या सांड की तरह ही था ! सवेरे उठकर घुटे बादाम सहित पाँच सेर दूध पिये, और तीन हज़ार दण्ड निकाले। जब भी राजा का हाथी निकले, वह पीछे से जाकर उस हाथी की पूँछ पकड़ ले और वह हाथी बड़ा तड़फड़ाये लेकिन उसके हाथ की पकड़ से न निकल पाये ! अंत में महावत उसके हाथ-पैर जोड़े तब छोड़ दे। राजा तो कभी-कभी हाथी की सवारी पर बैठता है। राजा महीने-दो महीने बाद उस हाथी पर बैठा तब देखा कि हौदा ज़्यादा हिल रहा है। ध्यान दिया तो पता चला कि हाथी ज़रा दुबला हो गया है। हौदा हमेशा हाथी के माप का बनता है, तभी वह पूरी तरह से कसा जाता है। राजा ने महावत से पूछा कि 'इसका ख्याल कम रखते हो क्या ? कल से इसे ज़रा ज़्यादा खिलाया कर।' महावत बेचारा चुप रहा। महीने-दो महीने बाद वह हाथी और दुबला हो गया। फिर एक दिन राजा उस पर बैठा तो हौदा झूलने लगा। राजा ने महावत को और डाँटा। इस बार महावत ने हाथ जोड़कर कहा, 'राजन् ! खिलाने से कुछ नहीं होगा।' राजा ने पूछा, 'क्या बात है, कुछ तकलीफ हो गई है ?' महावत ने कहा, 'इसके शरीर में नहीं मन में तकलीफ हो गई।' 'मन में किस बात की तकलीफ है ?' महावत ने बताया 'यहाँ एक सांड जैसा आदमी रहता है और जब कभी यह हाथी इधर से निकलता है वह इसकी पूँछ पकड़ लेता है। हाथी को अपने बल का बड़ा अभिमान होता है। जब यह उसकी पकड़ से नहीं छूट पाता तब बेचारा दुःखी हो जाता है कि 'मेरा इतना बड़ा बल व्यर्थ का है !' अब तो यह स्थिति हो गई है कि कभी उस रास्ते से चलने का नाम भी लेता हूँ तो कई बार अंकुश मारने पर ही

यह उधर पैर बढ़ाता है, नहीं तो हिलता नहीं है। यही कारण है कि इसका मन चिंताग्रस्त है।'

राजा ने घर आकर मंत्रियों से कहा कि ऐसा काण्ड हो गया है, क्या किया जाये ? राजा का हुक्म गया और उस पहलवान को पकड़ मँगवाया। वह आया तो राजा ने पूछा कि 'तू ऐसा क्यों करता है ?' उसने कहा, 'आपका इतना लम्बा-चौड़ा हाथी है, आप इसे अच्छी तरह से पालते हैं, मैंने इसकी पूँछ पकड़ ली तो क्या गलती कर ली ?' राजा ने कहा, 'तू ऐसा न किया कर।' उसने कहा 'मेरे मकान के सामने से निकलेगा तो ज़रूर करूँगा।' राजा ने बड़ा समझाया लेकिन उसने कहा 'मुझे परवाह नहीं, मेरी आदत है।' थोड़े दिनों में हाथी और दुबला हो गया तो राजा को चिन्ता हुई। मंत्रियों से कहा कि 'कोई उपाय करो।'

किसी तरह पहलवान की ताकत कम हो तो काम चले। उसकी ताकत कैसे कम हो ? मंत्रियों ने एक उपाय निकाला। एक मंत्री उस पहलवान की माँ के पास चला गया और उससे कह दिया कि 'राजा तेरे लड़के का अपनी लड़की के साथ ब्याह करना चाहता है।' माँ बड़ी खुश हो गई कि यह तो मेरे बेटे का बड़ा भाग्य है। शाम को उसने अपने लड़के से जिक्र किया कि 'तुम्हारी ताकत को देखकर राजा प्रसन्न हो गया है और अपनी लड़की तुम्हारे साथ ब्याहना चाहता है।' लेकिन उसने कहा 'मैं ब्याह नहीं करूँगा क्योंकि गुरुजी ने मुझे मना कर रखा है।' खा-पीकर सोया तो सोचा 'गुरु जी ने मना तो किया लेकिन राजा की लड़की मिल जायेगी तो साथ में दहेज भी खूब मिलेगा, जन्म भर की चिन्ता मिट जायेगी !' फिर सोचा 'यह ताकत कहाँ से

रहेगी।' गुरु जी ने सब समझा रखा था। अब कभी दायें तो कभी बायें करवट लेता रहा ! एक मन कहे 'सुन्दर राजकन्या मिल रही है, ब्याह कर ले, साथ में दहेज मिलेगा।' दूसरा मन कहता, 'अरे! यह मस्ती कहाँ मिलेगी, यह तो चली जायेगी।' फिर करवट लेता 'यह मस्ती तो वैसे भी बुढ़ापे में रहनी नहीं है, आया हुआ दहेज और धन तो पास रहेगा।' फिर करवट लेता 'बुढ़ापे तक कौन जीता है ! बुढ़ापे के पीछे अभीं की मौज-मस्ती क्यों छोड़ दूँ ?' सवेरे उठे तो माँ रोज़ ज़ोर लगाये 'बेटा ! ब्याह कर ले।' दूध पीकर अखाड़े में उस्ताद के पास गया, पूछा 'राजकन्या से ब्याह कर लूँ ?' उस्ताद ने कहा, 'राजकन्या तो क्या, अगर उर्वशी भी आकर कहे तो नहीं फँसना।' वहाँ से खम ठोककर घर आये तो भोजन करते हुए माँ कहे, 'बेटा ! आँखें धुएँ से जल जाती हैं तेरे लिये रोटी बनाते हुए ! आज गाय बिदक गई, इसलिये घी नहीं निकाल पाई। अगर राजकन्या से तेरा ब्याह हो गया तो मेरा बुढ़ापा सुधर जायेगा और तेरे खाने का इन्तजाम ठीक रहेगा।' इसी में एक महीना बीत गया।

महीने भर बाद फिर वह हाथी उधर से निकला तो इसने जैसे ही हाथी की पूँछ पकड़ी और हाथी ने ज़ोर से धक्का मारा तो यह गिर गया ! महावत ने जाकर राजा को खबर दी कि 'अब अपना हाथी ठीक हो जायेगा।' थोड़े दिनों में हाथी तगड़ा होता चला गया। अगली बार जब हाथी उधर से निकला तो इसकी हिम्मत नहीं पड़ी कि पास जाकर उसकी पूँछ पकड़े; डरे, कि कहीं धक्का न दे दे। हाथी और तगड़ा होता चला गया। अंत में इसने विचार किया कि लगता है बुढ़ापा पहले ही आ गया है। माँ से

कहा 'राजा को खबर भेज दे कि मैं ब्याह करने के लिये तैयार हूँ।' माँ बड़ी खुश हुई। दौड़ी-दौड़ी मंत्री के पास गई और कहा कि 'राजा को खबर कर दो कि मेरा लड़का ब्याह करने को तैयार है।' मंत्री ने कहा कि 'वह पानी अब मुलतान गया ! तीन महीने हो गये, वह समय गया। अब राजकुमारी का ब्याह तुम्हारे जैसे कंगलों के यहाँ होना है ?' उसने कहा कि 'आप ही रिश्ता लेकर आये थे ?' तब मंत्री ने कहा कि 'हमारा काम हो गया, हमारा हाथी तगड़ा हो गया है।' उसने पहलवान को चिंता लगा दी थी, उसी चिन्ता के मारे वह बेचारा कमज़ोर हो गया। इतना ही उन्हें करना था। यही संसार का रूप है।

मन के अन्दर जब संघर्ष चलता है तब वह मनुष्य की सारी शक्ति को क्षीण कर देता है, नष्ट कर देता है। बाहर के झगड़ों की अपेक्षा घर का झगड़ा बुरा, घर के झगड़े की अपेक्षा शरीर का झगड़ा बुरा, शरीर के झगड़े की अपेक्षा मन का झगड़ा बुरा और मन के झगड़े की अपेक्षा आत्मा का झगड़ा सबसे बुरा। आत्मा में ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों शक्तियों का जब समन्वय नहीं होता, इन तीनों का संघर्ष चलता है, तब वह आत्मा को अनैश्वर्य में ले जाता है। आत्मा ईश्वर से एक है। वह आत्मा अनीश्वर अर्थात् ईश्वरभाव से हटकर जीवभाव को इसलिये प्राप्त कर गया है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों में समन्वय नहीं हुआ। अनंत शक्ति वाला, परब्रह्म से अभिन्न आत्मा जीवभाव को प्राप्त करके अत्यंत तुच्छ सुख-दुःखों से परेशान है। कसरती लड़के के शरीर की धमनियों में जब रक्त का दौर होता है, जिस समय कसरत करने पर शरीर के पुट्ठों में तनाव आता है, उस

समय जो आनंद उसे आता है, वह आनंद संसार के किसी सुख में नहीं मिलता है। अपने रक्त की धमनियों में रक्त के संचार का जो सुख होता है, उसके सामने तुम्हारे संसार के द्रव्य आदि से प्राप्त होने वाला सुख कुछ नहीं है। लेकिन वह सुख तब हो जब अपने अन्दर के मन के विरोध को छोड़ सको। आज की सारी संस्कृति तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में केवल झगड़ा उत्पन्न कराने की संस्कृति है ! भारतीय संस्कृति ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनों की एकता पर ज़ोर देती है। दूसरी संस्कृतियाँ उस पर बल नहीं देतीं। इसीलिये जितने तुम्हारे विज्ञापन हैं, वे केवल तुम्हारे मन में इच्छा उत्पन्न करते हैं, न उनको प्राप्त करने का धन देते हैं और न उनसे काम लेने का ज्ञान देते हैं। केवल इच्छा का ही अभिवर्द्धन करते हैं। पाठशालाओं में जाते हैं तो तुम्हें ज्ञान तो देते हैं, ज्ञान बढ़ाते हैं लेकिन उस ज्ञान से जो प्राप्त होता है, उसके लिये सच्ची इच्छा नहीं पैदा कर पाते हैं। वहाँ सीखते हैं कि सत्य बोलना चाहिये लेकिन सत्य बोलने की इच्छा उत्पन्न कराने में वे असमर्थ रहते हैं। वहाँ तुमको इतिहास भूगोल पढ़ाते हैं लेकिन उससे जो इच्छा उत्पन्न होनी चाहिये, इच्छा करनी चाहिये, वह नहीं कर पाते। स्वयं पढ़ाते हैं कि यह खाना और यह नहीं खाना। लेकिन उसके लिये मन में इच्छा उत्पन्न नहीं कर पाते। इसलिये विद्यालयों में तुमको ज्ञान सिखाया लेकिन जो सिखाया उसकी इच्छा पैदा नहीं हुई।

इलाहबाद की अर्द्धकुंभी में बनारस के एक सरकारी डाक्टर मेले की ज़मीन के स्वास्थ्य-विभाग के अधिकारी डाक्टर बनाये गये थे। एक दिन हमने उन्हें मोड़ पर देखा कि खड़े हुए चाट

खा रहे थे। चारों तरफ उन्होंने छपा कर कागज़ लगा रखे थे कि 'बाजार की चीज़ें मत खाइयेगा क्योंकि उन पर मक्खियाँ बैठती हैं, इसलिये रोग की सम्भावना होती है।' हम उधर से निकले तो उन्होंने झट से पत्ता फेंक दिया, हाथ धोये और नमस्कार किया। हमने कहा—'यह क्या कर रहे थे ?' कहा, 'इधर से निकले थे, इसकी चाट बहुत बढ़िया होती है, सोचा खा लें।' हमने कहा, 'फिर चारों तरफ ये कागज़ कैसे लगा रखे हैं ?' कहते हैं, 'यह तो आफिस का काम है।' स्वयं लिख रखा है कि 'बाजार की चीज़ें मत खाइये, रोग का खतरा है' और खुद ही उसका उल्लंघन कर रहे हैं। जो उन्होंने आयुर्वेद विद्यालयों में, मेडिकल कॉलेजों में जाकर पढ़ा, उससे उनके हृदय में इच्छा उत्पन्न नहीं हुई।

तुम्हारे विद्यालय ज्ञान देते हैं, इच्छा उत्पन्न नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, उस ज्ञान को इच्छा, क्रिया रूप में परिणत करना भी नहीं सिखाया जाता। बड़े-बड़े विज्ञान के शास्त्री और आचार्य से कुछ करने को कहो तो कुछ नहीं कर सकते। किताबें बता देंगे। पढ़े इंजिनीयरी हैं लेकिन उनसे कहो कि इस पंखे के अन्दर ज़रा तेल दे दो तो कहते हैं कि मिस्त्री को बुलाओ ! न वह कार्य करना बताते हैं और न उसकी इच्छा पैदा करते हैं। विज्ञापन वाले इच्छा पैदा करते हैं तो न ज्ञान देते हैं और न प्राप्त करने की क्रिया देते हैं। विद्यालय ज्ञान देते हैं तो इच्छा और क्रिया नहीं देते।

अगर किसी व्यापारी के यहाँ या किसी दूसरे मिस्त्री के पास जाकर शागिर्दी करो तो वह सारी क्रिया सिखा देगा कि ऐसे माल खरीदा जाता है, ऐसे बेचा जाता है या मिस्त्री के यहाँ अमुक चीज़ ऐसे बनाई जाती है; यह सब तो वह बता देगा। उससे आगे पूछें

कि 'ऐसा क्यों करते हैं ?' तो व्यापारी कहता है कि हमारे बाप-दादा भी ऐसे ही कमाते आये हैं। जवाब नहीं बताते। जहाँ करना बताते हैं, उनके पास ज्ञान नहीं है और इच्छा भी नहीं है। जैसी क्रिया कर रहे हैं, उस क्रिया को हम इससे और श्रेष्ठ कैसे बनायें—यह भी नहीं सिखायेंगे। व्यापार के अन्दर दुकान में बाप-बेटे का यही झगड़ा होता है। बेटा किसी चीज़ का परिवर्तन करना चाहता है लेकिन क्योंकि बाप को अभ्यास पड़ा है इसलिये बाप कहता है कि 'नई-नई बातें मत लाओ' अर्थात् उस क्रिया से और अच्छी तरह से करने की इच्छा भी नहीं है। इसलिये जहाँ क्रिया मिलती है, वहाँ ज्ञान और इच्छा नहीं, जहाँ ज्ञान मिलता है, वहाँ इच्छा और क्रिया नहीं और जहाँ इच्छा मिलती है, वहाँ ज्ञान और क्रिया नहीं है। इसलिये सर्वत्र संघर्ष बढ़ाया जा रहा है। लेकिन सारा भारत राष्ट्र यदि इस दृष्टि से चले कि हम इन तीनों को इकट्ठा करेंगे तब तो समझो कि आनंद के लिये यत्नशील हैं। पहले से चीज़ें बढ़ीं लेकिन दुःख बहुत बढ़ गया। दुःख इसीलिये बढ़ रहा है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय नष्ट होता जा रहा है। अनैश्वर्य का मतलब हुआ आदमी के अन्दर होने वाला संघर्ष। जब तक इस संघर्ष को दूर नहीं करोगे तब तक ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होने वाली है।

एक बात ध्यान में रखना : हमने यह नहीं कहा है कि जितना ज़्यादा ज्ञान, जितनी ज़्यादा इच्छा या जितनी ज़्यादा क्रिया होगी, उतना ही ऐश्वर्य ज़्यादा होगा। बहुत से लोग ऐसा ही समझते हैं कि ज्ञान, इच्छा, क्रिया जितनी बढ़ेगी उतना ऐश्वर्य ज़्यादा होगा। यह हमने नहीं कहा है। हमने कहा है कि यदि तुम्हारे पास दो

ज्ञान और वही दो इच्छायें और दो क्रियायें हैं तब ठीक है और यदि तुम्हारे पास पचीस ज्ञान, पचीस इच्छा और पचीस क्रिया हैं तो तुमको उतना ही सुख होगा जितना दो-दो ज्ञान-इच्छा-क्रिया वाले को है। इसे न समझकर बहुत बार आदमी को लगता है कि पहले से हमारा ज्ञान बढ़ गया तो शायद प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा हमारा ऐश्वर्य बढ़ गया। लोग आकर कहते हैं—'स्वामी जी, देख लीजिये कितनी उन्नति हो गई है। लोग चन्द्रमा में पहुँच रहे हैं।' वे समझ रहे हैं कि इससे ऐश्वर्य बढ़ रहा है। लेकिन हम कहते हैं कि इसका नाम ऐश्वर्य नहीं है। यदि चन्द्र में पहुँचने की इच्छा, क्रिया का समन्वय हुआ है तो ठीक है और यदि यह नहीं है तो तुमने एक चीज़ तो बढ़ा दी और दूसरी दो जितनी कम रह जायेंगी उतना ही तुम्हारा दुःख बढ़ जायेगा। गर्मी में हाथ का पंखा चाहिये और हाथ का ही पंखा गाँव में देखा है पर वह नहीं है। उसका दुःख ज़्यादा होगा या बिजली का पंखा, वातानुकूल देखकर जब हाथ का पंखा भी नहीं है, तब ज़्यादा दुःख होगा ? हाथ के पंखे का अभाव तो दुःख दे ही रहा है, लेकिन दूसरे के घर में बिजली का पंखा देखकर वह दुःख दुगना हुआ और फिर किसी के घर वातानुकूल देखा तो वही दुःख चौगुना बढ़ गया। तुम कहते हो कि आनंद हुआ, हम कहते हैं कि दुःख बढ़ा। लेकिन यह दुःख किसने बढ़ाया ? विज्ञान की उन्नति ने दुःख नहीं बढ़ाया, बल्कि उसके साथ-साथ इच्छा और क्रिया की उन्नति न करने से दुःख बढ़ा। इसलिये वैदिक सिद्धान्त कहता है कि ज्ञान बढ़ाओ लेकिन जितना ज्ञान बढ़ाओ उतनी ही ताकत से इच्छा और क्रिया भी बढ़ाओ। ज्ञान, इच्छा, क्रिया के समन्वय को हाथ से न निकलने

दो। जहाँ पूरी शक्ति से तुम ज्ञान ही बढ़ाते हो, वहाँ तुम दुःखी हुए। लेकिन तुमने जो शक्ति प्राप्त की यदि उसमें एक-तिहाई से ज्ञान बढ़ाया, एक तिहाई को इच्छा बढ़ाने के लिये और एक-तिहाई को क्रिया बढ़ाने के लिये प्रयोग किया तब तो जितनी आगे उन्नति करोगे उतना तुम्हारा सुख बढ़ता रहेगा।

वेदांत विज्ञान का विरोध नहीं करता, एकांगी बढ़ने का विरोध करता है। जैसे शरीर के अन्दर मांस-पेशियों के बढ़ने का विरोध चिकित्सक नहीं करता लेकिन केवल अंगुली ही फूल जाये तो उसका नाम शोथ हो जाता है, दवाई लगानी पड़ती है। यदि सारा शरीर एक जैसा गठ कर निकले तो उसको बीमारी नहीं मानते। विज्ञान की उन्नति से विरोध नहीं है। लेकिन जब विज्ञान केवल ज्ञान पर चलता है, साथ में इच्छा और क्रिया के महत्त्व को नहीं समझता तब उससे दुःख होगा। उस दुःख से बचना आवश्यक है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों में समरसता या सामंजस्य होना ऐश्वर्य है। अधिक ज्ञान, अधिक इच्छा, अधिक क्रिया से ऐश्वर्य नहीं बढ़ता; जितना तीनों की समानता है, उतना ऐश्वर्य बढ़ता है। हो सकता है कि एक सामान्य रैदास जूता गांठते हुए भी अपने ज्ञान, इच्छा और क्रिया को एक जैसा कर गया। वह ऐश्वर्यभाव को प्राप्त हो गया। यदि चन्द्रमा पर ले जाने वाला वैज्ञानिक भी इच्छा और क्रिया को इकट्ठा नहीं कर पाया तो वह ऐश्वर्यरहित रह गया। जो सामर्थ्य वाला है उसको दुःख का समागम नहीं होता। उसकी क्रिया काफी बढ़ी है तो ज्ञान और इच्छा भी बढ़ी हुई है। हमें लग सकता है कि अमुक क्रिया में दुःख है लेकिन उसे नहीं लगता क्योंकि ज्ञान और इच्छा में सामरस्य

है। जब सामरस्य बढ़े तब सुख बढ़ता है। इस सामरस्य की प्राप्ति को ही ऐश्वर्य की प्राप्ति कहते हैं।

प्रवचन-४७

पुरुषयज्ञ के द्वारा विराट्-भाव को प्राप्त करने वाले, ईश्वर के साथ अपने को सर्वथा अभिन्न करने वाले, और इसीलिये जिनकी उपासना से ईश्वरभाव की प्राप्ति सम्भव है ऐसे साध्य देवों का वर्णन कर रहे थे। साध्य देवताओं का विचार करते हुए बताया कि इस प्रकार के भाव को प्राप्त करने पर दुःख बढ़ जायेगा, ऐसी सम्भावना नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बताया कि दुःख वहाँ होता है जहाँ सामर्थ्य-रहितता होती है। दुःख का कारण सामर्थ्य या ऐश्वर्य का न होना होता है।

प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि साध्यदेवभाव की प्राप्ति सबको नहीं होती ? जीवों के अंतःकरण अलग-अलग हैं। जीव और ईश्वर को अलग करने वाली उपाधि क्या है ? कौन-सी चीज़ जीव को जीव रखती है, ईश्वर नहीं बनने देती ? वह अंतःकरण ही है। मोटी भाषा में मन समझ लो। मन के कारण ही जीव जीवभाव में बँधा रहता है, ईश्वरभाव से एक नहीं हो पाता। इसीलिये बहुत से लोग कहते हैं कि मन है तो संसार है। किसी से मिलने पर बड़ा सुन्दर प्रश्न करते हैं कि 'तुमको अमन-चैन है या नहीं ?' अमन अर्थात् मन-रहित जो चैन वह तुमको है या

नहीं ? मन से होने वाली शान्ति या सुख तो क्षणिक ही होता है। लेकिन जब मन नहीं रहता, मन के पर्दों को जब फाड़ देते हो तब जो सुख होता है, वही वास्तविक चैन, असली सुख होता है। इसीलिये पूछते हैं कि अमन-चैन है या नहीं। लेकिन सुनने वाला जवाब देता है कि मन वाला चैन है अर्थात् घर वाले ठीक हैं ! इसका जवाब तो होना चाहिये कि निर्विकल्प समाधि का बड़ा आनंद है क्योंकि वहीं मन नहीं रहता। मन ही वह चीज़ है जो हमको ईश्वर से अलग करता है।

हमारे अन्दर एक सच्चा भोक्ता और एक झूठा भोक्ता है। सच्चे भोक्ता का रूप पहले बताया था, जो इस देह में इन्द्रिय-मन के अन्दर जलता हुआ प्रतीत होता है वह असली भोक्तृभाव वाला हैं। दूसरा नकली भोक्ताभाव है। उसको भी भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बताया

'क्रोध-हर्ष-भयोद्वेग-ज्ञानधर्मैर्विशेषयन्।
शरीरं यस्समुत्तस्थौ स भोक्तेत्यवसीयताम्।।'

दूसरा नकली भोक्ता 'जल' नहीं उठता है। उलटा क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग से कभी तो क्रोध वाला भोक्ता बन जाता है, क्रोध के धर्म को ज्ञान के क्षेत्र में ले आता है अर्थात् क्रोधी हो जाता है। कभी हर्ष वाला हो जाता है, कभी भयभीत हो जाता है और कभी उद्वेग वाला हो जाता है अर्थात् दूसरे के कुछ कहने से घबरा जाता है अथवा दूसरे के व्यवहार से अपने मन को दुःखी कर लेता है। इसमें सच्चा दुःख नहीं है। जैसे कोई थप्पड़ मारे तो गाल पर चोट लगी, यह तो दुःख हुआ। किसी ने रास्ते चलते हुए कोई एक बात कह दी तो उसे लेकर अपने मन में विक्षेप हो जाता है, इसी

को उद्वेग कहते हैं। यहाँ चार चुने—क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग; इनमें क्रोध रजोगुण बढ़ने पर होता है। जब मनुष्य के अन्दर सत्त्वगुण आता है तब हर्ष होता है।

हर्ष (प्रसन्नता) और आनंद में बड़ा फ़र्क है। संसारी लोग आनंद को तो जानते ही नहीं। वे प्रायः हर्ष को ही आनंद समझ लेते हैं। महर्षि भर्तृहरि ने बताया 'तृषा शुष्यति आस्ये पिबति मधुरं स्वादुसलिलं।' जब प्यास के कारण मुँह सूख रहा होता है, उस समय मीठा स्वादिष्ट जल, शर्बत या कोका कोला पीकर समझता है कि 'मुझे बड़ आनंद आ गया।' कहता भी है कि पानी पीकर बड़ा आनंद आया। यहाँ आनंद कुछ नहीं आया, बल्कि जो दुःख तुम्हें प्यास के कारण हो रहा था, वह दुःख दूर हो गया। इससे दुःख की निवृत्तिमात्र सिद्ध हुई, आनंद कहाँ आया ? इसी प्रकार जब अत्यंत भूख लगने पर भोजन कर लेता है तब सोचता है कि बड़ा आनंद आया। आनंद क्या आया ! केवल भूख का दुःख हट गया। इसी प्रकार अन्य अग्नियाँ जब शरीर को दहन करती हैं, उनकी शांति का उपाय करके समझता है, मुझे आनंद मिल गया। महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि यह आनंद नहीं है। यह जो 'सुखमिति विपर्यस्यति जनः' दुःख के हटने को ही भ्रम के कारण सुख मान लेता है। लोक में भी देखने में आता है : पहाड़ के ऊपर पहाड़ी लोग चढ़ते समय अपने ऊपर कुछ पत्थर रख लेते हैं। उनसे पूछा कि 'ये क्यों रख लेते हो ?' कहते हैं कि 'जब कड़ी चढ़ाई आती है तब ये पत्थर फेंक देते हैं।' उससे क्या होता है ? तो कहते हैं 'उस समय बड़ा सुख मिलता है कि इस चढ़ाई के ऊपर हमारा बोझ कम हो गया।' पहले अपने ऊपर बोझ रख

लिया, लगा कि 'मैं एक मन बोझ लेकर चल रहा हूँ।' जब तेज़ चढ़ाई आई, सोचा कि इस पर बड़ी मुश्किल पड़ेगी तब थोड़ा-सा वजन फेंक दिया तो हल्के हो गये ! यहाँ हल्के क्या हुआ ! बिना मतलब का इतना वजन लाद रखा था। जैसे वे लोग अपने बे-मतलब के बोझ को फेंककर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, वैसे हम लोग भी पहले अपने ऊपर दुःख चढ़ा लेते हैं, फिर जब उस दुःख को हटाते हैं तब मन में बड़े प्रसन्न हो जाते हैं कि हमें आनंद आ गया। आनंद भावरूप पदार्थ है, अभावरूप पदार्थ नहीं है। भूख, प्यास का मिटना आनंद नहीं, शरीर की अग्नियों का शांत होना आनंद नहीं है। आनंद एक भावरूप पदार्थ है।

किसी ने महाराज भर्तृहरि से पूछा केवल भावरूप की प्राप्ति कैसे होगी ? कहते हैं कि वह प्राप्ति संसार के पदार्थों से होने वाली नहीं है। वह कहाँ पर होगी, इसे बताते हैं—वह तब होगी जब गंगा के पवित्र किनारे पर, हिमालय की किसी बड़ी सुन्दर चट्टान के ऊपर बैठेंगे। कैसे बैठेंगे ? यह नहीं कि ठण्ड लग रही है तो उकड़ूँ होकर बैठेंगे। 'हिमगिरिशिला-बद्धपद्मासनस्थः' केवल पद्मासन लगाकर ही नहीं बद्धपद्मासन लगाकर बैठेंगे। उस समय जब अपने अन्दर परमात्मा का निरंतर प्रवाह चलेगा तब उस आनंद के कारण आँखों से आनंद के अश्रु बहने लगेंगे। आँखों से ऐसे आँसू बहेंगे मानो किसी झरने से पानी निकल रहा हो। छोटे-छोटे पक्षी आकर निर्भय होकर उन्हें पियेंगे ! आनंद के आँसू बड़े मीठे और ठण्डे होते हैं। दुःख के आँसू खारे तथा गरम होते हैं। जब मेरे हृदय के अन्दर जीव और शिव की एकता के आनंद के आँसू बहेंगे तब इतने बहेंगे मानो झरना बह रहा हो। पक्षी भी समझेंगे

कि यह कोई झरना है। ऐसा यदि एकाध आँसू भी निकल आता है तो मनुष्य का चित्त उत्फुल्ल हो जाता है। शरीर इतना स्थिर होगा कि पक्षियों को यह नहीं लगेगा कि यह कोई आदमी है। हरिणों या किसी भी पशु के सींगों में जब खाज चलती है तब वे खाज मिटाने के लिये किसी पत्थर पर जाकर अपने शृंग को रगड़ते हैं, उससे उनकी खाज मिट जाती है। उनके हाथ आदमी की तरह नहीं हैं जो वे हाथों से खाज मिटा लें। भर्तृहरि कहते हैं कि ऐसे हरिण आकर मेरे शरीर से अपने सींग घिसकर अपनी खाज मिटाया करेंगे ! छोटे-छोटे हरिण ही नहीं 'जरठहरिणाः शृंगकण्डू-विनोदं' बुड्ढे हरिण जिन्होंने खूब संसार के रूप को समझ लिया है, ऐसे वृद्ध हरिण; केवल अनुभवरहित छोटे हरिण ही नहीं बल्कि अनुभवपूर्ण हरिण आकर मुझे ऐसा स्थिर देखकर अपनी खाज मिटाते समय मुझे कोई मनुष्य नहीं समझेंगे। वे ही सुदिवस अर्थात् श्रेष्ठ दिवस होंगे जहाँ आनंद की पूर्णता होगी।

संसार के लोग केवल दुःख-निवृत्ति के अंदर ही आनंद समझते हैं। लेकिन दुःख मिटने का नाम सुख नहीं, बल्कि सुख एक भावपदार्थ है और वह बाह्य विषयों से कभी प्राप्त होने वाला नहीं है। वह हृदय के अन्दर प्राप्त होगा। जो बाह्य विषयों से सुख प्राप्त होता है, उस विषय के दूर हो जाने पर वह आनंद भी हट जाता है। लेकिन जो आत्मा के अंदर परमात्मा के प्रवेश से आनंद होता है, वह क्षणमात्र को हटता नहीं, क्योंकि आत्मा परमात्मस्वरूप हो जाने के कारण जब आत्मा एक बार परमात्मा के साथ मिल गया तब फिर कभी अलग नहीं हो सकता। कोई अलग होना चाहे तो कोई भी अपने आपे से अलग नहीं हो सकता।

बाह्य चीज़ों से अलग होना सम्भव है। अपने स्वरूप से अलग होना सम्भव ही नहीं है।

हर्ष का मतलब दुःख-निवृत्ति है। जब मनुष्य में तमोगुण का उदय होता है तब भय होता है जैसे रजोगुण उदय होने से क्रोध और सत्त्वगुण के उदय होने से हर्ष होता है। भगवान् ने भी गीता में बताया कि तमोगुणी भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस आदि की उपासना करता है। वह ऐसा क्यों करता है ? आजकल अधिकतर यही उपासना है। मरे हुओं की बड़ी उपासना होती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्दर भी मरे हुओं की समाधि पर जाकर माला चढ़ाते हैं तो उसमें उनके धर्म का कुछ नहीं बिगड़ता, लेकिन यदि मन्दिर में भगवान् की मूर्ति पर माला चढ़ाई जाये तो धर्मनिरपेक्षता चली जायेगी! देश में अधर्म नहीं बढ़ेगा तो क्या बढ़ेगा, क्योंकि पूजा मरे हुए की है। विदेशी लोग और अन्य धर्मावलम्बी लोग तो करते ही मरे हुओं की पूजा हैं। लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि इस राष्ट्र में भी धीरे-धीरे मरे हुओं की पूजा चल गई। यह मुसलमान या ईसाइयों की नकल है। तमोगुण का जो पूजक है, वह डरता रहता है। इसी भय से भूत-प्रेत की पूजा करता है कि मेरा कोई कुछ बिगाड़ न ले। आजकल अपने हृदय के अन्दर देखोगे तो पाओगे कि रुपये में ९९ पैसे आदमी भय के कारण परमात्मा की ओर प्रवृत्ति करते हैं। चाहे इस संसार के पदार्थों का भय हो या आगे आने वाले नरक का भय हो, कारण उसमें भय ही है। भय से होने वाली परमात्मा की उपासना आनंद नहीं दे पाती। यह दूसरी बात है कि उपासना किसी भी प्रकार की हो, दूसरे कामों से तो श्रेष्ठ ही है, लेकिन भय से होने वाली उपासना आनंद

नहीं देती। आनंद वह तभी देगी जब प्रेम से उपासना करोगे। परमात्मा मुझे नरक से बचा लेगा, इस भावना से की जाने वाली उपासना भयप्रयुक्त उपासना है। परमात्मा की उपासना किये बिना मुझसे रहा ही नहीं जाता—यह प्रेम वाली उपासना है। वही अंत में परमात्मा की प्राप्ति कराती है। क्रोध रजोगुण से, हर्ष सत्त्वगुण से और भय तमोगुण से होता है।

चौथा 'उद्वेग' अलग इसलिये कहा कि क्रोध, हर्ष और भय में तो कोई कारण होता है, उद्वेग वास्तविक कारण से शून्य होता है। एक अनुभव की बात है : एक बार हम और एक दूसरे मण्डलेश्वर जी घूमने गये हुए थे। घूमकर हम लोग वापिस आ रहे थे। हमारा शरीर ज़रा स्थूल था, साथ वाले मण्डलेश्वर जी का शरीर भी स्थूल था। उधर से दो लड़के मज़ाक करते हुए निकले कि 'बाबा लोग क्या खाते हैं, मोटे हो रहे हैं।' हमें हँसी आई और साथ वालों को गुस्सा आया। उनसे कहने लगे, 'अरे बच्चों ! तुम्हें बात करनी नहीं आती।' हमने उनका हाथ दबाया कि कालेज के लड़के हैं, मौज लेने दो। नियम है कि किसी दूसरे को उद्वेग हो तो उद्वेग कराने वाले को और मज़ा आता है। विचार करो कि लड़कों ने क्या कहा था ? उन्होंने न तो उन मण्डलेश्वर जी का और न हमारा नाम ही लिया था, 'संन्यासाश्रम के लोग' भी नहीं कहा था, 'बाबा लोग' कहा था। बाबा दादा को भी कहा जाता है। वह भी हमको ही विषय करने वाला वाक्य नहीं और 'मोटे हो रहे हैं' कोई बुरी बात नहीं है। अगर किसी आदमी से कहो कि 'बड़ा बुद्धिमान् है' और है वह बुद्धिमान् तो दुःखी नहीं होगा। ऐसे ही बाबा लोग बढ़िया माल खाते हैं, ठीक ही बात

कह रहे थे। पहली बात तो यह कि हमारे बारे में कहा या नहीं यह निश्चय नहीं और कहा भी है तो कोई बुरी बात कही हो, यह भी नहीं। अथवा तीसरी बात, अगर हमसे प्रश्न ही कर रहे हों कि 'क्या खाते हैं ?' तो बता दें कि सुबह बादाम का हलुआ और शाम को दाल का सीरा खाते हैं, बताने में कोई हर्जा नहीं। लेकिन उनके कथन को इस दृष्टि से नहीं समझा तो उद्वेग हो गया।

उद्वेग वह होता है जिसमें न हर्ष का, न क्रोध का और न भय का कारण होता है; उद्वेग बिना मतलब होता है। मेरा लड़का रोज़ पाँच बजे विद्यालय से आ जाता है, आज सवा पाँच बज गये। माँ भड़भड़ा रही है और पति से कहती है 'सवा पाँच हो गये मुन्ना अभी तक नहीं आया।' पति अभी-अभी दिन भर काम करके आया है और आरामकुर्सी पर लेटा हुआ समाचारपत्र पढ़ रहा है। पहले तो वह सुनकर रह जाता है। फिर कहती है, 'जी, पाँच बीस हो गये।' वह पत्नी से कहता है 'कोई चिन्ता नहीं, सूर्यास्त तो सात बजे होता है। स्कूल का लड़का है, हो सकता है बस मिलने में १५-२० मिनट की देरी हो गई होगी या टायर फट गया होगा।' लेकिन वह जब तक उस बेचारे को जूता नहीं पहना देगी, तब तक उसे शांति नहीं आने वाली। जैसे ही वह जूते का फीता कसता है वैसे ही लड़का आ जाता है। माँ को जो कुछ हुआ वह उद्वेग है। यदि पाँच बजे आने वाला आठ बजे तक नहीं आये तो स्वाभाविक है चिन्ता हो, लेकिन उद्वेग के स्वभाव वाला क्षण-क्षण में उद्विग्न होता है। खुद उद्विग्न होता है और उसके कारण दूसरे को भी उद्विग्न करता है। दूसरे के न चाहने पर भी

वह उसमें उद्वेग पैदा कर देता है। इसी प्रकार घर में लोगों को भोजन कर बुलाया है। उन्होंने साढ़े आठ बजे भोजन करने आना है। अभी छः बजे का समय हुआ है। उनमें अपने एक बड़े बॉस को भी बुला रखा है, फाइनेन्स सेक्रेटरी साहब को बुला रखा है क्योंकि उनसे बड़े काम लेने हैं। अब हर दूसरे मिनट में कहता है कि 'भोजन तैयार हो गया ?' घरवाली कहती है 'सब हो गया है, केवल आलूदम छोंकना रह गया है।' कहता है 'जल्दी किया कर।' अभी ढाई घण्टे उनके आने में हैं लेकिन वह हर क्षण में दोहराता रहता है। इसका नाम उद्वेग है। साढ़े आठ बजे भोजन का समय है, यदि साढ़े आठ बजे कहता है कि 'भोजन में देरी है क्या ?' और वह कहे कि 'अभी डेढ़ घण्टे की देरी है', तब तो कारण हुआ क्रोध का। लेकिन साढ़े आठ बजे के भोजन के लिये छह बजे से तगादा करना उद्वेग का ही लक्षण है। उद्वेग का कारण अंतःकरण की अस्थिरता है। इसीलिये उद्वेग को अलग रखा।

तमोगुण से भय हुआ, रजोगुण से क्रोध हुआ, सत्त्वगुण से हर्ष हुआ। लेकिन जिस समय अंतःकरण अनवस्थित होता है, उस समय उद्वेग होता है। तब एक गुण से दूसरे गुण में चलता जाता है। उसमें स्थिरता नहीं होती। इसीलिये उद्विग्न आदमी एक क्षण में क्रोधी और दूसरे क्षण में हर्ष वाला दीखेगा। यह उद्विग्न का लक्षण है क्योंकि विषय तो वहाँ कोई नहीं है। रसोईघर में गया और हलवे की खुश्बू आ गई तो हर्ष हो गया कि बढ़िया बना हुआ है। अगले ही क्षण पता चला कि आलूदम तैयार नहीं हुआ तो क्रोध आ गया और कहीं घर वाली ने कहा कि दही में

बास आ गई है तो भय कि 'कहीं वे लोग आ जायें और भोजन तैयार न हो तो?' इसी प्रकार माँ को सीढ़ी पर पैरों की आवाज़ आई तो लगा कि लड़का आ गया है लेकिन दूसरे क्षण वह आवाज़ सीढ़ी से ऊपर चली गई, ऊपर वालों का लड़का आया था, वह हर्ष क्रोध में बदल गया कि 'ऊपर वाला बस पर चढ़ सकता था तो यह क्यों नहीं चढ़ गया।' फिर भय हुआ कि कहीं बस में चढ़ते हुए गिर न गया हो। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने उद्वेग की अवस्था को अलग इसलिये गिनाया कि इसमें कोई स्थिरता नहीं होती। क्रोध के विषय में क्रोध, हर्ष के विषय में हर्ष और भय के विषय में तो भय होगा लेकिन उद्वेग तब होगा जब विषय इन तीनों में से कोई भी नहीं हो। इसलिये मन स्वयं ही तरह-तरह के कल्पना-जालों को बुनता जाता है।

यह एक विचित्र अवस्था है और इसको दूर करना असंभव है। क्रोधी आदमी को सम्भालना सरल है क्योंकि तुम्हें पता है कि इसे अमुक बात पर क्रोध आता है, वह बात न करो तो ठीक हो जायेगा। हर्ष वाले को सम्भालना कठिन नहीं है, वह तो वैसे ही बेचारा हर चीज़ में प्रसन्न होता है। भय वाले को सम्भालना भी सरल है क्योंकि भय के कारणों को दूर कर दो, एक ताबीज बँधा दो तो भूत-प्रेत दूर हो जायेंगे वह बेचारा शांत हो जायेगा। लेकिन उद्वेग वाले को सम्भालना असंभव है। क्यों असम्भव है? संस्कृतज्ञों में कहते हैं 'अव्यवस्थित-चित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः' जो लोग व्यवस्थित चित्त वाले नहीं होते, उनकी प्रसन्नता भी भयंकर होती है। व्यवस्थित चित्त वाला वह हुआ जिसके चित्त के बारे में हमको निश्चित पता है। हमको पता है कि घरवाला

थका हुआ आयेगा और घर में हँसकर बात करेंगे और उसके सामने दही-बड़ा रख देंगे तो खुश हो जायेगा। यह व्यवस्थित चित्त वाला हुआ। अव्यवस्थित चित्त वाला कैसा होता है ? एक दिन घर आया और तुमने हँसकर बात की तो बड़ा खुश हो गया। दही बड़ा सामने रखा तो और खुश हो गया। प्रेम से खाया और तारीफ करता है कि बड़ा अच्छा किया, बहुत बढ़िया बनाया है। दूसरे दिन आया तो फिर हँसकर बात करो; वह कहता है कि 'मैं थका-माँदा आया हूँ और तुझे हँसी सूझ रही है ?' सामने दही बड़ा रखो, कहता है 'घी का भाव तो कहाँ से कहाँ पहुँच रहा है, इस तरह घर बरबाद कर देगी !' तीसरे दिन बेचारी गम्भीर होकर रहे तो कहता है 'दिन भर तो अफसरों का मुँह देखते-देखते परेशान रहा, यहाँ भी वही हाल है। यह कोई घर है ! यहाँ कौन आना चाहेगा ! क्या बनाया है ?' कहा, 'जी, टोस्ट सेंक दिये हैं।' 'कुछ नहीं जानती ! अरे! दही बड़े बना दिये होते। सारी औरतें आजकल आलसी हो गईं हैं, कुछ बनाना ही नहीं जानतीं।' यह अव्यवस्थित चित्त वालों का मोटा दृष्टांत है।

सूक्ष्म चीज़ में जाओ तो पाओगे कि मनुष्य ज़्यादा अव्यवस्थित चित्त वाला होता है। सूक्ष्म जीवों में अधिकतर उसका चित्त व्यवस्थित नहीं होता। आज एक बात कहेगा, दो दिन बाद फिर दूसरी बात कह देगा। कब बदल जाये, कुछ ठिकाना नहीं। ज़्यादा कहो तो कहेंगे, 'समय के अनुसार बदलना सीखो।' असली बात यह है कि स्वयं अव्यवस्थित चित्त वाले हैं और दूसरे को भी अव्यवस्थित बनाते हैं। जैसे घर का वैसे ही राष्ट्र का हाल समझना। इस पुरुषसूक्त में व्यष्टि और समष्टि साथ-साथ चलते

हैं। राष्ट्र में आज इतना दुःख क्यों व्याप्त हो रहा है ? राष्ट्रनायक और राष्ट्रघटक सारे अव्यवस्थित चित्त वाले हैं। गांधी जी ने कहा कि इस प्रकार से आज़ादी लेनी है। फिर चाहे जितने परिवर्तन होते रहें, दो बातें उन्होंने नहीं बदलीं : निश्चित था कि आज़ादी के लिये लड़ना है और अहिंसा के मार्ग से लड़ेंगे। लोगों को पता था कि क्या करना है। आज राष्ट्रनायक अव्यवस्थित चित्त वाले हैं। आज उन्होंने एक तरह का कानून बनाया कि इस प्रकार का उद्योग खोलने वालों को छूट दी जायेगी। छह महीने बाद फिर उनका मन बदल गया, उस उद्योग पर अधिक कर लगा दिया और दूसरे उद्योगों पर छूट दे दी। यहाँ तक कि बड़ा परिश्रम करके लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके संविधान बनाया। उस संविधान को लागू हुए अभी बीस साल ही हुए हैं लेकिन छब्बीसवें संशोधन पर विचार हो रहा है ! पचीस संशोधन तो पास हो गये हैं। इन लोगों के चित्त में व्यवस्थितता, स्थिरता नहीं है। अपनी अव्यवस्थितचित्तता और अपने उद्वेग को तथा अपनी चिन्तन-शैली और बुद्धिहीनता को 'समय के अनुसार बदलना चाहिये' इसके द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे व्यक्ति के जीवन में; यदि उसकी घर-वाली कह दे कि 'कल दही-बड़ा बनाया था तो आपने कहा था कि घी बहुत लगता है', तब वह अव्यवस्थित चित्त वाला कहेगा कि 'वह तो कल के लिये कहा था, आज के लिये थोड़े ही कहा था।' जैसे व्यक्ति के जीवन में एक दिन वैसे राष्ट्र के जीवन में एक साल या पाँच साल होते हैं। अव्यवस्थित चित्त वाले छब्बीसवाँ संशोधन करते हुए कहते हैं कि ज़माने के साथ बदलना चाहिये अर्थात् उनके दिमाग का कोई ठिकाना नहीं, एक निश्चय नहीं

है।

घर का नायक यदि अव्यवस्थित चित्त वाला होता है तो सारे घर के लोग सिवाय दुःख के और कुछ नहीं पाते। घर में पिता जी का पैर पड़ा और लड़के चौकन्ने कि न जाने क्या होगा, घरवाली चौकन्नी हो कर बैठी है और यहाँ तक कि नौकर भी चौकन्ने हो जाते हैं कि न जाने क्या होने वाला है। अगर एक मिनट को खुश नज़र आ गये तो दूसरे लोग सोचते हैं कि आज का दिन तो बचा। लेकिन इस अव्यवस्थित चित्त वाले का यह भी ठिकाना नहीं कि आज का दिन बच जाये, घण्टे भर में ही फिर उनका अव्यवस्थित चित्त बदल जाता है। वैसे ही राष्ट्र के जीवन में बड़े से बड़े उद्योगपति, बड़े से बड़ा विद्वान्, बड़े से बड़ा कार्यकर्ता और बड़े से बड़ा मंत्री, सब बेचारे उद्विग्न रहते हैं कि न जाने कल क्या होने वाला है। लोग कहते हैं कि उद्योगपति औद्योगिक उन्नति क्यों नहीं करते ? उसका कारण ही यह है कि छूट तो मिलती है लेकिन जिस समय छूट मिली, उस समय मन में होता है कि 'ये अव्यवस्थितचित्त हैं, अगले साल फिर बदल देंगे। फिर बनाये हुए उद्योग का हम क्या करेंगे !' इतना ही नहीं, सालभर भी स्थिर रहें, यह ज़रूरी नहीं। जहाँ चार-छह महीने हुए फिर कहेंगे कि 'परिस्थितियाँ बदल गईं हैं, इसलिये हमने अपनी नीति बदल दी।' जैसे घर का हरेक घटक तब प्रसन्न रहता है जब घर में अव्यवस्थित चित्त वाला मालिक न हो। पिता के आने के साथ ही घर के बच्चों में किलकारी आनी चाहिये कि पिता जी आ गये, अब बड़ा आनंद आयेगा, कुछ बातें सुनायेंगे। इसी प्रकार घर वाली के मन में भी प्रसन्नता की लहर उमड़ जानी चाहिये कि पति घर आ गये।

लेकिन अव्यवस्थित चित्त वाले से सभी को उद्वेग होता है।

इसी प्रकार आज राजा को देखकर जनता में किसी को प्रसन्नता नहीं होती है। सभी को यह भय होता है कि कहीं हमारी तरफ़ इनकी नज़र न पड़ जाये। अफसर सोचते हैं कि हमारी तरफ मंत्री की नज़र न पड़े तो अच्छा है। किसी को खुशी नहीं होती कि मंत्री साहब आ गये हैं; उलटा उद्वेग होता है कि आकर न जाने क्या कर जायें ! यहाँ तक परिस्थिति हो गई है कि दक्षिण के एक बहुत बड़े मन्दिर के महन्त हमसे कह रहे थे कि हमारे यहाँ जब कोई चिट्ठी आ जाती है कि 'आपके मन्दिर में अमुक मंत्री दर्शन करने आ रहे हैं' तो मन में होता है कि न जाने क्या कर जायेंगे क्योंकि जो भी आता है, कोई न कोई राय दे जाता है। कोई आकर कहता है कि 'आपका मन्दिर बहुत बड़ा है, इसमें एक विश्वविद्यालय खोल दें।' अंततोगत्वा किस प्रकार इनकी नीति हमारे ऊपर आ जाये, कुछ पता नहीं। हम सोचते हैं कि मन्दिर छोटा होता और ये न आते तो अच्छा था। 'अव्यवस्थित-चित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः' अव्यवस्थित चित्त वाला प्रसन्न भी दिखाई दे तो भी भयंकर है, क्योंकि उसका कुछ ठिकाना नहीं कब बदल जाये। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने क्रोध, हर्ष और भय से उद्वेग को अलग से गिनाया। उद्विग्न व्यक्ति उन तीनों से निकृष्ट होता है और सबसे अधिक दुःखप्रद और रोगप्रद होता है।

यह कल्पित भोक्ता हुआ। सच्चा भोक्ता पहले बताया। कल्पित भोक्ता क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग इन चारों के अन्दर लुढ़कता रहता है। यह समझता है कि 'मैं भोग कर रहा हूँ' लेकिन वह

भोग नहीं करता, विषय ही उसका भोग कर जाते हैं। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता', ऐसे लोग भोगों को नहीं भोग पाते। उसमें भी उन्हें सुख नहीं होता। उलटा वे भोगों के द्वारा खुद भोगे जाते हैं। इसलिये उन्हें कभी सुख नहीं होता। संस्कृत में भोग और अन्न दोनों शब्दों के दो-दो अर्थ होते हैं। जिसको भोगा जाये और जो भोगे, दोनों भोग के अर्थ हैं। अन्न का मतलब भी दोनों होता है—जिसको खाया जाये और जो खाये। जो सच्चा भोक्ता होता है, वह तो भोगों को भोगता है। जो चीज़ सामने आती है, उसका रस लेता है, चाहे वह कोई भी रस हो। जो कल्पित भोक्ता होता है, वह भोगों के द्वारा खींचा जाता है, भोगा जाता है। भोग के अन्दर जाता है और जाकर उसके हाथ अतृप्ति ही लगती है, उससे उसे सुख नहीं होता। उल्टा उसको लगता है कि भोग न करते तो अच्छा था। हमने गुलाबजामुन खाया और हमको निरंतर प्रसन्नता है कि बहुत अच्छा किया कि खा लिया। तब हमने उसे भोगा। यदि गुलाबजामुन हमको खा गया तो थोड़ी देर बाद मन में होता है कि 'फालतू ही खाया, न खाया होता तो अच्छा था!' यह सच्चे और मिथ्या भोक्ता का मोटा फ़र्क है। जहाँ निरंतर यह अनुभव हो कि 'मैंने जो भोग किया वह ठीक किया', वहाँ मैं भोक्ता रहा। जवानी में कसरत की तो इससे अच्छा और कोई काम जवानी में करने लायक नहीं था, ठीक ही किया। यदि कसरत ने हमारा भोग कर लिया है तो मन में होगा कि 'जवानी में अगर कहीं लग्गे लग गये होते तो दस हज़ार की पूंजी बन गई होती।' इसका मतलब हुआ कि कसरत हमको खा गई, हम उसके आनंद में लीन नहीं हुए। सच्चा भोक्ता वह है जिससे जीवन के अंतिम क्षण में कोई

पूछे कि 'यह बताओ कि अगला जीवन मिलेगा तो क्या करोगे?' और उसका जवाब मिले कि 'जो इस जीवन में करता रहा हूँ, वही करता रहूँगा। जैसे यह जीवन बिताया, ऐसे अगला और उससे भी अगला बिता दूँगा।' तब तो समझना चाहिये कि वह जिया है, उसने जीवन व्यतीत किया है। और जिसे अंतिम क्षण में पूछे कि 'अगले जीवन में क्या करोगे ?' और वह कहे कि 'इस जीवन की ग़लतियों को नहीं दोहराऊँगा' तो समझो कि उसका जीवन असफल हो गया है, वह जिया नहीं। हमने यहाँ पूर्णता से कार्य किये, पदार्थ हमें यहाँ पूर्णता से मिले तो जीवन हुआ। यदि मन में यही रहे कि 'ऐसा न होता तो अच्छा था' तब समझो कि जीवन में असफलता आ गई और तुम मिथ्या भोक्ता रह गये हो, जिये नहीं। इसलिये इस मिथ्या भोक्ता-भाव को हटाकर सत्य भोक्ता-भाव से स्थित होना है।

क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग के द्वारा क्या करता है ? बताया कि इन सबको ज्ञान धर्म के द्वारा विशेषता देते हुए बेचारा किसी तरह से शरीर को खड़ा करता है, रगड़ता रहता है कि 'किसी तरह से काम चलाना है। क्या करें, मरे नहीं, इसलिये जी रहे हैं।' सच्चे भोक्ता का शरीर रग-रग से जलता हुआ खड़ा होता है और सामान्य भोक्ता किसी प्रकार से जीवन काट रहा है। अर्थात् जिस क्षण भी ऐसा लगे, उससे अग्रिम क्षण में निश्चय कर ले कि 'इस समय तो जीवन हमें जी गया, भोग हमको भोग गया लेकिन अग्रिम क्षण में मैं चेतन इन जड पदार्थों की कठपुतली नहीं बनूँगा। मैं राजपुत्र हूँ। राजा के घर उत्पन्न होकर पुलिस कर्मचारियों के भय से भागकर जीने के लिये पैदा नहीं हुआ।' जब इस प्रकार का

जीवन हो जायेगा, तब साध्यदेव-रूप की प्राप्ति की सम्भावना होगी। जो ऐसा नहीं करेगा, वह साध्य देव नहीं बन सकता।

प्रवचन-४८

भगवती श्रुति ने पुरुषयज्ञ की अग्नि शिवाग्नि बताई। उस शिवाग्नि के अन्दर विवेक के द्वारा अहंकारात्मक पुरुष को दो भागों में बाँट दिया। जिन्होंने दो भागों में बाँटा वे देवभाव को प्राप्त हुए, वे साध्य देव हुए। जिनकी उपासना परमेश्वर-प्राप्ति का कारण बने, वे साध्य देव हुए हैं। उन साध्य देवों की प्राप्ति किस प्रकार से हो ? परिच्छिन्न भावों को छोड़कर अपरिच्छिन्न भाव की प्राप्ति से ही यह सम्भव है। जब इस देवताभाव की प्राप्ति होती है तब मनुष्य सर्वात्मभाव को प्राप्त किये हुए भी दुःखों से लिप्त नहीं होता। किस प्रकार परिवर्तन आता है ? एक वस्तु का जो स्वभाव होता है, वह परिवर्तित नहीं होता। जो किसी कारण से आया हुआ होता है, वह बदल जाता है लेकिन स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं होता। कल बताया था कि जब तक क्रोध, हर्ष, भय और उद्वेग हैं तब तक संसारी भोक्ता है।

प्रश्न यह है कि क्या ये चारों जीव के धर्म हैं या आगन्तुक हैं ? यदि ये जीव के सच्चे धर्म हों तो किसी साधना के द्वारा इन्हें रोक भी लो पर जैसे ही साधन खत्म होगा, वैसे ही ये फिर आ जायेंगे। जैसे पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है। यदि

बाँध बनाकर उस पानी को रोक भी लो तो जैसे ही वह बाँध हटेगा, फिर पानी नीचे को बह जायेगा। पानी का स्वभाव ही नीचे को बहना है। अगर अग्नि के सामने चन्द्रकान्तमणि रख दो तो अग्नि नहीं जलाती, उसकी जलाने की शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। लेकिन जैसे ही चन्द्रकांत मणि हटाओ, वैसे ही अग्नि फिर जलाने लगेगी। चन्द्रकान्त मणि नहीं देखी होगी; दूसरा दृष्टांत बता देते हैं : कभी केदारनाथ जाओगे तो दाल को उबालते रहोगे लेकिन दाल नहीं गलेगी क्योंकि ऊँचाई के ऊपर अग्नि पूरी तरह से नहीं जल पाती। यदि और ऊपर चले जाओ तो वहाँ आलू तक उबलने मुश्किल हो जाते हैं; कैलास-मानसरोवर की यात्रा में आलू उबालना मुश्किल हो जाता है, दाल की कौन कहे ! अग्नि को वहाँ की ऊँचाई ने प्रतिबद्ध कर लिया। लेकिन अग्नि का जलाने का स्वभाव नहीं जाता है। जब ऊँचाईरूप प्रतिबंध खत्म होगा, तब पुनः आग वैसे ही जलाने लगेगी। वस्तु का स्वभाव कभी नहीं बदलता। इसीलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि स्वभाव का परिवर्तन असम्भव है 'प्रकृतेरन्यथाभावः न कथंचिद् भविष्यति।' जो जिस चीज़ की प्रकृति होती है वह कभी भी अन्यथा नहीं होती। भगवान् ने भी यही बात गीता में कही 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' स्वभाव के अनुसार ही सारा जड और चेतन प्रवृत्ति करता है। प्रकृति का अन्यथाभाव नहीं होता। किसी कारण से उसमें रुकावट कर सकते हो जैसे बाँध से पानी का बहना रोक दिया, चन्द्रकान्तमणि या ऊँचाई से अग्नि का जलाना रोक दिया, लेकिन जैसे ही बाँध हटा, चन्द्रकान्तमणि हटी या ऊँचाई नहीं रही, वह स्वभाव फिर वैसा का वैसा प्रकट हो जाता है। अग्नि को कभी

ठण्डा नहीं कर सकते; उसकी जलाने की शक्ति को कम कर सकते हो, लेकिन ठण्डा नहीं कर सकते। पानी के बहने को रोक नहीं सकते, जब बाँध बनाते हो तब भी पानी उस बाँध के ऊपर अपना सिर मारता रहता है, उसी को दबाव (प्रैशर) कहते हैं। इसी दबाव के कारण पचास-साठ साल के अन्दर वह बाँध यदि मरम्मत न करो तो खुद टूट जायेगा क्योंकि पानी के दबाव का मतलब है कि पानी नीचे जाने के लिये बार-बार प्रयत्न कर रहा है, टक्कर मार रहा है। जैसे अग्नि के जलाने की शक्ति को कम कर सकते हो लेकिन सर्वथा शान्त नहीं कर सकते, ऐसे ही जल के बहने को रोक सकते हो लेकिन वह फिर भी बहने का प्रयत्न करता ही रहेगा। 'अग्निं न ढौकते शैत्यं अग्निवस्तु स्वभावतः' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि अग्नि को कभी भी शीत बनाने में समर्थ नहीं हो सकते क्योंकि अग्निवस्तु का स्वभाव ही गर्म है।

यदि क्रोध, हर्ष, भय और उद्वेग जीव के स्वभाव होंगे तब तो प्रयत्न करके कुछ समय तक अपने को रोक भी लोगे, लेकिन मौका आने पर वह फिर उत्पन्न हो जायेंगे। संसार के सारे लोगों का यही कहना है कि 'ये तो मन के धर्म हैं, कैसे जायेंगे ?' वेदान्ती कहता है कि यदि ये तुम्हारा स्वभाव है, फिर तो साधना व्यर्थ है। जो चीज़ स्वभाव से चौबीस घण्टे तुम्हारे साथ रहनी है, उसको मन की समाधि के अभ्यास से घण्टा-दो घण्टा के लिये दूर कर दिया तो उसमें रस ही क्या रहा ? इसलिये यदि ये जीव का स्वभाव हैं तो सारी साधना निष्प्रयोजन है। यदि ये स्वभाव नहीं हैं तो साधना के द्वारा अंत में तुम इनसे छूट जाओगे।

वेदान्ती कहता है कि ये तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं। क्रोध, हर्ष,

भय, उद्वेग भोक्ता के स्वभाव नहीं हैं। किसी कारण उसके सिर पर चढ़ बैठे हैं। चूँकि कारण से चढ़ बैठे हैं इसलिये वह कारण हटेगा तो दूर हो जायेंगे। 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' जिस निमित्त से जो चीज़ पैदा होती है, वह निमित्त हटने पर वह पैदा हुई चीज़ भी हट जाती है। सर्दी के कारण नाक बन्द हो गई तो सर्दी निमित्त और नाक बन्द होना नैमित्तिक है। दवाई लेने से सर्दी चली गई तो नाक बन्द होना अपने आप चला गया। निमित्त के हट जाने से नैमित्तिक खुद हट जाता है। वेदांती का कहना है कि वस्तुतः क्रोध, हर्ष आदि तुम्हारे ऊपर किसी निमित्त से आये हैं। संसार के अन्दर बाकी सब इनको जीव का स्वभाव मानते हैं, वेदांती इन चीज़ों को स्वभाव नहीं मानता, उलटा इनको नैमित्तिक मानता है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा

'अग्निं न ढौकते शैत्यं अग्निवस्तुस्वभावतः।
पाप्मानो देवतां तद्वद् देवतात्मस्वभावतः।।'

पाप इस आत्मदेव को स्पर्श करने में समर्थ नहीं हो पाते। जैसे अग्नि कभी ठण्डी नहीं हो सकती, वैसे ही देवता कभी भी पाप वाले नहीं हो सकते। इसमें हेतु दिया कि उसको देवतास्वभाव वाला भी मानो और फिर पाप वाला भी मानो—दोनों नहीं हो सकते। इसलिये यदि क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग हैं तो किसी निमित्त से हैं। यह तो शास्त्र-प्रामाण्य से पता चला।

स्वयं विचार से देखो कि क्या ये तुम्हारे स्वभाव हैं? यदि कहते हो कि क्रोध मेरा स्वभाव है तो स्वभाव के विषय में कभी कोई प्रश्न नहीं करता। कोई कहे, 'महाराज ! आज मेरा हाथ जल गया।' पूछो, 'कैसे जल गया ?' 'क्या बताऊँ, चूल्हे के ऊपर रखी

हुई बटलोई को उठा लिया।' तो क्या उससे कोई पूछेगा कि आग ने क्यों जला दिया ? यही कहेंगे, 'भाई, ज़रा समझकर हाथ लगाया करो।' अग्नि को कुछ नहीं कह सकते। दूसरा आदमी कहता है, 'क्या बताऊँ, आज हमारे दाँत बिल्कुल खराब हो गये हैं, कुछ नहीं खा सकते।' उससे पूछते हैं कि क्या हुआ तो जवाब देता है 'हमने समझा था कि यह अमिया खट्टी कम है। बड़े ज़ोर से एक कौर काटा तो दाँत खटा गये।' अब उससे क्या कहेंगे? अरे अब तो बुड्ढे हो गये हो, अब इस प्रकार से अमियाँ खाना छोड़ो जैसे बच्चे खाया करते हैं। उससे यह नहीं कह सकते कि आम ने तुम्हारे दाँत क्यों खट्टे कर दिये, क्योंकि आमों का तो स्वभाव है दाँतों को खट्टा कर देना। इसी प्रकार आदमी क्रोध करता है; यदि क्रोध उसका स्वभाव हो तो कभी पूछ ही नहीं सकते कि आपको किस बात पर क्रोध आया ? उलटा यदि वह शांति से बैठा हो तो कहना पड़ेगा कि आज क्या बात है, चुपचाप कैसे बैठे हो, गुस्सा क्यों नहीं कर रहे हो ? अग्नि न जलाये तो प्रश्न होता है। आग पर चढ़ाने पर जब दाल नहीं उबलती तब लोग पूछते हैं कि दाल क्यों नहीं गल रही है। लेकिन जब दाल गल रही हो तब आग से कोई प्रश्न नहीं करते कि क्यों गला रही है। इसी प्रकार यदि क्रोध तुम्हारा स्वभाव हो तो जब शान्ति से बैठो तब पूछना पड़ेगा कि क्या बात है, आज शान्त क्यों हो गये ? किंतु बड़े से बड़े क्रोधी के विषय में भी यह बात सच्ची है क्या ? बड़े से बड़ा क्रोधी स्वयं ही अपने मुँह से कहता है कि 'क्या बताऊँ, आज नौकर ने दो चार प्लेट तोड़ दी, इसलिये गुस्सा आ गया।' बड़े से बड़े गुस्से वाला खुद भी यह मानता है कि किसी

निमित्त से गुस्सा आ गया। यह नहीं मानता कि गुस्सा मेरा रात-दिन का स्वभाव ही है। इसलिये क्रोध को स्वभाव नहीं कह सकते।

हर्ष भी मनुष्य का स्वभाव नहीं है। यदि मनुष्य दिनभर बैठा किलकारियाँ मारता रहे या हँसता रहे तो उसे आगरे या रांची के मानसिक चिकित्सालय में भर्ती करने ले जाओगे ! जब कोई ठहाका मार कर हँसता है, मुस्कराता भी है तो दूसरे पूछते हैं कि क्या बात हो गई? यह तो नहीं कहते कि 'आज क्या बात हो गई है जो चुपचाप बैठे हो, खिल-खिला क्यों नहीं रहे हो ?' यदि हर्ष स्वभाव होता तो यह बात बन जाती। इसी प्रकार भय को समझ लो। डर से कोई काँप रहा हो तो पूछते हैं कि किस बात का डर है। चुपचाप बैठे हुए से कभी कोई नहीं पूछता कि 'डर से काँप क्यों नहीं रहे हो ?' जो स्वयं भी डर रहा है, वह भी कोई न कोई कारण बताता है। वह चाहे झूठा ही कारण हो कि 'आज कमरे में लम्बी-लम्बी छाया सफेद कपड़े पहने हुए देखी।' एक पदार्थ है जिसको देखता कोई नहीं लेकिन डरते सभी हैं, उसका नाम 'भूत' है। चाहे सत्य कारण हो जैसे साँप, शेर आदि और चाहे भूत जैसा अनिर्वचनीय पदार्थ हो, डराता सभी को है लेकिन दीखता किसी को नहीं।

बड़े-बड़े लोगों को डराता है जो कहते हैं कि हमें भूत में विश्वास नहीं। कई लोग भूत-प्रेत को कुछ नहीं मानते। लेकिन जब उन्हें भूत-प्रेतों की दो-चार कहानियाँ सुनाते हैं तो कहते हैं कि 'बस, अब मत सुनाओ, यहाँ से घर जाना है, डर लगेगा।' अनिर्वचनीय पदार्थ अनुभव में नहीं आता, लेकिन डराता उनको भी है। इसे

अनिर्वचनीय क्यों कहते हैं ? अनिर्वचनीय शब्द माया के लिये भी प्रयुक्त होता है। माया क्यों अनिर्वचनीय है ? जो बाहुओं को ठोक कर, भुजदण्डों को उठाकर प्रतिज्ञा करते हैं कि माया का त्रैकालिक अत्यंताभाव है, तीन काल में माया हो ही नहीं सकती, ऐसे भुजदण्ड उठाकर प्रतिज्ञा करने वाले भी माया के फंदे में पड़े हुए पशुओं की तरह बंधकर रोते देखे जाते हैं। उनसे कहो कि फिर माया है ? तो कहते हैं कि 'है तो नहीं लेकिन रुला रही है !' जैसे भूत को न मानने वाला व्यक्ति भी भूत से डरता है।

रामकृष्ण परमहंस बड़े सिद्ध महात्मा हुए हैं। भगवती के बड़े उपासक थे, भगवती भद्रकाली उनकी इष्ट थी। ब्राह्मण थे और उनका पहले का नाम गदाधर भट्टाचार्य था। बाद में उन्होंने स्वामी तोतापुरी जी से संन्यास लिया तो रामकृष्ण पुरी नाम हुआ। परमहंस सम्प्रदाय के थे। उनके गुरु जी उनको एक बार समझा रहे थे कि ब्रह्म और माया का अभिन्न सम्बन्ध कैसा है। उसको जब रामकृष्ण परमहंस ने सुना तो कहने लगे, 'भगवन् ! आपने कभी माया का खेल देखा है कि नहीं ?' गुरु जी ने कहा कि हमने माया का खेल कभी नहीं देखा। उन्होंने कहा 'आपको एक बार दिखाऊँगा।' वे देवी के बड़े अच्छे उपासक थे, सोचा गुरु जी से ज्ञान लिया है तो गुरु जी को खेल भी दिखाना चाहिये। स्वामी तोतापुरी जी पंजाब के थे। वह जगह पाकिस्तान में चली गई है जहाँ उनकी समाधि है। उनका शरीर भी बड़ा हृष्ट-पुष्ट था। वह आज से सौ साल पहले का ज़माना था जब पंजाब के भक्त लोग पाव भर का मक्खन का गोला और तीनपाव दही की लस्सी का गिलास सवेरे-सवेरे पिलाते थे और शाम को पाव-डेढ़

पाव बादाम की गिरी घोट कर खिलाते थे। खुद भी खाने वाले होते थे। आज वाली नई संस्कृति तब नहीं आई थी जिसमें खुद भी सूखा फुलका खाते हैं और महात्माओं से भी आशा करते हैं कि ऐसी रोटी खायेंगे ! स्वामी तोतापुरी जी पंजाब के ही बड़े महंत थे। वह बंगाल गये। वहाँ कहाँ से घी और मक्खन मिले ! वहाँ तो भात और दाल ही मिलती थी। लेकिन रामकृष्ण परमहंस के ऊपर उनका बड़ा प्रेम था इसलिये वहाँ ग्यारह महीने रहे और उन्हें वेदांत सिखाते थे। धीरे-धीरे वहाँ उनका शरीर बीमार हो गया। दाल भात खा-खाकर शरीर सहन नहीं कर सका। बड़े कमज़ोर हो गये। अंत में जाकर उन्हें अम्लपित्त हो गया। बचपन से उन्होंने कभी इस प्रकार का अनुभव नहीं किया था। एक-दो बार उनसे कहा कि आप दवाई कर लें लेकिन उन्होंने कहा कि 'क्या दवाई करनी है !' क्योंकि उन्हें विश्वास था कि ऐसे ही ठीक हो जाऊँगा।

उधर रामकृष्ण परमहंस ने एक बार माँ से कहा था कि 'माँ! मैंने गुरु जी को प्रतिज्ञा कर रखी है कि एक दिन आप इन्हें अपना खेल दिखाओ।' माँ ने भी कहा 'बहुत ठीक'। स्वामी तोतापुरी जी जब समाधि का अभ्यास करने बैठ जाते थे तब घण्टों निकल जाते थे, देहाभिमान का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे जब उनका शरीर कमज़ोर होता गया, अम्लपित्त बढ़ता गया तो जब बारह घण्टे की समाधि से घण्टे दो घण्टे के लिये पढ़ाने के लिये उठें तो पेट बड़ी भारी व्यथा दे। अंत में एक दिन उनके मन में आया कि 'ऐसे शरीर से क्या फायदा'। परम ज्ञानी थे, सोचा 'जो देह निरंतर आत्मानुसंधान में बाधक हो जाये, उस

देह की क्या ज़रूरत है, इसलिये छोड़ो इस शरीर को।' कलकत्ते में गंगा बड़ी गहरी हैं, दिल्ली वालों को तो यहाँ की यमुना जी देखकर अनुमान भी नहीं हो सकता। वहाँ गंगा में समुद्री जहाज आते हैं। उन्होंने विचार किया कि 'आज गंगाजी में जाकर इस शरीर को छोड़ देंगे, अब इसकी कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि आत्मा-नुसंधान नहीं करने दे रहा है।' निश्चय करके गंगा जी में गये और इस पार से उस पार तक निकल गये ! जिस गंगा जी में साठ हाथ पानी होता है, उसमें से वे पार चले गये लेकिन कहीं घुटनों से ऊपर पानी नहीं मिला। जब परले पार पहुँच गये तब कहने लगे कि 'गज़ब हो गया ! गंगा जी मुझे लेने को तैयार नहीं हैं।' तब मन में विचार आया कि 'अभी देह का प्रारब्ध समाप्त नहीं हुआ है।' वापिस आये तो देखा कि रामकृष्ण परमहंस खूब ज़ोरों से हँस रहे हैं। इन्होंने पूछा, 'क्या बात हुई ?' कहा, 'देख लिया मेरी माँ का खेल! नदी पार कर गये लेकिन कहीं घुटने से ऊपर पानी मिला ?' तब उन्होंने कहा 'समझ लिया। लेकिन अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा, वापिस पंजाब जाऊँगा क्योंकि यहाँ रहने से अब कोई फायदा नहीं।' समझ गये कि देह का प्रारब्ध अभी बचा हुआ है।

यहाँ तो बता रहे थे कि माया का खेल भी ऐसा विचित्र है कि जो पूर्ण ज्ञानी होता है, उसको भी यह विचित्र खेल दिखाती है। एक बार नारद जी की कथा सुनाई थी कि एक डुबकी मारी थी, उसके बीच में न जाने कहाँ से एक पूरा जन्म ही दीख गया था। यह माया की एक विलक्षण सामर्थ्य है। इसीलिये माया को अनिर्वचनीय कहा गया है। माया ऐसी अनिर्वचनीय है कि

क्रोध, हर्ष, भय, कब क्या करेगी, इसे कोई नहीं कह सकता। जैसे भूत का भय अनिर्वचनीय पदार्थ का नाम है क्योंकि जो विश्वास नहीं करता, उसे भी डरा देता है, ऐसे ही माया अनिर्वचनीय है। लाख कहते रहो कि 'मैं माया को नहीं मानता, माया कुछ नहीं है', लेकिन जब वह अपना खेल दिखायेगी तब सौ-सौ आँसू रुला देगी, छोड़ेगी नहीं। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद बार-बार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि माया से कभी लड़ाई मत करो। यह उनका बराबर कहना रहता है। इसीलिये उन्होंने जितना माया शब्द का प्रयोग किया है, उतना दूसरे शब्दों का प्रयोग नहीं किया। इसका क्या कारण है ? संसार में एक भाव ऐसा है जिसके सामने कठोर से कठोर हृदय पिघल जाता है। वह माँ का भाव है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' चाहे कैसा भी कुपुत्र हो जाये लेकिन जब माँ के सामने जाता है तो माँ कभी कुमाता नहीं होती। माँ का भाव ही ऐसा विलक्षण होता है। भगवान् भाष्यकार इसलिये भगवती शक्ति को पहले ही माँ कह देते हैं। 'मा-या' शब्द के उच्चारण से ही माया की जो खेल दिखाने की शक्ति है, उसे प्रतिबद्ध कर दिया। पहले ही कह दिया कि तू माँ है; माँ कभी अपने बच्चे को बंधन में डालेगी ? इसीलिये भगवान् भाष्यकार बार-बार कहते हैं कि जब मैं साधना करूँ, समग्र देवशक्तियों की उपासना करूँ, उनसे मार्गदर्शन की याचना करूँ, तब आप कृपा करके हमें तत्त्व की प्राप्ति की तरफ ही ले जायें। रोज़ तुम लोग प्रार्थना करते हो 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्द-

धातु।' यह प्रार्थना क्यों करते हैं ? यदि इन देव-शक्तियों की प्रार्थना नहीं करोगे, यदि कहोगे कि 'हम इनको जीतकर काम बना लेंगे', तो इन्हें जीतना कभी सम्भव नहीं है। लेकिन यदि इनको पहले ही तुमने मातृभाव से स्वीकार कर लिया तो आगे ये तुम्हें बाँधेंगे नहीं, उलटा तुम्हारे सहायक हो जायेंगे।

जिस प्रकर अग्नि का स्वभाव नहीं बदलता, उसी प्रकार से क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग सारे के सारे जीव के स्वभाव को नहीं बदलते जो इन भावों से रहित है। उद्वेग को यहाँ अलग से क्यों नहीं गिनाया? पहले ही बताया था कि उद्वेग तो स्वयं ही बदलने वाला है। जो खुद ही बदलने वाला है, उसका स्वभाव बदला इसमें कहना ही क्या है ! इसलिये न क्रोध, न हर्ष और न भय जीव का स्वभाव है, उसका स्वभाव इस सबसे रहित है। जब-जब क्रोध, भय और हर्ष देखने में आता है तब प्रश्न बनता है कि ऐसा क्यों ? इनका निमित्त क्या है ? भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि हमने देवता के साथ अपनी आत्मा को एक नहीं कर रखा है। जो देवतास्वभाव हो जाते हैं, देवता के साथ जिन्होंने अपनी आत्मा को एक कर लिया, किसी न किसी साध्य देव की उपासना के द्वारा उसके साथ ऐक्यभाव प्राप्त कर लिया, अहंभाव को विगलित कर दिया, उनका क्रोधादि का निमित्त हट जाता है। अहंभाव नष्ट तभी होगा जब हम किसी न किसी देवता की उपासना करेंगे, उसके बिना यह नष्ट होने वाला नहीं है।

विचार करके देखो : जब तक घड़ा है तब तक घड़े के अन्दर का पानी और घड़े के बाहर का पानी अलग-अलग रहेंगे। नदी या तालाब के बीच घड़े को डाल दो तो वहाँ भी एक पानी नहीं,

दो पानी रहेंगे—एक घड़े के अन्दर वाला पानी और एक घड़े के बाहर वाला पानी। घड़े के बाहर वाला पानी भी परिच्छिन्न है क्योंकि घड़े के अन्दर वाले पानी से अलग है। दीखने को चाहे वह घड़ा पानी के अन्दर दीख रहा है लेकिन घड़े के अन्दर का पानी घड़े के बाहर वाले पानी से अलग है। घड़े के बाहर वाला पानी भी घड़े के अन्दर के पानी से अलग है। इसलिये वहाँ अपरिच्छिन्न पानी कोई भी नहीं है। जब घड़ा फोड़ोगे तब घड़े के बाहर वाला पानी और अन्दर वाला पानी दोनों एक हो जायेंगे। घड़े की जगह अपना मन या अंतःकरण या अहंकारात्मिका वृत्ति या मैं-पना है। अन्तःकरण के अंदर वाला चेतन अन्तःकरण के बाहर वाले चेतन से अलग है; अंतःकरण के बाहर वाला चेतन अंतःकरण के अन्दर वाले चेतन से अलग है। इस समय हम शुद्ध चेतन कहीं नहीं हो सकते। जैसे अपरिच्छिन्न जल नहीं जब तक घड़ा जल में है, वैसे ही जब तक अंतःकरण है, तब तक अपरिच्छिन्न चेतन नहीं रहा। एक अंतःकरण के अन्दर वाले की अपेक्षा से बाहर वाला चेतन बहुत बड़ा है। जैसे घड़े के पानी की अपेक्षा से घड़े के बाहर वाला पानी हज़ारों गुना बड़ा है लेकिन है तो फिर भी परिच्छिन्न। इसी प्रकार अंतःकरण के अन्दर वाले चेतन की अपेक्षा अंतःकरण के बाहर वाला चेतन बहुत बड़ा है लेकिन है तो परिच्छिन्न ही। अंतःकरण के बाहरवाला चेतन ईश्वर हुआ जो देवतास्वभाव वाला है और अंतःकरण के अन्दर वाला चेतन जीवात्मस्वभाव वाला हुआ। जब तक तुम्हारा 'मैं' गलित नहीं हुआ, जब तक अहंकारात्मिका वृत्ति खत्म नहीं हुई, तब तक शुद्ध अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व नहीं हो। जब तुम्हारा अहंकार खत्म

होगा, अंतःकरण खत्म होगा, तभी उसका नतीजा होगा कि चेतन अपरिच्छिन्न हो जायेगा। जैसे घड़े के फूटने से घड़े के अन्दर वाला पानी भी अपरिच्छिन्न, व्यापक हो गया और बाहर वाला पानी भी व्यापक हो गया इसी प्रकार जब मन नष्ट होगा, तब मन के बाहर वाला भी नष्ट हो जायेगा और मन के अन्दर वाला भी नष्ट हो जायेगा और दोनों मिलकर एक अखण्ड हो जायेंगे। इसलिये जब तक अहं बैठा है तब तक बाहर वाले साध्य देव की उपासना आवश्यक हो जाती है। यह साध्यदेव की उपासना का बीज समझना।

प्रश्न हो सकता है कि परिच्छिन्न होने से अहं को दुःख है, तो दूसरा भी जब परिच्छिन्न ही है तो उसे भी दुःख होना चाहिये। उसका जवाब भगवान् सुरेश्वराचार्य बड़ा सुन्दर देते हैं। कहते हैं: वे साध्य देव दुःख आदि में डुबकी नहीं मार पाते। हैं तो वे तुम्हारे अहंकार के कारण परिच्छिन्न लेकिन परिच्छिन्न हुए भी उनको अपनी अपरिच्छिन्नता का ज्ञान है, निश्चय है। साध्य देव वह हुआ जिसने अपनी परिच्छिन्नता का निश्चय कर लिया है, अपनी अपरिच्छिन्नता को जानता है। तुम्हारे अहं के द्वारा परिच्छिन्न हुआ भी अपरिच्छिन्न कैसे है ? ऐसी बुद्धि कैसे है ? दृष्टांत से घबराना नहीं : जब अपने पेट में दर्द होता है, तब तो दुःख होता है। पेट में कीड़े पड़ जाते हैं। पेट में पड़े हुए उन कीड़ों के पेट में यदि दर्द है तो यद्यपि वह कीड़ा तुम्हारे पेट से अभिन्न है क्योंकि वह कीड़ा तुम्हारे पेट में ही है, तथापि पेट का कीड़ा तुम्हारे पेट के अन्दर होने पर भी उस कीड़े के पेट में जो दर्द होता है, उससे क्या तुमको दुःख होता है ? पेट के कीड़े को मारने के लिये तुमने

दवाई खाई, उस दवाई से वह कीड़ा दुःखी होगा, लेकिन तुम्हें उसके दुःख का पता नहीं लगता। तुम्हारे ही पेट में रहने वाले कीड़े के दुःख से तुम्हें दुःख नहीं होता और उसके सुख से तुम्हें सुख नहीं होता, यद्यपि वह तुम्हारे अन्दर ही है। इसी प्रकार साध्य देव हैं; जीव में सुख-दुःख होते रहते हैं, फिर भी साध्यदेव को उस सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं है। खाली पेट के कीड़े ही नहीं समझना, बहुत-से रोग किसी-न-किसी कीटाणु से पैदा होते हैं। हैजे का कीड़ा आ गया तो हैजा हो गया और टाइफाइड का कीटाणु आ गया तो टाइफाइड हो गया। लेकिन हम लोगों को बुखार का दुःख होता है, उन कीड़ों के मरने का थोड़ा-सा भी दुःख नहीं होता। इसी प्रकार साध्य देव की हम उपासना करते हैं। हम उसका अंग तो हो जाते हैं, अंग होने पर उसको परिच्छिन्न भी करते हैं, लेकिन परिच्छिन्न होने पर भी, उसके अन्दर हम लोगों के रहने पर, हमें सुख-दुःख होने पर भी उसको सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।

यह ठीक से समझना। जो देवता की स्थिति है, वही अपरिच्छिन्न-भाव वाले ज्ञानी की स्थिति है। मुण्डकोपनिषद् के अन्दर ज्ञानी को महाशाल कहा है। शाला गृह को कहते हैं, महाशाल महागृहस्थ हुआ। साधारण आदमी की एक गृहस्थी होती है जैसे माँ-बाप, एक पत्नी, एक-दो भाई-भौजाइयाँ, दो-एक बच्चे हुए, यह एक कुटुम्ब ही एक गृहस्थी हो गयी। इस एक गृहस्थी की चिन्ता से बेचारे सवेरे से शाम तक परेशान रहते हैं, दुःखों से भरे हुए हैं। कभी विचार किया कि जो ज्ञानी महात्मा होता है वह ऐसे कितने कुटुम्बों को अपने से अभिन्न करके रखता है? इतने पर भी, उनके सारे व्यवहारों की तरफ दृष्टि रखने पर भी

उनके दुःख में गोता नहीं लगता। क्या कारण है ? 'नापरिच्छिन्नबुद्धित्वात् तस्य दुःखाद् उपप्लुतिः' उन सबके साथ व्यवहार करने पर भी वह अपने को एक में परिच्छिन्न नहीं मानता। एक में ही जब परिच्छिन्न मानने लगेगा तब दुःख शुरू हो जायेगा। साध्य देव की उपासना का नतीजा क्या होता है ? साध्य देव की उपासना से मनुष्य दुःख से ऊर्ध्व चला जाता है, दुःखरहित हो जाता है। यह दुःखरहित स्थिति ही वस्तुतः प्राप्तव्य है।

प्रवचन-४६

पुरुषयज्ञ करने वालों का उल्लेख करते हुए कहा 'देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।' देवता और ऋषि में क्या फ़र्क है? ऋषि के द्वारा बताते हैं कि मंत्र का साधन कौन करे, देवता से बताया जाता है साध्य क्या है ? इस मंत्र के द्वारा साध्यदेव अर्थात् परमेश्वर से एक होना रूपी देवभाव बताया। उसे प्राप्त करने की योग्यता बताई 'साध्या ऋषयश्च ये' साध्य ऋषि ही साध्य देव को प्राप्त करेंगे। पुरुषयज्ञ को जो साधक साधता है, वह कैसा हो, यह साध्य ऋषि से बताया। ऋषि का अर्थ अमर कोष में कहा 'ऋषयः सत्यवचसः' जो हमेशा सत्य वचन का पालन करे, सत्य बोलना जिसका शील अर्थात् स्वभाव हो, उसी का नाम ऋषि है।

वैदिक धर्म में सबसे ज़्यादा ज़ोर सत्य पर है। प्रत्येक धर्म की कुछ विशेषता होती है, जैसे जैन धर्म वाले अहिंसा को, ईसाई

धर्म वाले दया को प्रधान मानते हैं। वेद के मानने वालों में सब धर्मों से प्रधान धर्म सत्य है। अथर्ववेद में भी जहाँ आत्मा की प्राप्ति के साधन गिनाये, वहाँ सबसे पहला साधन ही गिनाया 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।' यह आत्मतत्त्व सत्य के द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार सामवेद के अन्दर बताया 'सत्यम् आयतनम्। पहले सब धर्मों को गिनाया और अंत में कहा कि सत्य ही इसका आयतन है अर्थात् रहने का मकान है। आत्मतत्त्व किस मकान में रहेगा ? सत्य के मकान में रहेगा। इसीलिये परमात्म-प्राप्ति का साधन बताते हुए 'ऋषयः' कहा क्योंकि 'ऋषयः सत्यवचसः' ऋषि वह होता है जो सत्यवदन स्वभाव से करता है।

सत्य के दो भेद होते हैं—१. नित्य सत्य और २. व्यावहारिक सत्य। नित्य सत्य कभी बदलता नहीं, और व्यावहारिक सत्य कामचलाऊ सत्य है। इन दोनों का भेद समझना। किसी ने तुमसे पूछा कि क्या समय हुआ है ? तुमने कहा, 'सात बजकर बीस मिनट हुए हैं।' कुछ देर बाद रेडियो से घड़ी मिलाने पर पता चला कि तुम्हारी घड़ी दो मिनट पीछे है। प्रश्न होता है कि तुमने 'सात बजकर बीस मिनट' कहा तो वह सत्य है या झूठ ? व्यावहारिक सत्य का मतलब यह हुआ कि मेरी घड़ी में सात बजकर बीस मिनट थे और मुझे पता नहीं था कि मेरी घड़ी पीछे है तो मैंने सत्य कहा। यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर तो यह झूठ है क्योंकि उस समय ७-२२ थे और तुमने ७-२० बताया, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह सत्य है क्योंकि मैं जैसा समझता था, जितना मेरा ज्ञान था उसके अनुसार मैंने शब्द का उच्चारण किया।

व्यावहारिक सत्य का मतलब है कि जैसा देखा, सुना और समझा है, वैसा ही ज्ञान दूसरे को हो, इस भाव से जो शब्द उच्चारण किया जाये, वह व्यावहारिक सत्य है। भूल को हम झूठ नहीं कहते। भूल होना क्षम्य है। भूल को क्षमा किया जाता है। छोटा बालक भूल से कोई काम कर जाता है तो उसे क्षमा मिल जाती है। लेकिन जानबूझकर करेगा तो क्षमा नहीं मिलेगी। जब तक हमारे अन्दर आत्मज्ञान दृढ नहीं हो गया, तब तक हमको व्यावहारिक सत्य का सहारा लेना है अर्थात् जैसा जिस चीज़ को सुना, देखा और समझा है, वैसा ही ज्ञान दूसरे को हो जाये इस प्रयत्न को करते हुए शब्दों का उच्चारण करना है। व्यावहारिक सत्य का उच्चारण करने वाला एक दिन पारमार्थिक सत्य को पा जाता है। अभी आत्मप्राप्ति नहीं हुई इसलिये 'सत्येन' अर्थात् व्यावहारिक सत्य का सहारा लेना है। कई बार मनुष्य के हृदय में यह शंका होती है कि यदि हमको परम सत्य का पता नहीं तो हम क्या करें ? जीवन में हमेशा परम सत्य को प्राप्त करके तो व्यवहार नहीं होगा। इसी प्रकार धर्म करने में कई बार मनुष्य को शंका रहती है कि 'मैं जिस धर्म को कर रहा हूँ, वह सत्य है या झूठ है, मैंने उसे ठीक समझा है या गलत समझा है?' व्यावहारिक सत्य का अर्थ हुआ कि मैंने अपनी पूरी बुद्धि लगाकर जिस बात को जैसा समझा, यदि मैं उसके अनुसार आचरण करता हूँ तो वहाँ भूल हो सकती है, अधर्म नहीं होगा। इसी का नाम व्यावहारिक सत्य है। व्यावहारिक सत्य से चलने पर अंत में पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति हो जाती है। एक रास्ता अर्थात् साधन है और दूसरा साध्य है।

बहुत-से लोग व्यावहारिक सत्य में ही लगे रहते हैं। ऐसे लोगों

को पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति नहीं होती। लेकिन जिन्होंने पारमार्थिक सत्य को साध्य बनाया है कि 'हमें पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति करनी है', उसके लिये व्यावहारिक सत्य को साधन बनाते हैं, वे तो व्यावहारिक सत्य से ऊँचे उठकर अंत में पारमार्थिक सत्य को पा लेते हैं। जो व्यावहारिक सत्य से ऊपर उठना ही नहीं चाहेंगे, वे वहीं अटके रह जायेंगे। व्यावहारिक सत्य के द्वारा पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति की दृष्टि से ही श्रुतियों में कहा 'सत्यमेव जयते नानृतम्।' इसमें 'सत्यमेव जयते' को हमारे राष्ट्र ने अपना एक प्रधान नारा बनाया। सब जगह लिखा रहता है 'सत्यमेव जयते' अर्थात् सत्य ही जीतता है, लेकिन व्यवहार में झूठ को जीतता देखते हैं तो शंका होती है कि क्या सचमुच सत्य जीतता है या यह केवल नारा ही नारा है ? वस्तुतः सत्य ही जीतता है। जहाँ झूठ जीतता है, वह भी तभी जीतता है जब सत्य का जामा पहनकर या सत्य की नकाब लेकर आये। वह झूठ जीतता है जिस झूठ पर तुमने इतनी सुन्दर सत्य की चमक ला दी कि साधारण आदमी ने उसे सत्य समझ लिया। जैसे तुमने तांबे के ऊपर खूब बढ़िया सोने का झोल लगा लिया और उसको सोने के भाव बेच दिया। जो बुद्धिमान् नहीं है, वह कहता है कि 'मैंने तांबा सोने के भाव बेच दिया। लेकिन बात यह नहीं है। तुमने तांबे के ऊपर सोने का मुलम्मा करके खरीदने वालों को *सोना* दिखाकर बेचा; वहाँ सोना ही *बिका*, ताँबा नहीं । तुमने सोने के धोखे में ताँबा दे दिया, यह बात दूसरी है। इसी प्रकार झूठ तभी सफल होता है, तभी विजय प्राप्त करता है, जब उसके ऊपर सत्य की चमक ले आओ। इसलिये जीत तो वहाँ भी सत्य की ही हुई,

झूठ की नहीं। झूठ में अपनी ताकत होती तो अपने नाम से कमा खाता। जो व्यक्ति अपने नाम से काम नहीं कर सकता, किसी दूसरे के नाम से अपना काम चलाये तो उस आदमी की कोई विजय या कोई कीमत नहीं मानी जायेगी। झूठ कभी भी अपने नाम से कहीं विजयी नहीं होता है, तुमको पता है कि यह झूठ है और फिर वह झूठ जीत जाये, यह कहकर कि 'मैं झूठ हूँ', तब झूठ की विजय हुई।

इतना ही नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तो पता लगेगा कि जीवन में अधिकतर हम सत्य का ही व्यवहार करते हैं। जितना-जितना लोगों को पता लगता है कि हम झूठे हैं उतना-उतना हमारा सुख घटता है। झूठ के द्वारा हमारा सुख कभी बढ़ता नहीं है। व्यावहारिक सत्य के अन्दर यदि मनुष्य आगे बढ़ता है, विचार करता है तो व्यावहारिक जीवन में भी पाता है 'सत्यमेव जयते नानृतं' सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं जीतता। फिर कह सकते हो कि यदि सत्य की ही विजय होती है तो संसार में लोग झूठ क्यों बोलते हैं ? इसका कारण बताते हैं : दो तरह के व्यापारी होते हैं—एक सोचता है कि मेरी दुकान ऐसी जमे कि पीढ़ी दर पीढ़ी चले। दूसरा व्यापारी सोचता है कि अपने को तो रेड़ी या ठेला लगाना है। ठेला या रेड़ी लगाने वाला नित्य निरंतर भटकते हुए अपने जीवन को काटता है। वह सोचता है कि यह पता है कि झूठ तो चलने वाला नहीं है, इसलिये जहाँ झूठ बेचना है उस स्थान को बदलता रहूँगा। आज करोल बाग में, कल सुन्दर नगर में तो परसों फ्रैण्ड्स कालोनी में रेड़ी लगा ली। इस प्रकार घर-घर मुहल्ले-मुहल्ले भटकते हुए क्या कोई रेड़ी वाला आज तक

करोड़पति या अरबपति हो गया ?

इसी प्रकार आज तेईस सालों से हम लोग अपने व्यवहारों में झूठ बढ़ाते रहे तो क्या विश्व के राष्ट्रों में हम किसी उन्नति को प्राप्त कर पाये ? उलटा जिस देश की संसार भर में सत्य के नाम से साख चलती थी, उसी को बार-बार अपमान सहना पड़ता है। यदि झूठ विजयी हुआ होता तो हम लोग आज तक संसार में सबसे ज़्यादा झूठ बोलने में सफलता प्राप्त कर सकते। जहाँ के राष्ट्रपति से लेकर कल्लू तक सब ने अपना सिद्धान्त बनाया है कि झूठ बोलना ही है, क्या ऐसे राष्ट्र ने कभी विजयी पाई? यदि नहीं पाई तो क्या कारण है ? यदि झूठ विजयी होता तो अब तक अवश्य विजयी हुए होते लेकिन झूठ के द्वारा विजय की प्राप्ति वस्तुतः बनती नहीं। थोड़े समय के लिये बनती हुई प्रतीत हो जाती है लेकिन जब उसकी कलई खुलती है तब फिर उसका असली दाम पता चल जाता है। हमने ताँबे के ऊपर सोने का झोल लगाया और किसी को पचास रुपये में बेच दिया। वह घर ले गया, उसने परीक्षा करवाई तो पता लगा कि इसमें सोना नहीं, धोखा दिया गया है। वह तुरन्त जाकर आरक्षी विभाग में रिपोर्ट लिखाता है और पुलिस वाले आकर हमको पकड़ते हैं। हम उससे कहते हैं, 'अच्छा जाने दो, अपने पैंतालीस रुपये वापिस ले जाओ। पाँच रुपये का ताँबा था, झोल लगाने में दो रुपये लगे थे, इसलिये सात रुपये मेरे छोड़ जाओ और बाकी ले जाओ।' लेकिन पुलिस ऊपर से पचास रुपये और भी ले जायेगी। ताँबे और उस पर झोल लगाने के पैसे भी नहीं देगी। धोखा-धड़ी के मामले में जुर्माना भी करेगी या जेल भी करेगी।

झूठ के द्वारा जब तुम सत्य का सम्बन्ध लगाते हो तब नतीजा यह होता है कि जितना तुमने उसमें सत्य का हिस्सा मिलाया है, वह भी व्यर्थ हो जाता है, उलटा दण्ड मिलता है। इसी प्रकार यदि दिनभर में तुमने पचास सत्य बोले, पाँच झूठ बोले तो भगवान् से जाकर कह सकते हो कि 'महाराज ! पचास बार सत्य बोलने की गिनती भी तो कर दो, पाँच बार झूठ बोला।' लेकिन भगवान् कहेंगे कि 'तेरे इस पाँच बार के झूठ ने पचास बार के सत्य की कीमत को भी खत्म कर दिया है।' झूठ बोलने का दण्ड अलग मिलेगा और सत्य बोलना व्यर्थ जायेगा। जैसे सेर भर दूध के अन्दर तुम रत्ती भर जहर मिला दो; एक रत्ती ही तो जहर है, लेकिन वह जहर सारे दूध को अपेय कर देता है, पीने के योग्य नहीं रहने देता। इसी प्रकार असत्य हमारे दूसरे तथाकथित सत्य व्यवहारों को भी जहर से भर देता है। नतीजा यह होता है कि अंत में जाकर जब पता लगता है तब बात उघड़ती है कि यह झूठ बोलने वाला है तब मनुष्य की सारी कीमत नष्ट हो जाती है। जब व्यावहारिक सत्य के अन्दर ही मनुष्य गिर गया तो पारमार्थिक सत्य का क्या पालन करेगा ! 'सत्यमेव जयते' में एव-पद पड़ा हुआ है अर्थात् झूठ से मिला हुआ सत्य नहीं जीतता। लेकिन 'जयते' में तात्पर्य कौन-सी जीत का है ? उससे परमार्थ सत्य की प्राप्ति होती है, यही असली जीत है। व्यावहारिक सत्य के कदमों में चलकर अंत में पारमार्थिक सत्य को प्राप्त कर लेता है, यही वास्तविक जीत है।

पारमार्थिक सत्य को प्राप्त करने के बाद क्या होगा ? 'सत्येन लभ्यः तपसा हि एषा आत्मा'। पारमार्थिक सत्य को प्राप्त करने

के लिये सत्य के साथ तप को मिलाना पड़ेगा। तप मायने कष्ट को सहना। कष्ट कई तरह का होता है। शारीरिक मानसिक, आध्यात्मिक इत्यादि कई तरह के कष्ट होते हैं। जिसको कष्ट सहने का अभ्यास नहीं होगा, वह कभी भी सत्य के पथ पर नहीं चल सकेगा। सत्य से कष्ट होता है—ऐसा नहीं समझना, सत्य तो हमेशा मनुष्य को सुख ही देगा। सत्य से कष्ट इसलिये होता है कि अब तक हम झूठ का मुलम्मा चढ़ाकर सत्य बेचते रहे, उसी के फलस्वरूप लगता है कि सत्य कष्ट दे रहा है। लेकिन वह पहले का इकट्ठा किया हुआ झूठ ही कष्ट दे रहा है, सत्य नहीं। जो आदमी पहले झूठ का अवलम्बन करता रहता है, वह जब सत्य का सहारा लेता है तो पहले वाले झूठ के कारण उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। आदमी समझता है कि सत्य से दुःख हो रहा है, लेकिन दुःख सत्य से नहीं, पहले से एकत्रित किया हुआ झूठ ही इस समय दुःख दे रहा है। जैसे-जैसे झूठ कम होता चला जायेगा, तुम्हारे सिर से बोझ हटता चला जायेगा, उतना ही वह तप सुख में बदल जायेगा। जिस आदमी का पेट खराब हो जाये उससे वैद्य कहता है कि 'तू खाना छोड़ दे, थोड़े दिन तक मत खा।' एक दिन न खाये और वैद्य से कहे कि 'आज मैंने नहीं खाया, फिर भी शाम को दर्द तो होता ही रहा। इससे सिद्ध होता है कि खाने से दर्द नहीं हुआ, कोई और कारण होगा।' फिर भी वैद्य कहेगा कि 'खाने के कारण ही दर्द है। तुमने आज खाना छोड़ा है पर पहले का सारा मल वहाँ भरा हुआ है। वह निकल जायेगा उसके बाद ही तो पेट का दुखना दूर होगा।' अविचारशील शाम तक ही घबरा जाता है, कहता है कि 'दिन भर खाया नहीं,

फिर भी कोई फायदा नहीं हुआ, इसलिये डाक्टर के हाथ रोग नहीं आया। दूसरे डाक्टर को बुलाओ।' डाक्टर भी दो तरह के होते हैं—एक बड़े आदमी का डाक्टर और दूसरा सामान्य लोगों का। बड़े आदमियों का डाक्टर रोगी के अनुसार चलता है। गरीबों का डाक्टर रोगी को ठीक करने के लिये चलता है। यही दोनों में फ़र्क है।

एक कहानी आती है : एक बार दो ज्वर दोस्त थे। दोनों साथ-साथ चले। चलते हुए वे लोग एक शहर में पहुँचे। शहर के बाहर एक आदमी हल जोत रहा था। उनमें से एक ज्वर ने कहा, 'यार, बड़ी दूर से चल कर आये हैं, अपने यहीं बैठ जायें।' दूसरे ज्वर ने कहा कि 'तू यहाँ बैठ जा, मैं ज़रा आगे चलता हूँ।' वह ज्वर कृषक के ऊपर जाकर बैठ गया। दूसरा वहाँ से आगे चला तो एक सेठ जी बैठे थे, लाखों का व्यापार करने वाले थे। उसने सोचा कि 'अपने यहीं बैठें।' बुखार को तो कहीं न कहीं बैठना ही हुआ! वह सेठ जी पर चढ़ गया। दोनों ने आपस में कार्यक्रम बनाया था कि 'रात को बारह बजे आपस में मिलेंगे।'

पहली रात दोनों मिले तो पहले वाले ने पूछा, 'तेरी कैसी रही?' दूसरे ने कहा, 'बड़ी अच्छी जमी। मैं सेठजी पर बैठा और उन्हें बुखार आया। तब घर जाकर बड़े प्रेम से सुन्दर मलमल के गद्दे पर सो गये, मुझे भी मखमल के गद्दे पर सोने को मिला। फिर कभी तो वहाँ मौसमी का, कभी नारंगी का, और कभी सेबों का रस आ रहा है और कभी बढ़िया दूध-मलाई। एक के बाद एक पदार्थ आते रहे। थोड़ा-सा पसीना आया कि झट नौकर हवा करने लगे। इसलिये मेरा तो वहाँ बढ़िया मामला जम गया है। कोई

मेरे पैर दबा रहा है, कोई सिर दबा रहा है, कोई हाथ दबा रहा है, कोई बड़ी सुन्दर ठण्डी-ठण्डी यूडीकोलोन की पट्टियाँ सिर पर रख रहा है। बड़ा मज़ा आता है। तू सुना कि तेरी कैसी रही?'

दूसरे वाले ने कहा, 'हद हो गई ! मैं तो बड़ी तकलीफ में पड़ गया। मैं जब कृषक पर चढ़ा तो बजाय सोने के वह सोचने लगा कि 'और ज़्यादा काम करूँ तो शायद पसीना निकलने से ठीक हो जाऊँ।' एक तो मैं खुद गरम और ऊपर से धूप और परिश्रम से काम भी ज़्यादा किया। तुझे तो मौसमी सेबों का जूस पीने को मिला पर वहाँ तो किसान की घर वाली छाछ और मक्के की घाट लेकर आई तो उसने कह दिया, 'मैं नहीं खाऊँगा, तबियत ठीक नहीं है।' इसलिये मुझे तो वह भी खाने को नहीं मिला। उसकी घरवाली ने कहा, 'घर चलकर सो जाओ' तो वह बोला, 'आज बीज नहीं बो दिया तो खेती बिगड़ जायेगी। मैं यदि घर जाकर पड़ गया तो क्या पता कल उठ पाऊँगा या नहीं ? इसलिये अभी जब तक ताकत है, तब तक डटकर बीज बो लूँ, फिर कल चाहे आऊँ या नहीं आऊँ ?' उसने तो मुझे रात दस बजे तक धूल और पसीने से लथपथ कर मारा। इसलिये मैं तो उस पर बैठकर बड़ा दुःखी हुआ।' दोनों ज्वर दोस्त तो थे ही, पहले वाले ने कहा, 'जाने दो यार ! तेरे को वहाँ अनुकूल नहीं पड़ता तो मेरे सेठ जी में तू भी साझा कर ले।' अब दूसरा ज्वर भी सेठ जी पर आकर बैठा, सेठ जी को 'डबल निमोनिया' हो गया।

विचार करो कि दोनों के फ़र्क में क्या कारण है ? बीमारी का कारण तो हमेशा कोई न कोई असंयम होता है। संयमी पुरुष को बीमारी नहीं हुआ करती। खाने-पीने का असंयम, सोने का

असंयम, कोई न कोई असंयम करेगा तब रोग आयेंगे। यह नियम है कि संयमी व्यक्ति बड़ी से बड़ी परिस्थिति के अन्दर भी रोगी नहीं बनता। दिल्ली में रहने वाले लोग संयमी तो रह नहीं सकते, रहेंगे भी कहाँ से ! सवेरे से शाम तक डीजल का धुआँ सूँघते रहेंगे, जिसमें कार्बन मोनोआक्साइड होती है, गन्दे नाले का पानी पीते रहेंगे। दिन भर अपने कानों में मोटर और ट्रकों के शोर को घुलाते रहेंगे। यहाँ संयमी व्यक्ति भी क्या कर सकेगा? हवा कहाँ से शुद्ध लाये ? कानों को शांति देने वाली जगह कहाँ से लाये? कोई उपाय नहीं है। इसीलिये रोगों की अधिकता होती है। संयमी पुरुष पहले तो रोगी होगा नहीं, यदि असंयम के कारण कोई रोग आया तो वह अपने असंयम को जानेगा क्योंकि संयमी है इसलिये उसे पता है कि किस असंयम के कारण रोग आया। बहुत-से लोगों को साँस लेने पर भी पता नहीं लगता कि वायु शुद्ध है या नहीं। कई बार लोग जब पहाड़ पर जाते हैं तब कहते हैं कि यहाँ की हवा बड़ी अच्छी है। हमें हँसी आती है, क्योंकि वे बेचारे दिल्ली, कलकत्ते में सोचते हैं कि यह 'हवा' है और वहाँ की 'अच्छी हवा' है। सच्ची बात तो यह है कि वह 'हवा' और दिल्ली की 'गंदी हवा' है। हवा तो हमेशा अच्छी होती है। उसमें कोई न कोई गंदगी मिलेगी, उस मिलावट से हवा खराब होगी। इसी प्रकार हिमालय से निकलने वाले शुद्ध झरने का शीतल मधुर जल पीते हुए मनुष्य कहता है कि यह पानी बड़ा अच्छा है। पानी तो सारे ही अच्छे हैं। यहाँ का पानी दूसरी चीज़ों को मिलाने से गंदा बनाया गया है। पानी में स्वयं कोई अशुद्धि नहीं होती। असंयम से जीवन बिताने वाले की यह शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह यह जान

सके कि असंयम कहाँ हुआ।

असंयम के कारण पेट खराब हुआ। बड़े आदमी का डाक्टर होगा तो पहले पूछेगा कि 'आपको क्या खाने की इच्छा है ?' यह नहीं कहेगा कि 'तुम यह खाओ।' वे कहेंगे 'हमें तो सूप की इच्छा है।' तो डाक्टर कहेगा, 'बिल्कुल ठीक है, वही ले लो।' क्योंकि उसे तो रोगी की बात माननी है, रोग से क्या मतलब! असंयमी पुरुष समझेगा कि हमारे खाने से पेट के रोग का कोई संबंध नहीं है। इसलिये डाक्टर ने कहा कि 'खाना मत खाओ' तो उसने शाम तक प्रयत्न करके ही छोड़ दिया। यदि उसका इलाज करता तो ठीक हो जाता। लेकिन उसने तो झट दूसरे डाक्टर को अच्छा मान लिया। वह तो पहले ही चाहता था कि 'जो मर्जी आये सो खायें', उस डाक्टर ने कह दिया कि 'खा लो' तो वह बड़ा खुश हो गया कि यही डाक्टर अच्छा है।

इसी प्रकार तुम सत्य बोलते हो। झूठ बोलने की जो बीमारी शरीर, मन और बुद्धि में आई हुई है, वह एक दिन में दूर नहीं होगी। लेकिन तुम्हारा निश्चय है कि झूठ बोलने से तो कभी कष्ट नहीं आ सकता। इसलिये घण्टा-आधा घण्टा, दिन-दो दिन और बहुत हुआ तो महीना भर सत्य बोलोगे, उसके बाद तुरंत कहोगे कि 'महीना-भर हो गया, कुछ नहीं हुआ, लगता है कि सत्य बोलने से कुछ फायदा नहीं होता।' विचार नहीं किया कि पहले का बोला हुआ झूठ जब पच जायेगा अर्थात् ख़त्म हो जायेगा, तभी तो सत्य फल देगा। लेकिन तब तक तुम्हें कोई न कोई मर्जी का मित्र डाक्टर मिल जाता है और कहता है कि 'झूठ में क्या रखा है, यह तो संसार ही झूठा है। वाणी से क्या निकले इससे क्या लेना देना

है ? असली चीज़ तो यह है कि हम इस बात को जान लें कि यह सारा संसार और वाणी जो बोलती है, उस सबसे तुम भिन्न हो। वाणी झूठ बोलती है, तुम नहीं। तुम वाणी से भिन्न हो, वाणी झूठ बोलती रहे, तुम तो साक्षी हो।' तब तुम सोचते हो कि बढ़िया दवाई मिल गई ! अब चोर-बाजारी भी कर लेंगे, घूस भी खा लेंगे और आत्मा तो हम शुद्ध हैं ही, काम बन गया। जैसे डाक्टर ने रोगी से कहा कि 'जो मर्जी सो खाओ, खाने से क्या होता है, पेट खराब है इसकी दवाई दे देता हूँ।' इसी प्रकार तुम्हारे मित्र ने कहा कि 'झूठ बोलने से क्या होता है, तुम तो आत्मस्वरूप हो, शुद्ध हो, तुम्हारे साथ वाणी का तीन काल में भी कभी सम्बन्ध नहीं है।' वह दवाई और वह डाक्टर तुम्हें झट पसंद आ जाते हैं। लेकिन आज से लेकर कल्पांत तक भी असत्य का आश्रयण करके कभी सत्य को नहीं पा सकोगे। जो मनुष्य सत्य का आश्रयण करता हुआ पुराने झूठ के निकलने तक दृढतापूर्वक तपस्या करता रहेगा वही अंत में आत्मा को प्राप्त करेगा।

जो साध्य ऋषि हैं, परमात्मा को प्राप्त करने वाले हैं वे व्यवहार में भी सत्य पर दृढ रहेंगे। व्यावहारिक सत्य का पूर्णरूप से अवलंबन करना पड़ेगा। अमरकोषकार अमरसिंह कह सकते थे ऋषि वह है जो सत्य का *सहारा* ले, फिर पारमार्थिक सत्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का जो अवलम्बन करता है वही ऋषि हो जाता। इस बात को समझते हुए कोषकार ने 'ऋषयः सत्यवचसः' कहा कि जो वाणी के द्वारा सत्य को प्रकट करता है, अर्थात् व्यावहारिक सत्य वाला है वह ऋषि है। जो इस प्रकार व्यवहार में सत्य का अवलम्बन करेगा, वही इस पुरुषसूक्त में कहे हुए पुरुषयज्ञ के द्वारा उस

परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति कर सकेगा, जो इस व्यावहारिक झूठ को नहीं छोड़ सकेगा, वह कभी भी पारमार्थिक की अपेक्षा से जो झूठ है उसका परित्याग करने में समर्थ नहीं होगा।

प्रवचन-५०

श्रुति उस पुरुषयज्ञ का वर्णन कर रही है जिस के द्वारा साध्य देवभाव की प्राप्ति ऋषिरूप साधक बनने से होती है। 'ऋषयः' के द्वारा साधक को बताया और जहाँ पहुँचना है उसे 'देव' के द्वारा बताया 'तेन देवाः अयजन्त साध्याः ऋषयश्च ये'। ऋषि का प्रथम तात्पर्य बताया 'ऋषयः सत्यवचसः' जो सत्य वचन अर्थात् व्यावहारिक सत्य का अवलम्बन करते हैं वे ऋषि होते हैं। इस व्यावहारिक सत्य का अवलम्बन करने में जो कष्ट होते हैं, वे उन्हें सहन करते हैं। इसलिये 'ऋषि' का दूसरा तात्पर्य हुआ जो जीवन में उस कष्ट को सहन करे, जो धर्ममार्ग पर चलने से आता है, धर्म-पालन की प्रक्रिया को प्रकट करे।

जीवन तीन प्रकार का होता है—१. भोग-प्रधान, २. तपःप्रधान और ३. क्लेश-प्रधान। जीवन में जो चीज़ अधिक रहती है, जिसे अधिक मूल्य दिया जाता है, उसे ही प्रधान कहा जाता है। भोग-प्रधान जीवन मे सबसे ज़्यादा ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि हमारा शरीर और मन जैसा चाहें, वैसा ही हम करें। देह और मन का अनुवर्तन करने वाला जीव है, देह और मन के पीछे चलने वाले जीव का भोगप्रधान जीवन है, इसमें देह

और मन के सुख की प्रधानता है। यह प्रथम प्रकार का भोग-प्रधान जीवन है। संसार में अधिकतर प्राणी भोग-प्रधान जीवन को ही व्यतीत करते हैं। भोग का अर्थ केवल इस लोक का भोग नहीं। शरीर और धन दोनों के भोग होते हैं, इसलिये जो मरने के बाद देव आदि लोकों में, स्वर्ग आदि लोकों में जाकर भी भोग-प्राप्ति चाहता है, चाहता है कि 'हमारे सब दुःख मिट जायें और हम सुखी रहें', ऐसा चाहने वाला व्यक्ति मूलतः भोगी ही है क्योंकि वह शरीर और धन के अनुकूल जीवन बिताना चाहता है।

दूसरा हुआ जिसके अन्दर तप की प्रधानता होती है। तपःप्रधान जीवन में व्यक्ति ठीक कार्य करने को प्रधानता देता है। उचित और अनुचित का विवेक, धर्म और अधर्म का विवेक उसके लिये प्रधान है। उस धर्म का पालन करते हुए उसे दुःख हो तो भी वह उचित को प्रधानता देता है क्योंकि जानता है कि वह ठीक है।

तीसरा जीवन क्लेशप्रधान होता है। बहुत से व्यक्ति संसार में दूसरे को दुःखी करना ज़्यादा प्रधान सोचते हैं चाहे उसमें अपने को खुशी हो या न हो। ऐसे व्यक्तियों को क्लेशप्रधान कहा गया है। उनका नियम है कि कारण से या अकारण भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करना, ऐसी परिस्थिति बनाना जिसमें दूसरे लोग दुःखी हों। उस दुःख में उनको एक रस आता है। यह नहीं समझना कि केवल सुख में ही रस आता है। जिस प्रकार जो प्राणी खटाई पसंद करता है उसे खट्टे में वैसा ही रस आता है जैसे मिठास पसंद करने वाले को मीठे में। ऐसा नहीं कि खट्टा पसन्द करने वाले को खटाई में रस न आता हो, उसको रस ही खटाई में आता

है। इसी प्रकार दूसरे को दुःखी देखकर भी कलेश-प्रधान व्यक्ति को अपने ह्रदय में रसानुभूति होती है। संसार में बहुत-से प्राणी क्लेशप्रधान होने पर भी कहते यह हैं कि 'परिस्थिति के कारण हम क्लेश करते हैं।' ऐसा है नहीं, यदि क्लेश नहीं हो तो उनका मन नहीं लगता ! तुम घर में बैठे हो। एक लड़के ने तुमसे आकर कहा 'बड़ी भाभी ने आज सवेरे मेरे दूध मे मलाई नहीं डाली।' जो व्यक्ति भोगप्रधान होगा वह यह सुनते ही तुरन्त बड़ी बहू को बुलाकर कहेगा कि 'इसके दूध में आज तुमने मलाई क्यों नहीं डाली ?' तपःप्रधान व्यक्ति बात को सुन लेगा। उसके बाद दूध गरम करने वाले रसोइये से पता लगायेगा कि क्या आज दूध में मलाई कम पड़ी थी या किसी और को दवाई के लिये मलाई की ज़रूरत थी? इन बातों का पता लगाने में घण्टा-दो-घण्टा लगायेगा। अंत में निर्णय करेगा कि उसने जानबूझकर मलाई कम दी थी या और कोई कारण था। बहन की तबियत खराब थी, इसलिये डाक्टर ने मलाई के साथ दवाई मिलाकर देने को कही थी। वह मलाई उसे दे दी गई। उसने पूछा नहीं कि 'मलाई क्यों नहीं दी', वह तो पता लगाता है कि आज घर में मलाई की कमी का कारण क्या है। यह तपःप्रधान व्यक्ति ही करेगा। भोग-प्रधान व्यक्ति ने तो तुरन्त बुलाकर कह दिया। क्लेश-प्रधान व्यक्ति क्या करेगा ? जिसने आकर कहा कि आज कम मलाई डाली, उसे तुरंत कहेगा कि 'तेरी भाभी का स्वभाव ही ऐसा है।' जहर का एक इंजेक्शन तो उसी समय उसने लगा दिया, अभी पता नहीं लगाया। फिर क्लेश-प्रधान व्यक्ति भाभी को जाकर कहेगा 'आज तुम्हारा देवर मुझ से कह रहा था कि उसके

दूध में आज तुमने जानबूझकर मलाई कम डाली थी।' देवर ने ऐसा नहीं कहा था कि *जानबूझकर* नहीं डाली। उसने यह गलत रिपोर्ट इसलिये दी ताकि भाभी देवर के खिलाफ और देवर भाभी के खिलाफ हो जाये। संसार में ऐसे पुरुष भी होते हैं। ऐसे लोग अपने को भला आदमी सिद्ध करते हैं, बड़े ठाठ से कहेंगे कि 'हम तो सच्ची बात बोल देते हैं, कोई भला माने या बुरा माने।' लेकिन वह सत्यवचन वाला नहीं है। वह तो क्लेशप्रधान व्यक्ति है। वह चाहता है कि सब आपस में भिड़ते रहें। अपने दो पुत्रों में प्रेम होने लगे तो उन्हें प्रिय नहीं लगता। छोटे पुत्र से कहेगा 'तेरा बड़ा भाई काम ज़्यादा जानता है, आज के जीवन में हमेशा सावधान रहना चाहिये।' बड़े से कहेगा 'तेरा छोटा भाई पढ़ा-लिखा ज़्यादा है, ज़रा तू भी उससे हिसाब ढंग से समझ लिया कर।' ऐसे व्यक्तियों को जीवन का रस ही क्लेश में आता है। इस प्रकार के लोग दिन-रात संसार की चिन्ता और निन्दा में लगे रहते हैं क्योंकि उनके रस का आधार ही यह है। पड़ोसी का लड़का कितने बजे आया, उसकी पत्नी सवेरे कितने बजे बिजली जलाती है, उनका कोई रिश्तेदार नहीं है इत्यादि इन सारी बातों की डायरी उसके पास है। उनके जीवन का तो सार ही यह है कि किसी न किसी प्रकार क्लेश से रस लेना।

ये तीन प्रकार के प्राणी संसार में होते हैं। एक अनात्म देह और मन की अनुकूलता अर्थात् उसके सुख को ही प्रधानता देते हैं। दूसरे, देह और मन के सुख को प्रधानता न देकर उचित और अनुचित पर ध्यान देते हैं। और तीसरे क्लेश-प्रधान व्यक्ति देह और मन के सुख को प्रधानता न देकर दूसरे के दुःख और कष्ट

के द्वारा ही अपने को सुखी अनुभव करते हैं।

एक आदमी क्लेश-प्रधान स्वभाव का था। क्लेशप्रधान स्वभाव का होने के कारण स्वयं भी दुःखी रहता था और दूसरे को भी दुःख देता था। एक बार सब घर वालों ने मिलकर उस पर बड़ा दबाव दिया कि 'तू परमेश्वर की आराधना कर।' उन्होंने समझा कि परमेश्वर की आराधना से इसके मन में शुद्धि आ जायेगी। बहुत कहने पर उसने परमेश्वर की आराधना शुरू की लेकिन उसके मन में शुद्धि का भाव नहीं था। उसका भाव था कि 'मैं अपने आस-पास के लोगों से बहुत बढ़ जाऊँ कि उसका नतीजा यह हो कि वे सारे मुझसे जलने लगें, मुझ से दुःखी हों।' इसलिये कहा तो यह कि 'परमेश्वर की आराधना करूँगा' लेकिन उसके हृदय में कुछ और ही बात थी। परमेश्वर लीला करने में बड़े कुशल हैं। उन्हें खेल खेलना बड़ा पसन्द आता है। थोड़े ही समय में उस पर प्रसन्न हो गये। प्रसन्न होकर भगवान् ने उससे कहा 'जो माँगना हो सो माँग ले।' परमेश्वर को तो पता ही था कि वह सबसे आगे बढ़कर दूसरों को जलाना चाहता है। परमेश्वर ने कहा 'तू जो कहेगा, वह मैं दे दूँगा, जब कहेगा, तब दे दूँगा। लेकिन एक बात है जितना तुझे मिलेगा, उससे दुगुना तेरे अड़ोसी-पड़ोसियों को मिल जायेगा।' जब वापिस घर आया तो घरवालों ने पूछा 'वरदान ले आये ?' बोला 'ले आया।' घर वाले बड़े खुश हुए, पूछा, 'क्या वरदान मिला ?' कहने लगा, 'परमात्मा ने कहा कि जो माँगेगा वह तुझे मिल जायेगा।' घर वालों ने कहा कि 'फिर माँग लो कि अपना तीन तल्ले का मकान हो जाये।' लेकिन उसने असली बात नहीं बताई थी। उसने कहा, 'क्या

बताऊँ, मुझे मकान की इच्छा ही नहीं है।' घर वालों ने सोचा कि इसका अंतःकरण आराधना करने से बहुत ज़्यादा शुद्ध हो गया है। हमने तो सोचा था कि यह दूसरों से बुरा आचरण छोड़ देगा लेकिन इसे तो सर्वथा निष्कामता हो गई, अब इसे कोई कामना नहीं रह गई।

कुछ दिन बाद उधर से एक महात्मा निकले। घर वालों ने उनसे कहा कि 'हमने इसे परमेश्वर की उपासना में लगाया था कि इसका मन शुद्ध हो जाये। हमने तो सोचा था कि इसका मन थोड़ा शुद्ध हो जायेगा लेकिन वह तो बहुत ज़्यादा शुद्ध हो गया। अब इसके मन में कोई कामना ही नहीं है।' महात्मा ने उसे ऊपर-नीचे देखा और निर्णय कर लिया कि यह निष्काम पुरुष तो नहीं दीखता। महात्मा ने उससे पूछा कि क्या बात है। कहने लगा, 'कोई बात नहीं। मैं जो चाहूँ सो माँग सकता हूँ लेकिन मेरी मकान की इच्छा नष्ट हो गई है।' महात्मा ने एक-दो दिन उसका अध्ययन किया और समझ गये कि यह अभी भी द्वेष की अग्नि से जल रहा है। उसका स्वभाव समझ गये। महात्मा ने उसे धीरे-धीरे समझाना शुरू किया 'यदि परमेश्वर ने तेरे को कोई चीज़ दी भी है लेकिन जब तक माँगेगा नहीं तब तक पता कैसे लगेगा कि तुझे जो वरदान मिला है, वह ठीक है ? हो सकता है भगवान् ने तुझे धोखा ही दे दिया हो। इसलिये कोई चीज़ सोचकर माँग ले।' महात्मा तो जानते थे कि असली बात क्या है। महात्मा की बात उसे जँच गई कि ठीक ही कहते हैं, क्या पता भगवान् ने धोखा दे दिया हो। परीक्षा करनी चाहिये। लेकिन साथ में उसे डर भी था कि कहीं परीक्षा की और पड़ोसियों के यहाँ दुगुना हो

गया तो मेरा तो बण्टाढार हो जायेगा। महात्मा ने बीज डाल दिया था, सोचने लगा कि कोई छोटी-मोटी चीज़ माँग लूँ। बुद्धि तो सभी के पास होती है, चाहे जिस काम में ले लो। अंत में उसने निर्णय कर लिया और भगवान् के सामने जाकर हाथ जोड़कर कहा, 'हे परमेश्वर ! मेरी एक आँख फूट जाये।' वह काना हो गया और पड़ोसी बेचारे अंधे हो गये! अब बड़ा प्रसन्न हुआ कि माँगने का तरीका भी मिल गया और परमेश्वर का दिया वचन भी पूरा हो गया। बड़ा सोच विचार कर तरीका निकाला था कि अपनी एक आँख फुड़वा कर पड़ोसियों की दोनों आँखें फुड़वा दीं। इसी प्रकार उसने दूसरा विचार किया और भगवान् से माँगा कि 'मेरे सामने के सोलह दाँत टूट जायें। सामने के दाँत कम काम आते हैं, उनके बिना दाढ़ से काम चल जाता है। यह माँगने के साथ ही उसके सोलह दाँत टूट गये। पड़ोसी के बत्तीसों टूट जायें, इसलिये अपने सोलह तुड़वा लिये। अब उसने विचार किया कि और कोई बढ़िया काम करूँ। माँगा कि 'मेरा मकान आधा खण्डहर हो जाये।' बेचारे पड़ोसियों का सारा ही घर खण्डहर हो गया। इस प्रकार के लोग भी संसार में हुआ करते हैं। इनको क्लेशप्रधान कहते हैं।

कुछ लोग इन दोनों से ऊपर उठते हैं तो कहते हैं कि देह और मन को खुश रखना भी तुच्छ है। चाहे जितना इस देह और मन को सुख दो, यह सुख क्षणिक है। एक क्षण के बाद ख़त्म हो जायेगा। इतना ही नहीं, यह सुख विकारी है। उचित और अनुचित का विचार भी बड़ा लम्बा-चौड़ा है। जो कार्य एक परिस्थिति में उचित होता है, वह दूसरी परिस्थिति में अनुचित

हो जाता है। सारी तैयारी उचित करो लेकिन अंत में मनुष्य अनुचित फल को उत्पन्न कर लेता है। सारे काम उचित के किये लेकिन फल अनुचित हो गया। इसलिये तप का निश्चय भी असम्भव है। क्लेश के द्वारा तो यहाँ भी जलना होता है और आगे भी जलना होता है। क्लेश-प्रधान व्यक्ति स्वयं वर्तमान में दुःख पाता है, पड़ोसी को दुःख देता है तो भविष्य में भी दुःख ही पाता है। कई बार घर में बुड्ढी औरतें अपनी बहू से कहती हैं कि 'हमारे ज़माने में बर्तन माँजते-माँजते हमारी कमर टूट जाती थी। तुम लोग तो कुछ काम करती ही नहीं हो।' उनके हृदय में यह बात है कि जब बर्तन माँजे थे, तब भी दुःख था, तभी कह रही है कि कमर टूट जाती थी और अब अपनी बहू को बर्तन न माँजते हुए देखकर दुःखी हो रही हैं। न तो तब सुख लिया कि घर का काम करते हैं तो तबियत ठीक रहती है और न अब उनको सुख मिल रहा है क्योंकि अब भी उनके हृदय में एक अग्नि जल रही है कि ये लोग आराम में हैं, इसलिये वर्तमान में दुःख उठा रही हैं। भविष्य में भी दुःख होता है, खुद भी दुःखी होती हैं और उन बहुओं को बार-बार सुनाकर दुःखी कर रही हैं। इसी प्रकार क्लेश-प्रधान व्यक्ति स्वयं दुःखी, दूसरों को दुःखी करता है, वर्तमान में दुःखी, भविष्य में दुःखी ही रहता है। सब तरह से दुःख ही क्लेश-प्रधान व्यक्ति का स्वभाव है। इसलिये विचारशील कहता है कि क्लेश-प्रधान बनने से फायदा नहीं है।

तपःप्रधान व्यक्ति भविष्य में सुख उठाता है, लेकिन वर्तमान में तो दुःख ही उठाता है क्योंकि तपःप्रधान व्यक्ति को उचित कार्य करते समय देह और मन के सुख को छोड़ना पड़ता है।

भविष्य में उसे सुख मिलेगा। तपःप्रधान व्यक्ति स्वयं दुःखी होता है, लेकिन दूसरों को सुख पहुँचाता है। यही क्लेश-प्रधान और तपः-प्रधान में फ़र्क है कि क्लेश वाला खुद दुःखी रहता है, दूसरों को दुःखी करता है, वर्तमान और भविष्य दोनों में दुःखी होता है। तप वाला वर्तमान में दुःखी लेकिन भविष्य में सुखी है, खुद दुःखी होकर भी साथ वालों को सुखी करता है। भोगी इनसे ठीक उलटा होता है। भोगी व्यक्ति वर्तमान में सुख उठाता है लेकिन भविष्य के लिये दुःख का काम करता है, खुद सुखी होता है लेकिन दूसरों को दुःखी करता है। संसार में भोग की सामग्रियाँ सीमित हैं। भोग असीम नहीं हैं। इसलिये जितना तुम अपना भोग बढ़ाओगे, उतना किसी न किसी का भोग कम होता जायेगा। इसलिये भोगी खुद सुखी है लेकिन दूसरों के सुख का खयाल नहीं करता अतः वर्तमान में सुखी है लेकिन भविष्य में दुःखी होता है। तप वाला और भोग वाला दोनों आधे-आधे सुखी और आधे-आधे दुःखी हैं। तप वाला भविष्य में सुखी, इस समय खुद दुःखी और दूसरों को सुखी करता है। भोग वाला भविष्य में दुःखी और दूसरों को दुःखी करता है। इसलिये दोनों को आधा दुःख और आधा सुख है। क्लेश वाला पूरा दुःखी है।

इनसे अलग कोई विलक्षण बुद्धि वाला सोचता है कि कोई ऐसा मार्ग निकाला जाये जिसमें वर्तमान में भी सुख हो और भविष्य में भी सुख हो, खुद को भी सुख हो और दूसरों को भी सुख हो। जब तक इन तीन के चक्कर में घूमेगा, तब तक यह नहीं होने वाला है। इन तीन के चक्कर को जब छोड़ता है, तब यह अवस्था आती है। भोगी रजोगुणी, तप वाला सत्त्वगुणी और क्लेश वाला

तमोगुणी होता है। इन तीनों गुणों के विचारों को जो छोड़ सके, जो इन तीनों गुणों से हट सके वह खुद सुखी हो और दूसरों को सुखी करे, वर्तमान में सुखी और भविष्य में सुखी होगा। जब इन तीन गुणों का परित्याग करे, तभी ऐसा हो। ये तीन गुण कैसे छूटें ? जो गुणातीत है उसका सहारा लेने से ही ये गुण छूट सकते हैं। अपने प्रयत्न से गुण नहीं छूटते। अपना प्रयत्न करोगे तो सत्त्व, रज और तम इन तीनों में ही घटा-बढ़ी कर सकते हो। गुणातीत बनने के लिये, गुणों का सहारा छोड़ने के लिये हमें ईश्वर (गुणातीत) की आवश्यकता है। हम अपने लिये सुख नहीं चाहें, ईश्वर को सुखी करने की सोचें। कोई भी कार्य करते समय न तपस्वी की तरह उचित या अनुचित सोचें कि यह परमेश्वर की इच्छा के अनुकूल है या नहीं, बल्कि केवल वह कार्य करेंगे जिससे परमेश्वर सुखी हो। एक विलक्षण बात है कि परमेश्वर हमारे अंतःकरण में भी है और सभी प्राणियों के अंतःकरण में भी है। इसलिये जब ईश्वर सुखी होगा तब हम भी सुखी होंगे और ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहने वाला होने से सब प्राणी सुखी होंगे। तुम जब घर में लट्टू जलाओ तब तुम्हारे घर में रोशनी होगी, पड़ोसी के घर में रोशनी नहीं होगी, लेकिन जब सूर्योदय होता है तब सब के घरों में रोशनी होती है। ऐसे ही तप और भोग के द्वारा तुम जीवभाव में रहते हो। जब इसे छोड़कर ईश्वर की प्रसन्नता के लिये कार्य करोगे तब तुम्हारे में रहने वाला ईश्वर भी प्रसन्न होगा और ईश्वर सब प्राणियों के अंतःकरण में है, इसलिये सब प्रसन्न होंगे।

दूसरी बात है कि ईश्वर की प्रसन्नता कभी घटती बढ़ती नहीं

है। संसार के प्राणियों की प्रसन्नता कैसी है ? उनके लिये काम किये जाओ तो खुश हैं और दो मिनट के लिये न करो तो सारी प्रसन्नता चली जाती है। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं होगा। मुनीम जी नियम से रोज़ हिसाब बन्द करते हैं, चाहे रात के दस बजें। आज के मुनीम जी नहीं हैं, सत्ताइस सालों से तुम्हारे पिता जी के समय से लेकर आज तक ऐसे ही काम करते रहे हैं। रात के दस-ग्यारह बजे तक हिसाब का काम पूरा करके ही घर जाते हैं। तब तो मुनीम जी बड़े अच्छे हैं, उनसे बड़े प्रसन्न रहते हो। यदि आगे सत्ताइस हफ्ते तक (अर्थात् छह महीने से कुछ ज़्यादा) हिसाब नहीं लिख पाते तो कहोगे 'आज का ज़माना ऐसा बिगड़ गया है कि जितने पुराने से पुराने मुनीम हैं, सारे बिगड़ गये हैं। अब यह बुड्ढा हो गया है, इसे निकालना पड़ेगा, इससे काम नहीं होता।' सत्ताइस साल तक वह तुम्हारा काम करता रहा, तब तो खुश और जहाँ उससे किसी भी कारण से कार्य नहीं हो पाया, तुरंत तुम नाखुश हो जाते हो। यह संसार की प्रसन्नता है; सेवा करते रहो तो प्रसन्नता और थोड़ा समय भी न कर पाओ तो अप्रसन्नता हो जाती है। यही संसार का स्वरूप है। परमेश्वर का स्वरूप बिल्कुल इससे उलटा है। वह यदि एक बार प्रसन्न हो गया तो फिर तुम करोड़ों अपराध किये जाओ, वह अपनी प्रसन्नता को नहीं छोड़ता। वह उस प्रसन्नता को याद रखता है कि 'इसने मेरे लिये कितनी प्रसन्नता का काम किया।' रोज़ करते ही रहो—यह भाव उसका बनता ही नहीं। मेरे लिये इसने किया, इस बात की प्रसन्नता और फिर चाहे अतिदीर्घकाल तक नहीं भी किया तो भी वह याद रखता है कि 'तब तो किया था'। इसलिये यदि

उसकी प्रसन्नता एक बार हो गई तो फिर कभी अप्रसन्नता नहीं होती। परमेश्वर के लिये जो इस प्रकार काम करते हैं, उन्हें शास्त्रों में ऋषि बताया।

तीन प्रकार के प्राणी बताये—भोगी, तपस्वी और क्लेश वाले। ये तीन प्रकार के प्राणी संसार के प्राणी हैं। इन तीनों को छोड़कर जो परमेश्वर की तरफ दृष्टि करने वाले हैं, वे ऋषि हो गये। यहाँ तीन प्रकार के मनुष्यों में ऋषियों को इसलिये नहीं गिनते क्योंकि उन्होंने अपने मन का भाव छोड़ दिया है और केवल परमेश्वर के मन को ही पकड़ रखा है, उन्होंने अपने आपको केवल परमेश्वर के हाथ में दे रखा है। वे वर्तमान में भी सुखी, भविष्य में भी सुखी, स्वयं भी सुखी और जो उनके सम्पर्क में आये वह भी सुखी होता है। सर्व प्रकार के सुखों के प्रसारण करने वाले ऋषि किस प्रकार से बना जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-५१

श्रुति पुरुषयज्ञ को करने वाले साधक को ऋषि रूप में बता रही है। ऋषिरूप का वर्णन करते हुए पहले बताया कि ऋषि वह है जो सत्य को ही प्रधानता देता है। यहाँ सत्य का मतलब व्यावहारिक सत्य है। दूसरी चीज़ बताई सत्य वचन का पालन करने से मनुष्य को जीवन में कष्ट उठाने की सम्भावना बनती है, इसलिये सत्यरूप साधन को करने के लिये तप उसका अंग है। जो तपस्वी नहीं होगा, वह कभी भी सत्य का पालन नहीं कर

सकेगा। तपस्वी का तात्पर्य बताया कि धर्म का पालन करने में जो कष्ट उठाना पड़े उस कष्ट को सहन करने की सामर्थ्य होना। तपस्वी से अतिरिक्त कल दो प्रकार के जीवों को बताया—एक, जो क्लेश-प्रधान होता है, और दूसरा जो भोग-प्रधान होता है। साधक को चाहिये कि भोग और क्लेश का परित्याग करे, तप के साधन के द्वारा व्यावहारिक सत्य का पालन करते हुए पारमार्थिक सत्य अर्थात् परमात्मा की तरफ बढ़े। जब वहाँ पहुँचेगा, तब क्या होगा ? ईश्वर की तरफ जाने पर भोगादि तीनों से रहित होने पर, निर्गुण भाव को प्राप्त करेगा। इन तीनों गुणों से रहित भाव को प्राप्त होने वाला 'साध्य ऋषि' होगा, तप करने वाला केवल 'ऋषि' होगा। यह 'ऋषि' और 'साध्य ऋषि' में फ़र्क है।

'ऋषि' धातु का अर्थ गति होता है। इसलिये 'ऋषन्ति जानन्ति इति ऋषयः'। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं, इसलिये जो वास्तविकता को जानते हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं। 'ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः' यह भी इसी बात को बताता है। मंत्र में कही हुई बात की वास्तविकता को जानना ही मंत्रद्रष्टा बनना है। द्रष्टा मायने यह नहीं कि आँखों के सामने कोई मंत्र दीखता हो! मंत्र-द्रष्टा का मतलब होता है मंत्र की वास्तविकता को जानना। मंत्र के द्वारा प्रतिपाद्य परमात्मा के स्वरूप को जानना ही मंत्रद्रष्टा बनना है। ऋषि क्या जानता है ? तत्त्व को जानता है, किसी भी चीज़ की यथार्थता को जानता है। जिस चीज़ का ज्ञान होगा, उस चीज़ का अज्ञान साथ में नहीं रह सकता। जैसे जिस चीज़ पर सूर्य का प्रकाश पड़ेगा, उस पर अंधकार नहीं रह सकता। दोनों का आपस में नाश्य-नाशकभाव सम्बन्ध है। अंधेरा नाश्य और प्रकाश

नाशक है। इसी प्रकार अज्ञान नाश्य है और ज्ञान नाशक है। जैसे ही मनुष्य को किसी चीज़ की सत्यता का ज्ञान होता है, वैसे ही उस का मिथ्या अज्ञान सद्यः नष्ट हो जाता है, तुरंत ख़त्म हो जाता है। ख़त्म होने पर क्या होता है ?

शतपथ ब्राह्मण में विचार उठाया कि ऋषि कौन-से हैं ? साधारणतः लोग समझते हैं कि ऋषि कोई प्राचीन काल में हुए होंगे। वहाँ प्रश्न उठाया 'के ते ऋषय इति ?' वे कौन से ऋषि हैं जो देवभाव को प्राप्त करने के योग्य होते हैं ? श्रुति खुद ही इसका बड़ा सुन्दर जवाब देती है 'प्राणा वा ऋषयः' प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ ही ऋषि हैं। ऋषि का मतलब जाननेवाला। किसी भी चीज़ की वास्तविकता का ज्ञान इन्द्रियाँ ही तो कराती हैं। आँख खोलकर देखोगे तो ही पता लगेगा कि सचमुच इस चीज़ का रूप क्या है। आज से लेकर पचास कल्पों तक मन से कल्पना करते रहें कि 'इस चीज़ का रूप क्या है', कभी पता नहीं लगना है। आँख खोलकर देखो तो तुरंत पता लग जाये। इसी प्रकार किसी चीज़ की ध्वनि क्या है, यह बजाकर देखो तो पता लग जायेगा। किसी चीज़ का स्पर्श क्या है, यह छूकर देखो तो पता लग जायेगा। चाहे जितनी कल्पना करते रहो कि इसका स्पर्श कोमल है, कठोर है, लेकिन उस कल्पना से कभी *पता* नहीं लगने वाला। बहुत-सी चीज़ें कल्पना के अन्दर अत्यंत भय वाली प्रतीत होती हैं लेकिन जब उनका ज्ञान होता है तब मालूम पड़ता है कि उनमें कोई भय नहीं। किसी भी चीज़ को जानने के लिये, आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के द्वारा ही उस चीज़ को जानना पड़ेगा। इसलिये श्रुति ने कहा कि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है, इसलिये इन्द्रियाँ ही

ऋषि हैं। कहोगे कि मन से भी ज्ञान होता है ? अकेले मन से कभी ज्ञान नहीं होता, यह सूत्र याद कर लो। मन कभी कोई स्वतंत्र ज्ञान को देने वाला नहीं है। आँख के द्वारा यदि मन देखेगा तो सच्चा रूप दिखायेगा और आँख बंद करके जो रूप देखेगा, वह कल्पित है। कान खोलकर जो सुनेगा, वह सच्चा सुनेगा लेकिन यदि कान बन्द करके सुनेगा तो आने वाली ध्वनि कल्पित होगी। नवीन ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ ही हैं, मन नहीं है। समाधि के द्वारा भी कोई नवीन ज्ञान आने वाला नहीं है। ज्ञान तो किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा ही आयेगा, उसको पुष्ट करने के लिये चाहे समाधि की ज़रूरत पड़े।

इसी प्रकार अनुमान से भी ज्ञान नहीं होता। प्रायः लोग यह ग़लती करते हैं। रुपये में साढ़े पन्द्रह आना जीवन कल्पना के आधार पर निकालते हैं, कभी तथ्य का पता लगाने में प्रवृत्ति नहीं करते। बैठे-बैठे मन से अनुमान और कल्पना करते रहते हैं कि 'ऐसा हुआ होगा।' व्यापारी बैठकर सोचता रहता है कि सरकार हमको उखाड़ने के लिये दाव-पेंच करती होगी। कभी पता नहीं लगाते हैं कि करती है या नहीं। इसी प्रकार सरकार के लोग बैठकर सोचते रहते हैं कि सारे व्यापारी मिलकर हमारे समाजवाद की उन्नति को रोकने में लगे हुए हैं। जो दोनों को जानते हैं, उन्हें पता है कि व्यापारी, बैठकर एक निर्णय नहीं करते हैं। जब चीज़ों के दाम बढ़ते हैं तब सरकार के मिनिस्टरों से पूछो, वे सोचते हैं कि सब व्यापारी मिलकर सोचते होंगे कि अपनी चीज़ों के दाम बढ़ा दो, इसलिये दाम बढ़ जाते होंगे। व्यापारी तो एक-दूसरे को मारने को तैयार रहते हैं, इसलिये बैठकर मिलने वाले नहीं हैं!

परिस्थिति के कारण दाम बढ़ गये। इसी प्रकार व्यापारी सोचते हैं कि सरकार हम को उखाड़ने के लिये इस प्रकार करों में वृद्धि करती होगी। उनके सामने खर्चे आते हैं जिन्हें पूरा करने का उपाय उन्हें करवर्धन ही पता है। इसी प्रकार पिता-पुत्र के झगड़े का मूल भी यही है। पिता कभी पूछेगा नहीं, लेकिन सोचता है कि 'लड़का बाहर से आता है तो ज़रूर मुझसे आँख बचाता होगा।' पुत्र सोचता है कि 'पिता जी मेरे आने से पहले सो जाते हैं, इसलिये ज़रूर मुझ से घृणा करते होंगे या मुझसे बात नहीं करना चाहते।' इसी प्रकार मालिक-नौकर में भी है, मालिक सोचता है कि सब नौकर बैठकर कोई मालिक-विरोधी नीति बनाते होंगे जबकि वे ऐसा कुछ नहीं करते, परिस्थितिवशात् कुछ करते जाते हैं। न मालिक ही बैठकर कोई नीति बनाते हैं कि 'इस प्रकार सब नौकरों को उखाड़ देंगे।' लेकिन इन कल्पनाओं से वे सारे दुःखी बने रहते हैं। यदि बैठकर आपस में बात कर लें तो रुपये में साढ़े पन्द्रह आने समस्याएँ हल हो जायें। लेकिन वे कभी आपस में बैठकर बात नहीं करते, मन की कल्पनाओं को ज़्यादा प्रश्रय देते हैं। मन की कल्पनाओं को वे ज्ञान मान लेते हैं; 'हुआ होगा' से मानते हैं कि 'ज़रूर है'। यही सारे दुःखों का कारण बनता है। विचारशील इस बात को जानता है कि ज्ञान इन्द्रिय से होगा। उसमें मन के द्वारा जो कुछ जोड़ते हैं, वह सब व्यर्थ है।

दूसरी दृष्टि से देखो : गत तीन सौ वर्षों की सारी वैज्ञानिक उन्नति का आधार क्या है ? उन लोगों ने अपनी इन्द्रियों से ज्ञान करना प्रारंभ किया। उसके पहले हमारी वैज्ञानिक उन्नति क्यों रुकी हुई थी ? क्योंकि हम लोग इन्द्रियों का प्रयोग कम करते

थे। मन के द्वारा कल्पनायें ज़्यादा करते थे। अनुमान से व्यवस्थायें बनाते रहते थे लेकिन कभी देखते नहीं थे कि वास्तविकता क्या है। जैसे-जैसे आँख, कान इत्यादि खोलकर वैज्ञानिक आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे नवीन ज्ञान खुलता गया। यह नियम हुआ कि चाहे बाह्य शासन हो, चाहे घर का हो या राज्य का, सर्वत्र ज्ञान इन्द्रियों से होता है, अकेला मन ज्ञान का साधन नहीं है। इसीलिये यहाँ श्रुति ने बताया कि इन्द्रियाँ ही ज्ञान का साधन हैं।

कोई शंका करेगा कि परमात्मा का ज्ञान किस इन्द्रिय से होता है ? परमात्मा का ज्ञान भी मन से नहीं होता। परमात्मा का ज्ञान सारी इन्द्रियों से इकट्ठे ही होता है ! कहोगे कि हमारी सारी इन्द्रियाँ ठीक हैं, आँखों पर चश्मा भी नहीं लगा रखा है, कानों में भी सुनने का यंत्र नहीं लगाते, अभी भी रसगुल्ला खाने में बड़ा आनन्द आता है, सुगन्धि भी बढ़िया लगती है; यदि सारी इन्द्रियों से इकट्ठे ज्ञान होता है तो हमें परमात्मा का ज्ञान क्यों नहीं हो रहा है ? परमात्मा का ज्ञान होता सारी इन्द्रियों से है लेकिन एक खटकन्ना है जो समझना ज़रूरी है। वह खटकन्ना यह है कि जो इन्द्रियों के सामने पड़े, वह परमात्मा नहीं, इन्द्रियों के जो *पीछे* रहे, वह परमात्मा है। बस इतना ही फ़र्क है।

'येन रूपं रसं गंधं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।।'

भगवान् यमराज नचिकेता को उपदेश करते हुए कहते हैं कि आँख के द्वारा जो देखो वह अनात्मा और आँख के द्वारा जो देखे वह आत्मा है। कान के द्वारा जो सुनाई दे वह शब्द अनात्मा लेकिन

कान के द्वारा जो सुने वह आत्मा है। जीभ के द्वारा जो चखा जाये वह अनात्मा और जीभ के द्वारा जो चखे वह आत्मा है। जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनसे जो भी काम होता है उससे आत्मा और अनात्मा दोनों का ज्ञान होता है। अनात्मा की तरफ ध्यान देते हुए आत्मा की तरफ ध्यान नहीं देते हो, बस इतनी ही बात है। जैसे घर में ठण्डी अल्मारी (रेफ्रिजरेटर) जो करे वह तो ठंडक है और जिसके द्वारा ठण्डक करे, वह बिजली है। पंखा जो करे, वह हवा लेकिन जिसके द्वारा करे वह बिजली है। लट्टू जो करे, वह रोशनी है लेकिन जिसके द्वारा करे वह बिजली है। प्रायः आदमी ठण्डी अल्मारी, पंखा, लट्टू याद रखता है लेकिन बिजली को भूल जाता है। बिजली कब याद आती है ? जब फ्यूज़ हो जाती है, तब कहता है कि 'बिजली चली गई, ठीक करवाओ।' इसी प्रकार साधारण आदमी को परमात्मा कब याद आता है ? जब घर में कोई शरीर के अन्दर आने वाले आत्मा का 'कनैक्शन फ्यूज़' हो जाता है, उठाकर निगमबोध घाट ले जाते हैं, तब रास्ते भर वह याद आता है जो आज तक इसे चला रहा था। उस समय याद आता है कि इसके अंदर रहने वाला परमात्मा कहाँ गया। उस समय सारे बोलते हैं 'राम नाम सत्य है' अर्थात् उससे भिन्न मिथ्या है। जैसे बिजली फ्यूज़ होने पर बिजली याद आती है लेकिन जैसे ही बिजली का कनैक्शन आया फिर भूल जाते हैं। इसी प्रकार आदमी को जलाकर वापिस आते-आते फिर भूल जाते हैं कि किस बिजली से यह सब चल रहा है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानना—यह एक काम और उन्हीं इन्द्रियों के द्वारा परमात्मा को जानना यह दूसरा काम है। इसलिये इन्द्रियाँ ऋषि हैं, हम सबको ज्ञान देती

हैं। लेकिन हम एक ज्ञान को पकड़ते हैं और दूसरे को भूल जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण आगे कहता है 'ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्माद् इदम् इच्छन्तः आरिषन्ति तस्माद् ऋषयः'। स्वयं अतिधन्यवेद निरुक्त कर रहा है कि प्राणरूप ऋषि ने क्या किया ? वह ऋषि क्यों बने ? कहते हैं 'पुरा' पहले 'अस्मात् सर्वस्मात्' इन सब चीज़ों से 'इदं इच्छन्तः' उन्होंने एकमात्र परमात्मा की इच्छा की। यही हेतु हो गया। जब तक मनुष्य बाह्य पदार्थों की इच्छा में लगा रहता है तब तक बाह्य पदार्थ सामने आते हैं और जब इन बाह्य पदार्थों से मन हट जाता है तब परमात्मा की इच्छा किया करता है। जब तक बाह्य पदार्थ प्रिय लगते हैं तब तक परमात्मा प्रिय नहीं लगता क्योंकि आत्मा और अनात्मा बड़े विरोधी तत्व हैं, दोनों एक साथ अच्छे नहीं लग सकते। जैसे इस समय यदि मिर्च अच्छी लग रही है तो मीठा नहीं। चालीस रसगुल्ले एक के बाद एक दबा लिये, अब थोड़ी-सी मिर्च की चटनी खाने की इच्छा है। उस समय और रसगुल्ला नहीं चल सकता। उसके बाद एक पूरी मिर्च का अचार खा लिया, जीभ जलने लगी तब और रसगुल्ला अच्छा लगता है। इसलिये जिस काल में मीठा अच्छा लगता है, उस काल में मिर्च नहीं और जिस काल में मिर्च अच्छी लगती है, उस काल में मीठा अच्छा नहीं लगता। इसीलिये मिठाई खाने वाले मिर्च भी तेज़ खाते हैं। मारवाड़ में जाओ तो एक परवल और उसमें छटांक भर मिर्च और ऊपर से घी; साथ में बालूशाही और दाल का सीरा, मिर्च नहीं हो तो मीठा भी नहीं चल सकता। लेकिन जिस काल में मिर्च खायेगा, उस काल में मीठा छोड़ेगा, जिस काल में मीठा खायेगा,

उस काल में मिर्च छोड़ेगा। इसी प्रकार जिस काल में आत्मा अच्छा लगेगा, उस काल में अनात्मा अच्छा नहीं लग सकता और जिस काल में अनात्मा अच्छा लगेगा, उस काल में आत्मा अच्छा नहीं लग सकता। दोनों एक साथ अच्छे नहीं लगा करते। जैसे मीठा खाने वाले को तेज़ मिर्च बड़ी अच्छी लगती है। जितना मिर्च से मुँह जलता हो, उतना ही रसगुल्ले का मिठास ज़्यादा बढ़िया लगेगा। इसी प्रकार जितना संसार के विषयों को अच्छी तरह से देख लिया, उनसे अपने मन को जला लिया उतना ही उसको आत्मा के मिठास का रस आयेगा। जो व्यक्ति ज़्यादा मिर्च नहीं खा सकता, उससे मीठा भी ज़्यादा नहीं खाया जाता, वह थोड़ा-सा मीठा खाकर सोचता है अब फिर मिर्च खा लूँ। इसी प्रकार जिसने संसार के पदार्थों को देखकर उनकी जलाने की ताकत को नहीं समझा है, थोड़े-से दुःख को देखकर ही झट परमात्मा का नाम लेने वाला होता है, वह जल्दी ही परमात्मा के नाम को भूलकर फिर संसार के स्वाद में लग जाता है! संसार से जितना अधिक दुःख का अनुभव कर लेगा, उतना ही फिर उसको कभी भी संसार की तरफ जाने की इच्छा होगी ही नहीं। प्रायः साधक में देखा जाता है कि कुछ समय परमात्मा का चिंतन अच्छा लगा और फिर विषय-चिन्तन चलने लग गया। उसको स्वयं आश्चर्य होता है कि क्या कारण है? संसार के थोड़े-से दुःख से उसने परमात्मा का चिन्तन किया। परमात्मा तो कल्पवृक्ष है, इसलिये परमात्मा का चिन्तन करते ही दुःख दूर हो गया। जैसे ही दुःख दूर हुआ, वैसे ही उसको संसार फिर मीठा लगने लग गया।

जो सच्चा साधक होता है, वह कहता है कि पहले डटकर संसार को खूब ठोक बजाकर देख लो, पक्का निश्चय कर लें कि इसमें तत्त्व है या नहीं। शुरू-शुरू में साधक के जीवन में देखोगे कि संसार की तरफ उसकी अधिक प्रवृत्ति होती है। लेकिन जब वह उसे छोड़ता है तब ऐसे छोड़ता है कि फिर कभी घूम कर नहीं देखता, क्योंकि वह देख चुका है कि उसमें तत्त्व कुछ नहीं है।

'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।

प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः।।'

देवर्षि नारद लिखते हैं कि वह संसार को ही निस्सार देख लेता है। संसार में कुछ चीज़ें निस्सार हों, ऐसा नहीं समझना। संसार स्वतः ही, स्वरूप से ही निस्सार है! जिस प्रकार चाहे जितना प्रयत्न करो, बबूल की लकड़ी से कुछ सार निकलने वाला नहीं है इसी प्रकार संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिससे कुछ सार निकले। कहोगे कि फिर हम लोगों को संसार में सार कहाँ से नज़र आता है ? रहस्य है कि वह अपना ही डाला हुआ सार है।

एक सच्ची घटना बतायें। राजस्थान में एक चाल है कि ब्याह के दिन लड़के वालों से मज़ाक करते हैं। आजकल तो दूसरी परिस्थिति हो गई है, लेकिन पहले लोग मज़ाक करने में भी खुश होते थे और जिसके साथ मज़ाक किया जाता था, वह भी खुश होता था। आजकल तो सारे लोगों का चेहरा उदास ही रहता है, उनसे मज़ाक करो तो उनकी हँसी भी खुलकर नहीं निकलती मानो उनका कोई गला दबा रहा हो और कई बार तो मज़ाक करो तो चिढ़ते हैं। इसलिये मज़ाक करने वाले का दिल भी खट्टा

हो जाता है कि किसके साथ बोले! इसका क्या कारण है ? हृदय के अंदर द्वेष की अग्नि जलती रहती है। एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या है। जिस मनुष्य में सहृदयता नहीं होगी, एक-दूसरे से दिल मिला हुआ नहीं होगा, वहाँ मज़ाक काम नहीं करता। वहाँ तो सीधी-सादी बात का भी *मतलब* निकाला जाता है कि इसने किस मतलब से कहा। बात करने वाले को आश्चर्य होता है कि क्या-क्या मतलब हो सकता है । पुराने ज़माने में लोग खुशदिल होते थे, एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या नहीं होती थी और कुछ न कुछ व्यवहार करके मज़ाक करते थे। ब्याह के दिन मज़ाक करने के लिये लड़की वालों में से एक ने बकरी की मींगनी (मल) का साग बनाया। उसके अन्दर उसने बढ़िया मिर्च-मसाला डाला और साथ में आलू मिला दिये। बराती खा गये। केवल एक-दो को पता लगा और किसी को कुछ पता नहीं लगा। जब खा-पी चुके तब लड़की वालों ने हँसी करना शुरू किया। कोई कहे चने का और कोई कहे कि आलू का साग खाया। अंत में उनसे कहा गया कि 'यह तो बकरी की मींगनियों का साग था।' यह सुनकर सबका चेहरा छोटा-सा हो गया।

समझने की बात तो यह है कि वे क्यों खा गये ? उसके अंदर मसाले और घी के स्वाद के कारण उसमें उन्होंने साग का ही स्वाद समझा। इसी प्रकार संसार के पदार्थ भी बकरी की मींगनी हैं। वेद में लिखा है 'अजमेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'। अजा नाम बकरी का है। यह बकरी तीन रंगों वाली है—लाल, सफ़ेद और काली। लाल अग्नि, सफेद जल और काला रंग पृथ्वी का प्रतीक है। पृथ्वी, जल और तेज से ही सारी सृष्टि के अन्दर फ़र्क आता

है। इस तीन रंगों वाली बकरी से एक तो जीव पैदा हुआ। दूसरा इसका स्थूल भाग है। छांदोग्योपनिषद् में बताया कि मनुष्य-पशु जो भोजन करता है उसके सूक्ष्म भाग से मन बन जाता है, मध्यम भाग से खून बन जाता है और स्थविष्ठ भाग मल बन जाता है। इस तीन रंग वाली बकरी के उत्तम भाग से उत्पन्न हुई प्रजा तो जीव हो गया और स्थविष्ठ भाग मलरूप से निकले हुए संसार के पदार्थ हैं! यह बकरी का मल हुआ। इसमें किस चीज़ का स्वाद है ? जैसे वहाँ घी और मसाले से ही स्वाद है, ऐसे ही यहाँ इन पदार्थों के ऊपर जीव ही अपनी इच्छा का प्रयोग करके इच्छा का विषय बनाता है और उस स्वाद से खुद ही उन्हें स्वादिष्ट समझता है। इस संसार के अन्दर जो असली माल है, वह तो सर्वथा सार- रहित है। बकरी के मल की तरह हेय है, लेकिन उसके ऊपर तुमने इच्छा का मसाला और घी लगा रखा है, उसी से वह पदार्थ अच्छा लगता है। उनको अच्छा मानकर जीव अपनी ही इच्छा की विषयता को खाता है। स्वाद तो इच्छा की विषयता का है और समझता है कि पदार्थों में स्वाद है।

इसका निश्चय कैसे करें ? संसार में कोई चीज़ सोचकर ऐसी निकालो जिसकी तुमको इच्छा न हो और उसमें तुमको स्वाद आये! बढ़िया से बढ़िया रसगुल्ला हो, उसकी इच्छा न हो तो उसका स्वाद नहीं आता। बढ़िया से बढ़िया साड़ी हो, उसकी इच्छा न हो तो उसमें भी स्वाद कुछ नहीं आता। बढ़िया से बढ़िया गहने हों, इच्छा न हो तो उनमें भी स्वाद नहीं आता। इसलिये जहाँ-जहाँ इच्छा है, वहाँ-वहाँ स्वाद है और जहाँ-जहाँ इच्छा नहीं वहाँ-वहाँ स्वाद नहीं है। यदि साग में कोई स्वाद है तो कोरा साग खाओ उसमें

मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।।'

श्रुति प्रश्नोत्तर-रूप से इसलिये प्रवृत्ति करती है कि इससे बात जल्दी समझ में आ जाती है। आजकल के लड़कों को भी प्रश्नोत्तर-रूप में छपी हुई किताबें अपेक्षाकृत मूल पुस्तक के ज़्यादा पसन्द आती हैं। श्रुति ने विचार किया कि यहाँ समाज-व्यवस्था का प्रसंग आया है, लोगों को सरलता से समझ में आये, इसलिये प्रश्नोत्तर-रूप में कह दिया। प्रश्न में ज़्यादा विचार की बात नहीं होती। आगे उत्तर में विचार होगा।

यज्ञ-पुरुष ने जब समाज-रचना की तब अपने संकल्प से उसमें पुरुषविधता ले आये। यहाँ सब चीज़ों को पुरुष से एक करके क्यों बता रहे हैं ? यह समझाने के लिये कि विश्व में सब नियमों में एकरूपता होती है। ऐसा नहीं कि पशुओं के लिये और नियम हों और मनुष्यों के लिये और। विदेशी समाज-व्यवस्था में यही है, वे मनुष्य का विचार करेंगे, बीच में पशु की बात करो तो कहते हैं कि पशुओं पर अलग नियम चलते हैं। पशुओं के लिये कहेंगे कि अलशेशियन कुत्तों की सातवीं पीढ़ी बड़ी अच्छी होती है, इसलिये इसे साधारण कुत्ते के साथ नहीं लगायेंगे। कहते हैं कि गाय की नस्ल को सुधारो। उनसे कहो कि पशुओं की नस्ल को भले ही सुधारो, आदमी ने क्या कसूर किया है जो उसकी नस्ल बिगाड़ते हो ? तो कहते हैं कि उनकी नस्ल को ज़रूर बिगाड़ो, सभी एक-दूसरे से ब्याह करो। मनुष्य तो नष्ट करने के लिये है, वे हमारे गुलाम बनने के लिये बनाये गये हैं। यदि इनकी नस्ल अच्छी हो गई तो इन पर हमारा शासन कैसे चलेगा ? पशुओं से आगे धन कमाना है, इसलिये उनकी और पेड़ों तक की नस्ल

को सुधारने की बात कहते हैं। जिस राष्ट्र ने मनुष्य की नस्ल को हज़ारों वर्षों से सुधार कर रखा है, उसको कहते हैं कि यह सम्प्रदायवादी हैं क्योंकि उनको तो विरोध करना है।

श्रुति कहती है कि जब उस परम पुरुष ने इस सृष्टि को उत्पन्न किया तब पहले ही संकल्प से भिन्न-भिंन्न प्रकार के पुरुष, भिन्न-भिन्न प्रकार की नस्ल बनीं। जैसे आदि-पुरुष, विराट्-पुरुष, यज्ञपुरुष के अन्दर संकल्परूपता है, वैसे ही संकल्प से ही समाज-पुरुष की सृष्टि उस प्रजापति ने की। किसी ने पुरुषसूक्त का अर्थ केवल उस अनुत्तर तत्त्व आदि-पुरुष को ही माना है। दूसरे पुरुषों का वर्णन आया तो उनको गौण कह दिया। किन्हीं दूसरों ने विराट्-पुरुष (उपास्य) को ही प्रधान माना और बाकी सबको गौण कर दिया। किसी ने यज्ञपुरुष को प्रधान मानकर बाकी तीनों को गौण कर दिया। किसी ने समाज-पुरुष को माना और बाकी तीन को गौण कर दिया। लेकिन पुरुष-सूक्त के द्रष्टा नारायण ऋषि का यह भाव नहीं। ऐसा होता तो वे दूसरे पुरुषों का वर्णन क्यों करते ? सृष्टि के कण-कण में व्याप्त एकसूत्रता का प्रतिपादन करना ही इस पुरुषसूक्त का तात्पर्य है। बहुत-से लोग कहते हैं कि इसमें से किसी एक पुरुष को ही मान लो, कोई कहते हैं केवल अनुत्तर तत्त्व का विचार करो, दूसरे कहेंगे कि समाज का ही विचार करो, बाकी में क्या रखा है ? वैदिक कहता है कि नारायण ऋषि ने चारों का वर्णन किया अर्थात् वेद चारों को ही ठीक मानना चाहता है।

प्रश्न है 'कतिधा ?' उस पुरुष को कितने टुकड़ों वाला अर्थात् कितने प्रकार का बनाया ? यह सामान्य प्रश्न है। अब विशेष

प्रश्न करते हैं 'मुखं किम् अस्य आसीत् ?' इसके मुँह की जगह पर कौन था अथवा इसका मुख क्या था ? इसकी भुजायें कौन था ? ऊरू-प्रदेश कौन था ? इसके पैर कौन थे ? यह समाज-पुरुष का प्रश्न है। कितने प्रकारों से इसे बनाया और इस पुरुष के भिन्न-भिन्न अंग-विशेष कौन थे ? आगे समाज का सामान्य-रूप और विशेष-रूप बताया जायेगा।

प्रवचन-५३

'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यःकृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।'

दसवें मंत्र में जो प्रश्न किये थे, उनके उत्तर इस मंत्र से प्रारंभ हो रहे हैं। पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम आदि-पुरुष को बताया, फिर विराट्-पुरुष को और इसके बाद यज्ञपुरुष को बताया। अब समाज-पुरुष को बताना प्रारंभ करते हैं। समाज-पुरुष का वर्णन करने के पहले प्रश्न के द्वारा उस समाज के रूप को पूछा। क्यों पूछा ? इसका कारण है कि मनुष्य दो प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। एक-साथ ही दुःख के दो प्रकारों का अनुभव होता है। एक, अपने आपको अर्थात् व्यक्ति को केन्द्रित करके और दूसरा, अपने चारों तरफ के वातावरण को, समाज को केन्द्रित करके। दोनों दुःखों का साथ-साथ अनुभव होता है। कोई दुःख ऐसा नहीं

है जो सर्वथा व्यष्टि को लेकर हो और कोई दुःख ऐसा भी नहीं जो केवल समष्टि या समाज को लेकर हो। जब भी दुःख का अनुभव करोगे इन दोनों का आपस में सम्बन्ध होने पर ही करोगे। प्रत्येक दुःख के अन्दर कुछ कारणता अपने में और कुछ कारणता समाज में या वातावरण में होती है। इसलिये यदि दुःख के कारण को समझना है तो दोनों तत्त्वों को समझना ज़रूरी है। किसी एक तत्त्व को लेकर इसका पूर्ण निरूपण सम्भव नहीं है। आदिपुरुष, विराट्-पुरुष, यज्ञपुरुष, में व्यष्टि-प्रधानता थी। अब आगे समाज-पुरुष में समाज या समष्टि की प्रधानता आयेगी।

भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक-वार्तिक में कहते हैं कि जब तक दुःख के मूल को न समझ लिया जाये, तब तक दुःख को नहीं हटा सकते हो।

'संसाराख्यमहाव्याधेः किं मूलम् इति चिन्तयेत्।

तद्ध्वस्तये चिकित्सेयं तदा फलवती भवेत्।।'

भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषों का विचार क्यों ? बृहदारण्यक उपनिषद् में ही पुरुषविध ब्राह्मण है जहाँ पुरुषों के निरूपण के द्वारा यह विचार प्रारंभ किया जाता है कि संसार नाम की महाव्याधि है। एक अल्प व्याधि (बीमारी) होती है, जो दवाई लेने से दूर हो जाती है, जैसे मोतीझरा (टाइफाइड) हुआ, क्लोरोमाइसिटिन ली और रोग चला गया। इसे व्याधि कहते हैं। महाव्याधि मधुमेह (डायबिटीज़) इत्यादि को कहते हैं जिसमें प्रतिदिन उस औषधि को लेते रहो तो वह दबी रहेगी और जैसे ही औषधि लेना बन्द करोगे वैसे ही वह रोग यथावत् हो जायेगा।

इसे महाव्याधि कहते हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह संसार महाव्याधि है। क्यों महाव्याधि है ? यहाँ जितने भी दुःख हैं, उन दुःखों को दूर करने के लिये यदि समाधि की दवाई दो, तो जितनी देर समाधि लगाओ उतनी देर तक यह रोग नहीं क्योंकि समाधि में परमात्मा से एक हो जाते हैं। लेकिन जिस क्षण परमात्मा से अलग हुए, अर्थात् समाधि से उतरकर थोड़ा भी नीचे आये तो फिर यह संसार-रूपी रोग, दुःख वैसा का वैसा खड़ा हो जाता है। इसीलिये इसे महाव्याधि कहते हैं। प्रारब्ध-वेग से व्यवहार करना ही पड़ेगा और जब व्यवहार करेगा तब समाधि से उतरेगा और तब संसार रूपी व्याधि वैसी की वैसी है। वेदांत को छोड़कर बाकी जितने सिद्धान्त हैं, सभी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि दवाई लेते रहो, रोग को दबाये रखो, इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। कोई कहता है कि वैकुण्ठ लोक, गोलोक आदि में चले जाओ। वहाँ कुछ दिन उसे शान्ति मिलेगी लेकिन वहाँ भी शाश्वत शान्ति की सम्भावना नहीं है। यदि वहाँ शाश्वत शांति होती तो जय-विजय वैकुण्ठ के द्वारपाल होकर फिर रावण, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल होकर पैदा नहीं होते। चाहे उपासना के द्वारा वैकुण्ठ लोक आदि में चले जाओ, चाहे योग के द्वारा समाधि लगा लो, ये सारी विधियाँ ऐसी हैं जैसे मधुमेह की बीमारी में दवाई खाना, जब तक खाते रहो तब तक रोग दबा हुआ है, नहीं तो पुनः वैसे का वैसा है। इसीलिये इसे महाव्याधि कहा।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यदि इस रोग को हटाना चाहते हो तो 'किं मूलम् इति चिन्तयेत्' इसके मूल का पता लगाओ। यह पता लगाओ कि आखिर यह होता क्यों है ? कहते

हैं कि मूल का विचार करके क्या करेंगे, रोग के मूल का पता क्यों लगायें ? सिर-दर्द हुआ, ऐस्प्रो खा ली। कब्जी हो गई तो ब्रुकलैक्स खा ली, दस्त हो गये तो इण्ट्रोवायोफार्म खा ली; ये सारे रोग दूर हो गये। फिर डाक्टर के पास जाकर उसे सोलह रुपये फीस देने से क्या फायदा है ? वह जो दवाई लिखकर देता है वह दवाई तो हमें पता ही है क्योंकि जब अपने पिता जी बीमार थे तब सभी दवाईयाँ रखी थीं, डाक्टर बताया करता था, इसलिये हमें पता है, अब रुपये देने का क्या फायदा ? डाक्टर सोचता है कि रोग का मूल क्या है। हमने कहा कि सिर दर्द हो रहा है। डाक्टर कहेगा 'पेशाब की परीक्षा कराओ, खून की परीक्षा कराओ।' तुम कहते हो कि ये डाक्टर सब आपस में मिले हुए हैं, पैसा इकट्ठा करने का तरीका निकाल रखा है। सिर में दर्द है तो सिर को देखो, पेशाब और खून को क्या देखना है ? लेकिन डाक्टर जानता है कि ऐस्प्रो के द्वारा यदि मैंने सिरदर्द कम किया तो जैसे ही उसका प्रभाव जायेगा, सिरदर्द फिर वैसे का वैसा हो जायेगा। इसलिये डाक्टर को फीस दवाई के लिये नहीं उस रोग की, व्याधि की जड़ का पता लगाने के लिये देनी है।

मूल का पता लगकर क्या होगा ? यदि मूल का पता लग गया तो उस मूल को हम नष्ट कर देंगे, ध्वंस कर देंगे। जब जड़ को नष्ट कर देंगे तब उससे पैदा होने वाले शाखा-पत्ते स्वतः नष्ट हो जायेंगे। इसलिये यह चिकित्सा मूल को नष्ट करने के लिये है।

यहाँ जो श्रुति इस समाज-पुरुष का वर्णन कर रही है, वह यह बताने के लिये है कि इस संसार रूपी महाव्याधि का मूल

क्या है, यह किस जड़ पर खड़ा हुआ है। जड़ नष्ट होगी तब तो वह चिकित्सा फल देने वाली और यदि जड़ नष्ट नहीं हुई तो चिकित्सा से कोई फायदा नहीं है। यह हमारे प्राचीन वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है। रोग को थोड़े समय के लिये दबा देना कोई दवाई नहीं है, उसके मूल को निकालना है। स्वाभाविक है कि मूल निकालने में समय लगता है। इसलिये लोग प्रतिक्षण के दुःख को हटाने के लिये तत्तत् क्षणों के अन्दर कुछ उपाय सोच लेते हैं और उस उपाय से रोग को दूर कर भी लेते हैं। यदि मूल उपाय को सोचने की बात होती है तो कहते हैं 'जाने दो, इस प्रपंच में क्या पड़ा है।' रोज़-रोज़ काम करने क्यों चले जाते हो ? क्योंकि काम नहीं करेंगे तो खायेंगे कहाँ से और न खाने से दुःख होता है। विचारशील कहता है कि पता लगाओ कि न खाने से दुःख क्यों होता है ? जैसे आवर्त अर्थात् भंवर गोल घूमता रहता है ऐसे ही किसी से पूछे कि काम क्यों करते हो ? तो कहते हैं कि 'काम नहीं करेंगे तो खायेंगे कहाँ से ?' बड़ी अच्छी बात है। दो-चार दिन बाद पूछो, 'खाते क्यों हो ?' तो कहते हैं 'खायेंगे नहीं तो काम कैसे करेंगे ?' काम करने के लिये खाना और खाने के लिये काम करना—इसी भंवर में घूम रहे हैं, पहुँचते कहीं नहीं हैं। जैसे साईकिल के पीछे स्टैण्ड लगा देने से पीछे का चक्का ऊपर हो जाता है, उस साइकिल के ऊपर बैठकर घण्टा भर भी पैडल मारते रहो, कहीं नहीं पहुँचोगे। इसी प्रकार यहाँ खाने के लिये काम और काम के लिये खाना, इसी गोल चक्र में घूम रहे हैं।

जैसे व्यक्ति के जीवन में ऐसे ही समाज के जीवन में समझना। समाज के जीवन में क्या होता है ? समाज भी घूम रहा है, पहुँचते

कहीं नहीं हैं। खाली इधर के व्यक्ति उधर और उधर के व्यक्ति इधर हो जाते हैं, कुछ नहीं बदलता। पहले व्यापारी धन लेते थे तो व्यापारी चोर थे और अब व्यापारी का नाम 'पब्लिक सैक्टर के मैनेजर साहब' हो गया। बात वही है, फ़र्क कोई नहीं पड़ा। पहले कहते थे कि हिन्दुस्तान में ५६२ राजा हैं और अब इनका नाम एम.पी. रख दिया है, बात वही है। पहले राजा राजसूय यज्ञ करके सम्राट् बनता था। अब चूँकि राजा की जगह एम.पी. हो गये तो वे सब मिलकर प्रधानमंत्री बनाते हैं, वह सम्राट् हो गया। पहले सम्राट् कहीं जाता था तो सारे गाँव वाले तैयारी करते थे। अब प्रधानमंत्री कहीं जाते हैं तो लाखों रुपये रोज़ खर्च होते हैं, बात वही है। समाज कहाँ पहुँचा ? वहीं का वहीं है, क्योंकि मूल का तो चिन्तन ही नहीं किया कि इस सब का मूल क्या है। फलवाली चिकित्सा तब होगी, रोग का ध्वंस तब होगा जब उसके मूल को समझ लोगे, रोग कहाँ से पैदा हुआ, जब इसे जान लोगे।

इसको कौन जान सकेगा ? मूल का विचार सब नहीं कर सकते। महर्षि चरक ने बताया कि रोग का निदान कौन कर सकता है अर्थात् इसका निदान करने की सामर्थ्य किसमें है–

'स्मृतिमान् युक्तिहेतुज्ञो मतिमान् प्रतिपत्तिमान्।

भिषग् औषधसंयोगैः चिकित्सां कर्तुमर्हति।।'

पहले उसका लक्षण बताया कि चाहे कोई चिकित्सा करने का अधिकारी नहीं है। आजकल किसी से कहो कि 'मेरा गला ज़रा खराब हो गया है' तो कोई यह नहीं कहेगा कि अमुक गले के डाक्टर को दिखा दो। भारतवर्ष के अन्दर हर एक व्यक्ति एक

डाक्टर है। कोई कहेगा कि आप जुशांदा का काढ़ा ले लो। दूसरा बैठा होगा तो कहेगा कि अदरक गरम करके उसका रस ले लीजिये। जितने भी बैठे होंगे, सब एक-एक दवाई बतायेंगे। डाक्टर से पूछने को कोई नहीं कहेगा। लेकिन महर्षि चरक कहते हैं कि हरेक व्यक्ति डाक्टर नहीं है। कैसा व्यक्ति चिकित्सा कर सकेगा? सबसे पहला गुण है कि जिसकी स्मृति-शक्ति बड़ी तेज़ हो, याद बड़ी प्रबल हो; क्योंकि जिसकी याददाश्त तेज़ होगी वही व्यक्ति पूर्वानुभवों का उत्तर-अनुभवों के साथ सम्बन्ध कायम कर सकेगा। जिसकी स्मृति कमज़ोर होगी, वह पूर्वानुभवों का उत्तर अनुभवों के साथ संयोग करने में असमर्थ सिद्ध होगा और जो पूर्व अनुभवों और उत्तर अनुभवों का समन्वय नहीं कर सकेगा वह कभी भी चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

संसार रूपी महाव्याधि की चिकित्सा भी वही कर सकेगा जो पहले स्मृतिमान् हो। जन्म से लेकर आज तक अनेक अनुभव हुए, बार-बार दुःख का अनुभव किया लेकिन हम उन दुःखों के अनुभवों को ढाँकते चले जाते हैं। लोग कहते भी हैं कि इन सब चीज़ों को याद रखें तो संसार कैसे चलेगा! जिसका उद्देश्य संसार चलाना है वह संसाररूप व्याधि की दवाई नहीं कर सकेगा। जो संसार को चलाना चाहे, रोग को बचाकर रखना चाहे, वह रोग को नहीं हटा सकेगा। संसार-रोग की औषधि करने के लिये अपने पूर्वानुभवों की स्मृति आवश्यक है। अपने पूर्वानुभव और जितने भी प्राचीन ऋषियों के पूर्वानुभव हुए हैं, उन सबकी स्मृति रहे। इसीलिये हम लोग इतिहास पुराणों को पहले पढ़ते हैं। हमारा यह नियम है 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुप-बृंहयेत्।' इतिहास, पुराणों

के द्वारा हमें वेदों के तात्पर्य का पता लगता है। जिसने इतिहास पुराण को पहले पढ़ा है उसने पूर्व ऋषियों के अनुभव को जाना है। तब वह वेद में बताये हुए सिद्धान्त को और इस संसार व्याधि को समझ सकेगा।

आज भी जब कोई डाक्टरी पास होता है तो पहले उसे एक अस्पताल में किसी अनुभवी डाक्टर के अंतर्गत काम करना पड़ता है। उसमें कोई नई किताबें नहीं पढ़ाते, केवल उसकी स्मृति को दृढ करते हैं। कैसे स्मृति काम में ली जाये—यह सिखाते हैं। किताब में पढ़ा हुआ है लेकिन रोगी को देखकर उसी रोग की बात याद आनी चाहिये। किताब तो लम्बी-चौड़ी है, एक से दूसरी बात मिलानी पड़ती है। यदि स्मृति तेज़ नहीं हुई तो तुम्हें एक लक्षण देखकर जिस रोग की याद आयेगी उसका इलाज करते रहोगे, फायदा कुछ नहीं होगा। इसलिये तत्सम्बन्धी सब चीज़ों को जो स्मरण कर सकेगा, वही ठीक प्रकार से औषधि देने में समर्थ हो सकेगा। गीता में भी भगवान् ने स्मृति को बड़ा महत्त्व दिया है। मनुष्य के पतन का कारण बताते हुए कहा 'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' मनुष्य के नाश होने का कारण बुद्धि का खराब होना है और बुद्धि की खराबी का कारण स्मृति चले जाना है। स्मृति बहुत ज़रूरी है। यदि पूर्व-अनुभवों की स्मृति नहीं रख पाये तो बुद्धि भी काम नहीं कर सकती और बुद्धि अर्थात् निश्चय जहाँ गड़बड़ाया वहाँ नाश होना है। बुद्धि नष्ट होना ही नाश है।

आज समाजपुरुष की स्मृति गड़बड़ाई हुई है। समाज-पुरुष की स्मृति ही नहीं है, इतिहास और पुराण को तुमने ताले में बन्द कर रखा है। सारी शिक्षा में हमारी जाति का इतिहास मिलने वाला

नहीं है। कभी अपने बच्चों की इतिहास की किताब को उठाकर देखना। अगर वह एक हज़ार पृष्ठ की किताब होगी तो उसमें ३५० पृष्ठों में अंग्रेजों के राज्य का इतिहास होगा जिन्होंने तीन सौ साल तक हमारे ऊपर राज्य किया और ५५० पन्नों में मुसलमानों का इतिहास होगा जिन्होंने एक हज़ार साल तक यहाँ राज्य किया और मुश्किल से ५०-७५ पन्ने उस जाति के होंगे जो यहाँ हज़ारों सालों से रह रहे हैं, दस हज़ार साल से भी अधिक हो गये हैं। विचार करो कि जो यहाँ कम से कम दस हजार साल से रह रहे हैं, उनका इतिहास तो ५० या ७५ पृष्ठों में खत्म और जो यहाँ हज़ार साल भी मुश्किल से रहे, उनके लिये ५५० पृष्ठ! इसका क्या कारण है ? क्योंकि हम अपनी जाति की स्मृति को खत्म करना चाहते हैं कि हमको यह याद नहीं रहे कि हम कौन हैं ? ऐसा क्यों ? यदि स्मृति को नष्ट कर दिया तो बुद्धि का नाश हो जायेगा और फिर अपने आप ही जाति नष्ट हो जायेगी।

आज समाज-पुरुष की स्मृति नहीं रह गई है। आज किसी से बात करो तो शेक्सपियर, स्पेन्सर, चासर, व्हाइट हैड को जानता है। उससे पूछो कि बाणभट्ट, उम्बेक, भवभूति कौन थे ? तो नहीं जानता। घूम फिरकर एक नाम 'कालिदास' का याद कर लेते हैं तो समझते हैं कि संस्कृत साहित्य को जानते हैं। एक बार एक ग्रेजुएट लड़के ने प्रश्न किया कि गीता किसने लिखी है ? प्रश्न सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। हम जवाब दें, उससे पहले एक अन्य महापुरुष वहाँ बैठे थे, उन्होंने कहा, 'कृष्ण ने लिखी थी।' हमने सोचा, लड़के को कुछ कहें या उन सज्जन को ? यह स्मृति हटाई जा रही है। स्मृति किसी भी राष्ट्र और व्यक्ति के लिये बड़ी ज़रूरी

है। जो पूर्व अनुभवों को अपने अन्दर रखकर चलेगा, वही प्राचीन अनुभूतियों के साथ संदर्भ कायम कर सकेगा। जैसे प्राचीन स्मृति, वैसे ही आजकल की स्मृति को समझना, चाहे जो भी क्षेत्र हो। किसी से पूछो कि याज्ञवल्क्य ने कैसा संविधान बनाया था ? अच्छे-अच्छे वकीलों से पूछें कि याज्ञवल्क्य और मेधातिथि के कानून के विचारों में क्या फ़र्क है ? तो कहते हैं कि ये कौन थे, इनके भी कोई विचार हैं ? यदि उनसे पूछो कि रोमन लॉ, ग्रीक लॉ, अमेरिकन कांस्टीट्यूशन, आस्ट्रेलियन कांस्टीट्यूशन में क्या फ़र्क हैं ? तो जानते हैं। ये सारे प्रयत्न स्मृति को नष्ट करके बुद्धि नष्ट करने के हैं। इसलिये हमारे इस समाजपुरुष की चिकित्सा नहीं हुई। व्यर्थ की चिन्तायें खड़ी करके सब उनमें परेशान हैं लेकिन मूल कारण का किसी को पता नहीं कि हमारा समाज दुःखी क्यों है?

एक कथा आती है : एक बहुत बड़े शहर के अन्दर एक बहुत बड़ा सेठ रहता था। उस शहर के बीच में उनकी अट्टालिका (बड़ा ऊँचा मकान) थी। उनका एक पुत्र था। गर्मी के दिन थे, वह पुत्र एक बरामदे में बैठा हुआ हवा खा रहा था। बैठे-बैठे देखा कि एक ऊँट के ऊपर रुई जा रही है। थोड़ी देर में दूसरा, तीसरा ऊँट भी रुई से लदा हुआ निकल गया। सोचने लगा कि 'आज बहुत ऊँट रुई लिये हुए जा रहे हैं।' इतने में और दो-तीन ऊँट निकल गये। वह और ध्यान देने लगा कि और आते हैं या नहीं। वहाँ ऊँटों की कतारें आने लगीं, पुराने जमाने में तो काफ़िला चलता था। देखता रहा, और ऊँट उधर से निकलते रहे। इस प्रकार ध्यान से देखते-देखते उसकी वृत्ति ऊँट और उसके ऊपर लदी

हुई रुई के साथ एकाकार हो गई। वह उसी में उलझ गया। जब आदमी किसी विचार में उलझ जाता है तब बाकी सब चीज़ें भूल जाता है, उस एक ही विचार में उलझा हुआ बार-बार वहीं घूमता रहता है और विचार का प्रवाह रुक जाता है। नतीजा यह होता है कि उलझा हुआ आदमी सुलझ भी गया हो तो थोड़ी देर में फिर उलझ जाता है। वह उसका कसूर नहीं है। कभी उलझे सूत को सुलझाया होगा तो देखा होगा कि लगता है कि सूत सीधा हो गया। जहाँ निश्चय हुआ कि सीधा हो गया, वहाँ आदमी अपनी गर्दन थोड़ी सीधी करता है। जहाँ ऊपर-नीचे हुए कि वह सूत फिर उलझ गया ! इसी प्रकार उलझा हुआ व्यक्ति एक ही चीज़ में घूमता रहता है। वह भी रुई और रुई की गाँठों के अन्दर उलझा तो सब कुछ भूल गया। सोचने लगा कि 'हाय ! इतनी रुई गई है, इसे कौन धुनेगा ? सौ धुनिये भी लगेंगे तो भी उनका धुनना ख़त्म नहीं होगा। धुनने से भी काम पूरा नहीं होगा, इसे कातना भी पड़ेगा। हाय ! इतनी रुई को कौन कातेगा ? कातते-कातते लोग थक जायेंगे। केवल कातने से ही नहीं होगा, इसे बुनना भी पड़ेगा, हाय ! कितने जुलाहे लगेंगे जो इसे बुन सकेंगे? कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा, कब तक धुनेगा, कब तक कातेगा, कब तक बुना जायेगा ?'—बस इसी के अन्दर उलझ गया। अब धीरे-धीरे वही बात वह ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगा। नौकरों ने सुना तो दौड़ते हुए आये, पूछा 'क्या कह रहे हो ?' बोला—'बेवकूफ़ कहीं के, कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा?' पूछा—'क्या चीज़ ?' कहा, 'बेवकूफ़ो ! जानते नहीं हो, अरे इतना ज़्यादा माल नहीं दीखता ?'

नौकर बेचारे घबराकर वहाँ से भागे और जाकर उसके पिता से कहा कि 'पता नहीं छोटे सेठ जी क्या बोल रहे हैं।' कहा, 'बुला लाओ।' तब तक ऊँटों की कतारें खत्म हो गईं। नौकर उसे बुलाकर लाये। वह आकर बोला—'पिताजी, गजब हो गया ! कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा ?' पिता ने कहा, 'बेटा ! क्या चीज़ ?' उसने कहा, 'पिताजी ! आप भी मेरा मज़ाक उड़ाते हो।' वही जप फिर चला। पिता ने सोचा कहीं भाँग तो नहीं पी ली; दही पिलाया। रात में बड़ी मुश्किल से सुलाया। सोये-सोये आँख खुल जाये तो फिर वही जाप शुरू कर दे। दूसरे दिन भी यही हाल रहा तो चिन्ता हुई। कई डाक्टर, वैद्य और हकीमों को बुलाकर लाये, दवाईयाँ दी गईं। उन दवाईयों के ज़ोर से सो जाये लेकिन जेसे ही सोने के बाद आँख खुले, फिर वही कि 'कब तक धुना जायेगा, कब तक काता जायेगा, कब तक बुना जायेगा?' सारे डाक्टर, वैद्य और हकीम हार गये। घर की औरतें पीछे पड़ीं कि लगता है कि इसको कोई हवा लग गयी है। अब ओझा आने लगे, झाड़-फूँक होने लगी। लेकिन कुछ नतीजा नहीं निकला। वह उलझा का उलझा ही रहा। उलझना सरल है लेकिन उलझने कें बाद उसे सुलझाना बड़ा मुश्किल है। बहुत साल बीत गये। उसे एक कमरे में बंद कर दिया गया था कि अब यह हाथ से गया, इसका दिमाग़ खराब हो गया है। एक ही लड़का था।

उसका पिता अब सत्संग में जाने लगा। जब मनुष्य के सारे सहारे बन्द होते हैं, तब परमात्मा याद आता है। एक बार किसी महात्मा ने उससे पूछा कि 'तू बराबर आता है, कभी अपने लड़के को नहीं लाता, तेरे बाल-बच्चे हैं या नहीं ?' कहा, 'एक लड़का

है लेकिन लाने के लायक नहीं है, उसका दिमाग खराब हो गया है।' महात्मा ने पूछा, 'क्या हो गया है ?' कहने लगे, 'यह तो पता नहीं, एक दिन अकस्मात् बकने लगा कि 'कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा, कब तक धुनेगा, कब तक कातेगा, कब तक बुनेगा,' बस यही बोले जा रहा है।' महात्मा ने अपने प्रातिभ ज्ञान से समझ लिया कि स्मृतिमात्र ही इसमें कारण है, इसकी स्मृति गड़बड़ा गई है। कहा—'एक बार मैं देखूँगा।' सेठ जी ने कहा—'वहीं चले चलिये क्योंकि मैं लाऊँगा तो रास्ते में पता नहीं क्या हल्ला-गुल्ला मचाये।' महात्मा वहाँ गये और उससे बातचीत की। महात्मा को प्रातिभ ज्ञान था ही, समझ गये। नौकरों से पूछा, 'जब पहले-पहल इसने यह बोलना शुरू किया तो कहाँ बैठा था।' उन्होंने बताया कि बरामदे में बैठा था। महात्मा उसे पकड़कर वहीं ले गये। उसे पकड़ें तो वह पीछे दौड़े कि न जाने क्या करेंगे। जैसे-जैसे बरामदे के पास जायें वह घबराये, आँखें फटने लगें। घर वालों ने भी कहा कि जाने दो। महात्मा ने कहा, 'पकड़ लिया तो जाने कैसे दूँ।' उसका पागलपन और बढ़ गया। यह नियम होता है कि जिन परिस्थितियों में व्यक्ति पागल होता है, वही यदि सामने आयें तो पागलपन बढ़ जाता है। महात्मा ने कहा कि 'एक बार पकड़ में आकर छोड़ता नहीं। अब चाहे यह ठीक हो जायेगा या ख़त्म हो जायेगा।' जबरदस्ती लेजाकर वहाँ बैठा दिया। वह हाथ-पैर पछाड़ने लगा, चाहता था नीचे कूद जाऊँ। स्वामी जी भी तगड़े थे, उसकी गर्दन पकड़ ली तो नहीं छुड़ा सका।

कहने लगे, 'बेटा बिल्कुल सच्ची बात है। यहाँ से बहुत ज़्यादा रुई का माल गया था और उसके बाद भी न जाने कितना और

चला गया। आगे जाकर एक बड़ी भारी ढेरी लगी।' वह और ज़्यादा ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा। लेकिन महात्मा छोड़ने वाले थोड़े ही थे, क्योंकि रोग समझ लिया था। माँ-बाप से कहा कि नीचे चले जाओ। माँ-बाप ने कहा, 'छोड़ दो, बड़ा दुःखी हो रहा है।' महात्मा ने कहा, 'होने दो दुःखी।' फिर गिनाने लगे कि सारी रात कतारें आती रहीं। दूसरे दिन फिर सवेरे शुरू हो गईं। वह और घबराया कि इतने ढेर रुई के लग गये, कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा ! महात्मा ने कहा—'हाँ बेटा ! सब मर जायें तो भी वह कतने वाली नहीं है।' जब देखा कि इसकी घबराहट चरम सीमा पर पहुँच गई है तब कहा 'हिमालय पर्वत की तरह-से ढेर हो गया। जैसे हिमालय की सफेदी होती है, ऐसे ही उस सफेद रुई का पहाड़ था। बेटा ! पहले मैं भी घबरा गया था कि अब इसका क्या होगा। तब तक वहाँ से एक बीड़ी पीने वाला निकला। उसने बीड़ी सुलगाई तो उसकी एक चिन्गारी रुई के उस पहाड़ में आ लगी। आग लग गई और देखते ही देखते रुई धू-धू कर जलने लगी। जलते-जलते इतनी बड़ी ज्वाला निकली कि ठेठ ब्रह्मलोक में पहुँच गई। अड़ोसी-पड़ोसी सब मारे गर्मी के भागने लगे। ऐसी भयंकर आग आज तक किसी ने नहीं देखी थी।' वह लड़का आँखें फाड़कर देख रहा था। 'अंत में देखा कि वहाँ केवल राख ही बच गई है। उसी समय ज़ोर से पानी बरसा और वह राख भी बह गई।' अब वह बोला, 'स्वामी जी, आप वहाँ थे ?' महात्मा बोले, 'मैं भी तेरी तरह चिन्ता में मग्न था कि इतनी सारी रुई को कौन धुनेगा, कौन कातेगा, कौन बुनेगा ? मैं भी यही कह रहा था।' उसका दिल शान्त हो गया। महात्मा कहने लगे, 'तुझ से किसी ने नहीं बताया ?'

भी स्वाद आता है।

कई बार हम सोचते हैं कि भगवान् ने भी हम लोगों को एक सुन्दर भोज परोसा है। भगवान् ने भी उसमें मज़ाक किया है। उन्होंने सोचा कि इस जीव के साथ मज़ाक करके देखें तो सही कि इसे परीक्षा भी है या नहीं। इसलिये निस्सार संसार के ऊपर मुलम्मा चढ़ाकर हमें परोस दिया। अधिकतर प्राणी सोचते हैं कि संसार के पदार्थ बड़े अच्छे हैं, रमणीय हैं। जब कभी विचार का उदय होगा तब जीव देखेगा तो पता लगेगा कि यह संसार निस्सार है। इस संसार की निस्सारता को देखकर सोचेगा, कि इसमें स्वाद देने वाली चीज़ कौन-सी है ? संसार के पदार्थों में स्वाद देने वाली चीज़ इच्छा है। इस इच्छा का स्वरूप क्या है ? जब इच्छा का विचार करने लगेगा और इच्छा के स्वरूप को समझेगा तब पता लगेगा कि यह इच्छा ही पारमेश्वरी शक्ति है। यदि इस इच्छा को ठीक-से समझ लिया तो संसार के अंदर प्रत्येक कण और प्रत्येक क्षण आनंद से भर जायेगा। बंगला भाषा में कहते हैं 'जे छिलो धोखार टाटी शे होलो माजार कुटी' जो संसार ऋषि अर्थात् ज्ञानी बनने के पहले धोखे की टट्टी है, धोखा ही धोखा उसमें था, वही संसार ज्ञान होने के साथ ही मज़े की कुटिया, आनंद का स्थान हो गया, क्योंकि पता लग गया कि किस चीज़ से स्वाद आता है। प्रत्येक कण और प्रत्येक क्षण के अन्दर जो अपनी इच्छा है, उस इच्छा का प्रवेश कराते रहो उससे आनंद लेते रहो। इस इच्छा के स्वरूप को समझना ही ऋषियों का ज्ञान है। उसके बाद पदार्थ और विषय तो बदलते रहेंगे लेकिन ऋषि उसी आनंद का स्वाद लेता रहेगा; उस सार, परमात्मरूप इच्छा का ही स्वाद लेता

रहेगा। बाहर के पदार्थों के परिवर्तन से उसका स्वाद नहीं बदलेगा।

तब वह वैराग्य का ही सहारा लेता है। अब तक का वैराग्य तो एक चीज़ से वैराग्य है और दूसरी चीज़ों से राग बना हुआ है। पर वैराग्य (परम वैराग्य) इस बात को बताता है कि संसार की *कोई* चीज़ दुःख नहीं देती, बल्कि संसार की *सारी* चीज़ें दुःख ही देने वाली हैं। यही परम वैराग्य है। वैराग्य हुआ, थोड़े समय तक परमात्मा की तरफ लगे, दुःख दूर हो जाता है; इतना फायदा तो वैराग्य कर देता है, लेकिन उसमें स्थिति नहीं रहने देता, क्योंकि थोड़ी देर बाद दूसरी चीज़ों में सुख मिलने लगता है। लेकिन जब पर वैराग्य को प्राप्त हो जाता है तब उसे अनात्म-पदार्थों में कोई रस नहीं आता। फिर वह परमात्म-प्राप्ति का स्वाद लेते हुए पर-वैराग्य के द्वारा परम आनन्द को प्राप्त करता रहता है। यही इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को जानना है, जो इन्द्रियों को चलाने वाला है, उसको जानना है। यदि उसकी तरफ दृष्टि ले गये तो इन्द्रियाँ पदार्थ की तरफ जाती हैं, लेकिन उसका ढकोसलापन उन्हें पता लग जाता है। अब तक इच्छा इन्द्रियों के द्वारा विषय में पहुँचती थी। तुमने स्वाद लिया तो तुम्हें पता नहीं लगा कि वह अपना ही स्वाद उसमें डाला हुआ है। जब पता लगा कि इस सारे स्वाद का स्रोत अपने अन्दर इच्छा-शक्ति में है, तब क्या आगे कभी विषयों के चक्कर में पड़ेगा ? फिर कभी उसकी दृष्टि उस तरफ नहीं जायेगी। सारी इन्द्रियों से तब केवल एक उस परमात्म-तत्त्व की ही इच्छा करता है। उस परमात्म-तत्त्व की इच्छा से श्रम और तप के द्वारा उसे जान लेता है।

इसमें श्रम करना पड़ता है। श्रम किसको कहते हैं ? बहुत-

से लोग बाहर के काम करने को श्रम समझते हैं लेकिन श्रम का मतलब थकना होता है। थकता कौन है ? 'श्रमेण तपसा आरिषन् तस्माद् ऋषयः'। जिस कार्य में मनुष्य को स्वाद नहीं आता, वहीं थकावट आती है। यह एक गुप्त रहस्य है कि जिस कार्य में इच्छा नहीं होती, वह थकावट देता है और जिस में इच्छा होती है उसमें कभी थकावट नहीं आती। लाला रात में साढ़े नौ बजे सोया हुआ है और एक लाख रुपये का ग्राहक आ गया, दो आने ज़्यादा पर सौदा करना चाहता है तो एयरकण्डीशण्ड कमरे के बाहर आकर भी लाला थकता नहीं, चेहरे पर हँसी खिलती रहती है। शाम को साढ़े छह बजे घर आये हुए लाला को घरवाली कहती है 'आज जल्दी आ गये हो तो बाजार चलकर एक साड़ी खरीद लायें', तो खर्च के नाम से ही उसे थकावट चढ़ जाती है! कहता है 'दिन भर परेशान होकर तो घर आये और तुमको कोई परवाह ही नहीं है।' कारण यही है कि एक जगह इच्छा है और दूसरी जगह इच्छा नहीं है। प्रिय पति के लिये चार घण्टे भोजन बनाती रही तो उसे कोई थकावट नहीं महसूस होती लेकिन वही यदि अपने देवर के लिये बनाना पड़े तो भारी पड़ जाता है, थक जाती है, कहती है कि 'रसोईया नहीं है, खिचड़ी बनाकर रख दूँगी।' कारण यह है कि प्रिय पति को खिलाने की इच्छा है। सर्वत्र थकावट का कारण इच्छा का न होना होता है। ज्ञानी संसार के व्यवहार से बड़ी जल्दी थक जाता है क्योंकि उसे इन चीज़ों की इच्छा नहीं। वह तो एकमात्र आन्तरिक परमात्म-शक्ति के साथ ही इच्छा रखता है, उसके साथ से उसे कभी थकावट नहीं। बाह्य व्यवहार और विषयों से उसकी थकावट बड़ी जल्दी हो जाती है। यह श्रम का तात्पर्य

है। श्रम और तप के द्वारा उसे जान लिया इसलिये ऋषि हैं। जिन्होंने संसार को श्रमरूप समझ कर छोड़ दिया और परमात्मा के साथ तप के द्वारा एक हो गये वे ही इसको जानते हैं और इसका आनंद लेते हैं। उन्हीं को यहाँ साध्य ऋषि कहा है।

प्रवचन-५२

रुद्राध्याय के पुरुषसूक्त के अनुसार आदिपुरुष का विचार किया। उस आदिपुरुष के अन्दर ये सारे अनंत कोटि ब्रह्माण्ड और उसमें रहने वाले जीव कल्पित हैं। वह इन सब रूपों में प्रतीत होता हुआ भी इन सबसे अस्पृष्ट है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' से उसका आदिरूप बताया। यही अधिष्ठान तत्त्व, अनुत्तर तत्त्व है। यही सामरस्य का तत्त्व है, जिसमें से सारी चीज़ें कल्पितरूप से प्रतीत होते हुए भी उसे स्वरूप से कभी हटाती नहीं। पुरुष शब्द का तात्पर्य 'पूर्णत्वात् पुरुषः' है अर्थात् जो पूर्ण होता है उसको पुरुष कहते हैं। किसी भी प्रकार की अधीनता का वहाँ भान नहीं है, किसी प्रकार के परिच्छेद अर्थात् किसी भी प्रकार की सीमा नहीं है। यह आदिपुरुष के सामरस्य का रूप है।

उस आदिपुरुष ने जब अपना ही प्रतिबिम्ब असत् के अन्दर डाला तब उस असत् के अन्दर पड़ा हुआ उसका प्रतिबिम्ब विराट् पुरुष हुआ। आदि पुरुष में अभी तक किसी प्रकार के भेद के संसर्ग का भान नहीं था। अपनी ही शक्ति के अन्दर जब अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है तब उस पुरुष का नाम विराट् पुरुष है।

प्रथम न ज्ञान का आश्रय है और न ज्ञान का विषय है, न इच्छा अर्थात् उपासना का आश्रय है और न उपासना का विषय है, न किसी क्रिया का आश्रय और न किसी क्रिया का विषय है। वह ज्ञान-स्वरूप, इच्छा-स्वरूप और क्रिया-स्वरूप है। उसमें आश्रय और विषय की कल्पना नहीं है। साधारण मनुष्य उसमें कल्पित आश्रयता और विषयता सोचता है लेकिन आश्रयत्व-विषयत्व भेद वहाँ नहीं है। भगवान् सर्वज्ञात्म महामुनि 'संक्षेप शारीरक' में कहते हैं 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।' निर्विभाग अखण्ड चैतन्य के अन्दर आश्रयत्व और विषयत्व की कल्पना है। विराट् पुरुष समग्र ज्ञान, समग्र इच्छा और समग्र क्रियाओं का आश्रय भी है और विषय भी है। जैसे दर्पण में तुम देख रहे हो तो देखने वाली आँख भी वही है और दीखने वाली आँख भी वही है। आँख ही देख रही है और स्वयं अपने को ही देख रही है। यह विराट् पुरुष की स्थिति हो गयी। यही समग्र ज्ञान और उपासना का विषय है। जब वह देखने वाले की दृष्टि से समझा जाता है तब उसी को ज्ञेय तत्त्व कहते हैं और जब दीखने वाले की दृष्टि से समझा जाता है तब उसी को उपास्य तत्त्व कहते हैं। काँच में आँख देख रहे हो तो जो दीख रही है, वह उपास्य तत्त्व है और जो देख रहा है वह ज्ञेय तत्त्व है, लेकिन ये *दो* नहीं हैं। जो देख रही है, वही दीख भी रही है। 'देख रहा है' की उपाधि से जिसे ज्ञेय कहेंगे, 'दीख रहा है' की उपाधि से उसी को उपास्य कहेंगे।

सृष्टि-चक्र के अन्दर विराट् पुरुष नाभि-स्थानीय है, इसे बताते हुए यज्ञ-पुरुष को बताया। दसवें मंत्र से चतुर्थ पुरुष का

वर्णन करेंगे जो समाज पुरुष है। आदिपुरुष से विराट् पुरुष, विराट् पुरुष से व्यवहार की योग्यता वाला यज्ञ-पुरुष और यह यज्ञ पुरुष जहाँ प्रत्यक्ष दीखता है, वह समाज-पुरुष हो गया। पुरुष-सूक्त का वर्णनीय विषय समाज-पुरुष भी है, क्योंकि पुरुष के सब रूपों को यहाँ बताना है। इस समाज-पुरुष का प्रतिपादन करने के लिये श्रुति प्रश्नोत्तररूप से चलती है। यज्ञ का प्रवर्तक प्रजापति ही समाज का भी प्रवर्तक है इसलिये समाज भी एक यज्ञ है।

संसार के अन्दर बहुत-से लोग भीड़ को समाज कहते हैं, लेकिन भीड़ समाज नहीं है। यह विचार का विषय है। जहाँ सब लोग एक उद्देश्य से चलें, उसका नाम समाज है। लोगों की भीड़ का नाम समाज नहीं है। इस चीज़ को जबसे हिन्दू भूल गया, तब से अब उसका समाज नहीं रह गया है, केवल भीड़-भड़क्का रह गया है। हमारा राष्ट्र और हमारा घर कोई भी आज आगे बढ़ नहीं रहा है। हम आगे बढ़ ही नहीं सकेंगे क्योंकि हमारा समाज ही नहीं रह गया है, भीड़-भड़क्का रह गया है। एक आदमी पूर्व को जाना चाहता है और एक पश्चिम को जाना चाहता है। दोनों मिलकर अपने को एक समाज कहते हैं, नतीजा यह होता है कि न पूर्व को और न पश्चिम को जा पाते हैं। आज से साठ वर्ष पूर्व ब्राह्मण के लड़के ने ब्राह्मणत्व की दृष्टि को छोड़कर कुछ ऊटपटांग खाया, तो निर्णय हो जाता था कि यह अब हमारे समाज का अंग नहीं रहा क्योंकि ब्राह्मण समाज अर्थात् ब्राह्मणत्व की दृष्टि अब इसमें नहीं है। अधिकतर तो माँ-बाप ही उसे घर से निकाल देते थे। यदि कहीं माँ-बाप ने नालायकी की तो पंचायत बैठकर निकाल देती थी। यदि माता-पिता बचाने आयें तो सारा घर जात-

बाहर कर दिया जाता था। तात्पर्य यह है कि अब तुम हमारे समाज के अंग नहीं रह गये, हम दोनों के चलने का रास्ता एक नहीं रह गया। अब तुम हमारे साथ रहकर हमारे समाज को रोकोगे, आगे नहीं बढ़ने दोगे। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, कोई भी समाज हो सबका एक उद्देश्य था, इसलिये वे एक समाज थे।

तब समाज था, आज समाज नहीं है, ऐसा क्यों ? लोग कहते हैं—'महाराज ! हमारा बच्चा हमारे धर्म की कोई बात नहीं मानता, क्या करें ?' इसका जवाब चाहिये ? कान पकड़कर बाहर निकाल दो। लेकिन भीड़-भड़क्के में रहना चाहते हैं, समाज बनाकर नहीं रहना चाहते। भीड़ के घटकों का उद्देश्य एक नहीं रहता। नतीजा होता है कि न तुम अपने लक्ष्य को पा सकते हो और न बच्चा ही अपने लक्ष्य को पा सकता है। बच्चा शराब पी कर मस्ती करना चाहता है, उसको संकोच होता है कि रात को घर पहुँचूँगा तो पिता जी डाँटेंगे, इसलिये वह भी अपने मन की नहीं कर पाता। तुम भी अपने मन की नहीं कर पाते कि घर में सब लोग प्रातःकाल पाँच बजे उठकर स्नान करके माला फेरें। वह बच्चा घर ही रात को एक बजे आता है, पाँच बजे कहाँ से उठेगा! यह आज के समाज की विशृंखलता है। इसे लोग और-और नामों से ढाँकते हैं, लेकिन अन्य कुछ नहीं, केवल भीड़-भड़क्के के प्रति मोह है जिसे शब्दों द्वारा ढाँकते हैं। जिस फोड़े का सिर ऊपर से ढकने लगता है डाक्टर कहता है कि 'इसे चीरना पड़ेगा'। तुम कहते हो 'भर रहा है' लेकिन डाक्टर जानता है कि ऊपर से भर रहा है अन्दर से नहीं इसलिये नासूर हो जायेगा। इसी प्रकार तुम सोचते हो कि हम किसी प्रकार समाज चला रहे हैं लेकिन समाज नहीं

चल रहा है। चाहे घर हो, राष्ट्र हो, नासूर बन रहा है। सारे समाज-शरीर को सड़ाकर हमने भीड़-भड़क्का बना लिया है जिसमें सारे एक-दूसरे के विरोधी बने बैठे हैं।

दिल्ली में एक इंग्लैण्ड के बैंक की शाखा थी। बैंक वालों ने तीन आदमियों को काम के अयोग्य ठहराकर निकाल दिया। सात साल तक बड़ी मुकदमे बाजी चली और अंत में कर्मचारी मुकदमा जीत गये कि उन्हें काम पर बहाल रखना पड़ेगा। बैंक वालों ने उन्हें रख लिया। एक कमरे में तीन कुर्सियाँ रखकर कहा कि 'यहाँ बैठे रहो।' उन्हें काम कुछ नहीं बताया। पाँच-सात दिन बाद उन्होंने कहा कि 'कोई काम तो दो।' उन्हें काम तो देना ही नहीं था। कर्मचारियों ने जाकर लेबर कमिश्नर से शिकायत की। उसने बैंक अधिकारी को बुलाकर पूछा, 'इन्हें काम क्यों नहीं देते ?' उसने कहा, 'ये लोग काम करने लायक हैं या नहीं इसका निश्चय तुम यानी लेबर कमिश्नर तो क्या भारत का राष्ट्रपति भी नहीं कर सकता! काम हमें करवाना है, ये काम करने लायक हैं या नहीं, इसका निर्णय तो हम ही कर सकते हैं। तुम्हारे देश का कानून कहता है कि एक गलत आदमी को एक बार भर्ती कर लिया तो उसे निकाल नहीं सकते। हमने सोचा कि जैसे हम दुनिया भर में टैक्स देते हैं, वैसे हम इन तीन आदमियों की तनख्वाह को भी टैक्स मान लेंगे। हमने बैंक चलाया है, इसलिये जो काम जानते हैं, उन्हीं को काम देंगे। ये काम करना नहीं जानते, इसलिये हम इन्हें काम पर बहाल नहीं करेंगे, तनख्वाह दे सकते हैं।' साल-दो साल में भारतवर्ष में उस बैंक ने अपना काम बंद कर दिया। जिस देश में मालिक यह नहीं कह सकता कि नौकर काम करने लायक

है या नहीं उस देश में काम करना व्यर्थ समझा।

इसी को भीड़-भड़क्का कहते हैं। कोई काम करने लायक है या नहीं, इसका निर्णय तो काम कराने वाला ही कर सकता है। मालिक और नौकर आज समाज नहीं रह गया है, भीड़-भड़क्का रह गया है। नौकर को समझाते हैं कि 'काम करने से कोई फायदा नहीं, केवल तनख्वाह बढ़ाने के लिये माँग करते रहो, क्योंकि ये बड़ा खून चूसने वाले हैं।' जैसे पहले घरों में बुड्ढी अविचारशील सासें, बड़ी बहू और छोटी बहू को आपस में भिड़ाती रहती थीं ताकि उनका राज्य अखण्ड रह सके इसी प्रकार आजकल की तथाकथित सरकार केवल यह चाहती है कि मज़दूर-मालिक, विद्यार्थी-अध्यापक आदि सब आपस में लड़ते रहें तो हमारा काम आनंद से चलता रहेगा। ऐसी सासें अंत में घर की कलह से व्यथित रहती थीं और एक दिन ऐसा आता था कि उनको कोई सूखी रोटी को भी नहीं पूछता था। इसी प्रकार आज अपने स्वार्थों के पीछे देश में आपस में झगड़ा कराना स्वार्थ-सिद्धि का एकमात्र उपाय समझते हैं। अंततोगत्वा जिस दिन लोगों की यह समझ में आ जायेगा कि 'हम लोगों को व्यर्थ भिड़ाया गया है'—समझ में आने में देरी हो सकती है लेकिन एक दिन समझ में आना ज़रूर है—उस दिन ये अपने स्वार्थों की सिद्धि नहीं कर सकेंगे।

समाज वह होता है जहाँ दोनों को समझाया जाये कि तुम किस उद्देश्य से काम कर रहे हो। घर तब घर रहता है जब सास बड़ी बहू और छोटी बहू के मतभेद को मिटाना उद्देश्य रखे। पिता बड़े लड़के और छोटे लड़के में प्रेम उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। उसका नाम तो घर है। और जहाँ दोनों आपस में द्वेष कराने का

प्रयत्न करें उसका नाम घर नहीं है। इसी प्रकार आज हम क्यों कहते हैं कि भारत में समाज नहीं रह गया है, भीड़-भड़क्का है? क्योंकि सब एक-दूसरे के विरोध में खींचातानी करने में लगे हुए हैं। सबका एक उद्देश्य नहीं है, एक लक्ष्य नहीं है। इसलिये यह समाज नहीं केवल भीड़-भड़क्का है। इसीलिये यह कहना कि हमारी उन्नति नहीं हो रही है, व्यर्थ है, क्योंकि जहाँ खींचतान होगी वहाँ उन्नति का प्रश्न ही नहीं है।

आदिपुरुष, विराट् पुरुष और यज्ञ पुरुष का वर्णन करके श्रुति अब समाज-पुरुष का वर्णन क्यों कर रही है ? इसीलिये कि किसी प्रकार से यह समाज एक पुरुष की तरह हो जाये—जैसे आँख, कान, नाक का आपस में झगड़ा नहीं है, हाथ-पैर-पेट का आपस में झगड़ा नहीं है बल्कि एक-दूसरे के प्रति पूर्ण स्नेह का भाव है। इसलिये आगे जो वर्णन करेंगे, वह वैदिक समाज व्यवस्था का वर्णन करेंगे। वैदिक समाज-व्यवस्था आज नहीं है। जिसको तुम आज हिन्दू समाज के नाम से कहते हो, उसको पहले मुसलमानों ने, फिर ईसाईयों ने और अब तथाकथित समाजवादियों ने अच्छी तरह से टुकड़े-टुकड़े करके नष्ट कर दिया है। ये सारे विदेशी हैं। कोई अरब से शिक्षा लेकर आया, कोई फिलिस्तीन से शिक्षा लेकर आया और कोई रूस से शिक्षा लेकर आया; सारी विदेशी व्यवस्थायें हैं। अब जो वर्ण-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था बतायेंगे, उसको हज़ार साल में टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। आज वह व्यवस्था नहीं है। इस व्यवस्था के अच्छे-बुरे होने का विचार करना, आज की व्यवस्था को देखकर उस व्यवस्था की तुलना नहीं करना, क्योंकि हजार साल का प्रहार बहुत बड़ा होता है। आज हमको विदेशी

चीज़ अच्छी लगती है। हमारा जो इतना बड़ा संविधान बना उसके प्रारूप के लिये क्या किसी ने भारतीय प्राचीन संविधान को देखा? यह भारत देश है। ऐतिहासिकों के हिसाब से भी दस हज़ार साल से जीवित है। यहाँ पहले क्या करते थे—कोई पूछता है ? आज तो सारी व्यवस्था विदेशों से आनी चाहिये यही सोचते हैं। इसलिये यहाँ जो वैदिक समाज-व्यवस्था बतायेंगे, यह भी एक विचारणीय व्यवस्था है, इस बात को आजकल के लोग मानने को तैयार नहीं हैं।

इसमें हमें इतना बड़ा अपमान महसूस होता है जब लोग कहते हैं कि 'वर्णव्यवस्था प्लेटो ने भी बताई है।' क्यों अपमान महसूस होता है ? क्योंकि उसने जो कहा वह वैदिक व्यवस्था की हल्की छायामात्र है। उस छाया को देखकर यदि तुम हमारे सूर्य की प्रशंसा करोगे तो हम कहेंगे कि इससे अच्छा तुम हमारी प्रशंसा न ही करो तो अच्छा है। जैसे एक अन्धे, लूले-लंगड़े, बहरे और नाक कटे लड़के को देखकर कोई कहे कि 'आपका लड़का इससे सुन्दर है' तो तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा, अपमान ही लगेगा। इसी प्रकार विदेशी व्यवस्थायें जिनमें किसी प्रकार का समन्वय नहीं, किसी प्रकार का आपस में सम्बन्ध नहीं है, जो व्यवस्था पचास साल के अन्दर टुकड़े-टुकड़े हो रही है, जिस समाज-व्यवस्था के व्यवस्थापक लेनिन और उसके शिष्य स्टालिन के शव को निकालकर फेंक दिया गया, तीस-चालीस साल की जो समाज-व्यवस्था राग-द्वेष से आक्रान्त है, जब वह हमारे सामने रखकर कहते हैं कि 'रूस ने कैसी उन्नति की है' तो हमें बड़ी शर्म आती है। जिस समाज-व्यवस्था ने दस हज़ार वर्ष तक कम से कम

भारतवर्ष को इतना दृढ रखा कि एक हज़ार साल की गुलामी के बाद भी हम जीवित हैं उस समाज व्यवस्था के सामने ये चालीस साल की व्यवस्थायें जिनमें परस्पर इतना राग-द्वेष है, ऐसी घृणित समाज व्यवस्था को रखकर कहते हैं कि इस व्यवस्था का विचार करो तो शर्म से हमारा मुँह नीचा हो जाता है। वह उनका आदर्श है।

याद रखना कि हमारी समाज-व्यवस्था प्रेम, श्रद्धा, एकता, सुख, सौहार्द्र की प्रतिपादक समाज-व्यवस्था है। द्वेष, घृणा, दुःख और दूसरे को कष्ट देने वाली व्यवस्था यह नहीं है। दोनों समाज-व्यवस्थाओं और दोनों के आदर्शों में फ़र्क है। लेनिन और लेनिनवाद का नाम बड़े आदर से लिया जाता है और वह शोषित वर्ग का एक महान् प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति माना जाता है। हम कहते हैं कि 'ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण है' तो हम सम्प्रदायवादी, पक्षपाती हैं। नौ महीने के मासूम बच्चे को 'साँप का बेटा साँप होता है' कह कर मार डालते हैं, जो उन्होंने ज़ार के बालक के साथ किया, तो आदर्शवादी हैं ! समाजवाद का एक प्रत्यक्ष रूप आप लोगों को बतायें : एक बहुत बड़े नेता ज्योति बसु पटना गये। उनके साथ एक और सज्जन भी थे। पटना स्टेशन पर रेल से उतरे तो किसी ने आकर गोली मारी। किसने किसको मारी, यह पता नहीं लेकिन साथ वाले सज्जन को गोली लगी और वे मर गये। सब लोगों ने बसुको बधाईयाँ भेजीं कि बड़ा अच्छा हुआ आप बचे गये। जो मरा, उसके प्रति किसी की कोई सहानुभूति नहीं। 'तुम बच गये'—इसकी बधाई उन्हें प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति सब के द्वारा मिलती है। क्या भारतीय संस्कृति कभी इसकी

कल्पना कर सकती थी, कभी मन में सोच सकते थे कि ऐसा भी हो सकता है ? जो मरा है, उसके प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति नहीं आ रही है। यह द्वेष, घृणा, असौहार्द्र और आपस के भेदों को बढ़ाने वाली समाज-व्यवस्था और वैदिक समाज व्यवस्था सर्वथा एक-दूसरे से विरुद्ध हैं।

एक शान्ति और सुख के लिये और दूसरी अशान्ति और दुःख के लिये है। एक कहती है कि मनुष्य जितना विवेकी होगा उतना शान्त और सुखी होगा, यह भारतीय व्यवस्था है। विदेशी व्यवस्था से प्रभावित होने वाले हमारी प्रधानमंत्री को संसद में यह कहने में एक मिनट शंका नहीं होती कि 'पुराने लोग शान्त थे क्योंकि मूर्ख थे।' विदेशी समाजवादी में शान्ति मूर्खता का लक्षण है। हमारी वैदिक समाजव्यवस्था शान्ति और सुख को महत्त्व देती है, अशान्ति और दुःख को नहीं। शान्ति बुद्धिमानी का लक्षण है, मूर्खता का लक्षण नहीं है। दोनों समाज-व्यवस्थायें सर्वथा एक-दूसरे की विरोधी हैं, दोनों का साथ नहीं चल सकता।

इस समय में हमारा समाज नहीं, भीड़-भड़क्का है। अब इस भीड-भाड़ में से वैदिक समाज-व्यवस्था निकलेगी या घृणात्मक विदेशी समाज-व्यवस्था आकरं हमारे भारतवर्ष की वैचारिक स्वतंत्रता को समाप्त कर देगी, यह अभी हम नहीं कह सकते। लेकिन इस भीड़भाड़ में से कोई एक समाज जन्मेगा, चाहे वह वैदिक सुख-शांति का हो चाहे विदेशी समाज दुःख और अशान्ति का हो। पुरुषसूक्त के विचार से आप लोगों के कन्धे पर एक ज़िम्मेदारी देंगे। यह जिम्मेदारी है कि किस समाज-व्यवस्था को तुम्हें लाना है, इस बात का एक निर्णय जीवन में करना पड़ेगा।

यह नहीं कि कभी इधर और कभी उधर चले गये। हम वैदिकों की कमज़ोरी ही हमें नष्ट कर रही है। हमें निर्णय कर लेना पड़ेगा कि हम कौन-सी समाज-व्यवस्था चाहते हैं। हमारा सिद्धान्त है कि यदि वे अच्छे हैं यह सिद्ध हो जायेगा तो हमें केवल प्राचीनता के नाम पर मोह भी नहीं है। लेकिन विश्व की समग्र सामाजिक व्यवस्थाओं को अच्छी तरह से परीक्षण करके देखने के बाद समझोगे कि जो हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था में गुण हैं, वे और कहीं नहीं हैं। उनके प्रयोगों को देखो और हमारे भी एक हज़ार साल की गुलामी के पूर्व वाली सामाजिक व्यवस्था के प्रयोगों को देखो। केवल किताबें लिखने से समाज-निर्माण नहीं होता। प्रयोगात्मक ढंग से देखना पड़ेगा। उन्होंने क्या किया, यह भी देखना पड़ेगा। उनकी समाज-व्यवस्था पचास साल से ऊपर की नहीं है, उनका कोई प्रयोग इससे पूर्व का नहीं है। उसके अन्दर ही उन्होंने कितने राग-द्वेषों का निर्माण किया है, यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है, कोई कल्पना की बात नहीं है।

समाज-पुरुष का वर्णन श्रुति करती है कि प्रजापति ने ही इस समाज-पुरुष का निर्माण किया। आदि-पुरुष से विराट्-पुरुष और विराट्-पुरुष से यज्ञ-पुरुष, जिसे अब तक बताया है; यह यज्ञ पुरुष ही आगे हमारे समाज़-पुरुष का प्रवर्तक है। हमारे समाज को हमने बैठकर नहीं बनाया है, यह पहली बात समझने की है। हमारे यहाँ बड़े से बड़े वैदिक ऋषि का यह कहीं कहना नहीं कि हम एक दिन बैठे और हमने वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई। यह पौरुषेय, किसी पुरुष के द्वारा बनाई हुई व्यवस्था नहीं है। इसे यज्ञपुरुष के आधार पर, विश्व के आधारभूत नियमों को लेकर

स्वयं प्रजापति ने निर्मित किया। सनातन धर्म का संस्थापक कोई नहीं, राम, कृष्ण भी इसके संस्थापक नहीं। राम हमारे धर्म में पैदा हुए, चाहे भगवान् के अवतार थे। क्राइस्ट का बाप क्रिश्चियन नहीं था, मुहम्मद का बाप मुसलमान नहीं था लेकिन राम का बाप और अन्य भी सारे वैदिक थे, सनातनी थे। इसी प्रकार समाजवादी-व्यवस्था को बनाने वाला कोई मार्क्स नाम का और कोई एन्जल नाम का व्यक्ति है जिसने अपनी बुद्धि से विचार कर बनाया है। उनके अंतःकरण में रागद्वेष के दोष भरे पड़े थे, वे सारे बाहर प्रकट हो गये। हमारी समाज-व्यवस्था को बनाने वाला कोई पुरुष नहीं है, इसलिये यह अपौरुषेय व्यवस्था है। भय, प्रमाद और विप्रलिप्सा इन तीनों दोषों से रहित है।

वैदिक सिद्धान्त है कि कितना भी विद्वान् पुरुष हो उसमें ये तीनों दोष रहेंगे। किसी न किसी बात में भ्रम रहेगा। चाहे कितना विद्वान् और महान् पुरुष हो जाये, किसी न किसी काल में, किसी न किसी बात के विषय में उसके मन में भ्रम रहेगा। किसी न किसी समय उसमें प्रमाद भी रहेगा, बात का पूर्णतः ध्यान नहीं दे पायेगा। किसी न किसी विषय में कहीं न कहीं विप्रलिप्सा भी होगी, किसी न किसी चीज़ का लोभ भी होगा। इन्हीं भय, प्रमाद और विप्रलिप्सा तीन में से किसी न किसी कारण से उसमें गलती होगी क्योंकि वह पुरुष है, मनुष्य है। तुम्हें बड़े-ज़ोर की भूख लग गई, भोजन करने की ज़रूरत पड़ गई। दस बजने में पाँच मिनट बाकी हैं। दस बजे भोजन का समय है। अच्छे से अच्छे विवेकी से झट बात मुँह से निकल जाती है कि 'दस बज गये, अभी कितनी देर है ?' उस दिन भूख ज़्यादा लगी थी, उस लोभ से ग़लती कर

गये। कहना चाहिये था कि 'अभी पाँच मिनट बाकी हैं।' मन झट कह देता है कि जब तक बैठेंगे, तब तक दस बज ही जायेंगे। पुरुष कितना भी महान् होगा, इन तीनों से रहित नहीं रह सकता। यह वैदिक का सिद्धान्त है और अनुभव के आधार पर बनाया हुआ है। हम लोग अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानते हैं, किसी पौरुषेय ग्रंथ को धर्म-ब्रह्म में स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते।

हमारी वर्णाश्रम समाज-व्यवस्था किसी पुरुष ने नहीं बनाई। इसलिये इसमें भय, प्रमाद और विप्रलिप्सा की सम्भावना नहीं है। जो स्वयं अंतःकरण में द्वेष और घृणा के कारण जल रहे हैं, वे सबसे पहले यह कहते हैं कि यह समाज-व्यवस्था ब्राह्मणों ने बनाई। थोड़ी देर बाद कहते हैं कि यह सारा झगड़ा मनु ने शुरू किया। पहले हम सुनते रहते हैं, फिर थोड़ी देर बाद पूछते हैं कि मनु किस जाति का था ? वह तो सूर्यवंशी था, क्षत्रिय था। गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं, 'विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।' तब वे लोग चिढ़ जाते हैं जब हम प्रश्न करते हैं कि अभी ब्राह्मणों को कह रहे थे और नाम क्षत्रिय मनु का ले लिया। चूँकि उनका अंतःकरण घृणा, द्वेष से भरा हुआ है, इसलिये सोचते हैं कि यह समाज भी किसी घृणा और द्वेष वाले ने बनाया होगा। यह एक अपौरुषेय व्यवस्था है, किसी मनुष्य के द्वारा निर्मित नहीं है। भय, प्रमाद और विप्रलिप्सा तीनों की इसमें सम्भावना नहीं है। इसी समाज व्यवस्था की कल्पना करने के लिये श्रुति प्रश्नोत्तर-रूप से प्रवृत्ति करती है। दसवाँ मंत्र प्रश्न है।

'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

वह बोला, 'यही तो नहीं बताया।' अब लड़का ठीक हो गया।

नीचे आये तो पिता ने पूछा, 'कैसा है ?' कहा, 'बिल्कुल ठीक हो गया।' लड़के से पूछा, 'क्या हो गया ?' कहने लगा, 'सब जलकर राख हो गई और वह भी बह गई।' स्वामी जी ने आँख से इशारा किया कि 'अब चुप रहना, आगे बात नहीं छेड़ना।' बाद में उनसे पूछा कि क्या बात थी ? तो महात्मा ने बताया कि 'इसका बेचारे का हृदय कमज़ोर था। कमज़ोर हृदय का होने के कारण बिना मतलब की चिन्ता के अन्दर यह फँस गया। व्यर्थ चिन्ता से उद्विग्न हो गया और इस बेचारे की चाबी घूम गई। बस और कुछ नहीं था। मैंने सोचा कि इस उलटी घूमी चाबी को हटाना सम्भव नहीं है, लेकिन मैंने उस चाबी के 'हेयर स्प्रिंग' को निकाल दिया। जैसे घड़ी में चाबी गलत घुमा दो फिर 'हेयर स्प्रिंग' ही बदलना पड़ता है, इसी प्रकार इसके दिमाग़ की स्मृति की चाबी उलटी लग गई थी, हटा नहीं सका, इसलिये यह स्तब्ध हो गया था। स्मृति नष्ट हो गई तो आगे-पीछे का भान नहीं हो रहा था। जहाँ घड़ी टिकी थी, बस वहीं रुकी थी। मैंने उस 'हेयर स्प्रिंग' को निकालकर जला दिया और यह ठीक हो गया।'

जैसे उस लड़के की चिन्ता थी और उसके रोग का निदान नहीं हो रहा था, उसी प्रकार हमारे समाज के लोगों के अंदर स्मृति-शक्ति नहीं है और वे समाज को देखकर कहते हैं—'हाय ! इतना बड़ा समाज, इतने दुःखी, कब इनका पैसा बढ़ेगा, कब इनकी गरीबी हटकर ये अमीर बनेंगे, कब इनके अन्दर नैतिकता आयेगी, कब क्या होगा, कब उन्नति होगी ?' सारे इसी में अटके हैं और तेईस साल से इसी चीज़ को बोल रहे हैं कि 'कब गरीबी हटे

और कब देश की उन्नति हो, कौन करेगा ?' तेईस साल से बक-बक किये जा रहे हैं क्योंकि पता जो नहीं है कि अटके कहाँ हैं, स्मृति जो नष्ट हो गई। यदि पूर्व स्मृतियों का विचार किया होता तो पता लगता कि यह देश कैसे सुखी हुआ और होता है। स्मृति नष्ट हो गई है। जिस ढंग से चाबी ज़्यादा लगाई गई है, वह ढंग तो अब खराब हो गया है, अब तो स्प्रिंग निकालना पड़ेगा। आज सारी समाज-रचना को भ्रष्ट कर दिया गया है, इसे निकालना पड़ेगा। इसे निकालकर पुरुषसूक्त में बताई हुई समाज-रचना का 'हेयर स्प्रिंग' डालना पड़ेगा। तब तो घड़ी चलेगी, नहीं तो चाहे जितने विशेषज्ञों को बुला लो लाभ नहीं होगा। कोई अमेरिकन विशेषज्ञ को तो कोई रूस के विशेषज्ञ को ला रहा है, कोई जापान के विशेषज्ञ को ला रहा है, कि ये हमारी उन्नति करायेंगे; जैसे वहाँ वैद्य हकीमों से कुछ नहीं हुआ, ऐसे ही इनसे भी कुछ नहीं होना है। अंत में लोग कहते हैं कि भूत-प्रेत वाली दवा करो, पुराने सड़े-गले हिन्दू धर्म को छोड़ दो और इस नये युग के अनुसार कोई नया धर्म बनाकर मान लो तो सुखी होगे। लेकिन यह रोग न वैद्य-हकीमों की दवाई से, न झाड़-फूँक से, न अपना धर्म परिवर्तन करके ठीक होना है। यह तो पुरुषसूक्त में कही हुई समाज- व्यवस्था से ठीक होगा।

इस चीज़ को समझना होगा कि जिसे तुम बड़ा भारी दुःख मान रहे हो, यह तो सारा जला-जलाया है। अर्जुन को भी क्या चिन्ता थी ? वह भी इसी चक्र में पड़ गया था 'यद्‌वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।' कौन जीतेगा, कौन हारेगा, कौन मरेगा ? भगवान् ने कहा, 'अरे अर्जुन ! 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव

सव्यसाचिन् ।' तू चिन्ता कर रहा है कि ये बड़े-बड़े हैं लेकिन भीष्म और द्रोण को मेरे शरीर में देख ले। जैसे अटारी पर बैठाकर उस लड़के को महात्मा ने दिखाया था, ऐसे ही कृष्ण ने भी सबको अपने अन्दर दिखाया। कहा—'कर्ण को भी देख ले।' अर्जुन भी घबराकर कहता है कि भय के कारण और ज़्यादा घबराहट हो रही है। भगवान् ने कहा कि घबरा नहीं, ये सब जले हुए हैं, राख हो गये हैं, मैंने इन्हें मार डाला है। तू यहाँ आया, इससे पहले इन्हें मार दिया है। तेरे को तो केवल निमित्त मात्र बनकर प्रसिद्धि लेनी है कि अर्जुन ने महाभारत का युद्ध जीता। इसी प्रकार आज जो बार-बार वर्तमान समाज के पतन को चित्रित किया जाता है, वह इसलिये नहीं कि आप घबरायें, बल्कि जैसे मानस-रोगी को महात्मा ने वैसी ही भयानक बात सुनाकर धक्का पहुँचाया था कि डर के मारे उसका रोग ही दूर हो गया, वैसे ही यहाँ भी समाज का सुधार इष्ट है। जो स्मृतिमान् होगा वह तो समाज को कहेगा कि जितनी तुम्हारी चिन्तायें हैं, इन सब चिन्ताओं को तो ऋषियों ने पहले से सोचकर जला रखा है, इसलिये ये सब चिन्तायें करना तुम्हारा काम नहीं है। इन सब में से तो पुनः एक शुद्ध और सुन्दर समाज की उत्पत्ति होनी है। ये सब तो मरे हुए हैं, इनमें कोई तत्त्व नहीं है। फिर भी जो इस समाज-रचना के लिये स्वतः प्रयत्नशील होगा, वह निमित्तमात्र बन जायेगा। चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। वे चाहे जितने बड़े-बड़े धनुर्धर दिखाई दें, लेकिन अन्दर खोखले हैं और मरे हुए हैं, इसलिये इनमें कोई तत्त्व नहीं है। केवल निमित्तमात्र होकर खड़े हो जाओगे तो वे ऐसे उड़ेंगे जिसका कोई ठिकाना नहीं है। यही इसकी औषधि है। स्मृति

पहले लाओगे तब यह काम होगा।

प्रवचन-५४

भगवती श्रुति समाजपुरुष का वर्णन करते हुए इस बात का प्रतिपादन कर रही है कि किस प्रकार यह समाज भी प्रजापति का एक रूप है। देह, प्राण, मन, बुद्धि, आनंद, आत्मा, व्यष्टि, समष्टि इत्यादि भिन्न-भिन्न भेदों के अन्दर एक, अखण्ड सामरस्य, अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करना ही श्रुति का चरम तात्पर्य है। भेद दृष्ट है; भेद देखने में आता है। भेद की सिद्धि के लिये, भेद के विचार के लिये, भेद को समझने के लिये किसी प्रयत्न की ज़रूरत नहीं है; किसी शास्त्र, किसी दर्शन की ज़रूरत नहीं है क्योंकि भेद दृष्ट है, स्वतः सिद्ध है। यदि भेद सत्य हो तो आगे उसका विचार व्यर्थ है। मनुष्य भिन्न चीज़ों को एक समझने का प्रयास करता है। सब पेड़ अलग हैं पर मनुष्य उनमें एक जाति समझता है कि सब लंगड़े आम के पेड़ हैं। ऐसे ही विभिन्न गायों में एक गोत्व जाति देख लेता है। भेद में अभेद को समझने की शक्ति ही सारे व्यवहारों का बीज है। यह दार्शनिक विषय है। सौ रुपये के नोटों की एक गड्डी आती है, उसमें हर-एक नोट पर अलग-अलग नम्बर होता है। बिल्कुल नई गड्डी रिज़र्व बैंक से आई है। क्या तुम्हें दृढ निश्चय नहीं है कि ये सब नोट सौ-सौ रुपये के ही हैं ? सब के अलग-अलग नम्बर हैं। पिता जी ने

'बी-१३७७०' नम्बर वाला नोट दिखाकर कहा था कि 'यह सौ रुपये का नोट है।' गड्डी में और ही नम्बर हैं, फिर भी जानते हो कि सौ की गड्डी है। एक नोट में तेल लगा है, दूसरे में स्याही लगी है, एक में किसी ने अपना नाम ही लिख दिया, एक के अन्दर हिसाब लिख छोड़ा है कि साढ़े बारह आने का तेल और ढाई आने की माचिस; एक मुड़ा, एक सीधा है। इन सब भेदों के होने पर भी यद्यपि ये सब भेद दृष्टि-सिद्ध हैं, फिर भी इनमें एक व्यापक तत्त्व दीखता है, तभी कहते हो कि सब की एक कीमत है, सौ रुपया है। जितने पदार्थ हैं, उन सब के अन्दर दृष्टि और अनुभव से भेद दीखता है, लेकिन उस अनुभव के अन्दर कोई है जो हमको कहता है कि इन सब में एकता है। वह एकता आँख से नहीं दीखती। कोई कहे कि एकता आँख से दिखाओ या कान से दिखाओ तो नहीं दिखा सकते। दो फूलों की सुगन्धियाँ एक नहीं हैं। फिर भी कोई है जो कहता है कि 'यह गुलाब जाति का ही फूल है।' यदि कोई कहे कि 'दृष्टिसिद्ध न होने के कारण हम इन सौ रुपये के नोटों को अलग-अलग मानेंगे, सबकी एक कीमत नहीं देंगे; या इसके ऊपर स्याही में लिखा है, इस पर तेल लगा है इसलिये इनके छः आने और नौ आने काट लेंगे', तो व्यवहार नहीं चलेगा। गाय खरीदने जाओ और गोत्व जाति को न देखो तो व्यवहार नहीं चलेगा। भेद दृष्ट है, उसमें किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है। लेकिन दृष्ट भेद से गहरी कोई चीज़ आत्मा में बैठी हुई है जो उन सबमें एकता ही प्रतिपादित करती है। इन्द्रियों से वह एकता प्रतिपादित नहीं होती। वह एकता हृदय से अनुभूत है।

आगे विचार करो कि जितने ज़्यादा पदार्थों के अन्दर तुम्हारी बुद्धि एकता ला सकेगी उतना ही तुम्हारी बुद्धि को अधिक संतोष होगा। हृदय को भेद-दर्शन से संतोष नहीं होता। वर्गीकरण से, भिन्न-भिन्न गणों के अन्दर बाँटने से ही मनुष्य को संतोष होता है। दृष्ट भेद रहते हुए भी सबके अन्दर एकता का आन्तरिक अनुभव है। सारा दर्शन और धर्म क्या करता है ? दृष्ट भेद और हृदय के द्वारा अनुभूत एकत्व, दोनों में सामंजस्य-ज्ञान कराता है। बुद्धि के स्तर पर एकता कायम की, उसका नाम दर्शन हुआ; जीवन के स्तर पर एकता कायम की तो उसका नाम धर्म है। बुद्धि के द्वारा समझाना दर्शन का काम है और उसे जीवन के प्रत्येक क्षण में उतारना धर्म का काम है। सारे भेद और अभेदों का समन्वय कैसे किया जाये ? कुछ लोगों ने एक-तरफ निर्णय दिया कि भेद ही सत्य है, हृदय में जो अभेद की अनुभूति है, इसे भूल जाओ, यह गलत है। उन्होंने अपना दर्शन और धर्म इसी नींव पर रखा कि अभेद झूठा है और भेद सच्चा है। इसका कारण यह है कि वे सिर गिनने वाले हैं। आजकल के लोग किसी बात का निर्णय करने के लिये सोचते हैं कि कितने लोग हमारे साथ सहमत हैं। यह एक विलक्षण प्रक्रिया है। जिन लोगों ने कभी अर्थशास्त्र का नाम नहीं सुना, उनसे राय पूछी जाती है कि देश में धन कैसे बढ़ेगा ! वे तो बेचारे कुछ समझते नहीं हैं, उनके सामने कोई भी बात कह दो, उन्होंने स्वीकार कर लिया तो प्रस्ताव पास हो गया। कुछ लोग सत्य का निर्णय बहुमत से करते हैं, बहुत-से लोग जिधर हो जायें, वह सत्य है।

यही कौरवों का दृष्टिकोण था। आदि से अंत तक कौरव

सौ और पाण्डव पाँच रहे। कौरवों का कहना था कि हमारी सामर्थ्य ज़्यादा है, इसलिये हम सच्चे हैं। यही सत्य का निर्णायक है। भगवान् ने विचार किया कि पाँच की सामर्थ्य भी ज़्यादा है। यादव कुल में भगवान् कृष्ण एक तरफ थे और बाकी सारे यादव दूसरी तरफ थे। यदुकुल में बलराम समेत सारे शराब पीने वाले, मांस खाने वाले थे। केवल कृष्ण इन सबसे अलग थे। बहुमत का निर्णय था कि 'कृष्ण पिछड़ी विचारधारा वाला है, कहता है न शराब पियो, न मांस खाओ, जुआ भी मत खेलो। ज़माना कहाँ का कहाँ बढ़ गया है, यह नहीं जानता।' बहुमत यादवों का था, एक कृष्ण को छोड़कर पचपन करोड़ निन्यानबे लाख निन्यानबे हज़ार नौ सौ निन्यानबे यादव एक तरफ और दूसरी तरफ अकेले कृष्ण। कृष्ण ने कहा कि सत्य का निर्णय बहुमत से नहीं होता। तुम लोग अपना निर्णय खुद करो।

असत्य की विशेषता होती है कि आपस में झगड़ा होता है, उनमें परस्पर झगड़ा कराने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पहले वे मिले होंगे फिर उनमें आपस में झगड़ा होगा। पहले कहेंगे कि 'सरकार के तीन अंग हैं—अदालत, संसद और शासन करने वाले। हम तीनों एक और बाकी सारी जनता इनसे भिन्न है।' पहला झगड़ा हुआ। फिर कहेंगे कि 'हमारे अंदर भी अदालत वाले खोटे हैं, इनको कुछ नहीं करना पड़ता।' वे आपस में ही झगड़ा करेंगे, क्योंकि असत्य का यह नियम है। यदि तुम्हारा संविधान सत्य के आधार पर होता तो तीनों में आपस में झगड़ा क्यों होता ? कुछ दिन के बाद होगा कि अदालत तो गई, अब ये शासन करने वाले सरकारी नौकर बुरे हैं। झगड़े का मूल असत्य है, सत्य होता तो

सौहार्द्र बढ़ता। असत्य का नियम है कि आपस में संघर्ष हो। जब वे भी नहीं रहेंगे तब अगला कदम होगा कि ये पार्लियामेण्ट के सदस्य खराब हैं, ये काम नहीं करने देते। भगवान् कृष्ण ने विचार किया कि यादव बहुमत वाले हैं, कुछ न करो, इनको अपने आप ही निपटने दो। ये अपने आप ही झगड़ा करके एक-दूसरे को मारकर सारे ख़त्म हो जायेंगे। कृष्ण इस बात को जानते थे। यदि बहुमत सत्य होता तो कृष्ण खत्म होते और यदुकुल बचता। आज भी यदि यदुकुल का नाम लेते हैं तो केवल इसलिये कि वे कृष्ण के रिश्तेदार थे। नहीं तो उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है। यही सिद्ध करता है कि वे असत्य थे और कृष्ण सत्य थे। भगवान् ने विचार किया कि पाँच की संख्या भी कम नहीं है। सत्य का निर्णय जहाँ बहुमत से होगा वहाँ तुम्हारा अधिकतर ज्ञान भेद वाला होता है और अधिकतर आदमी भेद को देखते हैं। वे सब अपना मत पास कर देंगे कि 'भेद ही सत्य है, अभेद को भूल जाओ।' वैदिक का अभेद का अनुभव आन्तरिक अनुभव है। जैसे-जैसे अभेद को भूलते जाओगे वैसे-वैसे हृदय सूखता जायेगा, संघर्ष और अशान्ति बढ़ती जायेगी।

दूसरी तरफ कुछ लोगों को निर्विकल्प समाधि के अन्दर अभेद का अनुभव हुआ, वह अनुभव भी एक ही अनुभव है। अतिदीर्घ काल की तपस्याओं के बाद होने वाला अनुभव भी अद्वैत का अनुभव है, यह कृष्ण की जगह अकेला ही है। कुछ विचारकों ने कहा कि इसको मानो और भेद-दृष्टि के विचार को छोड़ो।

वेदांत ने कहा कि दोनों में से किसी एक को मत छोड़ो। सत्य तो वह है जो निर्विकल्प समाधि में अनुभूत हुआ है लेकिन यह

जो सारा विस्तार है, वह भी उसमें से ही निकला हुआ है। उन्होंने अभेद और भेद का समन्वय किया। अभेद पारमार्थिक सत्य है और भेद व्यावहारिक सत्य है। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि किसी काल में पारमार्थिक सत्य और किसी काल में व्यावहारिक सत्य है। जैसे इस सारे शरीर में 'मैं' अकेला ही रहता है, यह पारमार्थिक सत्य है। अकेला रहने पर भी मैं सिर से सोचता हूँ, हाथ से उठाता हूँ, पेट में पचाता हूँ, पैरों से चलता हूँ। व्यवहार काल में मैं ही हाथ में चढ़ा हुआ उठाता हूँ, मैं ही सिर में जाकर सोचता हूँ, मैं ही पेट के अन्दर जाकर पचाता हूँ और मैं ही पैरों के द्वारा चलता हूँ। 'मैं ही'—यह अद्वैत कहीं गया नहीं जब मैं चलने लगा। पारमार्थिक दृष्टि से मैं 'मैं ही' बना रहा और मैं रहते हुए भी व्यवहार में द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, ज्ञाता, गन्ता इत्यादि रूपों में प्रतीत भी होता रहा। इसलिये पारमार्थिक सत्य किसी और काल में तथा व्यावहारिक सत्य किसी और काल में हो, ऐसा नहीं है। पारमार्थिक सत्य ही व्यवहार करते हुए जब दीखता है तब मानो अलग-अलग हुआ दीखता है। आँख से देखते हुए मेरा नाम द्रष्टा, कान से सुनते हुए मेरा नाम श्रोता, मन से सोचते हुए मेरा नाम मन्ता, बुद्धि से निश्चय करते हुए विज्ञाता, पैरों से चलते हुए मेरा नाम गंता, हाथ से उठाते हुए मेरा नाम ग्रहीता है। लेकिन इन सब नामों के कारण क्या वह बदल रहा है ? वह एक ही है। घर के अन्दर पत्नी के लिये तुम लल्लू के बाबू जी, लल्लू के लिये तुम खुद बाबू जी, नौकर के लिये तुम साहब, मुनीम के लिये लालाजी लेकिन इन सब नामों से व्यवहार होने पर क्या तुमको लगता है कि तुम बदलते जा रहे हो ? तुम अभिन्न हो, अद्वैत

हो, बिना बदले हुए ही बदले हुए प्रतीत हो रहे हो। पारमार्थिक सत्य का मतलब है कि जो कभी बदलता नहीं, अद्वितीय है; सत्य तो वह है। जब वही सत्य व्यवहार करता है तब अनेक नाम-रूप-कर्मों को धारण करता हुआ प्रतीत होता है।

इस वेदांत की दृष्टि ने न तुम्हारे देखे हुए अनुभव को हटाया और न तुम्हारे हृदय की एकता के अनुभव को ही हटाया, बल्कि दोनों में समन्वय किया। यही वेदांत की सबसे बड़ी देन है। वेदांत की दृष्टि है कि लोगों को यही समन्वय मिले। द्वैत और अद्वैत दोनों ही अपने-अपने स्थल पर हैं। अद्वैत अधिष्ठान है और द्वैत अध्यस्त है। अद्वैत ही द्वैत-रूप में प्रतीत होता है। प्रतीति होगी तो द्वैत की ही होगी। यह बात गाँठ बाँधकर रखना, नहीं तो लोग अद्वैत की प्रतीति करना चाहते हैं ! जहाँ प्रतीति होगी, वह द्वैत है, अद्वैत *की* कभी प्रतीति होने वाली नहीं है, क्योंकि जिसके द्वारा प्रतीति हो रही है, वह अद्वैत है और जिस *की* प्रतीति हो रही है वह द्वैत है। वेदांत दर्शन ने जिस बात को बताया उसको अपने जीवन के प्रतिक्षण में लाना ही वैदिक धर्म है। उसी चीज़ को समाजपुरुष के अन्दर यहाँ श्रुति ने बताया।

यह विलक्षण दृष्टि और कहीं नहीं मिलने वाली है। समाजरूप प्रजापति एक ही है। अनेक समाजों की कल्पना वैदिक नहीं करता। एक समाज है, बाकी सब भीड़ हैं जो पहले बता आये हैं। जैसे जब कोई पूछता है कि 'क्या दूसरे धर्म झूठे हैं ?' तो हम हमेशा कहते हैं कि धर्म एक ही है। बाकी जो धर्म के नाम से चलते हैं, वे सारे अधर्म हैं। असत्यों को जोड़ने से असत्य ही होगा, उसमें से सत्य निकलने वाला नहीं है। यह नहीं कि बहुत-सी

असत्य बातें जोड़ें तो उसमें कोई चीज़ ऐसी होगी जो सत्य निकल आये ! इसी प्रकार जितने मत-मतान्तर और मज़हब हैं, सारे अधर्म हैं। उन अधर्मों को जोड़कर हमसे कहा जाता है कि इनमें से एक धर्म निकाल लो। हमसे कहते हैं : आपको दो मन बालू देते हैं, इसके दाने भी तिल से बड़े हैं। ऐसा थोड़े ही हो सकता है कि इनमें कुछ तेल हो ही नहीं ! भगवान् ने इतनी बड़ी करोड़ों योजन की लम्बी-चौड़ी मरुभूमि बनाई है, इतनी बालू भरी है तो इनमें से भी तेल निकाल दो ! यदि समझायेंगे कि नहीं निकल सकता है तो दण्डा दिखायेंगे कि नहीं निकालोगे तो खोपड़ी फोड़ देंगे। ऐसी परिस्थिति में या तो हमें हिमालय भागना पड़ेगा या कहीं से बंदूक लाकर तुम्हें मारना पड़ेगा ! इसी प्रकार हमसे कहा जाता है : झूठे मत-मतान्तरों को संसार में इतने मानने वाले हैं, इनमें भी तो कुछ सत्य होगा, ज़रा सत्य निकालो। उनमें सत्य कहाँ से निकालें ! वे तो सारे बालू हैं। यह बात कहते हैं तो हमसे कहा जाता है कि आप सम्प्रदायवादी हैं। बालू के कण लेकर तेली से कहो कि 'तुम सम्प्रदायवादी हो, खाली तिल को विशेषता देते हो, बालू को क्यों नहीं देते ?' तो वह बेचारा क्या करेगा ? जैसे धर्म एक ही है, बाकी सब अधर्म हैं, इसी प्रकार समाज एक ही है जो इस पुरुषसूक्त में बताया जा रहा है। उसके सिवाय बाकी सब भीड़-भाड़ हैं।

समाजपुरुष समझना ज़रूरी है। स्नेह दो चीज़ों का आपस में संघर्ष मिटाने वाला है। दरवाजा चूं-चूं करता है तो ज़रा तेल डाल देते हैं, जब दो चीज़ें आपस में ज़ोर से रगड़ती हैं तो बीच में तेल डालने से रगड़ मिट जाती है। समाज वह है जिसके अन्दर

प्रेम पैदा हो। जिसके द्वारा आपस में स्नेह आये, एकता आये, वह समाज है। यही समाज का लक्षण हुआ। जहाँ एकता न आकर अशान्ति और संघर्ष बढ़े, वह भीड़-भाड़ है। यही समाज और भीड़-भाड़ में फ़र्क है। लोग दोनों में ही हैं। जो वैदिक कह सकता है कि एक ही प्रजापति पुरुष है, जिसके ये सारे अंग हैं, वह तो समाज में स्नेह और एकता को बढ़ाने वाला है क्योंकि वह हमेशा याद रखने वाला है कि समाजपुरुष एक है। इसका स्वरूप समझा देते हैं : कभी-कभी भोजन करते हुए अनुभव किया होगा कि दाँत जीभ को काट लेते हैं। जब काट लेते हैं तब पत्थर लेकर दाँतों को फोड़ते नहीं हैं कि 'इसने बड़ा अन्याय किया है, इसलिये इसे बाहर निकालो।' समाज वह होगा जिसमें किसी ने बड़े से बड़ा अन्याय कर लिया हो तो भी उसे नष्ट करने के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी। मन में ख्याल ज़रूर करते हो कि 'अलगी बार खाते समय ध्यान रखूँगा।' कभी-कभी चलते हैं तो दाहिने पैर का टखना बाँये पैर के टखने से भिड़ जाता है तो चोट लग जाती है। आदमी झन्ना जाता है। लेकिन क्या कभी पत्थर लेकर दाहिने पैर को तोड़ते हो ? कहते हो, 'ध्यान चूक गया था, अब ध्यान रखूँगा।' जहाँ यह भाव है वहाँ समाज है। जिसने मारा उसके प्रति भी स्नेह है। उसको नेस्तनाबूद (नष्ट) कर देने की दृष्टि नहीं है। जहाँ यह स्नेह-भाव नहीं है, वहाँ समाज नहीं है, भीड़-भाड़ है। भीड़-भाड़ में क्या होता है ? एक बार कलकत्ते गये हुए थे, कहीं भोजन करने जाना था। जाने के रास्ते में एक बड़ा भारी हाल है जिसमें लोग सोने-चाँदी का व्यापार करते हैं। सोना-चाँदी वहाँ नहीं होता, खाली व्यापार होता है ! वहाँ बड़ा शोर सुना, सोचा कोई दंगा

हो गया है। वहीं एक गैलरी थी, वहाँ से झाँक कर नीचे देखा तो सोचा कि नक्सलियों का दंगा है। एक-दूसरे को मार रहे हैं, एक धक्का मारकर कहता है 'मैंने दस हज़ार खाया, दूसरा कहता था कि 'दस हज़ार मैंने खाया।' हमने साथ वालों से पूछा कि यह क्या हो रहा है ? कहने लगे, 'जाने दीजिये, यह सौदा हो रहा है।' हमने कहा, 'ये एक- दूसरे को मारते क्यों हैं ?' उन्होंने बताया कि अपनी तरफ ध्यान खींचने के लिये वे ऐसा करते हैं, क्योंकि दूसरी तरफ ध्यान होगा तो सौदा दूसरा खा लेगा ! इसी प्रकार जहाँ समाज नहीं होता, वहाँ यद्यपि व्यवहार दीखता है तथापि निरंतर एक-दूसरे की खींचतान होती रहती है, शांति और सुख नहीं होता।

वैदिक कहता है कि समाज एक ही प्रजापति है। जो इस वैदिक विचारधारा पर बनता है वह समाज है। उससे भिन्न भीड़-भाड़ होगी। आज जितने लोग समाज की बात करते हैं, वे समाज की नहीं, भीड़-भाड़ की बात करते हैं क्योंकि उनके कार्य उनको और दूसरों को भी अशान्ति और दुःख ही देते हैं। स्नेह और प्रेम का नाम ही नहीं है। कुछ लोगों को शायद याद होगा कि जब मदन मोहन मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय कायम किया था, उस समय गवर्नर जनरल लार्ड इर्विन थे। उसकी अध्यक्षता में गांधी जी वहाँ उद्घाटन करने गये थे। जिस समय वाइसराय इर्विन आये, चारों तरफ पुलिस खड़ी थी। जनता वाइसराय की तरफ जाने का प्रयत्न करती थी और पुलिस रोक देती थी, उधर नहीं जाने दे रही थी। वाइसराय साहब आये, बैठ गये। उनको जो बोलना था, वह भी बोले। गांधी जी ने अपने भाषण में बड़े महत्त्व

की बात कही कि 'आज हमारे देश के राजा वाइसराय साहब आ रहे थे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।' हमारे देश के लोग अपने राजा से प्रेम करते है क्योंकि भारतीय संस्कृति में राजा का स्वरूप बताते हुए मनु कहता है 'प्रत्यक्षदेवता ह्येषा नररूपेशण तिष्ठति।' इससे उच्च कल्पना और कोई नहीं कर सकता कि इस समाज-पुरुष के लिये राजा प्रत्यक्ष देवता है जो मनुष्य रूप से यहाँ बैठा हुआ है, लेकिन मनुष्य है नहीं। यह विलक्षण कल्पना वैदिक की है। इस वाक्य को जो नहीं समझ पाते, वे प्रश्न करते हैं कि 'सीता निष्कलंकित थी ?' हम कहते हैं कि बिल्कुल निष्कलंकित थी। 'राम जानते थे ?' बिल्कुल जानते थे। 'फिर क्यों निकाल दिया ? क्या अन्याय नहीं किया ?' बिल्कुल नहीं किया। क्यों अन्याय नहीं किया ? जब तुम राजा बन गये तो नर नहीं रहे। यदि सामान्य मनुष्य की भावना से, अहंता-ममता से काम करते हो, राजा बनने पर भी यदि तुम्हें लगता है कि 'यह मेरा बेटा है', तो राज्य छोड़कर हट जाओ। जिस समय राम का राज्याभिषेक हुआ तब वह सीता के पति नहीं, दशरथ के पुत्र नहीं और लक्ष्मण के भाई नहीं रहे। उस समय प्रत्यक्ष देवता बनकर प्रजापति पुरुष का रूप लेकर बैठे। यह आदर्श है। उनके लिये मनुष्यता की बात बीच में नहीं ला सकते। राम ने इतना लम्बा राज्य किया पर कृष्ण कभी राजा नहीं बने। राम ने एक ही मोर्चा मारा था, रावण को मारा। यही उनका खास काम था। लेकिन कृष्ण ने शिशुपाल, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि न जाने किन-किन को मारा था। सबसे बड़े महाभारत के मोर्चे पर जीत उन्हीं की थी। फिर कभी राजा नहीं बने, क्योंकि जानते थे कि नृप का आदर्श तो रामावतार में

दिखा चुके हैं, अब हमें नर का व्यवहार दिखाना है, राजा नहीं बनना है, इस जन्म में मनुष्य का व्यवहार बतायेंगे। राम में राजा का आदर्श है, राजा तो कोई-कोई होता है; लेकिन मनुष्य तो सब होते हैं।

गांधी जी ने भी कहा कि 'हमारे राष्ट्र के अन्दर राजा का बड़ा महत्त्व है।' स्मृतियों में तो यहाँ तक लिखा है कि चातुर्मास्य के अन्दर सूर्य-दर्शन के बिना भोजन न करे, ऐसा एक व्रत है। अगर कई दिन सूर्य-दर्शन न हो तो क्या करें ? कहा—राजा का दर्शन कर लो। इसीलिये आज भी यदि राजस्थान में चले जाओ तो देखोगे कि यदि बहुत दिन तक बादल रहते हैं तो राजा की सवारी निकलती है जिससे लोगों को दर्शन हो जायें और उनके भोजन आदि की व्यवस्था हो जाये ! राजा को इतना महत्त्व दिया गया, यह हमारा आदर्श बना। गांधी जी ने कहा 'इसीलिये जनता इनके पैर छूना चाहती है, पास आना चाहती है। लेकिन ये इतने डरपोक हैं कि उनके प्रेम को नहीं समझते और चारों तरफ पुलिस खड़ी कर ली है !' इसके बाद गांधी जी ने बड़ी भयंकर बात कही, वाइसराय भी वहीं बैठा था। कहा—'इससे अच्छा तो वह राजा मर जाये अपेक्षाकृत इसके कि प्रतिक्षण मरता रहे। जिस प्रजा पर राज्य करता है, उससे यदि इतना डरता है तो उस राजा का मर जाना ही अच्छा है।' मालवीय जी दायें-बायें देखने लगे कि वाइसराय कहीं गुस्सा न हो जायें। लेकिन अंग्रेज़ बात को समझने वाले हुआ करते थे। इर्विन ने कहा, 'ये ठीक ही कह रहे हैं।' इर्विन ईमानदार था, इसलिये कहा, 'यदि मैंने अन्याय न किया होता तो मेरे मन में भय न होता, इसलिये ये ठीक कह रहे हैं।'

वह विदेशी होने के कारण अपने देश के लिये ही अन्याय करता था। लेकिन आज भी अन्याय करना नहीं छूट रहा है, इसलिये भय नहीं छूट रहा है। चाहे जितने मत ले लिये जायें लेकिन उन सारे वोटों के बाद भी मन से भय नहीं जाता। इसलिये उतना ही बल्कि उससे भी ज़्यादा पुलिस का संरक्षण चाहते हैं। क्यों ? इतना भय किस बात का ? जो अन्यायी नहीं होता है उसमें भय नहीं होता। क्या तुमको कभी अपने शरीर के किसी अंग से भय लगता है ? क्या किसी से कहते हो कि पेट खराब हुआ है, क्या पता मार डालेगा ? ऐसा कुछ नहीं। वह हमारा अंग है, खराब हो गया है तो हम ठीक करेंगे, डरने की क्या बात है ! जो कह सकता है कि 'प्रजापति पुरुष एक है, एक होने के कारण अंग-अंग के साथ उसका प्रेम है, स्नेह है, अद्वैत-दृष्टि है, अद्वितीयता है, अभेद है'; वही इस प्रजा-पुरुष की कल्पना, समाज की कल्पना समझ सकता है। जहाँ यह समाज की कल्पना नहीं होगी, वहाँ भीड़-भाड़ होगी, अपने आप का बचाव ही सोचते रहोगे। यही समाज और भीड़-भाड़ में मूलगत भेद है।

वैद्य का विषय बताते हुए प्रारंभ किया था कि समाजपुरुष को कौन समझ सकेगा—'स्मृतिमान् युक्ति-हेतुज्ञःमतिमान् प्रतिपत्तिमान्।' स्मृतिमान् पर विचार किया। लेकिन केवल स्मृतिमान् होने से काम नहीं चलेगा। वह युक्ति भी चाहिये जिस युक्ति से इसका निदान होगा। शरीर के रोग का असली निदान कौन करता है ? रोगी खुद ही रोग का निदान करता है ! यदि आँख, कान, नाक आदि सब का अभिमानी अलग होता तो कोई भी डाक्टर निदान नहीं कर सकता था। रोगी एक है, इसलिये

वह रोगी कहता है कि 'मेरे ही सिर में दर्द है, मेरी ही दाढ़ दुख रही है, मेरे ही घुटने में दर्द है।' तब वैद्य तीनों अनुभवों की अन्यथा-अनुपपत्ति होने के कारण एक निदान करता है। यदि चार आदमी अलग-अलग हों, एक के सिर में, दूसरे के पेट में, तीसरे के घुटने में और चौथे की दाढ़ में दर्द है तो उनका निदान एक नहीं हो सकता, अलग-अलग निदान होगा। सामाजिक रोग का निदान इसलिये सम्भव है कि समाज एक पुरुष है। जब तक कोई एक व्यक्ति, एक प्रजापति इस सारे समाजपुरुष की एकता का दर्शन नहीं करता, तब तक निदान कहाँ से हो ? इसलिये यह युक्ति हमेशा अनुभव करने की चेष्टा करो कि समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के अन्दर *तुम* बैठे हुए हो। जब *तुम* कहोगे कि कहाँ क्या रोग है, तब रोग का मूल पता लगेगा। इतनी बड़ी महाव्याधि का मूल कौन-सा है, यह सोचना पड़ेगा।

केवल युक्ति से जानने से नहीं होगा, साथ में हेतु भी सोचना पड़ेगा। रोग तरह-तरह से दूर किया जाता है।

एक राजा था। उस राजा पर पड़ोसी राजा ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने बैठकर विचार किया कि उस राजा के पास फौज भी ज़्यादा है, नया खून भी है, युद्ध करने की क्षमता भी बहुत ज़्यादा है, इसलिये उसके साथ समझौता कर लें। राजा को इससे बड़ी चोट लगी। वह मंत्रियों से बार-बार कहे कि कोई उपाय निकालो। लेकिन मंत्री, पुरोहित और सेनाध्यक्ष ने भी, सबने एक राय से कहा कि 'हम उससे लड़ नहीं सकेंगे, हार जायेंगे और प्रजा दुःखी हो जायेगी, अपना राज्य भी चला जायेगा, इसलिये समझौता कर लो।' राजा ने समझौता कर लिया, क्या करता ! लेकिन इसकी

उसे बहुत चोट लगी। इसी के कारण उसके पेट में फोड़ा हो गया। ज़्यादा चिन्ता करने वाले को अल्सर हो जाता है। वैद्य ने तरह-तरह का इलाज किया लेकिन फोड़ा ठीक नहीं हुआ। स्थिति यह हो गई कि अब राजा नहीं बचेगा। तब तक शल्यविज्ञान इतना नहीं बढ़ा था कि आपरेशन कर दिया जाये। फोड़ा फूटना ज़रूरी था, नहीं तो उसका जहर खून में चले जाने से राजा मर जाता।

वैद्य ने बड़ा विचार किया। अंत में सोचा कि राजा सारे शरीर में एक ही है, अब यदि इसके पेट में इलाज नहीं हो सकता तो कहीं और से इलाज करूँ। युक्ति के साथ हेतु भी समझना पड़ता है। उसने विचार करके देखा कि राजा को अपनी पत्नी से अगाध प्रेम है। एक दिन राजा से आकर कहा, 'अभी-अभी महल से आ रहा हूँ।' राजा ने पूछा, 'क्या बात है ?' कहने लगे, 'क्या बताऊँ, महारानी ने मुझे बुलवाया था, लेकिन बड़ी देर में बुलवाया। मैं क्या करता, हाय ! मैं कुछ न कर सका।' राजा ने कहा, 'हो क्या गया ?' कहा, 'उसे दिल का दौरा पड़ा और वह मर गई।' यह सुनते ही राजा बड़े ज़ोर से पछाड़ खाकर गिरा और दुःख के मारे उसका सारा शरीर इतना काँपा कि पेट का फोड़ा फूट गया। सारा खराब खून बाहर निकल गया। वैद्य ने पट्टी आदि की। जब राजा को होश आया तब कहा 'महारानी बिल्कुल सुरक्षित हैं।' राजा ने पूछा 'पहले गलत क्यों कहा ?' वैद्य कहने लगे, 'फोड़ा फोड़ने का और कोई उपाय नहीं था।' फोड़ना तो पेट का फोड़ा था, लेकिन वहाँ कैसे पहुँचा जाये ? दवाई कोई काम नहीं कर रही थी। इसलिये मन के द्वारा पेट में पहुँच कर उसे फोड़ दिया। महारानी भी वहाँ आ गई, राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। थोड़े दिन में

फोड़ा बिल्कुल ठीक हो गया। इस बीच में वैद्य ने मंत्रियों से कहा 'तैयारी कर लो, पड़ोसी राजा को जीत लेना है क्योंकि यह चिन्ता ही राजा के फोड़े का कारण है।' पाँच-सात सालों में मंत्रियों ने सेना को तैयार कर लिया। पड़ोसी राजा से युद्ध हुआ और यह राजा जीत गया और अंत तक अपनी पत्नी के साथ जीवित रहा।

राजा की तरह हमारा समाजपुरुष है, हिन्दू राष्ट्र का समाजपुरुष है। इसको भी भिन्न-भिन्न ढंग से समझौता करना पड़ा। किसी की पोशाक की नकल कर ली, किसी की बोली की नकल कर ली; विदेशी शक्तियाँ जबरी थीं। उन सारे समझौतों के कारण इसके पेट में फोड़ा हो गया। पेट की जगह पर 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः।' आज जब कहते हैं कि 'हमारा व्यापारी-समाज ठीक काम नहीं कर रहा है' तब यही कह रहे हैं कि वैश्य खराब है। अद्वैती यह नहीं कह सकता, वह तो कहता है कि हमारे समाजपुरुष का धन कमाने वाला जो हमारा पेट है, वह 'मेरा' पेट खराब है। 'यह' पेट खराब है, ऐसा अद्वैती नहीं कहेगा। कहेगा मेरा पेट खराब है, क्योंकि अद्वैती है। इसका जहर सब जगह फैल रहा है और अब दिमाग में पहुँच गया है। इसलिये ब्राह्मण भी कहता है कि 'मुझे पैसा चाहिये' जबकि पैसा कमाना वैश्य का काम है। वैश्य पेट की पूजा कर सकता था। पैर में भी खून पहुँच गया। लेकिन वह फोड़ा इसलिये हुआ और बढ़ा कि बाहर के संक्रमण से समझौता होता रहा। कभी वेश बदला, कभी बोली बदली, कभी बैठने का तरीका छोड़ा। इस सबका नतीजा हुआ कि मन में जँचा कि 'बाकी सब चीज़ों से समझौता हो सकता है लेकिन पैसे से समझौता नहीं हो सकता।' वेश इसलिये बदला

कि पैसा मिल जाये। फारसी इसलिये सीखी कि मुसलमान नौकर सस्ता मिल जायेगा। इन समझौतों को करते-करते पेट में फोड़ा हो गया क्योंकि हिन्दू राष्ट्र इससे प्रसन्न नहीं है। अंदर ही दुःख है, उसका नतीजा यह फोड़ा है। वहाँ से रोग वाला खून सिर में पहुँचा तो ब्राह्मणरूप सिर भी सोचता है कि 'मुझे पैसा कैसे मिले।' ब्राह्मण अपना कर्मकाण्ड, वेदाध्ययन क्यों छोड़ता है ? क्योंकि पैसा नहीं मिलता। वही खून हाथ में पहुँचा तो क्षत्रिय भी कहता है कि 'जहाँ तन्ख्वाह ज़्यादा मिलेगी, वहाँ काम करेंगे। देश की रक्षा के लिये नहीं करेंगे।' वैश्य पेट तो बीमार ही है। वही दूषित खून पैरों में पहुँचा हुआ है। इसलिये शूद्र भी कहता है कि 'मेरी तन्ख्वाह बढ़ाओ, पैसा ज़्यादा दो।' मैं काम कैसे बढ़िया करूँ—यह नहीं कहता; शिल्प और कारीगरी की उन्नति नहीं करेंगे, केवल पैसा लाओ। सारा समाज बीमार हो गया क्योंकि जहरीला खून सब जगह पहुँचा हुआ है।

इसे कैसे बचाया जाये ? पेट को चीरना समस्या का हल नहीं है। उसके मन को चोट पहुँचानी पड़ेगी, उसके द्वारा उसके पेट का फोड़ा फोड़ना पड़ेगा। मन को धक्का किससे मिलेगा। जिस पत्नी से प्रेम करता है, उसकी मृत्यु बताने से। कई बार हम कहते हैं कि हिन्दू जीवित नहीं रहेगा तो लोग पूछते हैं, 'क्या यह सच्ची बात है ?' हम कहते हैं कि सच्ची समझोगे तो बच जाओगे ! यदि वैद्य से पहले ही पूछता कि 'क्या यह बात सच्ची है ?' तो फोड़ा नहीं फूट सकता था। सच्चा माना तभी फोड़ा फूटा। इसीलिये जीवन में कम से कम 'अपना प्रिय वेदांत सम्प्रदाय नष्ट हो जायेगा', इस प्रेम के कारण कहीं तुम्हारे अन्दर मूर्च्छा आ जाये,

तो नतीजा होगा कि फोड़ा फूट जायेगा, समाज ठीक हो जायेगा। मूर्च्छा का मतलब यह नहीं कि भगवान् आकर रक्षा करेंगे ! बल्कि इस बात को थोड़ी देर के लिये भूल जाओ तब काम बन जायेगा। गीता में भी भगवान् ने कहा

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।'

इसी बात को सप्तशती में भी कहा—

'इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्।।'

लेकिन इसे याद रखोगे तो फोड़ा ठीक नहीं होना है। इसलिये कहते हैं कि तुम्हारी अनादि काल से आने वाली श्रुति-परम्परा नष्ट हो जायेगी। यदि नष्ट हो जाओगे तो क्या करोगे ? फोड़े के फूटने पर ही समाज का दृष्टिकोण ठीक हो जायेगा।

प्रवचन-५५

भगवती श्रुति समाज-पुरुष के स्वरूप का प्रतिपादन करती है। प्रजापति समाजपुरुष के रूप में प्रकट होता है। समाज पुरुष को समझने से इस विश्व का मूल कारण और उसका स्वरूप समझ में आता है। इस संसाररूप महाव्याधि का पूर्ण निदान व्यक्ति और

समाज दोनों के स्तर पर ही होता है। न विश्व केवल मन में है और न केवल मन के बाहर है। बौद्ध मानते हैं कि संसार केवल मन में है। वैष्णव आदि मानते हैं कि संसार बाहर है। वेदांती कहता है कि संसार मन के अन्दर और बाहर दोनों जगह एक जैसा है। जैसे घड़े के अन्दर भी आकाश है और घड़े के बाहर भी आकाश है; घटरूपी उपाधि के अन्दर भी आकाश और बाहर भी आकाश है। वेदांती एक कदम आगे चलकर कहता है कि आकाश केवल अन्दर और बाहर ही नहीं है, घट स्वयं भी आकाश ही है ! इसी प्रकार मन के बाहर प्रमेयरूप से जगत् है और मन के अन्दर प्रमातारूप से जगत् है। प्रमेय मायने जानने के योग्य; मन से बाहर का संसार जानने के योग्य है, अर्थात् ज्ञान का विषय है, ज्ञेय है, दृश्य है देखने के योग्य है। मन के अन्दर का संसार प्रमाता अर्थात् ज्ञाता है, जानने वाला है, द्रष्टा है। वेदांती कहता है कि जैसे घड़े के बाहर का आकाश और घड़े के अन्दर का आकाश दोनों वस्तुतः आकाश ही हैं, इसी प्रकार मन के बाहर का विश्व और मन के अन्दर का विश्व—प्रमेय और प्रमाता—दोनों एक ही हैं। ज्ञान का विषय और ज्ञान का आश्रय दो नहीं हैं, एक ही है। एक कदम और आगे चलकर वेदांती कहता है कि घड़े की जगह पर जिसको तुम मन समझते हो, जैसे वह घड़ा भी आकाश से भिन्न नहीं है, ऐसे ही जो मन ज्ञान का साधन है वह ज्ञान से भिन्न नहीं है।

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय; द्रष्टा, दर्शन और दृश्य; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन त्रिपुटियों को हटाना ही वेदांत-सिद्धान्त है। कुछ लोग केवल मन के अन्दर का विश्लेषण करते हैं और कुछ केवल

मन के बाहर का विश्लेषण करते हैं। बहुत थोड़े-से विचारशील लोग मन का विश्लेषण करते हैं। एकमात्र वेदांत का सिद्धान्त ही त्रिपुटी का विश्लेषण करता है। तीनों का विश्लेषण करने से उसे पता लगता है कि एक ही चीज़ तीन रूपों में बनी हुई है। एक ही कपड़ा नीचे पहना तो धोती, ऊपर पहना तो चद्दर और सिर पर लपेटा तो साफा हो गया ! किस देश की ऐसी वेशभूषा है ? हम प्रायः कहा करते हैं कि संस्कृति की हर-एक चीज़ का कोई तात्पर्य होता है। हमारा वेश धोती, चद्दर और साफा तीनों में कोई फ़र्क नहीं है, केवल लपेटने के तरीके में फ़र्क है। किसी समय चद्दर न हो, धोती को ही ऊपर डाल लो तो भी काम चल जाता है। कहीं अकस्मात् स्नान करने चले जाओ और पास में कपड़ा न हो तो नहाकर धोती सूखने के लिये डाल दो, तब तक चद्दर पहन लो। यह भारतीय वेशभूषा है। विदेशी वेशभूषा में चाहे जितनी कोशिश कर लो, पैण्ट की शर्ट और शर्ट की पैण्ट नहीं बना सकते ! कमीज़ को पैण्ट की जगह नहीं पहने सकते और पैण्ट का कमीज़ की तरह प्रयोग नहीं कर सकते। टोप को पैण्ट नहीं बना सकते। वहाँ तीनों का भेद है और भेद ही रहेगा। यदि तुम कहीं पहुँच गये और तुम्हारे पास तीन पैण्ट और छह कमीज़ें हैं, एक पैण्ट की कमी हो गई है तो छह कमीज़ें मिलाकर एक पैण्ट की कमी दूर नहीं कर सकते। उनके वेश में द्वैत-भाव की और हमारे वेश में अद्वैत-भाव की प्रधानता है। इतना ही नहीं, यदि किसी मौके पर पत्नी के पास साड़ी नहीं है और पति के पास दो धोतियाँ हैं तो पत्नी भी उस धोती को साड़ी की जगह पहन सकती है ! केवल आदमी ही उसे पहन सकता हो ऐसा

नहीं। यदि किसी काल में पति के पास कपड़ा न रहे तो वह पत्नी की साड़ी पहन सकता है, जैसे राजा नल ने अपनी पत्नी की साड़ी पहन ली थी क्योंकि उसके पास कोई वस्त्र नहीं रहा था। क्या इस प्रकार का परिवर्तन विदेशी पोशाक में कर सकते हो ? आदमी कभी मिनी स्कर्ट को पहनकर नहीं घूम सकता। यह अद्वैत की दृष्टि है, चाहे वेशभूषा हो, चाहे और कोई बड़ी से बड़ी चीज़ हो। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की एकता है। प्रमेय के विचार में समाज का विचार और प्रमाता के विचार में यज्ञपुरुष का विचार आ चुका। आगे प्रमाण-मीमांसा भी आयेगी, 'सप्त समिधःकृताः' के निरूपण में प्रमाणों का विचार आयेगा। अद्वैत में आये रोग का निदान कौन कर सकेगा, उसके कुछ गुण बता रहे थे, 'स्मृतिमान् युक्तिहेतुज्ञो मतिमान् प्रतिपत्तिमान्।' जब ये सारे गुण हों तब चिकित्सा होती है। स्मृति, युक्ति और हेतु का रूप बताया।

आगे मतिमान् बताते हैं : जो मनन करने वाली हो उसे मति कहते हैं, साधारण भाषा में बुद्धि कहते हैं। जब किसी की मनन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है तो उस समय कहते हैं कि 'इसकी मत मारी गई है।' मति का अपभ्रंश ही 'मत' है। मति मायने मनन करना। इस चिकित्सा को करने की सामर्थ्य उसकी होगी जो मनन कर सकेगा। देखने में तो पुरुष और समाज बिल्कुल अलग-अलग दीखते हैं, द्वैत दीखता है, लेकिन ज्ञान अद्वैत का होता है। जो मनन करने वाला नहीं है, वह अद्वैत को नहीं पकड़ पाता। वह द्वैत को इतना लम्बा-चौड़ा देखता है तो कहता है कि 'इतने द्वैत में से अद्वैत कैसे निकलेगा ?'

संसार के जितने भी दूसरे विचारक हैं वे भेद का निरूपण

करते हैं। आजकल हमारे भारतवर्ष में भी ऐसे *विद्वान्* हैं ! हम लोगों ने अपने ही श्रुति-स्मृति-शास्त्रों का एक सिद्धान्त समझा, 'श्रुति-स्मृति-पुराणानामालयं करुणालयं' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ने उसी सिद्धांत का वर्णन किया। स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, इन सबको मथकर उन्होंने एक तत्त्व समझाया। सबको मथकर एक तत्त्व समझना तो भारतीय दृष्टिकोण हुआ। विदेशी विचारधारा से प्रभावित लोग कहते हैं कि 'अमुक सिद्धांत वेद में था। वेद के बाद स्मृतियों में अमुक अलग मत आया।' उन दोनों में फ़र्क बताते हैं। आगे चलकर वेदों के अन्दर भी ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में क्या फ़र्क है, यह भी बताते हैं ! ऋग्वेद के अन्दर भी दशम मण्डल और प्रथम मण्डल में क्या भेद है, यह बताते हैं ! शास्त्रों में भेद, एक ही शास्त्र में भेद, एक ही शास्त्र की एक किताब के भिन्न-भिन्न अध्यायों में भेद !

थोड़े दिन पहले एक ग्रंथ छपा था जिसमें बताया गया कि गीता कम से कम छह ग्रंथों को मिलाकर बनी है ! अमुक अध्याय में एक बात और अमुक अध्याय में दूसरी बात है ऐसा कहते हैं। हमारे पास भी कोई वह पुस्तक लेकर आया था। हमने कहा—अध्याय क्यों कहते हो, इसमें हर श्लोक में दूसरी बात कही गई है, फिर श्लोक का हर शब्द दूसरी बात कहता है और हर शब्द के अन्दर अक्षर भी अलग-अलग हैं ! भेद न दीखता तो इतनी बड़ी लम्बी दुनिया क्यों दीखती ? यदि अभेद की किताब छापनी होती तो बनिया भी छपा सकता था। बनियों का एक बहुत बड़ा समुदाय है, उन्होंने कुछ किताबें छापी हैं। एक किताब में सारी किताब पर 'सीताराम सीताराम' लिखा है। उसमें ऊपर

से नीचे तक अद्वैत है। यह भी नहीं लिखा कि सीता राम की कौन लगती थी। उनकी वह किताब बिकती भी है और खरीदने वाले कहते हैं कि 'ये बड़ी सस्ती किताबें छापते हैं ! छह पैसे में देते हैं।' छह पैसे में भी क्यों खरीदो ? 'सीताराम' तो याद ही होगा, लेकर क्या करोगे ? यदि बाहर अद्वैत दिखाना होता तो भगवान् भी संसार में ऐसे ही कर देते। गीता ऐसी पोथी नहीं है। वहाँ तो एक ही अद्वैत तत्त्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया गया है। भेद देखने में कोई परिश्रम की ज़रूरत नहीं है। लेकिन उन सारे श्लोकों के द्वारा क्या तत्त्व बताया गया है, यह समझने के लिये मनन की ज़रूरत है।

जो मतिमान् पुरुष होगा, वह केवल एक ग्रंथ नहीं, सारे ग्रंथों का अध्ययन और मनन करके उनमें से एक तत्त्व निकालेगा; और जो मतिमान् नहीं होगा वह अलग-अलग चीज़ों को देखता रहेगा, द्वैत का दर्शन करता रहेगा। मतिमान् वह हुआ जो द्वैत पदार्थों को देखते हुए उनमें से अद्वैत का ज्ञान कर सके। वह भी जब समाज को और व्यक्ति को देखता है तब बिल्कुल अलग-अलग देखता है, बहुत-से लोग समाजपुरुष का चित्र बनाते हैं ! उसमें धनुषबाण लिये हुए आदमी को हाथों की जगह लटका देते हैं और मिट्टी खोदने वाले को पैरों में लटका देते हैं। सोचते हैं कि शायद किसी जगह, किसी लोक में ऐसा एक आदमी हुआ करता होगा। यदि कहो कि ऐसा आदमी कहीं नहीं है तो कहते हैं 'वेद में लिखा है तो झूठ थोड़े ही होगा।' भगवान् ने गीता में कहा

'विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।'

विद्या-विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता चाण्डाल सब में मैं रहता हूँ। हमने एक चित्र देखा था—गाय की छाती में कृष्ण का चित्र बना हुआ, चाण्डाल की छाती में कृष्ण का चित्र बना हुआ, हाथी की छाती में कृष्ण का चित्र बना हुआ था। वह चित्र देखकर हमें समस्या हुई कि हाथी की छाती में कृष्ण है तो सिर में कौन है ? गाय की छाती में कृष्ण हुआ तो पैर में कौन है ? भगवान् ने यह तो कहा नहीं था कि विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मण की *छाती* में मैं रहता हूँ। उन्होंने तो सारे ब्राह्मणों और सारी गायों में स्वयं को बताया है। भगवान् का तात्पर्य यह हो ही नहीं सकता, असम्भव है। उन सबके अन्दर आत्मरूप से अर्थात् ज्ञानरूप से मैं हूँ। ब्राह्मण में भी एड़ी से चोटी तक और चाण्डाल में भी एड़ी से चोटी तक सब जगह ज्ञानरूप से वही कृष्ण है।

समाज-पुरुष को देखोगे तो नज़र ये ही आदमी आयेंगे जो अभी देख रहे हो। नज़र तो चाण्डाल और ब्राह्मण ही आयेंगे, लेकिन *समझ* आयेगी कि इनके अन्दर ज्ञान एकरूप है। उसी प्रकार नज़र तो लोग आयेंगे लेकिन समझ आ जायेगी कि मुख की जगह कौन, बाहु की जगह कौन और ऊरू की जगह कौन है। यह आँखों से दीखने वाला समाजपुरुष नहीं है। आँखों से देखने पर तो लोग ही दिखाई देते रहेंगे। इसे समझने के लिये मति की ज़रूरत है, इसलिये कहा कि मतिमान् इसे समझेगा। जो मतिमान् नहीं होगा, वह इस समाजपुरुष को नहीं समझ सकेगा।

अगला विशेषण दिया 'प्रतिपत्तिमान्।' अर्थात् समाजपुरुष के शरीर को जानने की जिसमें सामर्थ्य हो। रास्ते में चल रहे हो, केले के छिलके पर पैर पड़ता है लेकिन गिरने पर चोट हाथ में

लगती है। केले के छिलके से गिरे तो चोट कमर या कमर के नीचे के नितम्ब-भाग में आनी चाहिये थी, हाथ में चोट क्यों आ गई ? गिरने के साथ ही हाथ कूल्हे को बचाने के लिये ज़मीन पर पहुँच जाता है, क्योंकि हाथ जानता है कि कूल्हे की हड्डी टूट गयी तो ठीक नहीं हो सकती। हाथ की हड्डी के ऊपर चोट आयेगी तो जल्दी ठीक हो जायेगी। इस बात को हाथ जानता है। यह प्रतिपत्ति है। हाथ सारे शरीर की शरण में है। सारे शरीर के अधिपति तुम हो और तुम्हारा सहारा हाथ को है। हाथ कभी नहीं सोचता कि इस आदमी ने मरम्मत नहीं कराई तो दुःख भोगता रहूँगा, इसलिये पहले अर्जी देकर पता लगाऊँ कि कूल्हे को बचाऊँ तो मुझे बदले में क्या मिलेगा ? तब तक तो कूल्हा टूट जायेगा ! हाथ सर्वथा तुम्हारी शरण है, वह अपना काम कर रहा है और तुम भी अपने आप उसका संरक्षण करोगे। सामने से कोई लट्ठ मारता है तो झट हाथ बचाने आ जाता है। बहुत ज़ोर से कोई मार पड़ने वाली हो तो सिर को घुटनों के बीच बाँधकर बैठ जाता है। सारी चोट पीठ खाती है, क्योंकि पीठ जानती है कि 'मैं अगर दुःख उठाऊँगी तो शरीर बहुत बड़े दुःख से बच जायेगा।' हिसाब नहीं लगाती कि 'कितनी चोट खाऊँ, कितने जन्मों से मैंने इस शरीर के लिये क्या-क्या नहीं किया।'

इसी प्रकार जो प्रतिपत्तिमान् होता है वह अपना कर्तव्य करते हुए अपने आपको समाज की शरण में छोड़ देता है। यह वैदिक दृष्टिकोण है। वह समाज को अर्जी देकर पूछता नहीं कि 'मैं ऐसा करूँगा तो तुम क्या करोगे ?' ऐसा कोई हिसाब नहीं लगाता। मैं अपना कर्म करूँगा, आगे समाज अपनी जाने। उसे दृढ निश्चय

है कि समाज उसकी रक्षा ज़रूर करेगा। जो ऐसा करने की सामर्थ्य वाला नहीं है, वह समाजपुरुष की शरण में नहीं रह पाता।

एक कथा आती है। एक बार दो विद्याधर भाई थे। विद्याधर देवजाति होती है। एक बार वे घूमते हुए जा रहे थे। रास्ते में ऋषियों की लड़कियाँ खेल रही थीं। औरतों की एक चाल है कि जब कोई आदमी आस-पास नहीं होता तो नंगी होकर नहाती हैं। कृष्ण के समय में भी यही करती थीं। यह लड़कियों की आदत होती है। ऐसे ही वे भी नहा रही थीं। ये दोनों विद्याधर भाई वहाँ खड़े होकर उनको देखते रहे। सर्वज्ञ ऋषियों को इस बात का पता लग गया कि ये विद्याधर देवजाति के होने पर भी ऐसा खराब काम करते हैं। उन्होंने उनको शाप दिया कि 'तुम मनुष्य बनकर पैदा होवो। देवगण बने रहने में अब तुम्हारा अधिकार नहीं है।' क्योंकि मनुष्य होते तो पकड़े जाते, देवगण होने से किसी को दिखाई नहीं देते थे। जब ऋषियों ने शाप दे दिया तो उन्होंने बड़े हाथ पैर जोड़े, प्रार्थना करने लगे कि 'मनुष्य योनि में जायेंगे तो फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ जायेंगे, इसलिये कोई उपाय कीजिये।' ऋषियों ने कहा 'तुम दोनों में से जो बड़ा है, उसकी उम्र ज़्यादा होने से उसे छोटे भाई को रोकना चाहिये था, तुम दोनों ने राक्षसों जैसा काम किया है। तू राक्षस योनि में जायेगा, मनुष्यों में राक्षस-मनुष्य बनेगा।'

राक्षस शब्द का अर्थ रखवाला या रक्षक होता है। राक्षस का बुरा मतलब क्यों लिया जाता है? जैसे किसी युग के अन्दर कांग्रेस शब्द का मतलब होता था 'देश के लिये सर्वस्व-त्याग करने वाला।' बड़ी प्रशंसा में लोग कहते थे कि 'यह गांधीजी का अनुयायी

कांग्रेसी है।' धीरे-धीरे इस समुदाय के अन्दर अब इतने ज़्यादा भोगी हो गये हैं कि आज किसी से कह दो कि 'कांग्रेसी है' तो एक तरह का अपमान और गाली हो जाती है ! एक बार सम्पूर्णानन्द जी ने बताया : तब १६६१ के चुनाव थे। वे एक जगह जीप में पहुँचे तो वहाँ के लोगों को पता नहीं था कि वे मंत्री हैं। वे मंत्री होने पर भी सब जगह ऐसे ही घूमते चले जाते थे क्योंकि उनके अन्दर कांग्रेस की पुरानी ईमानदारी थी। उन्हें पान खाने की आदत थी। कहने लगे—'उस जगह हमने ड्राइवर से कहा कि पान लाओ।' पनवारी की दुकान के पास पहुँचे तो उसने मुझे ऊपर से नीचे देखा और वहाँ खड़े दूसरे लोगों से कहा 'ये आ गये कांग्रेसी चोर।' दूसरे कहने लगे, 'हाँ, अब तो कपड़े उतारने ही रह गये हैं, और हमारे पास क्या बच गया है !' उन को यह सुनकर बड़ी शरम आई। इसी प्रकार पहले रक्षक थे, जनता ने उनके हाथों में रक्षा का काम दे दिया कि 'तुम हमारी रक्षा करो', लेकिन वे लोग भी अन्यायी हो गये। जब इस प्रकार रक्षा का अधिकार देने पर वे लोग अन्याय करने लगे तब राक्षस शब्द का अर्थ बुरा हो गया। शब्दों का अर्थ बदल जाता है। इसलिये राक्षस वह हुआ जो ऐसा वचन दे कि 'मैं तेरी रक्षा करूँगा' और अंत में तुम्हें मारे। मनुष्य भी ऐसा होता है।

ऋषियों ने कहा कि 'तू बड़ा होकर छोटे भाई को रोकने की अपेक्षा खुद भी ऐसे पाप में लगा, इसलिये तू तो राक्षस होगा। छोटा भाई रक्षा के योग्य था, उसने कोई ग़लत काम किया तो तुझे बचाना चाहिये था, उलटा तूने उसका सहयोग किया, उसे और बिगाड़ दिया।' आजकल भी बहुत-से लोग होते हैं। लड़का

कहता है, 'पिताजी, सिनेमा ले चलो।' तुम पिता हो, तुम्हारा काम उसका पालन करना है। वह ऐसा कहता है तो उसे डाँटो और कहो कि सिनेमा नहीं जाया करते। लेकिन बहुत-से पिता बजाय ऐसा करने के कहते हैं, 'अच्छा लल्ला, ले चलेंगे' और उसे ले भी जाते हैं ! ऐसे भी लोग हैं जिनका नाम पिता है, लेकिन वे बच्चों का पालन नहीं कर रहे हैं, उलटा उनको बिगाड़ने में लगे हुए हैं। इसी प्रकार यहाँ भी बड़े भाई का कर्त्तव्य था कि ग़लत काम करने वाले छोटे भाई को रोकता, लेकिन जैसे पिता खुद भी बच्चे के साथ सिनेमा देखने चला जाता है ऐसे ही बड़े विद्याधर ने भी किया। ऋषियों ने कहा कि 'तू तो अपने स्वरूप को याद नहीं रखेगा। लेकिन किसी समय छोटा भाई जब निकलेगा, तू इसे पहचान लेगा कि 'यह तेरा ही भाई है' और यह भी तुझे पहचान लेगा, तब तुम दोनों को अपने पूर्व जन्म की स्मृति आ जायेगी कि 'हम विद्याधर थे और शाप के कारण मनुष्य बने।' बस 'उसके बाद तुम लोग केदारनाथ जाकर भगवान् शंकर का पूजन करोगे और वहीं तुम्हारा शरीर छूटकर तुम लोग पुनः विद्याधर बन जाओगे।' इस प्रकार ऋषियों ने शाप-मुक्ति का उपाय भी बता दिया।

ऋषियों का वचन तो सत्य होना ही हुआ। वे दोनों विद्याधर भाई यहाँ आकर मनुष्य जन्म में पैदा हुए। उनमें से एक उत्तर पुरु देश में पैदा हुआ। काश्मीर के आगे के देश को उत्तर पुरु देश कहते हैं। दूसरा दक्षिण में पैदा हुआ। छोटा भाई उत्तर पुरुदेश में पैदा हुआ, मनुष्य होने पर भी वह अच्छे लक्षण वाला था। बड़ा भाई नीचे के देशों में उत्पन्न हुआ जो काला-कलूटा,

भयंकर और जंगली था। उसका काम ही था पशुओं को मारना, मांस खाना, शराब पीना और अपने गाँव के लोगों को तरह-तरह से दुःख देना। उसने किसी प्रकार से ऐसा ढंग रचा कि अपने गाँव के राजा को एक रात मार डाला और खुद राजा बन गया। वह राजा इसके ऊपर भरोसा करता था। जो राजा बुद्धिमान् नहीं होता वह गुण्डों पर भरोसा करता है कि ये मेरी रक्षा करेंगे !

कलकत्ते में हमारे एक परिचित सज्जन हैं। वहाँ मार-पीट बहुत हुआ करती है। एक दिन हम उनके यहाँ भोजन करने गये हुए थे तो देखा कि चार आदमी उनके दरवाज़े पर बैठे हुए थे। उन्हें देखकर हमें अच्छा नहीं लगा। हमने उनसे पूछा कि 'फाटक पर कौन बैठे हुए हैं ? ये लोग कुछ दुष्ट प्रकृति के मालूम पड़ते हैं, तुम्हारा कोई नुकसान करने तो नहीं आये ?' कहने लगे कि 'आपकी बात तो ठीक है, ये यहाँ के गुण्डे हैं। हमने इन्हें अपना चौकीदार बना रखा है। आजकल कलकत्ते में गुण्डागर्दी हो रही है, इसलिये हमने सोचा कि ये ही उनसे निपट सकते हैं।' हमने कहा—भले आदमी ! दुष्ट प्रकृति के लोग तो फाटक के बाहर भी बुरे और तुमने उन्हें अन्दर बिठा लिया ! वे कहने लगे 'यह कलकत्ते का मामला है, यहाँ ऐसे ही व्यवहार चलता है।' हम चुप हो गये क्योंकि आजकल लोगों को यदि शास्त्र की बात बताते हैं तो लोग कहते हैं कि ये शास्त्र पुराने हैं। थोड़े दिन पहले यहाँ बड़े दुःखी होकर आये हुए थे। हमने पूछा—क्या हो गया ? तब पता लगा कि जिनको उन्होंने नौकर रखा था, वे उनसे बार-बार माँग करते थे। एक दिन ये बाहर गये हुए थे तो उन लोगों ने जाकर दरवाजा खटखटाया और घर में घुसकर वहाँ जितनी

लड़कियाँ और बहुएँ थीं, उन सबके गहने भी ले लिये और उनके साथ दुर्व्यवहार भी कर गये। धन भी गया, गहने भी सारे गये और इज़्ज़त भी गयी। यहाँ आये तो बड़े दुःखी थे, कहने लगे कि 'अब कलकत्ता छोड़कर दिल्ली आकर रहेंगे।' हमने पूछा कि–वे वही तो नहीं थे जो हमारे वहाँ जाने पर बैठे हुए थे ? सिर पीट कर कहने लगे–'हाँ स्वामी जी, यह सब उनका ही तो कराया हुआ है।' फिर याद भी आ गया, बोले 'आपने कहा भी था कि ये दुष्ट प्रकृति के मालूम पड़ते हैं।' हमने कहा कि तुमने उस समय कहा था कि कलकत्ते का मामला कुछ और है। हम लोग यह मानते हैं कि सज्जन पुरुष की दुश्मनी भी अच्छी और दुष्ट पुरुष की मित्रता भी खोटी। दुष्ट पुरुष मित्र बनकर भी कुछ न कुछ नुकसान ही करेगा और सज्जन पुरुष दुष्टता भी करेगा तो कोई न कोई फ़ायदा ही पहुँचायेगा। जिसे रक्षक बनाया था, वही राक्षस हो गया।

राजा ने यह सोचकर कि यह यहाँ बहुत ही ज़्यादा दुष्टता करने वाला है, उसको और अच्छा पद दे दिया कि 'यह हमारे हाथ में रहेगा।' लेकिन उसने सोचा कि हाथ में रहने से क्या फ़ायदा? इसलिये रात में ही उसने उस राजा को मार डाला और खुद राजा बन गया। फिर उसने घोर अत्याचार प्रारम्भ किया। उस अत्याचार से वहाँ की जनता पीडित हो गई, वहाँ से भागने लगी। जनता उत्तर की तरफ भागी तो वह भी उनके पीछे-पीछे भागने लगा। यह केवल पुराने ज़माने में ही नहीं होता था, आज भी यही होता है : कोई बेचारा इंजीनियर या डाक्टर जिसे यहाँ नौकरी नहीं मिलती, कमाई का मौका भी नहीं मिलता, वह कहता

है कि 'विदेश में नौकरी मिल रही है, वहाँ चला जाऊँ' तो सरकार कहती है कि 'यह कैसे हो सकता है ? 'ब्रेन ड्रेन' (Brain-drain) हो जायेगा, वहाँ कैसे जा सकते हो ? देश की उन्नति में सहयोग क्यों नहीं करते ?' यहाँ काम नहीं देंगे, बाहर जाने नहीं देंगे। वह यहाँ करे क्या—इससे कोई मतलब नहीं है। इसी प्रकार वह भी अपनी जनता के पीछे भागने लगा कि 'ये हमारी प्रजा हैं, हम इनको पीडा दे रहे हैं, तो ये हमारे हाथ से क़ैसे छूट जायें ? पकड़ कर लायेंगे।' भागते-भागते उनमें से कुछ लोग उत्तर पुरु में पहुँच गये। वह भी वहाँ पहुँचा। जैसे-जैसे वह उत्तर पुरु के वातावरण में जाता गया, वैसे-वैसे उसके मन में शान्ति आती गई, क्योंकि देश-काल का भी प्रभाव पड़ता है।

म्लेच्छ देश के अन्दर अच्छा आदमी भी जाता है तो उसकी बुद्धि में भी म्लेच्छ-प्रवृत्ति हो जाती है। लगता है कि इसी दृष्टि से प्राचीन ऋषि लोग कहा करते थे कि भारत से बाहर न जाओ; उसका यही कारण था कि वहाँ के वातावरण के प्रभाव से तुम्हारी बुद्धि भी प्रवृत्त हो जायेगी। जो आदमी कभी प्याज खाने वाला न हो और कभी अमृतसर जैसे देश में पहुँच जाये तो वहाँ पड़ोसी कहेंगे कि 'तुम प्याज क्यों नहीं खाते ? गर्मी में इससे लू नहीं लगती।' दूसरा कहेगा 'तुमने वैद्यक की किताबें नहीं पढ़ीं ? प्याज के बड़े फ़ायदे हैं।' तीसरा कहेगा कि 'पेट में वायु इसलिये होती है कि तुम प्याज नहीं खाते।' दोस्त के घर जायेगा तो सभी साग-सब्जियों में उसे प्याज मिलेगा। एक दिन सोचेगा 'ये सब कहते हैं तो इतनी बुरी चीज़ थोड़े ही होगी, खा ही लो !' देश का प्रभाव आयेगा। यदि कहीं पंजाब का रहने वाला राजस्थान

के किसी छोटे-से गाँव में पहुँच जाये तो वहाँ प्याज खायेगा; पड़ोसी कहेंगे 'आप सवेरे-सवेरे क्या करते हो ? आपके घर से बड़ी बदबू आती है।' कहेगा 'प्याज बनाता हूँ।' वे कहेंगे 'अच्छा, आप प्याज खाते हैं!' दोस्त से बात-चीत करेगा तो वह कहेगा 'तेरे मुँह में पायरिया हो गया है।' तुम कहोगे 'नहीं, प्याज खाता हूँ।' वह कहेगा 'अच्छा, तू प्याज खाता है !' छह महीने के अन्दर देखोगे कि उसका भी प्याज खाना छूट जायेगा। यह देश का प्रभाव है। जैसा वातावरण होगा, उसका प्रभाव आयेगा। चांदनी चौक में जाकर बैठो तो हर आदमी कहेगा कि धर्म से कभी काम नहीं चल सकता, बिना चोर-बाजारी के कैसे काम चल सकता है ? अड़ोसी-पड़ोसी सब यही उपदेश करेंगे। अंत में सोचोगे कि करके देख लो कि क्या होता है। यह देश का प्रभाव है।

जैसे-जैसे वह राक्षस उत्तर दिशा की ओर जाता गया, वैसे-वैसे उसके चित्त में शान्ति आती गई। जब उत्तर पुरु में पहुँचा तब तक उसका चित्त बड़ा शान्त हो गया था। जो लोग भाग रहे थे, उन्होंने उसके भाई के घर आश्रयण लिया। यह भी वहाँ पहुँचा तो लड़ाई-झगड़ा नहीं किया, सीधा ही कहा कि 'यह मेरी प्रजा है, इन्हें छोड़ दो।' उसके भाई ने पूछा कि 'आप राजा हैं ?' उसने कहा 'मैं इनका राजा हूँ।' भाई ने ऊपर से नीचे देखकर कहा कि 'आप में राजा जैसे लक्षण तो दिखाई नहीं देते। सामुद्रिक शास्त्र में राजा के लक्षण लिखे हैं। कान छोटे-छोटे हैं, नाक भी बैठी हुई है, ठोढ़ी अन्दर गई हुई है, दाँत भी बाहर की तरफ निकले हैं, ये राजा के लक्षण नहीं हैं, इसलिये तुम राजा कैसे हो गये ? पहले यह प्रमाणित करो।' वह ठण्डा पड़ गया, कहा, 'पहले मैं राजा

नहीं था, लेकिन बाद में अपने राजा को मारकर बाहुबल से राजा बना हूँ।' उसने कहा—'फिर अपने को राजा क्यों कहते हो ?' अपने बाहुबल से राजा बने हो तो बाहुबल से ही राज्य भी करते हो ?' उसने कहा, 'ऐसे ही करता हूँ।' कहा 'फिर राजा कैसे हुए? क्योंकि राजा का मतलब होता है जो प्रजा को रिझा दे 'रंजनात् राजा' जिससे प्रजा का मन फिर जाये। बाहुबल या फौजों से शत्रुओं को जीता जाता है। शत्रुओं को जीतने की विधि और है, अपनी प्रजा से व्यवहार करने की विधि और है। शत्रुओं के सामने बाहुबल प्रकट किया जाता है, अपनी प्रजा के सामने प्रेम प्रकट किया जाता है।'

जब समाजपुरुष जीवित नहीं रहता तब क्या होता है ? जो विदेशी हैं उनके सामने तो बाहुबल प्रकट न करके खीसें निपोरते जाते हैं, प्रेम प्रकट किया जाता है, वहाँ अहिंसा का उपदेश दिया जाता है। अपनी प्रजा पर गोलियाँ चलाई जाती हैं, अश्रुबम छोड़े जाते हैं ! अगर विदेशी आ जायें तो उन्हें लाखों-करोड़ों रुपये दिये जाते हैं कि 'ये बेचारे गरीब राज्य के हैं', और अपने देश के आदमियों से धन लूटा जाता है क्योंकि ये हमारे हैं ! इनके पास धन हो जाये तो बड़ी बुरी बात है, कैसे हो गया ? अपनी प्रजा को भिड़ाते रहते हैं। राजा को भेद-नीति का प्रयोग कहाँ करना चाहिये ? विदेशियों के साथ ही भेद-नीति का प्रयोग करना चाहिये। लेकिन जहाँ समाजपुरुष नहीं रहता वहाँ आपसी लोगों को भिड़ाते रहेंगे, विदेशियों के सामने वह भेद-नीति नहीं चलने वाली है। राजा वह है जो विरोधियों के सामने बाहुबल प्रकट करे। जब तक 'पार्टी' की प्रधानता है तब तक देश की प्रधानता नहीं

हो सकती। पार्टी और देश दोनों का विरोध है। दूसरी पार्टी का उत्तम व्यक्ति भी निकृष्ट ही रहेगा। आज हमारे देश के अच्छे या बुरे आदमी देश के नहीं, पार्टी के आदमी रह गये हैं। वह पार्टी ही उनका देश है और उसी के प्रति भक्ति का नाम भी राष्ट्रभक्ति है। पार्टी का कल्लू भी श्रेष्ठ है और जो पार्टी का नहीं है, वह चाहे बड़े से बड़ा विद्वान् हो, देशद्रोही है ! अगर हमारी पार्टी की नीति को मानने वाला है तो श्रेष्ठ पुरुष है, नहीं तो अश्रेष्ठ है, इसलिये राष्ट्रवादी नहीं रह सकता। हमारे यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अलग 'पार्टियाँ' नहीं हैं, एक समाजपुरुष है।

यही बात छोटे भाई ने बड़े भाई से कही। अभी उसे पता नहीं था कि वह बड़ा भाई है। 'तुमने बाहुबल से राज्य लिया है, इसलिये उसी का प्रयोग करते हो, राजा नहीं बन पाये हो। राजा बनते तो जनता तुमसे दूर क्यों भागती !' बड़ा भाई रात्रि में सोया तो स्वप्न में देखा कि 'जिसके घर मैं ठहरा हुआ हूँ, वह मेरा भाई है।' छोटे ने भी यही स्वप्न देखा। सवेरे उठकर दोनों ने एक-दूसरे को छाती से चिपका लिया। सारा इतिहास स्मरण आया, वहाँ से चलकर केदारधाम गये। दोनों ने बड़े प्रेम से भगवान् शंकर का पूजन किया और पुनः अपने विद्याधररूप को प्राप्त हो गये।

दृष्टांत में दो विद्याधरों की जगह एक परमात्मा की परा प्रकृति जीवरूप और दूसरी परमात्मा की अपरा प्रकृति समाज-रूप है। इनमें जीव बड़ा और समाज छोटा है। जीव चेतन है, इसलिये बड़ा है। यहाँ प्रजापति जीव समझना, बाकी जीव जो दिखाई देते हैं, जो समाज के अंग हैं वे जीवाभास हैं, जीव नहीं हैं। शरीर के अन्दर तुम्हारे रक्त के एक-एक कण में जीवन दिखाई देता

है, शरीर की एक-एक कोषा के अन्दर भी जीवन है, अलग निकाल कर रख दो तो जीवित भी रहते हैं, लेकिन वस्तुतः उनका अपना जीवन नहीं है। जीव के कारण ही सारे शरीर वाले हैं, उसी से उन सबका पोषण है। जीव के कारण ही कोषा भी जीवित है और थोड़े समय के लिये रक्त निकालने पर भी जीवित रहता है। उसी प्रकार जो एक अखण्ड प्रजापति सारे समाजपुरुष के अन्दर है, वह जीव है, बाकी अंग जीवाभास हैं। इसलिये जीव ही बड़ा है। समाज की जगह शरीर है। शरीर की अपेक्षा शरीर का अधिष्ठाता हमेशा बड़ा रहेगा। ये दोनों यहाँ आकर ऋषियों की लड़कियों को नंगा देखने लगे : ऋषि कौन हैं ? इसी यजुर्वेद संहिता में बताया है 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रक्षन्ति' दो आँखें, दो कान, दो नाक और मुख—ये सप्त इन्द्रिय-स्थान ही सप्तऋषि हैं। ये सारे रक्षा करने वाले हैं। जीव का काम तो था कि इस शरीर में रहकर इन्द्रियों के साथ उत्तम व्यवहार करता, लेकिन यह बड़ा भाई होते हुए भी ऋषियों की लड़कियों अर्थात् वृत्तियों को देखने में लग गया। आँख से देखने की, कान से सुनने की इत्यादि वृत्तियों को देखने लगा। इसलिये इसे शाप लगा कि 'तुम गिर जाओगे। तुम अपने प्रजापति-रूप से गिर जाओ, क्योंकि तुम प्रजापति रहने के योग्य नहीं हो।' गिरा; तो जीव को राक्षस योनि की प्राप्ति हुई। वेद कहता है कि रक्षा करने का काम जीव का है, बेचारी इन्द्रियों का क्या दोष है ! किसी आदमी ने वेश्या को देखा तो गुस्से में अपनी आँख फोड़ ली ! देखा तो खुद लेकिन अपने को नहीं फोड़ा; बेचारी आँख का क्या कसूर है ? वेदांती ऐसा नहीं कर सकता। इसी प्रकार यहाँ परमात्मा ने जीव को रक्षण का

अधिकार दिया, इसलिये जीव बड़ा होने के कारण रक्षा न करने से राक्षस हो गया। वह राक्षस बना हुआ हर चीज़ पर अपना अधिकार जमाता है। संसार की चीज़ें अपनी नहीं हैं, समाजपुरुष की हैं लेकिन वह अपना अधिकार जमा लेता है। इसलिये सुखी नहीं हो पाता क्योंकि वृत्ति इधर-उधर दौड़ती है। अंततोगत्वा जब वह अपने छोटे भाई समाजपुरुष को देखता है तब स्मृति आती है। उत्तर की ओर जाना अर्थात् धीरे-धीरे जैसे-जैसे जीव में मनन और विचार जाग्रत् होता है, वैसे-वैसे ही समझ ठीक हो पाती है। अंत में समाजपुरुष का दर्शन करता है कि 'ब्राह्मणोस्य मुखम् आसीत् बाहूराजन्यः कृतः।' इस समाजपुरुष का दर्शन करने पर इसे स्मृति आती है कि 'मैं तो इसका भाई हूँ।' जब समाजपुरुष की और अपनी एकता देखता है तब पुनः विद्याधर पद को प्राप्त हो जाता है, पुनः प्रजापति बन जाता है।

इस कथा के द्वारा बताया कि जब जीव समाजपुरुष को देखने पर उस समाज के अंग-प्रत्यंग में अपने को ही देखता है, तब पुनः अपने स्वरूप में स्थित होता है। पहले दवाई को जानो; वेद ही वह दवाई है और मंत्र के द्रष्टा नारायण ऋषि ही वैद्य हैं। जो इन बातों को जानता है, वह इस संसाररूप महाव्याधि को हटा लेता है। जब तक इस रूप को नहीं देख पाता, तब तक परिच्छिन्न भाव से नहीं हट पाता।

प्रवचन-५६

नारायण ऋषि ने परमात्मा का, ब्रह्माण्ड का, ब्रह्माण्ड के प्रवर्तन का, ब्रह्माण्ड के अंगों के सम्बन्धों का पुरुषरूप से वर्णन किया। उन अंगों को आपस में मिलकर एक उद्देश्य से प्रवृत्ति करनी है। भीड़-भाड़ में से समाज को विकसित करना है इसीलिये समाज की पुरुषविधता का वर्णन श्रुति करती है। पहले पदार्थ केवल एकत्र होते हैं। पदार्थों के संघटन के लिये विचार की आवश्यकता है। पदार्थों के एकत्र होने में केवल देश और काल की अपेक्षा है। कहीं से भी चीज़ें उड़कर आकर इकट्ठी हो जाती हैं। थोड़े दिन यदि कमरे में झाड़ू नहीं दो तो कहीं से धूल, कहीं से कबूतर के पंख उड़कर आ जायेंगे, कहीं से रूई आकर इकट्ठी हो जायेगी। इस प्रकार अनेक चीज़ें उड़-उड़कर इकट्ठी हो जाती हैं। इसका नाम 'इकट्ठा होना' है, यह संघटन नहीं है। जब घर बसाते हो तब एक बेलन, एक चकला, एक तवा, दो बटलोई, दो टोपिये, एक प्रेशर कुकर, अंगीठी इत्यादि बटोरते हो। ये सब चीज़ें देखने में एक-दूसरे से सर्वथा अलग-अलग हैं। जैसे कबूतर के पंख, धूल, बाल इत्यादि में कोई सम्बन्ध नज़र नहीं आता है, बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें हैं, उसी प्रकर घर के सारे सामान में भी कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई लोहे का, कोई मिट्टी का और कोई पीतल का है। जैसे इकट्ठी हुई चीज़ों के अन्दर भेद है, वैसे ही संघटित की हुई चीज़ों के अन्दर भी आपस में एक दूसरे से उतना ही भेद है। लेकिन फर्क इसको लेकर है कि संघटित पदार्थों के अन्दर

मिलकर किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रवृत्ति होती है और इकट्ठी हुई चीज़ों में एकत्र होकर कोई एक प्रयोजन सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं होती। समाज तब बनता है जब एक प्रयोजन, एक उद्देश्य निर्णीत हो जाये। जहाँ उद्देश्य की समानता नहीं होती, वहाँ चाहे जितने तरह-तरह के लोग इकट्ठे हो जायें, वह समाज नहीं बनता। चाहे दो ही व्यक्ति हों लेकिन एक उद्देश्य से प्रवृत्ति करें तो समाज बन जाता है।

समाज का सबसे प्रथम और मूल घटक क्या है ? द्रव्य का मूल घटक क्या है ? द्रव्य को तोड़ते-तोड़ते अंत में वह कौन-सी चीज़ है जिसके आगे द्रव्य नहीं रहेगा ? वही परमाणु हैं। परमाणुओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से एकत्रित करके ही द्रव्य का निर्माण होता है। द्रव्य की दृष्टि से परमाणु उसके अंतिम घटक हैं। वैसे ही समाज का अंतिम घटक पति और पत्नी हैं। समाज तब प्रारम्भ होता है जब सबसे पहले पति और पत्नी का निर्माण हो, नहीं तो समाज नहीं बनता। गृहस्थ शब्द का प्रयोग लोग प्रायः करते हैं, यह गृहस्थ ही समाज का मूल परमाणु अथवा मूल घटक है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ सृष्टि का प्रारंभ बताया, वहाँ यही कहा कि जब उस प्रजापति ने सृष्टि करने का संकल्प किया तब वह स्वयं बीच से टूट गया और मनु-शतरूपा इन दो रूपों को उसने धारण कर लिया। गृहस्थ मूल घटक है। बहुत-से लोग गृहस्थ का मतलब 'घर में रहने वाले' समझते हैं। वैदिक को हँसी आती है क्योंकि घर में तो ब्रह्मचारी भी रहेगा, वह कोई पेड़ के नीचे थोड़े ही रहेगा; एक-दो दिन रह जाये, यह दूसरी बात है। घर चाहे पत्ते का बनाओ, जैसे कोल, भील पत्तों के घरों में रहते हैं, तो

भी है घर ही। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी भी गृह में रहेगा। संन्यासी भी किसी घर में ही रहेगा। फिर गृहस्थ शब्द का प्रयोग क्यों ? शास्त्रों में बताया है 'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहम् उच्यते।' गृहस्थ शब्द में गृह पद ईंट-पत्थरी की दीवालों का नाम नहीं है। गृहस्थ में गृह का मतलब गृहिणी अर्थात् पत्नी है। बिना पत्नी के गृहस्थ नहीं होता। इसलिये गृहस्थ गृहिणी के साथ होता है। केवल गृहिणी भी गृहस्थ नहीं, गृहिणी के साथ गृही भी होना पड़ेगा।

पति और पत्नी का क्या मतलब है ? बहुत-से लोग समझते हैं कि बच्चों के प्रति जो दोनों कारण हों, वे पति-पत्नी हो गये! लेकिन शास्त्र में पति-पत्नी का अर्थ यह नहीं है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'—'पत्नी' शब्द के अंदर नकार यज्ञसंयोग को बताता है। अर्थात् 'परमात्म-प्राप्ति के लिये हम दोनों मिलकर प्रयत्न करेंगे', इस व्रत को लेकर जिन स्त्री-पुरुष ने अपने जीवन का एक उद्देश्य बनाया, वे पति-पत्नी हैं। हम वैदिकों की दृष्टि से चाहे तुम एक सौ आठ बच्चे पैदा कर लो, यदि यज्ञ के लिये संयुक्त नहीं हुए तो तुम पति-पत्नी नहीं। बच्चे तो पशु-पक्षियों के भी पैदा हो जाते हैं, उससे उनका नाम पति-पत्नी नहीं होता।

शास्त्रकारों ने यहाँ तक विचार किया है कि शूद्रों के अन्दर भी पति-पत्नी शब्द का प्रयोग ठीक है या नहीं ? जो व्यक्ति हमेशा शोक-मोह में पड़ा रहे वह कभी परमात्मा की तरफ नहीं जाता। यह बात याद रखना; बहुत से लोग समझते हैं कि दुःख से मनुष्य परमात्मा की तरफ जाता है। वह दुःख को दूर करने के लिये परमात्मा की तरफ जाता है, परमात्मा के लिये नहीं जाता।

इसीलिये वह दुःख दूर होते ही परमात्मा को भी अलविदा कर देता है ! शोक वाला व्यक्ति परमात्मा की तरफ नहीं जाता, क्योंकि वह तो रात-दिन दुःख हटाने की ही सोचता रहता है। जानश्रुति राजा क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने पर भी रैक्व के द्वारा 'अरे ! शूद्र' करके बुलाये गये। ब्रह्मसूत्र में विचार आया कि जानश्रुति राजा को शूद्र कैसे कह दिया ? व्यास जी कहते हैं कि उसको शोक हो रहा था इसलिये जानश्रुति ने कहा कि 'तू कोई क्षत्रिय राजा है जो शोक कर रहा है !' जैसे भगवान् ने गीता में अर्जुन को कहा, 'तू हीजड़ा है।' अर्जुन नपुंसक थोड़े ही था, लेकिन इतनी बड़ी फौज को देखकर बोला 'लड़ाई नहीं करूँगा', इसलिये उसके भय और कम्प को देखकर भगवान् ने उसे क्लीब कह दिया। क्षत्रिय लोग युद्ध प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हैं। 'धर्म, गौ, ब्राह्मण की रक्षा के लिये आज हमारे प्राण जायेंगे' इसे सोचकर ही क्षत्रिय प्रसन्न हो जाता है, उसे प्राण जाने की प्रसन्नता है। 'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशं' युद्ध को देखकर क्षत्रिय तो सुखी हुआ करता है। 'अरे अर्जुन ! आज युद्ध के मैदान में तुझे सुख न होकर दुःख हो रहा है इसलिये तू भी कोई क्षत्रिय है ?' इसी प्रकार जानश्रुति को शोकमग्न देखकर उसे भी शूद्र कह दिया।

शास्त्र में विचार आया कि शूद्र अर्थात् जो शोक में पड़ा हुआ है वह *परमात्मा के लिये* विवाह नहीं करता, अपने शोक को दूर करने के लिये विवाह करता है। शोक कई तरह का होता है। अकेलापन सहन नहीं हुआ तो, या घर में रोटी बनाने वाला नहीं है तो ब्याह कर लेंगे, परमात्म-प्राप्ति के लिये नहीं करते। अथवा आजकल के ज़माने में कोई लड़की बहुत बढ़िया दहेज लाती है

तो ब्याह कर लेते हैं; यह भी धन-प्राप्ति के लिये ही है, परमात्म-प्राप्ति के लिये नहीं। अथवा पद-प्राप्ति के लिये भी ब्याह कर लेते हैं जब कोई बड़ा अफसर कहता है कि 'मेरी लड़की से ब्याह करोगे तो यह पद दे दूँगा।' कई लोग और भी निम्न होते हैं जो चमड़ी और मांस को देखकर ब्याह कर लेते हैं ! आजकल ब्याह के लिये लोग सुन्दर चेहरा देखते हैं कि इसकी चमड़ी और मांस कैसा है। विवाह के कई तरह के उद्देश्य हो सकते हैं। बहुत-से लोग अपने दोस्तों के साथ घूमने के लिये भी एक बीवी ले आते हैं ! कहते भी हैं कि 'बाहर जाने के लिये बीवी ले आयें।' एक लड़के ने ब्याह के लिये एक लड़की को देखा तो कहा 'इसे 'सोशल' बनना नहीं आता।' हमने कहा कि हम उनके घर एक बार गये थे। यह बहुत बढ़िया मिठाई और नमकीन बना लेती है, तुम कैसे कहते हो कि इसे 'सोशल' बनना नहीं आता ? वह बोला 'भोजन बनाकर खिलाना नहीं आता, यह बात नहीं है, लोगों से बातचीत करना नहीं आता।' हमने कहा गजब हो गया, तू लोगों से बात करने के लिये कोई प्राइवेट सेक्रेटरी रख रहा है या घर के अन्दर पत्नी ला रहा है? तब से हमारी समझ में एक नई बात आई कि बहुत से लोग इसलिये विवाह करते हैं कि प्राइवेट सेक्रेटरी रखेंगे तो ८०० रुपये महीना लेगी और घर वाली दो सौ रुपये में ही काम चला लेगी ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोभों से लोग विवाह करते हैं।

शास्त्रकारों ने कहा कि ऐसों के लिये पत्नी शब्द का प्रयोग मत करो, वहाँ 'भार्या' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। जिसका भरण-पोषण करना तुम्हारा धर्म हो, वह भार्या है। पत्नी शब्द का

प्रयोग तो वहीं होगा जहाँ परमात्म-प्राप्ति के लिये दोनों का संयोग होता है। व्याकरण शास्त्र कहता है कि जहाँ दूसरी जगह ऐसा प्रयोग देखने में आता है, वहाँ केवल लक्षणा से प्रयोग है। जैसे कपोत शब्द से स्त्रीलिंग वाचक प्रत्यय लगाने पर कपोती शब्द बनता है, उसका अर्थ 'कपोतपत्नी' कह देते हैं, लेकिन उनमें *पत्नी* थोड़े ही होती है ! उनका कोई विवाह आदि नहीं होता। कुछ समानता देखने में आती है : जैसे घर में पुरुष-स्त्री साथ-साथ रहते हैं, ऐसे ही कपोत और कपोती साथ रहते हैं, अतः लक्षणा से उसे पत्नी कह दिया जाता है। बहुत-से शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग होता है। आजकल का एक लाक्षणिक प्रयोग बतायें : आदमी कहता है कि 'मैं शाकाहारी हूँ।' थोड़ी देर बाद देखे तो वह दूध पी रहा है ! उससे पूछो कि तुम अभी तो कहते थे कि शाकाहारी हूँ, फिर दूध कैसे पी रहे हो, दूध कोई शाक थोड़े ही है, या किसी पेड़ से थोड़े ही पैदा होता है ? लेकिन जैसे शाक-सब्जी तोड़ने में पेड़-पौधों को दुःख नहीं होता है, वैसे ही गाय को दुहने से दुःख नहीं होता, इसलिये 'दुःख न होने' की समानता को लेकर दूध पीने वाले को भी शाकाहारी कहते हैं। यह लाक्षणिक प्रयोग है। वैसे ही यज्ञ के लिये, परमात्म-प्राप्ति के लिये एकत्रित हुए पति-पत्नी से जैसे पुत्र पैदा होता है, जैसे वे एक-दूसरे की और घर की रक्षा करते हैं, वैसे ही जब दूसरे परमात्म-प्राप्ति का उद्देश्य न होने पर भी साथ रहते हैं, तब उन्हें लक्षणा से पति-पत्नी कहा जाता है, वे सचमुच पति-पत्नी नहीं हैं। जो स्त्री-पुरुष परमात्म-प्राप्ति के लिये यथाविधि एकत्रित होते हैं, उन्हीं का नाम पति-पत्नी होता है। वस्तुतः हमारे यहाँ विवाह अग्निहोत्र के लिये

है। अग्निहोत्र तभी कर सकते हो जब पत्नी हो, क्योंकि पत्नी उसका अंग है। स्वतंत्र-रूप से पति-पत्नी का सम्बन्ध हम नहीं मानते, अग्निहोत्र के अंग-रूप से उनका सम्बन्ध है। जैसे ही पत्नी मरी, वैसे ही अग्निहोत्र का अधिकार खत्म हो गया। विधुर और विधवा अग्निहोत्र नहीं कर सकते।

समाज का अंतिम अणु गृहस्थ है। इसको यदि तोड़ दिया तो समाज नहीं बन सकता। हमसे लोग कई बार पूछते हैं कि 'आजकल संन्यासी-समाज क्या करता है ?' तो हमको हँसी आती है क्योंकि संन्यासी और समाज दोनों एक साथ कैसे ? संन्यासी का मतलब ही है जो समाज के सारे बंधनों को तोड़ दे, काट दे, तब संन्यासी बनता है। उसका तो सिवाय परमात्मा के और किसी के साथ कोई सम्बन्ध होता ही नहीं। सारे सम्बन्धों को तोड़ दिया, देश, राष्ट्र इत्यादि से सम्बन्ध भी उसकी दृष्टि में कुछ नहीं है। जिस मानवता के नाम पर लोग हल्ला मचाते हैं, वह भी उसकी दृष्टि में कुछ नहीं है। सारी मानव जाति और सारी पृथ्वी उसके सामने धू-धू कर जले तो वह हँसता रहेगा और दिल से हँसेगा क्योंकि वह तो पहले ही कह रहा है कि यह सारा जगत् दृष्ट-नष्टस्वभाव है। यह इतनी देर तक दीखता रहता है, यही बड़ा आश्चर्य है। इसका दीखना बन्द हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण के अन्दर सिवाय उस परमात्मा के और किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध देखता ही नहीं। बाकी सम्बन्ध उसमें प्रतीत होते हैं, वास्तव में नहीं हैं। भाषा के किसी कवि ने भी कहा है 'नहिं संतों की पाँत' सिंह कभी समाज या टोला बनाकर नहीं रहते, सन्तों की जमात नहीं होती। कहोगे

कि महात्मा साथ तो रहते हैं ? जैसे साथ रहने मात्र से 'पति-पत्नी' शब्दों का प्रयोग नहीं, जैसे घर में रहने मात्र से 'गृहस्थ' शब्द का प्रयोग नहीं, वैसे ही साथ रहने मात्र से समाज शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। संन्यासियों का आपस में सम्बन्ध नहीं, उन सबका सम्बन्ध केवल परमात्मा के साथ है। समुद्र में लहरें होती हैं, एक-दूसरे के पास-पास होती हैं, लेकिन उन लहरों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। बिल्कुल पास-पास भी हैं, एक-दूसरे से भिड़ भी जाती हैं, फिर भी उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे सारी लहरें समुद्र से अभिन्न हैं। उसी प्रकार संन्यासियों का सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। जगत् के एक-एक कण और एक-एक क्षण को वे केवल एक शिव-समुद्र से अभिन्न जानते हैं। जैसे समुद्र की लहरें समुद्र से अभिन्न हैं, वैसे ही संन्यासी सारे जगत् को शिव से अभिन्न जानता है। भ्रम होता है कि इनका भी समाज है लेकिन वे सारे एक अखण्ड़ शिव से सम्बन्धित हैं, एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं हैं। जहाँ एक-दूसरे से सम्बन्ध करोगे, वहाँ राग-द्वेष का अंकुर फूट जायेगा। सच्ची बात तो यह है कि वस्तुतः किन्हीं दो जीवों का आपस में सम्बन्ध नहीं है ! संन्यासी इस बात को जानता है, दूसरे नहीं जानते। दूसरों के यहाँ कोई मरता है तो लोग रोते हैं, क्योंकि आपस का सम्बन्ध समझते हैं। संन्यासियों में कोई मरता है तो लोग प्रसन्न होकर कहते हैं कि अब भण्डारा होगा, समष्टि भण्डारे में दो मिठाईयाँ बनेंगी ! यह संन्यासी का समाज हुआ। दूसरे कहेंगे कि इनका दिल ही नहीं है। अरे ! बहुत उदार दिल है। जो मरा आज तक उसके अन्दर कुछ न कुछ व्यक्तित्व था, व्यक्तिनिष्ठा थी। इसलिये उसके कपड़े,

किताबें आदि तो उसी की थीं, कुछ रुपये आदि भी उसी के थे। व्यष्टि-निष्ठता थी। आज वह समष्टि में लीन हो गया, ब्रह्मलीन हो गया, प्रारब्ध के कारण जो थोड़ा परिच्छिन्नभाव इसमें प्रतीत होता था, वह खत्म हो गया, आज इसका सब कुछ समष्टि का हो गया। इसलिये समष्टि-भण्डारा प्रसन्नता की बात है। संसार में दूसरे लोग जन्म से प्रसन्न होते हैं, संन्यासी मृत्यु से प्रसन्न होता है। दूसरे समझते हैं कि गुरु जी चले गये, संन्यासी समझता है कि गुरु जी ब्रह्म ही हो गये, कण-कण और क्षण-क्षण में व्याप्त हो गये। इसीलिये संन्यासी-समाज शब्द का प्रयोग तो होता है, वास्तव में उनका समाज नहीं है।

पति और पत्नी समाज का अंतिम अंग अर्थात् टुकड़ा है। वैदिक दृष्टि का समाज तब घटित होता है जब वह समाज परमात्म-प्राप्ति की प्रवृत्ति के लिये संगठित हो। जहाँ परमात्म-प्राप्ति उद्देश्य नहीं है, वहाँ समाज नहीं है। वह समाज का आभास तो है, लोगों को लगता है कि समाज है, लेकिन समाज है नहीं। कहोगे—यदि किसी भी उद्देश्य को लेकर चलते हों तो उसी से समाज का निर्माण हो जाता है, केवल परमात्मा को ही सामने क्यों रखा जाये ? लेकिन एक परमात्मा को छोड़कर, यज्ञ को छोड़कर और कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसके अन्दर समाज वस्तुतः घटित हो सके। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अपना स्वार्थ निहित होता है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्वार्थ का बीज है। वह सब चीज़ें अपने लिये चाहता है। बातें वह

बड़ी-बड़ी करेगा। लेकिन जितनी बातें करेगा, यदि उसकी तह में जाकर देखो तो प्रत्येक में किसी न किसी प्रकार का स्वार्थ है। शरीर का स्वार्थ हो, मन का स्वार्थ हो, बुद्धि का स्वार्थ हो, यहाँ तक कि मेरा मोक्ष हो जाये—यह स्वार्थ हो, मुझे परमात्म-प्राप्ति हो जाये—यह स्वार्थ हो, सब का स्वार्थ है। जब सब अपने स्वार्थ को देखेंगे तब इकट्ठे होने पर भीड़-भाड़ होगी, समाज नहीं होगा। समाज तब बने जब प्रत्येक व्यक्ति सारे समाज का जो उद्देश्य है, उसको पूरा करने के लिये और समाज के कल्याण के लिये अपने स्वार्थ की आहुति दे, अर्थात् अपने स्वार्थ का हनन कर दे।

आप लोगों को क्या शिक्षा दिलाते हैं ? बढ़िया-बढ़िया खाने की चीजें जैसे बासमती का चावल, नाम सुनते ही मुँह में पानी् आ जाये, जौ, बढ़िया गाय का दूध जमाकर बिलोकर निकाला ताजा घी, ऐसे दुर्लभ पदार्थ जिन्हें खाकर तुम्हारा चित्त प्रसन्न हो जाता, उन सबको तुम्हारे देखते-देखते आग में फूँक देते हैं ! एक बार यहाँ हमसे एक सज्जन पूछने लगे कि 'इतनी जगह हवन होता है, बड़ी सामग्री फूँकी जाती है, इसमें आपका क्या विचार है ?' हमने कहा—बहुत अच्छा है। कहने लगे, 'ऐसी चीज़ें फूँकने से क्या फ़ायदा ?' हमने कहा—संन्यासी सब फूँकने को तैयार है। अरे ! जो चावल-जौ आदि नहीं फूँक पायेगा वह जब राष्ट्र पर आपत्ति आयेगी तब अपने प्रिय बच्चों और पत्नी को कैसे फूँक पायेगा ? आज लोग बढ़-बढ़कर बातें कहते हैं कि चीन आये

तो चढ़ाई कर देनी चाहिये, पाकिस्तान आये तो उसे खत्म कर देना चाहिये। उस भाषण देने वाले से कहो कि 'तुम्हारे तीन जवान बेटे हैं, उनको बंगला देश में काम करने को भेज दो' तो कहेगा कि यह मत कहिये। जो जौ नहीं फेंक सकेगा, वह प्रिय पुत्र को फेंक सकेगा ? हम तो तुम्हारे शरीर को किसी दिन ऐसे फिंकवाने को तैयार करना चाहते हैं। कह दें कि 'अमुक आदमी धर्म का और राष्ट्र का घातक है, इसी समय जाकर सिर काट कर ले आओ' तो अगला प्रश्न न करो। इसलिये पहले प्रिय अन्न चावल आदि को फिंकवा कर तुम्हारा परीक्षण करते हैं और अभ्यास करवाते हैं कि प्रिय पदार्थ का हवन कर सकते हो या नहीं। जब स्वार्थों का हवन करोगे तब समाज बनेगा। जिसको तुम अपने लिये समझते हो कि 'इससे मुझे सुख मिलेगा', उस पदार्थ की समाज के लिये आहुति करो। जब यह यज्ञ कर सकोगे, तब समाज बनेगा। जब यह सोचोगे कि 'मुझे इससे क्या मिला' तब वह भीड़-भाड़ है, इकट्ठे हुए लोग हैं, समाज नहीं है।

हमारे वैदिक शास्त्रों ने समाज का मूल यज्ञ माना। इसकी प्रथम शिक्षा पति-पत्नी को लेनी पड़ती है। बढ़िया आलू-गोभी का साग बना, दाल पतली बन गई जिसमें मसाले का छौंक अच्छा नहीं लगा। पति भोजन करता है। सात परत वाला घी का पुट दिया हुआ पंजाबी परोंठा पति खा रहा है। तीन बार साग ले चुका है। चौथी बार पूछता है 'साग है या नहीं ?' पत्नी कहती है कि 'बहुत है।' उसके परोसने का ढंग कैसा होता है ? टोपिये की

पेंदी पति की तरफ और मुँह अपनी तरफ रखती है, ताकि इन्हें पता न लग जाये कि साग खत्म हो गया ! उसको खिला देती है और बहुत प्रसन्न होती है कि आज का साग इन्हें पसन्द आया। पति काम पर चला गया तो पत्नी पतली दाल और मोटी रोटी, प्रेम से खाती हुई बार-बार सोचती है कि 'परसों फिर ऐसा ही साग बनाऊँगी, आज उनको बड़ा पसन्द आ गया था।' यह स्वार्थ-त्याग है। पति बाजार में जाता है। उसकी धोती फटी हुई है, घर वाली ने धोती में कारी लगाई हुई है; वहाँ जाकर सोचता है कि धोती खरीदनी है। लेकिन दुकान पर जाकर उसे एक नई बंधेज की साड़ी पसन्द आ गई, सोचता है, 'यह उसके लिये ठीक रहेगी। वह एक दिन कहती थी कि लाल रंग की साड़ी होती तो शादी-ब्याह में जाने के लिये अच्छा था।' साढ़े सात रुपये वहीं खर्च कर देता है। घर आता है तो घर वाली कहती है कि 'यह क्या किया, फटी तुम्हारी धोती थी ले आये साड़ी ?' कहता है 'दो दिन बाद फिर भुगतान आने वाला है, आज धोती वैसी अच्छी नहीं मिल रही थी।' यह पति-पत्नी का सम्बन्ध है।

उसकी जगह भार्याभाव हो तो भीड़-भड़क्का होने लगेगा। पति पूछता है, 'थोड़ा साग और है ?' कहती है 'लेना है तो दे दूँगी, देख लो, इतना ही है।' टोपिया दिखा देती है कि अन्दर कितना है। हम तो इसके एक कदम आगे वालों को जानते हैं। खीर पककर तैयार हुई। आधी खीर को पहले ही बर्तन में रखकर फ्रिज में ताला लगाकर बन्द कर दी क्योंकि शाम को पार्टी में साथिनें आने

वाली हैं, उनको खिलानी है। फ़र्क देख लो—जब यज्ञ के लिये एकत्रित होते हैं तब क्या होता है और जब स्वार्थ के लिये एकत्रित होते हैं तब क्या होता है। यह भीड़-भाड़ हुई, इसमें समाज नहीं बना। जब पति और पत्नी में यह भाव आ गया तब लेखा-जोखा आया, सब चीज़ें अलग हो गईं। यहाँ तक लोगों को जानते हैं जो कहते हैं कि हम अपनी पत्नी के साथ एक कमरे में नहीं सो सकते क्योंकि वह खुर्राटे लेती है, इसके साथ क्या सोना ! इसलिये अब भीड़-भाड़ रह गई है, समाज नहीं रह गया। जब पति-पत्नी के अन्दर समाज की शिक्षा नहीं तो आगे कहाँ से वह शिक्षा आयेगी? यदि धागा ही कमज़ोर है तो उससे कपड़ा बढ़िया और मजबूत कैसे बनेगा ? धागा मज़बूत होगा तब बढ़िया कपड़ा बनेगा। पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना कमज़ोर है कि थोड़ी-सी बात हुई कि दोनों तैयार हैं—वह बिस्तर बाँधकर पीहर जाने के लिये और साहब अटैचीकेस लेकर विदेश घूमने जाने के लिये तैयार बैठा है ! जहाँ का धागा ही इतना कमज़ोर हो गया, उससे सुन्दर और मज़बूत कपड़ा कहाँ से बनाओगे ?

समाज का अंतिम मूल घटक मनु-शतरूपा अर्थात् पति और पत्नी हैं। जो समाज-वर्णन श्रुति कर रही है वह यह कि समाज के अंगों को किस प्रकार एक-दूसरे से ऐसे गूँथ दिया जाये कि प्रत्येक अपने स्वार्थ को छोड़कर समष्टि के स्वार्थ की दृष्टि से कार्य करे। यही यज्ञ है। पति-पत्नी जिस दिन हो गये, उसी दिन से 'हम लोगों का' स्वार्थ होगा, तेरा-मेरा स्वार्थ नहीं रहेगा। उसी

तरह जब समाज एकत्रित हो जायेगा तब यह ब्राह्मण का, यह क्षत्रिय का, यह वैश्य का स्वार्थ नहीं रहेगा, बल्कि समाज-पुरुष का एक ही उद्देश्य होगा जिसकी पूर्ति के लिये प्रवृत्ति होगी। क्यों कहते हैं कि परमेश्वर ही वह उद्देश्य हो सकता है ? क्योंकि परमेश्वर अर्थात् समष्टि, वेदांत का परमात्मा, किसी दूसरी जगह नहीं बैठा हुआ है, किसी दूसरे देश-काल में नहीं बैठा हुआ है। प्रत्येक प्राणी के हृदय मे बैठा हुआ वह परमात्मा खेल रहा है। यहाँ 'प्रत्येक' शब्द पर ज़ोर है, क्योंकि मध्यकाल की संत-परंपरा ने इस 'प्रत्येक' को ठीक तरह से नहीं समझा। उसने 'प्रत्येक' का मतलब 'हर व्यक्ति' किया। यह बात ध्यान से समझने की है। व्यक्ति में नारायण है लेकिन जो उस व्यक्ति की सेवा करता है वह ईश्वर की सेवा नहीं कर रहा है। वह व्यक्ति को पकड़े हुए है। वेदांत के अन्दर समष्टि का नाम ईश्वर है। जब सारे समष्टि समाज के कल्याण के लिये कार्य किया जाता है, तब उसका नाम समष्टि के लिये किया हुआ यज्ञ है।

प्रत्येक का मतलब यदि एक-एक (अलग-अलग) करोगे तो वही हाल होगा जैसा हम एक दृष्टांत दिया करते हैं : एक आदमी ने अपने नौकर से कहा 'बैंक से सौ रुपये का चैक भुना कर सौ रुपये का नोट ले आ।' वह बैंक में चार घण्टे लगाकर वापिस आ गया। बोला 'बैंक वाले सौ रुपये का नोट नहीं देते।' मालिक को गुस्सा आया कि बैंक है या बनिये की दुकान है ! पूछा 'उन्होंने

क्या कहा ?' 'दस-दस के दस नोट या एक-एक के सौ नोट दे रहे थे।' मालिक ने कहा कि 'एक ही बात है, वही ले आता।' फिर जाकर बेचारा ले आया। थोड़े दिन बाद मालिक और मालकिन बैठकर बात कर रहे थे कि 'अपनी लड़की अट्ठाइस वर्ष की हो गई है, इसका ब्याह करना है। कोई अच्छा लड़का मिल जाये तो काम हो जाये।' नौकर भी सुन रहा था, कहने लगा 'मैं ले आऊँ ? कैसा लड़का चाहिये ?' उन्होंने कहा 'गोरा हो। लड़की अट्ठाइस की है तो लड़का बत्तीस का हो, पढ़ा-लिखा हो, अच्छे कुल का हो।' उसने कहा 'मैं कोशिश करके ले आता हूँ।' दूसरे दिन आकर कहा 'लड़का मिल गया, तैयारी करो।' मालिक और मालकिन बड़े खुश हो गये। कहने लगा 'बड़ा गोरा सुन्दर है। अच्छे कुल का है। पढ़ा-लिखा भी है। शांत है और उसका शील भी अच्छा है।' उन्होंने नौकर से कहा कि 'एक दिन दिखा देना।' निश्चय हुआ कि अमुक जगह चलकर देखेंगे। वहाँ जाकर देखा कि आठ-आठ साल के चार लड़के बैठे हुए हैं ! एक बिल्कुल काला-कलूटा, दूसरा देखने में सुन्दर, तीसरा अपने हाथ-पैर हिलाता हुआ गाली बक रहा है और चौथा शान्त बैठा हुआ है। उन्होंने पूछा 'लड़का कब आयेगा ?' नौकर ने कहा, 'ये ही तो हैं ! आपने बत्तीस साल का कहा था, ये आठ-आठ साल के चार लड़के बैठे हुए हैं। एक गोरा है, इसके माँ-बाप ने घर से निकाल दिया है क्योंकि यह चोरी बहुत करता है। यह सुन्दर हो गया। दूसरा काला बैठा हुआ है, इसके नाक-कान कुछ गड़बड़ हैं लेकिन यह पढ़ने में बड़ा तेज़ है और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है, यह

विद्या वाला हिस्सा हो गया। तीसरा जो बैठा हुआ गाली बक रहा है, यह बड़े अच्छे कुल का है, अमुक आदमी का पोता है लेकिन स्वभाव का खोटा है। चौथा जो शांत बैठा है, इसका शील बड़ा अच्छा है। आपको चारों गुण चाहिये थे जो इन चारों में हो गये। बत्तीस साल की उम्र भी हो गई और बाकी सब भी ठीक हो गया।' मालिक ने सिर पर हाथ रखकर कहा 'इतना भी नहीं समझता कि बत्तीस साल के लड़के का काम आठ-आठ साल के चार लड़के कैसे करेंगे ?' उसने कहा, 'आपने ही तो कहा था कि दस-दस के दस या एक-एक के सौ नोट या एक सौ का नोट एक ही बात है ?'

किसी जगह खुदरा से काम हो सकता है, किसी जगह नहीं हो सकता। तुम अतिथि को भोजन कराते हो। यह वैदिक संस्कृति की दृष्टि है कि हमारे गाँव में कोई भूखा न रहे। वैदिक रोज़ प्रार्थना करते हैं 'ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्' हमारे यहाँ न कोई भूखा रहे और न कोई बीमार हो। प्रत्येक व्यक्ति दो-चार की बीमारी का इलाज कर सकता है, दो-चार को भोजन करा सकता है। जब सारे गाँव के लिये प्रार्थना करते हो, जो भी बीमार और दुःखी व्यक्ति है, जो भी भूखा है उसे तुम भोजन और औषधि देते हो तब तुम समष्टि का कार्य कर रहे हो। लेकिन यदि एक को छाँट लिया और उसी एक को खिला दिया तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा नहीं हो गया। अतिथि की दृष्टि है कि जो भी अज्ञात व्यक्ति तुम्हारे घर आये उसे भोजन कराओ। यह समष्टिभाव हुआ। 'मैंने अमुक

को निमंत्रण दिया है उसी को खिलाऊँगा'—यह अतिथि की दृष्टि नहीं रही। खिलाया भले ही दोनों ने एक-एक व्यक्ति को पर एक ने अतिथि-सेवा की, दूसरे ने नहीं की क्योंकि उसने व्यक्ति को ही सामने रखा। आज इकट्ठे होकर एक उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करना नहीं रह गया है।

कुछ कार्य व्यक्तिशः हो सकते हैं जैसे अतिथिसेवा, कुछ ऐसे कार्य हैं जिनके लिये अनेकों को मिल-जुलकर प्रयास करना पड़ेगा। गाँव में अस्पताल चलाना हो तो एक व्यक्ति से नहीं होगा; बच्चों के लिये विद्यालय चाहिये या रोज़गार के प्रशिक्षण की व्यवस्था चाहिये तो एक-एक करके नहीं होगा। किसी एक को दवा तो दिला सकते हो पर अस्पताल नहीं चला सकते; जो जानते हो वह दो-चार बच्चों को सिखा सकते हो पर विद्यालय नहीं चला सकते। ऐसे कार्य सामाजिक कार्य हैं, सारा समाज मिल-जुल कर ही इन्हें सम्पन्न कर सकता है। बच्चे भीख मांगते हैं। तुम उन्हें दस पैसा दान देते हो। वह दान है या आगे जाकर बेचारों की कमाई के साधन को खींच रहे हो ? उनके लिये दान देना है तो किसी को स्कूल में पढ़ने के लिये वजीफा दो, अगर स्कूल नहीं है तो स्कूल खोलने की कोशिश करो। उनकी पढ़ाई का इंतजाम कराओ। यह मतलब नहीं कि तब तक उन्हें भूखा मारो ! लेकिन उन्हें दस पैसे देकर तुम्हारा सामाजिक दायित्व पूरा नहीं होगा। हमारे पास पण्डित जी आ गये, पूजा करा दी और उन्हें सवा रुपये की दक्षिणा दे दी। आगे पण्डितजी उसके द्वारा क्या कर सकते हैं, क्या नहीं कर सकते—इससे हमें कोई मतलब नहीं है। सवा

रुपया दे सकते हो, वह दो लेकिन जब तक ऐसी परिस्थिति नहीं बनाते कि दस घरों से वे सवा रुपया लेकर अपना परिवार पाल-पोस सकें तब तक पण्डितजी के प्रति तुम्हारा सामाजिक दायित्व पूरा नहीं हो जाता।

आज हम लोगों की सामुदायिक क्रिया-शक्ति क्षीण हो गई है। क्या कारण है कि आज विदेशी लोग इतने विद्यालय और अस्पताल खोल लेते हैं ? उनकी शक्ति इकट्ठी की हुई है। हमारे यहाँ दानी कम नहीं हैं, लेकिन समष्टि दृष्टि से नहीं, व्यष्टि की दृष्टि से हैं, इसीलिये सामाजिक फल उत्पन्न नहीं हो पाता। प्रत्येक को किसी एक के साथ व्यवहार करना पड़ेगा। लेकिन उस एक के साथ व्यवहार करते हुए सारे समुदाय की दृष्टि रखनी पड़ेगी कि उसके कारण समुदाय का कल्याण होता है या नहीं। वेदांत का ईश्वर किसी एक देश-काल में रहने वाला नहीं है।

जब व्यक्ति अपने स्वार्थ को छोड़ता है, तब समाज बनता है। स्वार्थियों की भीड़-भाड़ रहेगी, समाज नहीं बन पायेगी। परमात्मा को उद्देश्य रखकर समाज के सारे घटकों को प्रवृत्ति करनी है। ब्राह्मण सारे समाज के कल्याण के लिये अपनी आहुति दे, क्षत्रिय अपने स्वार्थ को छोड़कर सारे समाज के कल्याण के लिये अपनी आहुति दे। परमात्मा को जीवन का केन्द्र बनाने का लक्ष्य हो। भगवान् को उद्देश्य बनाकर जो एकत्रित हुए हैं, वे समाज हैं। तब यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनती है। इसमें स्नेह बीज है जिससे त्याग करते हैं। दण्डे के ज़ोर से त्याग नहीं होता है। जो

स्नेह के बल से होता है, वह त्याग है। स्नेह से त्याग समाज का बीज है। किसी भी समाज में स्वार्थ-त्याग आवश्यक है लेकिन स्नेहमूलक, परमात्मा को दृष्टि में रखकर समष्टि-निष्ठा से जहाँ त्याग किया जाये, वही हिन्दू संस्कृति का, वर्णाश्रम व्यवस्था का समाज होगा।

प्रवचन - ५७

समाज-पुरुष का वर्णन करते हुए सबसे पहले श्रुति ने मुख को बताया है। राजन्य अर्थात् क्षत्रिय भुजायें हैं। वैश्य चारों तरफ वाला स्थान है। पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

यहाँ दो प्रकार की बातें श्रुति ने कहीं। 'मुखं, बाहू, ऊरू' ये तीन शब्द तो प्रथमांत हैं और 'पद्भ्याम्' पंचम्यन्त पद है। इस मंत्र का अक्षरार्थ है—समाज पुरुष का ब्राह्मण मुख था। भुजायें क्षत्रिय बनाईं गईं अथवा बनीं। इसके ऊरू वैश्य हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि ब्राह्मण मुख से पैदा हुए या मुख ब्राह्मण से पैदा हुआ, बल्कि ब्राह्मण इसका मुख *था*। क्षत्रिय को 'आसीत्' न कहकर 'कृतः' कहा है अर्थात् भुजायें क्षत्रिय *की गईं*। ऊरू इसके वैश्य हैं। 'ब्राह्मण मुख था', इसमें अंग (मुख) को विधेय बनाया, और ब्राह्मण को उद्देश्य बनाया। एक में ब्राह्मण पहले, मुख बाद में कहा और दूसरे में ऊरू पहले और वैश्य बाद में कहा। बहुत-से लोग समझते हैं कि जैसे हम चिट्ठी लिखते हैं, वैसे ही यहाँ भी

होगा ! आजकल तरह-तरह के समाज वाले मतलब समझने की जल्दी में श्रुति को भूल जाते हैं। पंचम्यन्त का प्रयोग केवल पैर के साथ किया है 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। बाकी तीन के लिये 'पैदा हुआ' कहीं नहीं कहा। एक के लिये 'आसीत्', दूसरे के लिये 'कृतः' का प्रयोग है और तीसरे को वैसे ही छोड़ दिया—कुछ सम्बन्ध है पर क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बताया। चौथे में उत्पाद्य-उत्पादक-भाव बताया कि पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। यदि किसी प्रकार से राजन्य के साथ पड़े हुए 'कृतः' का अर्थ उत्पत्ति मान लें तो भी ब्राह्मण के साथ उत्पत्ति नहीं बताई। कुछ लोग यह मानकर चलते हैं कि पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्य की *उत्पत्ति* बताई गई है, वह इससे खण्डित हो जाता है। विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण निकल आया—श्रुति यह भी नहीं कह रही है। पैदा होना केवल शूद्र का बताया है। बाकी तीन का नहीं बताया, 'कृतः' का मतलब भी पैदा होना नहीं होता है। एक जगह 'आसीत्' दूसरी जगह 'कृतः' और केवल एक जगह 'अजायत' कहा है। इसलिये पुरुषसूक्त में उत्पत्ति तो केवल शूद्र की बताई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की उत्पत्ति नहीं बताई। ब्राह्मण मुख से, क्षत्रिय हाथ से निकल आया होगा, ऐसा भी कुछ श्रुति नहीं कह रही है। इन चारों में क्या भेद है और श्रुति ने यहाँ भेद क्यों किया ? इसको बतायेंगे।

पहले कहा—'अस्य ब्राह्मणः मुखम् आसीत्।' प्रजापति से उत्पन्न समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण था। श्रुति के शब्दों को ध्यान से समझना। हमने बहुत-से लेख बाँचे जिनमें कहते हैं कि सिर ब्राह्मण था, सिर खराब हो गया तो समाज खराब हो गया।

उन्होंने बुद्धि से निर्णय किया कि ब्राह्मण समाज में विद्या का अधिष्ठाता है, इसलिये समाजपुरुष का सिर ब्राह्मण ही हो सकता है। बुद्धि से ऐसा निर्णय किया तो श्रुति के ऊपर यह अर्थ थोप दिया कि 'ब्राह्मणोस्य *मूर्धा* आसीत्' लेकिन श्रुति ने यह नहीं कहा कि ब्राह्मण इसका *सिर* था। मुख का मतलब सिर नहीं होता। न समझकर चाहे मुख का अर्थ सिर कर लें, लेकिन श्रुति तो कह रही है कि मुख था। इसी श्रुति का तात्पर्य बताने वाली जो बृहदारण्यक उपनिषद् है, उसमें भी जहाँ उत्पत्ति बताई है, वहाँ पर बताया है कि मुख विराट् पुरुष का अग्नि-स्थान है। इसीलिये अग्नि और ब्राह्मण दोनों मुख से उत्पन्न हुए, यह वहाँ स्पष्ट बताया है। श्रुति ने आगे एक विलक्षण बात बताई। बाकी सब लोगों को कर्म करने के लिये अग्नि की आवश्यकता है। वेद कहता है कि अग्नि रूपी मुख के द्वारा तुम उस विराट् पुरुष के पास पहुँचोगे क्योंकि वह मुख है और मुख से ही खिलाया जाता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि ब्राह्मण स्वतः अग्नि-रूप मुख से उत्पन्न होने के कारण अग्नि से निरपेक्ष है, उसे अग्नि की ज़रूरत नहीं है। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत श्राद्ध कर्म में मिलता है जिसमें ब्राह्मण के मुख में आहुति दी जाती है तो अलग अग्नि नहीं जलाते हैं। ब्राह्मण ही वहाँ अग्नि का काम करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिन कर्मों को अग्निप्राधान्येन दूसरे लोग करते हैं, ब्राह्मण को उस अग्नि की आवश्यकता नहीं होती। मुख की एकता लेकर ही आवश्यकता नहीं है। सिर की एकता होती तो यह काम नहीं बन सकता था।

मुख वह हुआ जिसके द्वारा सारा शरीर पुष्ट होता है। भोजन

सारा मुख द्वारा किया जाता है। भोजन किसको कहते हैं ? सामवेद की छांदोग्योपनिषद् के अन्दर आता है 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि आहार का मतलब है जो अन्दर लिया जाये। खाली दाल-भात का कौर ही अन्दर नहीं जाता, केवल वही आहार नहीं है। आँख के द्वारा रूप भी तो अन्दर ले जाते हैं। कान के द्वारा शब्द, नाक के द्वारा गंध, जीभ के द्वारा स्वाद और चमड़ी के द्वारा स्पर्श अन्दर जाता है। इसलिये जितने विषय हैं वे सारे आहार हैं। इसलिये भूख का अर्थ हुआ कि सारी इन्द्रियों के द्वारा विषय खाये गये। इसलिये श्रुति ने बड़े विचार से मुख शब्द का प्रयोग किया। इन सारी इन्द्रियों के केन्द्र मुख में ही हैं, सिर में नहीं हैं।

कहोगे कि बाकी चीज़ें तो मानी लीं कि मुख में हैं, लेकिन स्पर्श (त्वक् इन्द्रिय) तो सारी जगह है ? शरीर में कौन सा हिस्सा ऐसा है जिसके अन्दर स्पर्श का बोध सबसे ज़्यादा होता है ? गालों पर सबसे ज़्यादा स्पर्श का बोध होता है। कोई आदमी सो रहा है, बच्चा कोई चीज़ लेकर उसके गाल पर फेरता है तो वह अपने गाल पर खुद ही थप्पड़ मारता है। इसलिये सबसे अधिक स्पर्श का भान गाल पर ही रहता है। इतना ही नहीं, शरीर-संस्थान के अन्दर बताया है कि स्पर्श दो प्रकार का है—एक अन्दर का स्पर्श और एक बाह्य स्पर्श। ज़्यादा मिर्च खा रहे हो तो पेट में भी एक तरह के स्पर्श का बोध होता है, जलन भी होती है। उस जलन से हाथ के ऊपर होने वाली जलन अलग तरह की होती है। दोनों स्पर्श एक तरह के नहीं होते। कभी कोई सुपारी का टुकड़ा छाती में उतर जाये तो स्पर्श का बोध होता है, लेकिन उसमें और बाह्य

स्पर्श में भेद है। जिसको तुम लोग दर्द कहते हो, वह भी एक तरह का स्पर्श है लेकिन वह अंतः स्पर्श है। बाह्य स्पर्श में कड़ी, मुलायम, गरम, ठण्डी इत्यादि चीज़ों का ज्ञान होता है। दर्द को क्या कहोगे ? गरम भी नहीं कह सकते। फोड़े में गर्मी का अनुभव होता है तो वह बाह्य स्पर्श है। फोड़ा जब चारों तरफ लाल हो जाता है, उस समय गर्मी का बोध बाह्य स्पर्श है। लेकिन उस गर्मी से भिन्न दर्द अंतःस्पर्श है। बहुत दिनों के बाद घर में पोता पैदा हुआ। कहते हैं कि 'तुम्हारे पोता हो गया' तो सुनने के साथ ही हृदय में कुछ सुख-स्पर्श का बोध होता है। वह प्रसन्नता हृदय में एक तरह के स्पर्श का रूप धारण कर लेती है। जैसे दर्द का स्पर्श, ऐसे ही सुख की विशिष्ट अनुभूति का भी स्पर्श होता है। लेकिन ये सब स्पर्श अंतःस्पर्श हैं। कड़ा, मुलायम इत्यादि का ज्ञान बाह्य स्पर्श हैं।

गालों के दो भेद हैं। एक गाल और दूसरा उसी गाल का हिस्सा जिसे होंठ कहते हो। होंठ विचित्र अंग है। यहाँ अंतः और बाह्य स्पर्श दोनों मिलते हैं। गुस्सा आने पर होंठ फड़कते हैं, वह फड़कना स्पर्श इन्द्रिय का कार्य है। वह एक तरह का स्पर्श होता है। जब किसी चीज़ की अत्यन्त तीव्र कामना उत्पन्न हो जाती है तब भी होंठों में गति हो जाती है। अत्यंत शोक में भी होठों में क्रिया होती है। ये सारे बाह्य स्पर्श हैं। क्रोध आने पर गरम, ठण्डा, कड़ा आदि मालूम पड़ता हो, ऐसा नहीं, क्रोध की एक विशिष्ट अनुभूति है जो होंठों में प्रकट हो जाती है। काम, क्रोध आदि जितनी विशिष्ट अनुभूतियाँ होती हैं, वे अंतःअनुभव के कारण होठों के अन्दर पहुँचती हैं। होठों के अध्ययन के द्वारा

सारे शरीर के रोगों के निदान करने का एक विज्ञान है। पुराने ज़माने के डाक्टर सबसे पहले मुँह या जीभ देखते थे, क्योंकि पेट खराब है तो जीभ का प्रकार और, पेट ठीक है तो प्रकार और, टाइफाइड है तो प्रकार और होता है। उस ज़माने में बीमारी का पता टट्टी, पेशाब आदि से नहीं लगता था, जीभ से लग जाता है। जीभ व होंठ मिले हुए हैं। कोई तेज़ बीमारी आने वाली होगी तो उसका पूर्वाभास दो महीने पहले करा देती है। दो जगह पूर्वाभास बीमारी का होता है। एक तो हाथ की रेखाओं में कुछ रेखायें टूटने लगती हैं, इसका पता महीने भर पहले लग जाता है। और दूसरे, होठों के अन्दर खड़ी रेखायें ज़्यादा हो जाती हैं। लोग ध्यान नहीं देते या सोचते हैं कि उसके ऊपर घी मलकर ठीक कर लेंगे। यह नहीं सोचते कि होंठ फटे क्यों ? यदि अत्यंत तेज़ बीमारी आने वाली हो तो होठों के अन्दर के भाग में छोटे-छोटे सफेद दाग हो जाते हैं। ये सब अन्तःस्पर्श हैं। यहाँ बता रहे हैं कि मुख का ग्रहण किया क्योंकि अंतःस्पर्श, बाह्य स्पर्श, और रूप, रस, गंध, शब्द इन सबका यहीं भान हो जाता है।

श्रुति यह कह रही है कि इस समाज पुरुष का मुख ब्राह्मण था अर्थात् सारे ज्ञानों का संग्रह करने वाला केन्द्र था। लेकिन ख्याल करना कि ब्राह्मण यहाँ उद्देश्य है और मुख विधेय है। उलटा नहीं कि पहले समाज-पुरुष खड़ा हो और फिर ब्राह्मण मुख है, ऐसा श्रुति नहीं कह रही है। पहले समाजपुरुष हो और फिर उसमें ब्राह्मणों को मुख बताना श्रुति को इष्ट नहीं। श्रुति ने तो पहले ब्राह्मण को माना और फिर कहा कि ब्राह्मण मुख था अर्थात् समाजपुरुष की उत्पत्ति के पहले ब्राह्मण की संगति करते हैं।

समाजपुरुष तो तब उत्पन्न होगा जब इसके अंग-प्रत्यंगों के अंदर एकरूपता आ जायेगी। एकरूपता अपने आप नहीं आया करती। यह श्रुति का सिद्धांत है। समाज के सारे व्यक्ति स्वतः ही एक उद्देश्य से चलते रहें, यह श्रुति को इष्ट नहीं, क्योंकि चल नहीं सकते। स्वभाव से तो उनका विशृंखलित रूप रहेगा। विशृंखलित तत्त्वों में एक तत्त्व ब्राह्मण है। जब वह मुख के स्वरूप को धारण करके बैठेगा, तब इसमें समाजरूपता आयेगी। ब्राह्मण का सीधा अर्थ होता है जो ब्रह्म से उत्पन्न हो वही ब्राह्मण है। ब्रह्म से उत्पन्न आकाशादि सारी सृष्टि है, कीट-पतंग भी उसी से उत्पन्न हैं, फिर ब्राह्मण नाम केवल इसी का क्यों रख दिया गया ? बड़ा विचित्र लगता है। यदि ब्राह्मण का मतलब जो ब्रह्म से उत्पन्न है, तब तो ब्राह्मण नाम सारी सृष्टि के कण-कण का हो गया क्योंकि सभी ब्रह्म से उत्पन्न हैं।

यहाँ ब्राह्मण कहने में श्रुति का कोई विशिष्ट तात्पर्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका निरूपण करते हुए कहा 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्; अथ मुनिर्भवति' सारी साधनायें बताईं और सब के अंत में जाकर बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है 'अथ ब्राह्मणः' जीवन का, समाज का और जीवमात्र का अंतिम लक्ष्य ब्राह्मण है। ब्रह्म से उत्पन्न तो सब हैं लेकिन अन्य चीज़ों की उत्पत्ति में दो कारण हैं—१. ब्रह्म और २. अब्रह्म अर्थात् माया, उसकी शक्ति। ब्राह्मण की उत्पत्ति में कारण केवल ब्रह्म है, इसलिये उसे ब्राह्मण कह दिया गया। जैसे ब्रह्म सर्वथा सब चीज़ों के प्रति एकरूप और निष्पक्ष रहता है, ऐसे ही ब्राह्मण सब चीज़ों के प्रति सर्वथा एकरूप और निष्पक्ष है। कोई शक्ति की अपेक्षा करता है, कोई

पैसे की अपेक्षा करता है। कोई राजा या सेनापति बनना चाहता है, कोई धन कमाना चाहता है और कोई बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ लगाना चाहता है, कोई बड़े-बड़े काम करना चाहता है। ब्राह्मण कुछ नहीं चाहता। न वह धन कमाना चाहता है, न वह किसी पद पर बैठना चाहता है, न वह कोई बड़ा भारी संगठन बनाना चाहता है। वह क्या करता है ? तुम खूब बढ़िया भोजन करो तो क्या आँख मोटी हो जायेगी ? इन्द्रिय में कोई बढ़ोत्तरी नहीं आयेगी। चाहे बढ़िया से बढ़िया घी खाओ, घ्राणेन्द्रिय में भी कोई विशेषता नहीं आयेगी। कर्मेन्द्रियाँ भी नहीं फूलेंगी। शरीर फूलेगा। शरीर के बाकी सब अंग फूलेंगे लेकिन इन्द्रियाँ वैसी की वैसी ही रहेंगी। लेकिन शरीर फूलने में मूल हेतु इन्द्रियाँ हैं। जिसकी आँख ठीक होगी, वही धन कमायेगा और बढ़िया माल-मलाई खायेगा। सारे शरीर की पुष्टि का कारण इन्द्रियाँ हैं, लेकिन सारे शरीर को पुष्ट करते हुए वे स्वयं उससे पुष्टि नहीं लेतीं। ब्राह्मण इसका मुख है क्योंकि यह सबको पुष्ट करते हुए स्वतः पुष्ट नहीं होता। सबकी पुष्टि करेगा, स्वतः की पुष्टि की नहीं सोचता। इसीलिये यह जो एकमात्र ब्रह्म की दृष्टि वाला है, यह समाज के प्रत्येक हिस्से को पूर्ण पुष्ट करेगा लेकिन खुद अपनी पुष्टि पर विचार नहीं करेगा। यह ब्राह्मण का वैशिष्ट्य हुआ।

हम एक बात जानते हैं कि सारा शरीर मनुष्य का कैसा भी हो, शादी, ब्याह, नौकरी चाहे जिस नाम से कहें, सब में आदमी दूसरे का मुँह ही देखता है। सारा शरीर गोरा-चिट्टा हो और मुँह काला हो तो किसी काम का नहीं। कोई आदमी बदमाशी करता है तो उसके सारे शरीर पर नहीं, केवल मुँह पर कालिख पोत देते

हैं कि मुँह काला हुआ। शादी-ब्याह में लोग फोटो मँगवाते हैं, उसमें सारा शरीर नंगा नहीं होता लेकिन मुँह नंगा होना चाहिये। घूँघट हो तो कहेंगे कि इससे काम नहीं चलेगा। बाकी किसी चीज़ को नहीं देखा जाता, लेकिन मुँह को ज़रूर देखते हैं। सबसे ज़्यादा शरीर का कौन-सा अंग फूलता है ? थोड़ा-सा ज़्यादा खाने लगो तो तोंद या पीछे का नितंब फूलता है, यह ऊरू अर्थात् नाभि के नीचे की तरफ का हिस्सा है। विचार करो कि देखने में योग्य तो मुख माना गया, यद्यपि मुख में रहने वाली इन्द्रियाँ उसके द्वारा अपने को पुष्ट नहीं करतीं। दूसरी तरफ; जिन दो भागों को कोई प्रायः देखना नहीं चाहता और उनमें से एक भाग का तो नाम भी यदि सरल हिन्दी में लें तो लोगों को बुरा लगता है, उसे हमेशा छिपाये रखते हैं। आजकल के ढंग की एक लड़की आया करती थी। वह साड़ी इस ढंग से पहनती थी कि उसका पेट दीखता रहता था। चलो, यह तो हर युग की अपनी विशेषता होती है। फिर एक दिन अकस्मात् देखा कि उसका पेट नहीं दीखने लगा। हमने कहा—ऐसे ही पहले क्यों नहीं पहनती थी ? उसकी माँ कहने लगी 'आप भी मज़ाक करते हैं ?' फिर धीरे-से बोली कि 'इसके बच्चा होने वाला है।' ऐसी अवस्था में पेट फूल जाता है। जो हमेशा उसे दिखाना चाहती है वह भी जब फूलने लगता है तब छिपाना चाहती है, प्रकट नहीं करना चाहती। ये चीज़ें दर्शनीय नहीं मानी गई हैं। देखने के योग्य मुख माना गया है।

यदि हमको किसी समाज को देखना है तो पहले उसके ब्राह्मण को देखना चाहिये। विदेशी संस्कृति क्या करती है ? विदेशी संस्कृति के अनुसार हमारे यहाँ जब कोई आता है तब हम उसे

अपना नितंब और तोंद दिखाते हैं; जैसे हमारा भाखड़ा कितना बड़ा है या हमारी फैक्ट्रियाँ कितनी बड़ी हो गई हैं। ये सब तोंद और पीछे के नितंब ही फूल रहे हैं। जितना ऊरू अर्थात् वैश्य का अंश है, वह सारा दिखाते हैं और दर्शनीय मुख (ब्राह्मण) को कहीं नहीं दिखाते। फिर हम दुखी होते हैं ! इसका क्या कारण है ? आज से तीस वर्ष पूर्व भारतवर्ष में विदेशी आते थे तो बड़े प्रभावित होकर जाते थे कि भारत एक बहुत उन्नति करने वाला देश है, इसलिये इसकी सब तरह से सहायता करनी चाहिये। वे ही विदेशी आज आकर जाते हैं तो कहते हैं कि पिछड़ा हुआ देश है ! इतनी ज़्यादा सहायता दी, लेकिन हम जाहिल माने जाते हैं। फ़र्क यह है कि तब जब विदेशी आते थे तो हमारे ब्राह्मण को देखते थे, विद्वानों और राष्ट्र के लिये त्याग करने वालों को देखते थे। उनको देखकर सबके मन में यह भाव बनता था कि यह देश दर्शनीय है। अब हमने मुख पर घूँघट डाल रखा है। आज तक नहीं सुना कि अमरीका का राष्ट्रपति आया तो अमुक वेदांत-विचारक विद्वान् को बुलाया गया जिसका वह दर्शन करे। जैसे लड़की की शादी के लिये यदि मुख पर पर्दा और तोंद नितंब नंगे हैं तो कभी शादी नहीं होने वाली है, वैसे आज जो हमारे यहाँ आता है, वह उस अंग को देखता है जो देखने के योग्य नहीं है और जो देखने योग्य अंग है, उसे नहीं देखता। नतीजा वही होता है जो आज हो रहा है। उस समय आते थे तो उन लोगों को वह अंग नहीं दिखाया जाता था, दर्शनीय मुख दिखाया जाता था और उन लोगों में देश के प्रति सद्भाव बनता था।

मुख के अन्दर ही जीव का ओजस् रहता है। तेजस्विता मुख

में ही रहेगी। बाकी किसी अंग में तेज नहीं झलकता। बढ़िया विचार मन में आया हुआ हो तो चेहरा चमकता है। मन में गंदा विचार आया हुआ हो तो उसी आदमी का मुख पाँच मिनट में ऐसा लगता है कि जैसे ऊपर कोई छाया पड़ गई हो। बाकी शरीर के रंग में परिवर्तन नहीं आता। किसी के मुख को देखकर झट पता लग जाता है कि इस समय यह दुःखी है और इस समय सुखी है। मुख न दिखाकर वह अपने हाथ, पैर, कान कुछ भी दिखाता रहे, पता नहीं लगेगा कि सुखी है या दुःखी है। मुँह देखते ही पता लग जाता है। इसलिये मुख में जीव का ओजस्तत्त्व रहता है। यदि किसी काल में हम लोग मुख ढाँकते थे तो ओज को बचाने के लिये। अब उसका रूप लोगों ने गंदा कर दिया है कि अपने घर की सास और जेठ से ओजस् छिपाकर रखेंगे, घूँघट निकालेंगे और मुसलमान चूड़ियाँ पहनानेवाला आयेगा तो उसके सामने मुख खोलकर रखेंगे। यह उसका दुरुपयोग है। लेकिन उसमें भाव ओज को नियंत्रित करने का था। ब्राह्मण ब्रह्म से उत्पन्न है, ब्रह्म तेज-स्वरूप है, इसलिये उससे ब्राह्मण में तेजस्विता रहती है। ब्राह्मण राज्य नहीं कर सकता, क्योंकि तीक्ष्ण तेजस्विता वाला व्यक्ति यदि राज्य करना चाहे तो थोड़े ही दिनों में राज्य विशृंखलित हो जायेगा, क्योंकि जो ओजस्वी होता है, वह कभी भी किसी भी बारे में सिद्धान्त का हनन नहीं कर सकता। यही तो तेजस्विता है। धन के लिये सिद्धान्तों का हनन करना तेजस्विता नहीं है। सिद्धान्त के लिये खड़े-खड़े सारी दुकान को जला देना तेजस्विता है। ब्राह्मण में यह ओज है, तेजस्विता है। राज्य करने में प्रतिक्षण सिद्धान्त की हत्या करनी पड़ती है। उसके बिना राज्य नहीं हो

सकता। ब्राह्मण जब राज्य ही नहीं कर सकता तो व्यापार कहाँ से कर सकता है ! जितना-जितना सिद्धान्तों का हनन करोगे, उतना-उतना धन अधिक बढ़ता जायेगा। सिद्धान्त वाला व्यक्ति धन पैदा नहीं कर सकता।

बार-बार पुराणों में ऐसी कथायें आती हैं कि राजा और वैश्य धन लेकर ऋषियों के पीछे घूमते हैं और ऋषि कहते हैं कि 'नहीं लेंगे'। राजा से कहते हैं कि 'तेरा अन्न तो वैश्य के अन्न से भी गया-बीता है।' आज हर व्यक्ति की दृष्टि बनती है कि राज्य का धन बड़ा अच्छा है। व्यापारी भी सोचता है कि सरकार से कर्जा मिल जाये। धार्मिक, मन्दिर वाले भी चाहते हैं कि सरकार से ज़मीन और धन मिल जाये। हर व्यक्ति राज्य से कुछ लेना चाहता है। पुराणों के अन्दर बताया है कि एक बार बारह वर्ष तक अकाल पड़ा। महीनों तक ऋषियों को कुछ खाने को नहीं मिला। देश छोड़कर दूसरे देश में जा रहे थे। राजा को पता लगा। जाकर हाथ-पैर जोड़कर प्रार्थना की लेकिन उन्होंने कहा कि 'हमें कुछ नहीं चाहिये।' राजा ने विचार किया कि कुछ तो इनकी मदद करें। गूलर के अन्दर छेद करके उसके बीज निकालकर उसकी जगह सोना भर दिया और रास्ते में डाल दिये कि ये लोग उठा लेंगे। एक ऋषि ने उठाया और उठाते ही फेंक दिया। दूसरे ऋषियों से कहा कि इसमें बिच्छू है। ऋषि वहाँ से भागे।

यही ब्राह्मण की ओजस्विता का कारण है। आज ब्राह्मण सोचता है कि मुझे राज्य से क्या मिले। मारवाड़ में कहावत है 'मँगते ऊपर मँगता माँगे, उसकी अक्कल गुम।' मँगते से मँगता माँगे तो अक्ल वाला नहीं है। संसार के सारे लोग खुद मँगते हैं।

जो मन्दिर में जाकर कहते हैं—'हे हनुमान् जी ! मुकदमा जीत जायें, कानून से छूट जायें, टैक्स बच जाये।' उनसे जब पुजारी कहता है कि 'हनुमान् के लिये चाँदी का छत्र चढ़ा दो' तो हनुमान जी के कलेजे पर क्या बीतती होगी ! जो सवेरे से शाम तक नाक रगड़ते हैं, खुद मँगते बने हैं, इनसे क्या माँगा जाये ? ब्राह्मण में चूँकि ओजस्विता होती है इसलिये उसका तेज पूर्ण होता है। इसलिये न वह राज्य कर सकता है, न वह धन कमा सकता है, क्योंकि इन सबके लिये अपने तेज को नष्ट करने की ज़रूरत पड़ती है। यह 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' का तीसरा तात्पर्य है।

जो अपना ओजस्वी अंग होता है, वही समाज को दिखाने लायक होता है। दूसरी उन्नति जिसे हम सांसारिक पदार्थों की उन्नति कहते हैं, वह दिखाने लायक नहीं होती। प्रायः संसार में ऐसा होता है कि जिनके अन्दर असली ओज नहीं होता, उनके साथ बात करो तो वे ये ही चीज़ें दिखाते हैं। किसी ओजस्वी के घर जाओ तो प्रेम से बैठाकर बात करेगा और तुमको कुछ प्रकाश देगा। जिसमें ओज नहीं है, वह कहेगा कि 'यह गलीचा बदल दो, आज बड़े आदमी मिलने आ रहे हैं। नई चद्दरें डाल दो'। उनके आने पर दिखायेगा कि 'मैंने अमुक काम में पाँच लाख लगा दिये, लड़की का ब्याह किया उसमें पचहत्तर हज़ार लगा दिये, मेरे घर में अमुक चीज़ आई जिस पर डेढ़ लाख खर्च हो गया।' इसका कारण यह है कि उसमें ओज नहीं है। जिसके चेहरे पर तेज नहीं होगा, वह पेट, नितंब दिखायेगा। जिसमें ओजस्विता है, तेजस्विता है, उसके अंदर पूर्णता है। उसे कुछ दिखाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। मनुष्य संसार के पदार्थों को दिखाने लगता है तो विचारशील

समझता है कि अंदर से खोखला है; हृदय में कुछ नहीं है, इसलिये बाहर का रूप दिखाता है। जैसे आजकल की लड़कियों को घी-बादाम खाने को नहीं मिलता, इसलिये उनकी रगों में दौड़ने वाला खून नहीं है, ऊपर से क्रीम इत्यादि लगाकर बाहर से चमक और लाली दिखाती हैं। लेकिन उससे गालों का पता नहीं लगता। ओज नहीं है, शरीर का पीलापन ढाँकती हैं। जो ओजस्वी हो उसे बाहर की चीज़ों की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि उसके अन्दर तेज है। इसीलिये जब हमारे संस्कृतज्ञ ब्राह्मण का वर्णन करते हैं तब कहते हैं कि वह अग्नि की तरह होता है। ब्राह्मण किसी की खुशामद नहीं करेगा। खुद मर जायेगा या जो सामने आयेगा, उसे जला देगा। जो पूर्ण ब्राह्मण है, वह तो परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर के सामने खड़ा होकर कहता है कि 'तेरे अंदर ईश्वरत्व किस बात का है ? तेरी माया से ही तेरे अंदर ईश्वरत्व है। मैं तेरी माया को असिद्ध करके ईश्वरत्व को छीन सकता हूँ।' पूर्ण तेजस्वी ब्राह्मण ईश्वर की माया को भी जला डालता है। दूसरे की शक्ति या सामर्थ्य से वह कभी दबने वाला नहीं है, दब गया तो फिर ब्राह्मण कैसा ? यह ओजस्विता उसके अंदर चूँकि पूर्ण है, इसलिये वह ईश्वर तक के सामने खड़ा होकर कहता है कि 'मैं ब्रह्माकार वृत्ति से माया को भी भस्म कर सकता हूँ, देखूँ तेरी माया क्या करती है !' यही पूर्ण ब्राह्मण है। जितना उसमें आंतरिक तेज ज़्यादा है, उतना ही वह ब्राह्मण दर्शनीय है।

लोग सबसे ज़्यादा राजा की पूजा करते हैं, क्योंकि राजा सबसे ज़्यादा महान् माना जाता है। लेकिन ब्राह्मण के लिये कहा गया है 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।' बड़े से बड़े राजा

की पूजा वहाँ होती है जहाँ उसकी सत्ता चलती है। आजकल प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि सत्रह साल तक राजस्थान का एकछत्र राज्य करने वाला मोहन लाल सुखाड़िया पंदच्युत होने के बाद किसी कलक्टर से मिलना चाहे तो वह खबर भेजता है कि फुर्सत नहीं है। थोड़े दिन पहले उन्हें रेल से कहीं जाना था तो स्टेशनमास्टर ने कह दिया कि सीट नहीं है। राजा की पूजा स्वदेश में ही होती है। जब तक और जहाँ तक उसका राज्य है, वहीं उसकी इज़्ज़त है। लेकिन जो विद्वान् है, ओजस्वी है, उसका ओज सारे देश, सारे काल में कभी घटता नहीं है। यह ओजस्वी ब्राह्मण ही हमारे समाज का मुख है। हमारा मुख ब्राह्मण ओजस्वी, दर्शनीय होना चाहिये। वह कभी पैदा नहीं होता। लोग कहते हैं कि 'हम बड़े-बड़े विद्वान् बना देंगे।' यहाँ भी श्रुति ऐसा कह सकती थी, लेकिन नहीं कहा। वह तो *मुख था,* सारा समाज बाद में आयेगा। समाज में एकरूपता तो वह लाने वाला है, उसको समाज क्या बनायेगा ! आज समाज सोचता है कि ब्राह्मण का निर्माण करेंगे, लेकिन समाज ब्राह्मण का निर्माण नहीं कर सकता, ब्राह्मण समाज का निर्माण कर सकता है। समाजपुरुष बाद में, ब्राह्मण पहले है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद बड़ी विचित्र बात कहते हैं 'ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः।' ब्राह्मण की रक्षा करोगे तो सारे वैदिक धर्म की रक्षा हो जायेगी। ब्राह्मण की रक्षा किये बिना चाहे बड़े से बड़े मन्दिर बना लो, चाहे जितनी बाह्य क्रियायें कर लो, कुछ नहीं होना है। हो यही रहा है कि लोग सब चीज़ों की उन्नति चाहते हैं, ब्राह्मण की उन्नति नहीं चाहते। लेकिन समाज का निर्माण ब्राह्मण ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं कर सकता।

प्रवचन - ५८

श्रुति ने समाजपुरुष का स्वरूप बताते हुए सबसे पहले 'ब्राह्मण था' ऐसा कहा। ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा। ब्रह्म और ब्राह्मण का अभिन्न सम्बन्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे और स्पष्ट कहा गया, क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुषविध ब्राह्मण इस पुरुषसूक्त की ही व्याख्या है। यहाँ ब्राह्मण कहा है और वहाँ साक्षात् ही ब्रह्म नाम कह दिया है। उपनिषद् कहती है–'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकम् एव, तदेकं सन्नव्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपम् अत्यसृजत क्षत्रम्।' वहाँ ब्रह्म नाम ही ले लिया है कि पहले एकमात्र ब्रह्म ही था। एक अकेला ब्रह्म ही था। पहले-पहले जो पढ़ते हैं वे झट समझते हैं कि इसका मतलब है परमात्मा था। लेकिन आगे प्रकरण कहता है 'तद् एकं सद् न व्यभवत्' वह चूँकि अकेला ही था इसलिये समर्थ नहीं हुआ। 'अकेले' का अर्थ करते हुए भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि क्षत्रिय आदि जो परिपालन आदि करने लगते हैं, उनसे रहित एक ब्रह्म ही था। इसलिये यहाँ ब्रह्म का अर्थ शुद्ध चिन्मात्र नहीं हो सकता, क्योंकि क्षत्रिय आदि उसकी रक्षा थोड़े ही करेंगे। वह अकेला था इसलिये वह किसी वैभव वाला नहीं था। 'विभूतिवत्कर्मणे नालम् आसीत्' अर्थात् उसका कोई वैभव नहीं था। वैभव न होने का मतलब है कि विभूति वाला, ऐश्वर्य वाला, किसी कर्म को करने में सामर्थ्य वाला नहीं था क्योंकि अकेला था। वैभव का मतलब है जो तुम्हारे पास है उसको बाहर प्रकट करके दिखाओ। तुम्हारे पास क्या-क्या है, इसका नाम वैभव

नहीं है। बल्कि जो तुम्हारे पास है, उसको प्रकट करके दिखाना ही वैभव है। 'तद् न व्यभवत्' वह ब्रह्म एक अकेला हुआ अपने वैभव को दिखला नहीं पा रहा था।

वैभव दिखाने के लिये उसने क्या किया ? 'तच्छ्रेयोरूपं अत्यसृजत' उसने एक प्रशस्त रूप का निर्माण किया। ऐसे प्रशस्त रूप का निर्माण किया जिसके द्वारा वैभव प्रकट हो गया। वह प्रशस्त रूप बताया 'क्षत्रम् इति' क्षत्रिय की सृष्टि से वह प्रशस्त रूप हुआ। इस क्षत्रिय की सृष्टि से स्पष्ट है कि यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ ब्राह्मण ही है। क्षत्रिय की सृष्टि ब्राह्मण के ऐश्वर्य को प्रकट करती है। वस्तुतः क्षत्र कर्मशक्ति है और ब्राह्मण ज्ञानशक्ति है। यजुर्वेद की कठोपनिषद् में आता है

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।'

परमेश्वर के लिये ब्राह्मण और क्षत्रिय भात की तरह है। मृत्यु दाल की जगह है। जैसे भात गीला करने के लिये दाल खानी पड़ती है, ऐसे ही वह मृत्यु को भी खा जाता है। जो अर्थ वहाँ ब्रह्म और क्षत्र का है, वही अर्थ यहाँ भी है।

वह ब्रह्म अकेला कर्म क्यों नहीं कर सकता ? भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर लिखते हैं कि जितने कर्म हैं वे सारे ब्रह्मजाति-निमित्तक हैं, अर्थात् कोई भी यज्ञ का कर्म ऐसा नहीं जो ब्राह्मण के बिना हो सके। लेकिन कोई कर्म ऐसा भी नहीं जो केवल ब्राह्मण से हो सके। तात्पर्य यह है कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो बिना ज्ञानशक्ति के हो सके। 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत'

ज्ञानपूर्वक कर्म करे, बिना जाने किया हुआ कर्म नष्ट हो जाता है। इसलिये बिना ज्ञानशक्ति के कोई कर्म नहीं हो सकता। व्यापार भी वही कर सकेगा जिसको व्यापार का ज्ञान होगा। बिना ज्ञान के कोई कर्म नहीं। लेकिन केवल ज्ञान से भी कोई कर्म नहीं होता। बड़े-बड़े अर्थशास्त्र और वाणिज्य (कामर्स) के प्रोफेसर लाखों-करोड़ों का हिसाब लिखते हैं लेकिन बेचारे साढ़े तीन सौ रुपये में गुजारा करते हैं ! उनका ज्ञान बहुत है। एक कहानी आती है : एक मास्टर साहब लड़कों को हिसाब पढ़ा रहे थे। उन्होंने सवाल दिया कि यदि सौ रुपये का ब्याज एक साल में चार रुपये हो तो १७५० रुपये का कितना ब्याज हुआ ? बाकी लड़के तो हिसाब लगाने लगे लेकिन व्यापारी के लड़के ने हाथ उठाया। मास्टर ने पूछा—'क्या प्रश्न है ?' उसने कहा कि 'यह बता दीजिये कि चार प्रतिशत ब्याज पर रुपया कहाँ से मिलता है, पिताजी को तो ११ प्रतिशत पर मिलता है। आप किस व्यापारी की बात कर रहे हो ?' अध्यापक बेचारा पढ़ाता है लेकिन उसको यह पता नहीं कि किस दर पर कहाँ ब्याज मिलता है। बिना ज्ञानशक्ति के कोई कार्य नहीं हो सकता लेकिन केवल ज्ञानशक्ति भी किसी कार्य को करने में पर्याप्त नहीं है। उसके साथ उसका ऐश्वर्य अर्थात् क्षत्रशक्ति (क्रियाशक्ति) चाहिये। इसलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'ब्राह्मणजातिनिमित्तं कर्म चिकीर्षित्वा, आत्मनः कर्मकर्तृत्वविभूत्यै श्रेयोरूपं प्रशस्तरूपम् अत्यसृजत अतिशयेन असृजत।' कर्म तो सारे ब्राह्मण-जाति-निमित्तक ही हैं लेकिन उनको प्रकट करने के लिये, वह ब्राह्मण अपने आपको क्षत्रिय रूप से प्रकट करता है। ज्ञानशक्ति भी अपने आपको क्रिया-रूप

में प्रकट करती है क्योंकि अकेले कोई कर्म नहीं होता।

यह विचार का विषय है। ज्ञान तो अकेले भी हो सकता है लेकिन कर्म अकेले नहीं हो सकता। बिना भेद को निमित्त बनाये हुए कर्म असम्भव है। भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में लिखते हैं–

'ब्रह्मैकजात्यवच्छिन्नं यस्मादग्रे व्यवर्तत।
नानेकजातिमद्धेतुकर्मणेऽलं ततो भवेत्।।'

केवल ब्राह्मण से अवच्छिन्न हुआ ही वह अकेला था, उसके अन्दर अनेक जातियाँ प्रकट नहीं हुई थीं। जब तक अनेकता नहीं आयेगी तब तक किसी भी कर्म को करने में समर्थ नहीं है। इस ज्ञान और क्रिया के संयोग को लोग प्रायः भूल जाते हैं। एक-एक खण्ड को लेकर लोग बैठ जाते हैं। बहुत-से लोग सत्संग सुनते ही सुनते हैं। उनको पूछो कि तुलसी रामायण में, वाल्मीकि रामायण में क्या लिखा है, बाली और सुग्रीव ने क्या किया ? सारी कहानी उन्हें याद होगी। उपनिषद् दर्शनशास्त्र में क्या कहा है, इसका भी खूब ज्ञान है। लेकिन उनके ज्ञान का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बड़े प्रेम और भावुकता से भरकर रामायण का पाठ करते हुए, राम और भरत के प्रेम का वर्णन करते हुए अपने भाई से मुकदमे-बाजी करते हुए उन्हें कोई विरोध मालूम नहीं पड़ता। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म केवल सत्यरूप है, ऐसा कहने वाले को मुँह से झूठ बोलते हुए एक क्षण को भी विरोध मालूम नहीं पड़ता। उन्होंने यह मान लिया है कि ज्ञानशक्ति का कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार कुछ दूसरे लोग होते हैं जो कर्म

का ज्ञान के साथ सम्बन्ध नहीं समझ पाते। एक-एक चीज़ को लेकर चलने से पूर्णता नहीं होती। इसीलिये कहा कि कर्म के अन्दर अलं-बुद्धि, कर्म की पूर्णता तभी होगी, जब ज्ञान और क्रिया दोनों को साथ-साथ लोगे। अभी इच्छा का प्रसंग यहाँ नहीं है, उसे आगे बतायेंगे। अभी तो कह रहे हैं कि केवल ज्ञान अपने आप में पूर्ण नहीं हो पाया, इसीलिये तो वैभव को प्रकट करने के लिये कर्म (क्षत्र) की आवश्यकता पड़ी।

यह समाजपुरुष कैसे चलता है, इसके लिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बड़ा सुन्दर दृष्टांत देते हैं–

'चातुर्वर्ण्यप्रसाध्यं सन्नैकजातिप्रसाधनम्।
कर्मालं सिद्धये लोके शिबिकोद्वहनं यथा।।'

पालकी को शिबिका कहते हैं। पालकी के अन्दर चारों कोनों में चार कहार लगते हैं। आजकल पालकी नहीं चलती तो मोटर भी चार चक्के से चलती है। ऐसा नहीं कि दो चक्के हटा दो तो मोटर आधी गति से चले या एक टायर निकाल दो तो पचहत्तर प्रतिशत गति से चलेगी। जब चारों पूरे होंगे तभी मोटर चलेगी, एक भी गड़बड़ हुआ तो मोटर रुक जायेगी। इसी प्रकार इस समाज को चलाने के लिये भी चार वर्ण चाहिये। यह नहीं हो सकता कि एक वर्ण नहीं है तो तीन-चौथाई गति से काम चल जायेगा, या दो नहीं हैं तो आधी गति से ही चल जाये। चारों पूरी तरह से कन्धा लगायेंगे तभी यह समाज-शिबिका ठीक चलेगी। यह किसी एक के द्वारा नहीं होगा। इसी बात को सनातनी भूल गये। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समझते हैं कि यह ब्राह्मण का ठेका है, हम क्या

करें ? जब कोई बात आती है तो यही कहते हैं कि 'ब्राह्मण ऐसे हो गये हैं।' क्या धर्म खाली ब्राह्मण का है ? यह सनातन-धर्म क्या केवल ब्राह्मण के द्वारा रक्षित होगा ? ब्राह्मण जवाब में कहता है कि 'हम क्या करें ? यजमान ही ऐसे हो गये हैं।' क्या केवल यजमानों से धर्म चलेगा ? इनमें से एक भी जाति चाहे कैसी भी प्रबल हो जाये तो भी वह समाजपुरुष को नहीं चला सकेगी। चारों की बराबर आवश्यकता पड़ेगी। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि चारों वर्णों को एक-जैसा प्रबल बनना पड़ेगा। यह नहीं कह सकते कि तीन वर्ण अगर प्रबल हो जायें, एक कमज़ोर भी रहे तो काम चलेगा। एक के कमज़ोर होने से भी सारा समाजपुरुष रुकने लग जायेगा। यह वैदिक समाज-रचना है। वैदिक समाज-रचना में समाज के किसी भी अंग को कमज़ोर करना नहीं बनता।

इसीलिये वैदिक समाज-रचना में हिंसा को कोई स्थान नहीं है। हिंसा में द्वेष है, एक-दूसरे को दबाने और पीछे खींचने की प्रक्रिया है। उस हिंसा का स्थान वैदिक समाज-रचना में नहीं है। वैदिक समाज-रचना का मूल पति-पत्नी को बताया, वहीं उसे घटा लो; जैसे घर में पति इतना प्रभावशाली हो कि पत्नी का व्यक्तित्व मर जाये तो वह घर भी घर नहीं है। जिस घर में पति पत्नी के द्वारा इतना वंचित हो गया हो कि उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाये, हर चीज़ में कहे कि 'उसको पूछो' तो वह घर भी घर नहीं है। पति और पत्नी को एक दूसरे का व्यक्तित्व समाप्त नहीं करना है, बल्कि दोनों का सम्मिलित व्यक्तित्व अर्थात् दोनों में से प्रत्येक का व्यक्तित्व महान् बनाना है। पति कहता है कि 'बद्रीनाथ की यात्रा करने की इच्छा है।' पत्नी कहती है—'बड़ा

अच्छा है लेकिन मैंने सत्संग में स्कन्दपुराण में सुन रखा है कि इस यात्रा में पहले केदार जाकर फिर बद्रीनाथ जाया जाता है। चलने का कष्ट तो होगा, क्योंकि बद्रीनाथ तक मोटर गई है, केदारनाथ तक अभी मोटर नहीं गई है लेकिन केदारनाथ जाना पड़ेगा।' दोनों ने केदार-बद्री की यात्रा की। यहाँ पत्नी के मन में यात्रा की इच्छा नहीं है, उसके मन में कोई संकल्प नहीं था। यह एक व्यक्तित्व है। मोटर द्वारा जल्दी से बद्री की यात्रा करके आ जाओ—यह दूसरा व्यक्तित्व है। और केदार की यात्रा करते हुए बद्री की यात्रा हो, तभी यात्रा की पूर्णता है—यह सम्मिलित व्यक्तित्व है। हमारे यहाँ पत्नी को सचिव कहा है जो मंत्री का काम करती है। इसके विपरीत, पत्नी कहे कि 'यात्रा में पैसा खर्च करने की कोई ज़रूरत नहीं है, अगले महीने लड़की के ब्याह का खर्चा आ रहा है।' बेचारा पति चुप हो जाये, बद्री की भी यात्रा नहीं हो तो यह पूर्व की अपेक्षा संकुचित व्यक्तित्व होगा; अथवा पत्नी ने यात्रा में जाना मान लिया लेकिन यह नहीं बताया कि क्या-क्या करना चाहिये, तो भी व्यक्तित्व अधूरा रह गया, यात्रा पूरी नहीं हुई। इसी प्रकार समाज के चातुर्वर्ण्य में एक-दूसरे को सहायता देते हुए समाज को आगे बढ़ाना है, ताकि चारों वर्णों की साथ-साथ उन्नति हो।

वैदिक समाज-रचना के अन्दर खराबी तब आई जब इस समाज-रचना के अन्दर शिबिका को उठाने वाला एक-एक व्यक्ति अपने को पूर्ण समझने लगा। सनातन धर्म से आनंद की प्राप्ति न होने का कारण यह समझना है कि ब्राह्मण सब कुछ करने वाला है, हमें कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। हमारे यहाँ बताया है कि

यजमान कैसा होना चाहिये ? 'विद्वान् यजति' जो कर्म को ठीक तरह से जानता है, वही यजमान होता है। आज का यजमान अगर थोड़ा पढ़-लिख गया तो कहता है कि 'हम खुद करना चाहते हैं, ब्राह्मण की क्या ज़रूरत है।' दूसरी तरफ कहते हैं 'पण्डित जी ! जो करना है सो करो, हमको तो समय नहीं है।' सनातन धर्म दोनों प्रकार के यजमानों को कमज़ोर मानता है। कर्म को जाने और फिर पुरोहित के साथ बैठकर करे। पुरोहित को भी आनंद आये और पता लगे कि कर्म हो रहा है। यह मिलकर कार्य करना ही सनातन धर्म की उन्नति का कारण था। जब यह मिलकर करना हट गया तब धीरे-धीरे कमज़ोरी आती चली गई। पहले धर्म के विषय में कमज़ोरी आई और फिर आपस के सम्बन्धों में कमज़ोरी आई। सबसे पहले द्विजों ने सोचा कि हम शूद्रों की हालत की क्यों चिन्ता करें ? हमारे घर में रहने वाले नौकर के घर में उसकी पत्नी के लिये खाना है या नहीं, इसकी चिन्ता हम क्यों करें ? पहले द्विजों ने शूद्रों के प्रति ऐसा व्यवहार किया। फिर आगे चले तो द्विजों में आपस में संघर्ष हुआ। विदेशियों के बड़े-बड़े आक्रमण हुए। क्षत्रिय लोग युद्ध करते रहे। वैश्य ने कहा कि 'हमें तो व्यापार करके रुपया कमाना है, हमें क्या चिन्ता है, लड़ाई लड़ने और राज्य करने का काम तो क्षत्रिय का है। इसलिये चाहे मुसलमान राजा हो, चाहे हिन्दू राजा हो, हमें क्या फ़र्क पड़ता है? हम तो बनिये हैं, राजा थोड़े ही हैं। जो भी राजा होगा, उसे टैक्स दे देंगे।' आज तक यही परिस्थिति है। चन्दा देते समय वैश्य कहता है कि 'मेरा फ़ायदा जिस पार्टी से निकल जाये, उसी को देना है, कोई भी पार्टी हो, हमें राजनीति से क्या मतलब ?'

इसके हृदय में यह है कि हमें अपने पैसे से मतलब, समाजपुरुष से क्या सम्बन्ध ? हमारे लिये वही पार्टी अच्छी है जो हमारा काम निकाल सके अर्थात् चाहे जो राजा बने, चाहे मुसलमान ही हो, उसे बना दो। पहले शूद्र गये, फिर वैश्य गये। फिर राजा ने कहा कि 'मुझ को ही क्या फ़र्क पड़ता है कि कौन समाजपुरुष का संरक्षण करता है। मुझे तो इससे मतलब है कि मुझे प्रशस्ति और ऐश्वर्य कौन देता है।' इस प्रकार तीसरा भी कटा।

महाराजा मानसिंह को शिवाजी ने सत्रह पृष्ठ का पत्र लिखा था। उसमें यही लिखा था कि 'मैं यह नहीं चाहता कि मैं राजा बनूँ। मैं चाहता हूँ कि आप राजा बनें। मैं केवल यह चाहता हूँ कि आप और हम एक धर्म के संरक्षक होकर आपस में न लड़ें। आप औरंगजेब का साथ छोड़ दें, मैं आपको सम्राट् मानने को तैयार हूँ। आप धर्म की दृष्टि से देखें, भविष्य में क्या होगा इस दृष्टि से देखें।' उसका जवाब देने वाला भी एक ब्राह्मण ही था जो महाराजा मानसिंह का पुरोहित था। उसने लिखा कि 'धर्म यह कहता है कि अपने मालिक के नमक को निभाओ।' इसको कहते हैं अधर्म को धर्म का नाम देना। उसने लिखा 'चूँकि हमारा मालिक औरंगजेब है, इसलिये उसकी सहायता करना ही हमारा धर्म है। शिवाजी ! तुम धर्म के उपदेशक नहीं, हमारे यहाँ अच्छे से अच्छे पण्डित हैं।' यह जवाब था। यह परिस्थिति केवल उन दिनों की नहीं, आज तक यही परिस्थिति है। आज उसका नाम 'पार्टी' रख दिया गया है। कहते हैं 'क्या करें, ग़लत काम तो हो रहे हैं लेकिन इतने साल से इस पार्टी में हैं, इसलिये इनके प्रति वफ़ादार हैं।' जब वह दल सत्ता से हट जाता है तब उसके प्रति

सारी वफ़ादारी भी नष्ट हो जाती है !

पहले शूद्र गया, फिर वैश्य भी गये। वैश्य से कहो कि 'धर्म-संरक्षण किया ?' कहता है 'दान कर दिया, यज्ञ कर दिये, धर्मशालायें खुलवा दीं, बावड़ियाँ खुदवा दी हैं, मन्दिर बनवा दिये हैं, इसलिये मेरा तो भविष्य के लिये कल्याण हो गया, पैसा चाहे मुसलमानों को गाय बेचकर बनाया हो, इससे क्या होता है !' ऐसे लोगों को दानवीर और धार्मिक कहा जाता है। जब वैश्य ने यह किया तब क्षत्रियों ने कहा कि 'मुझे क्या मतलब ! कोई भी सम्राट् हो।' इसलिये वह अपने ही धर्मावलम्बियों के विरुद्ध युद्ध करने को तैयार था। क्षत्रिय भी धर्मसंरक्षण के लिये नहीं रहे। अपने वैभव के संरक्षण के लिये रह गये। एक कड़ी बात कहेंगे। भारत की स्वतंत्रता के बाद यहाँ के सारे राजा भारत के साथ मिल गये। आज उस बात को तेईस-चौबीस साल हो गये। इस बीच में न जाने कितने अधर्म के कार्य इस देश के राजाओं के द्वारा हुए, क्या कभी किसी राजा को दुःख हुआ ? किसी राजा को दुःख नहीं हुआ, सब बड़े आनंद से बैठे थे। अधर्म का बीड़ा तब उठाया गया, जब उनके 'प्रिवी पर्स' ख़त्म होने लगे ! तब कहते हैं कि 'बड़ा अधर्म हो रहा है, हमारे पूर्वजों ने तो हिन्दू-राज्य के रक्षण के लिये इतने कार्य किये थे। बड़ा धर्म-विरुद्ध कार्य हो रहा है। इसलिये अब हम लोग चुनाव लड़ रहे हैं।' क्या यह अधर्म कार्य साल-छः महीने से ही शुरू हुआ है ?

ब्राह्मण के हृदय में जो कमज़ोरी आने लगी उसकी यह अन्तिम अवस्था हुई। ब्राह्मण कहता है कि 'धर्म की रक्षा मैं क्यों करूँ, मैं वेद क्यों पढ़ूँ, वेद से कोई कमाई नहीं है।' दक्षिण भारत में

एक अप्रैल से पहले एक कानून पास हुआ था और एक अप्रैल से वह कानून लागू भी हो गया है जिससे हरिजन वहाँ के मन्दिरों में पुजारी बन रहे हैं। कई लोगों ने हमसे कहा कि 'वहाँ बड़ा अन्याय हो गया है, हरिजन पुजारी बन रहे हैं।' वहीं के दो-चार लोग आये और कहने लगे कि 'इसके बारे में आंदोलन होना चाहिये।' हमने कहा कि आज जब तुम्हारे मन्दिरों में हरिजन पुजारी बनने लगे हैं तब तुम्हें धर्म याद आया है ? इससे पहले वेद-विरुद्ध बातों का प्रचार होता रहा तब तुम्हारे कानों में जूँ नहीं रेंगी ? भगवान् राम और कृष्ण के बारे में कितनी गंदी बातें मासिक पत्रिकाओं तथा अन्य पुस्तकों में लिखी जाती रहीं, उससे तुम्हें कोई मतलब नहीं था ? जब तुम्हारी आय के साधन में कोई कठिनाई आई तब तुम्हें धर्म याद आया ? इसलिये आज हमारे धर्म का मालिक एकमात्र भगवान् है। जैसे जिस सम्पत्ति का कोई मालिक नहीं होता, उसकी मालिक सरकार होती है, ऐसे ही सनातम धर्म को हम सबने मिलकर अनाथ कर दिया है। उसको ढाँकने के लिये कहते हैं कि यह भगवान् का धर्म है, भगवान् स्वयं रक्षा करेंगे। इसके पेट में है कि हमने इस धर्म को अनाथ बना रखा है।

संयुक्त परिवार का, चार भाईयों का व्यापार होता है तो धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। ऐसा देखा गया है। जब पूछते हैं तब पता लगता है कि बड़े भाई ने कपड़े की दुकान अलग कर ली है; मँझले ने घी की एक अलग दुकान खोल ली है, उसने डालडा की फैक्ट्री खोल रखी है। तीसरे भाई ने ऊन का काम कर लिया है; वह भी अलग हो गया, और चौथे भाई ने बिजली के सामान

की दुकान खोल रखी है। चारों का काम अच्छा चल रहा है। लेकिन जिस संयुक्त परिवार के आधार पर ये सब दुकानें खोलीं, वह व्यापार ढीला पड़ता जा रहा है क्योंकि काम करने वाला कोई नहीं है। ऐसा अनुभव किया होगा। हम कई बार जब घरों में भोजन करने जाते हैं तब अनुभव किया है कि जिस घर में एक बहू होती है तो चार साग बनाती है और चारों स्वादिष्ट होते हैं। जिस घर में चार बहुएँ होती हैं, उसमें दो साग बनते हैं और उसमें भी एक में नमक ठीक नहीं तो दूसरे में छौंक ठीक नहीं पड़ता। बड़ा आश्चर्य होता है। जहाँ एक है, उसने तो खुद किया और जहाँ चार हैं वहाँ एक-दूसरे पर डालती रहीं। यदि कहीं चारों मिलकर काम करतीं तो न जाने कितना स्वादिष्ट हो जाता।

इसी प्रकार ब्राह्मण ने आमदनी प्राप्त करने के लिये अलग व्यापार खोल रखा है, धर्म के लिये करने को उनके पास कुछ नहीं है। वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र ने भी अपना अलग-अलग धन्धा चला रखा है और सनातन धर्म की रक्षा करने के लिये परमात्मा ही एकमात्र है क्योंकि अनाथ का मालिक परमात्मा होता है। धर्म के प्रति कुछ करने के समय हम सब पीछे हटने लगते हैं। अपने-अपने कल्याण के लिये सभी काम कर लेंगे लेकिन धर्म के लिये हमको फुर्सत नहीं होती, हमारे पास साधन नहीं बचते। जैसे वहाँ चारों के द्वारा ही दुकान चलेगी, वैसे ही यहाँ भी जब चारों मिलकर इसे करेंगे, तभी यह धर्म-कार्य हो सकता है, किसी एक जाति के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता।

श्रुति बड़ी विलक्षण बात कहती है। श्रुति कहती है कि क्षत्रिय ब्राह्मण ही है ! क्षत्रिय ब्राह्मण कब बनता है ? वैदिक धर्म से

अपरिचित लोग तो नहीं जानते होंगे। जिस समय राजसूय यज्ञ होता है, उसके अन्दर पुरोहित को राजा कहता है कि तुम ब्रह्म हो। जब राजा के द्वारा कहा गया कि 'तुम ब्रह्म हो, यज्ञ के अन्दर ब्रह्मा हो', तब ब्रह्मा उसका प्रत्युत्तर देते हैं 'हे राजन् ! तुम ही ब्रह्म हो।' यह राजसूय यज्ञ का प्रकरण है। राजसूय में 'सू' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' होता है। कौन राजा राजसूय यज्ञ समाप्त करके मूर्धन्य राजा बनेगा ? जिसके अन्दर ब्रह्मभाव प्रकट हो गया। यही राजा का उत्पन्न होना है। वह राजसूय-यज्ञ का फल है। इसीलिये ब्रह्मा अन्त में कहते हैं कि 'तुम ही ब्रह्म हो, ब्राह्मण हो।' यदि वह ब्राह्मण हो गया तो आगे राज्य कैसे करेगा ? श्रुति बताती है कि घड़े को कहा जाता है कि वह मिट्टी है। घड़े की शक्ल में रहा हुआ भी मिट्टी ही है। उसको शक्ल बदलने की ज़रूरत नहीं पड़ती। बल्कि जब चूरा कर दोगे तो कीमत घट जायेगी। श्रुति कहती है कि क्षत्रिय को ब्राह्मण ने उत्पन्न किया। चूँकि ब्राह्मण से ही उत्पन्न है, इसलिये क्षत्रिय रहते हुए ही वह ब्राह्मण है। कब तक ब्राह्मण है ? जितनी देर तक राजसूय यज्ञ करता है उतनी देर तक ब्रह्मरूप ब्राह्मण है, यह निश्चय होता है। एक विलक्षण दृष्टि श्रुति यहाँ बता रही है। ब्राह्मण का कार्य ज्ञानशक्ति बताया। सारे समाज के संविधान का निर्माण ब्राह्मण ही करेगा। लेकिन ब्राह्मण का बनाया हुआ विधान ऐश्वर्य या विभूति वाला और समाज में पाल्य तब होगा जब ब्राह्मण के काम को कुछ समय के लिये क्षत्रिय करेगा। ब्राह्मण ने कह दिया कि 'अमुक काम होना उचित है', यह ब्राह्मण का काम हो गया। लेकिन समाज में वह तभी उचित होगा जब राजा आज्ञा देगा कि 'आज से तुम

लोगों को यह करना पड़ेगा।' जिस समय राजा लोग बैठकर संविधान बनाते हैं, उस समय वे ब्राह्मण का कार्य कर रहे हैं। गलती वहाँ होती है जहाँ वे समझते हैं कि हम चौबीस घण्टे और पाँच साल के लिये ब्राह्मण बन गये। ब्राह्मण अर्थात् बौद्धिक वर्ग सोच-विचार कर विधान बनायेगा कि क्या होना *चाहिये*। उस 'चाहिये' को जितनी देर तक बैठकर विधान का रूप दिया, बस उतनी देर के लिये वे ब्राह्मण हैं, आगे-पीछे नहीं। फिर उस कानून की रक्षा करना, उसे सही तरह लागू करना उनका कार्य है। आज ब्राह्मण से संविधान नहीं बनवाया जाता, कहते हैं कि अपनी क्षत्रशक्ति से ही कानून बना लेंगे, यही ग़लती का बीज है।

मोटी भाषा में समझ लोः मोतीलाल नेहरू के बारे में कोई सुना रहा था कि जब वह अपने कार्यालय में बैठकर कार्य करते थे तब उनके कमरे के बाहर एक आदमी बैठा रहता था, प्रायः सोया रहता था। उसका काम केवल इतना था कि जब मोतीलाल जी को किसी चीज़ की ज़रूरत पड़ती थी तो वे अन्दर से बोलते थे 'कोई है ?' जो वह बाहर बैठा हुआ आदमी कुछ नहीं करता था, वह केवल वही बात ऊँची आवाज़ में दोहरा देता था 'कोई है ?' फिर जो नौकर आवाज़ सुनता था, आ जाता था, अन्दर चला जाता था। उसका काम इतना ही था कि जब अंदर से आवाज़ आये तब बाहर बैठे हुए केवल कहना 'कोई है ?' उसके उस 'कोई है' में बड़ा ज़ोर था। मोतीलाल जी धीरे से बोलते थे। सोचो कि उस 'कोई है' के पीछ कौन-सा 'कोई है' था ? वह मोतीलाल जी का ही 'कोई है' था।

इस प्रकार क्षात्रशक्ति के हाथ में संरक्षण की सामर्थ्य है लेकिन

जिस समय वह कानून लागू करता है, उस समय उसे केवल 'रिले स्टेशन' बनना पड़ेगा। विचारक ने समाज के लिये जिस विधान का निर्णय किया है, उसे केवल उस संविधान को क्रियारूप में परिणत कर देना है। आज ग़लती का मूल यही है कि क्षत्रिय समझने लगा है कि ब्राह्मण का कार्य कर लिया तो काम पूरा हो गया। प्रधानमंत्री सोचता है कि दस्तखत करने से प्रधानमंत्री का काम समाप्त हो गया। दस्तखत करना तो ब्राह्मण का काम है, क्षत्रिय का काम तो उसे कार्यरूप में परिणत करना है। यदि यह नहीं किया तो वह क्षत्रिय किस बात का है ? जो कार्य उसका है उसको नहीं करता, जो 'होना चाहिये' अर्थात् विधानानुसार राज्य संचालन, उसे करने की सामर्थ्य नहीं है।

भारतीय, वैदिक सनातन समाज-व्यवस्था के अन्दर क्षत्रिय भी ब्राह्मण बनता है लेकिन क्रतुकाल के लिये ही बनता है। ब्राह्मण ने कह दिया 'त्वमेव राजन् ब्रह्मेति' हे राजन् ! मैंने तुझे बता दिया कि क्या करना है। अब जब तक यह यज्ञ चलता है, मेरे कहने के अनुसार करते रहना, क्योंकि तू भी अब ब्रह्म ही है।' ब्राह्मण को क्षत्रिय की योनि बताने के लिये कि ब्राह्मण ही क्षत्रियरूप में बनता है, पुराणों ने बड़ी सुन्दर कथा का निरूपण किया है।

पुराणों में कहा है कि परशुराम ने क्षत्रियों को नष्ट कर दिया। क्षत्रिय नहीं रहे तो फिर क्षत्रिय कहाँ से आ गये ? पुराण कहता है कि क्षत्रियों के नष्ट होने पर क्षत्राणियाँ ऋषियों के पास चली गईं थीं और ऋषियों के वरदान से उनके अन्दर पुत्र उत्पन्न हुए। यह पुराण का कहने का ढंग है कि क्षत्रिय की योनि अर्थात् जहाँ से क्षत्रिय उत्पन्न हुआ, वह ब्राह्मण ही है। परशुराम ने क्षत्रियों

का एक-दो बार नहीं इक्कीस बार संहार किया था। इसी प्रकार इक्कीस बार क्षत्रियनाश करो तब अंत में जाकर क्षत्रिय को ब्राह्मण योनि की प्राप्ति होगी। परशुराम ज्ञान है। ज्ञान के सप्तशीर्षण्य द्वार (दो आँखें, दो कान, दो नाक और मुख) पहले बता आये हैं। इन सात दरवाज़ों के द्वारा सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियाँ बनती हैं। इसलिये सात सत्त्वगुणी, सात रजोगुणी और सात तमोगुणी—ये इक्कीस वृत्तियाँ विषयोन्मुखी हैं अर्थात् सारी वृत्तियों का काम तो क्षत्रियत्व का है, यद्यपि ये मूलतः ब्राह्मण हैं। ये कभी भी ज्ञान को ठीक नहीं करतीं। उस ज्ञान को सत्त्वगुण या रजोगुण का पुट दे देती हैं। आँख से हमको चीज़ नहीं दिखाई देती। आँख से हमको या तो चीज़ सुन्दर दिखाई देती है, सत्त्वगुण का उद्रेक हो गया या आँख से घृणित चीज़ दिखाई देती है; यह रजोगुण, का उद्रेक हो गया; अथवा चीज़ को देखकर प्रमादी या उदासीन वृत्ति बन जाती है, यह तमोगुण का उद्रेक हुआ। चीज़ जैसी है, वैसी समझ में नहीं आती, गुण के पुट के साथ समझ में आती है।

दृष्टि कैसी होती है ? एक महात्मा बैठे हुए थे। उधर से एक आदमी ने आकर महात्मा से कहा कि 'एक सुन्दर स्त्री इधर से गई है, आपने देखा है ?' महात्मा ने कहा कि 'हड्डी के ऊपर चमड़ी का चीथड़ा लपेटे कोई गया था, आदमी था या औरत यह पता नहीं।' यह दृष्टि है कि न वह चीज़ अच्छी है और न खराब है, जैसी है, वैसी है। जब इन इक्कीस को नष्ट कर दोगे तब आगे जो ज्ञान इन इन्द्रियों से होगा, वह शुद्ध ब्रह्मरूप होगा और वही ब्राह्मण है। इसलिये इक्कीस बार नाश किया तब आगे की

सृष्टि का संरक्षण करने वाले ब्राह्मण योनि वाले हुए। इस ब्राह्मण योनि का ध्यान न देने से क्या नतीजा होता है, वह आगे बतायेंगे।

प्रवचन - ५६

पुरुषसूक्त में भगवती श्रुति हमारे सामने प्रजापति पुरुष का मानव समाज में जो प्रतिबिम्ब है, उसके बिम्ब का वर्णन कर रही है। समाज-रचना का विचार करते हुए वेदांत की बिम्ब-प्रतिबिम्ब की दृष्टि को हमेशा याद रखना : बिम्बानुकारी प्रतिबिम्ब होता है, *सर्वथा* बिम्ब के जैसा ही प्रतिबिम्ब नहीं होता। दर्पण में तुम अपना मुँह देखते हो। तुम्हारा मुँह तो चेतन है लेकिन जो मुँह दीख रहा है, वह चेतन नहीं है। यह नहीं समझना कि वह जड है, लेकिन वह चेतन नहीं है। वह भी चेतन होता तो दो बोलने वाले हो जाते। बिम्ब का निश्चय किया जा सकता है, प्रतिबिम्ब बदलता रहता है। जितना साफ काँच होगा, उतना साफ प्रतिबिम्ब पड़ेगा और जितना काँच खराब होगा, उतना ही प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ेगा। यहाँ श्रुति ने समाज-रचना का विचार प्रजापति की दृष्टि से किया, किसी एक मानव या किसी एक युग की दृष्टि से नहीं किया।

प्रायः लोग समझते हैं कि सम्भवतः किसी अतीत काल में अनेक वर्ष पूर्व कोई ऐसा समय होगा जब मानवों के अन्दर वर्ण-व्यवस्था ठीक रही होगी, अर्थात् कोई ऐसा काल था जिसमें

सब लोग वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल चलते थे। लेकिन जब हम अपने पुराण-इतिहास को देखते हैं तब ऐसा कोई समय नहीं मिलता। यदि ऐसा कोई समय होता तो पुराण इतिहासों में वर्णित होता। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ एक तरह का बिम्ब बताया जा रहा है। यह किसी प्रतिबिम्ब का वर्णन नहीं है। जैसे ईश्वर बिंब है और जीवं प्रतिबिम्ब है। जीव को जब कहा जाता है कि 'तू ईश्वर से अभिन्न है, ईश्वर का प्रतिबिम्ब है' तो कोई भी जीव कभी भी सर्वथा ईश्वर के अनुरूप हो जाये यह सम्भव नहीं है। जीव के सामने बिम्ब का, ईश्वर का रूप-वर्णन इसलिये किया जाता है कि जीव जितना शुद्ध होगा, जितना उत्कृष्ट होगा, उतना ही उसके अन्दर ईश्वर का प्रतिबिम्ब साफ पड़ेगा, वह उतना ही ईश्वर के *जैसा* होगा। आदर्श की दृष्टि से ज़रूर कह सकते हैं कि किसी समय जीव सर्वथा ईश्वर हो जाये लेकिन वह एक तरह की दृष्टिमात्र है। वस्तुतः जब तक जीव में जीवत्व है, तब तक कुछ न कुछ परिच्छिन्नता उसमें अवश्यंभावी है। उस परिच्छिन्नता के कारण उसमें ईश्वर से कुछ न्यूनता ज़रूर रहेगी। लोग यह ग़लती करते हैं कि ईश्वर के अत्यंत नज़दीक पहुँचे हुए जीव की किसी एक परिच्छिन्नता को नमूना बनाकर अपनी अनंत परिच्छिन्नता को ढाँकना चाहते हैं। जीव जितना भी महान् बन जाये। जब तक जीवत्व है, तब तक उसमें कुछ न कुछ परिच्छिन्नता ज़रूर रहेगी लेकिन उस एक परिच्छिन्नता को निमित्त बनाकर अपनी अनंत कमज़ोरियों को छिपाने से कोई लाभ नहीं, हानि ही है।

दुर्वासा महर्षि बीसियों सालों तक खाते नहीं थे, तपस्या करते रहते थे, केवल वायु-भक्षण ही करके रहते थे। दुर्वासा महर्षि ने

दो-चार बार कहीं क्रोध भी किया है। जब किसीसे कहते हैं कि क्रोध करना बुरा है तो उसका जवाब मिलता है 'दुर्वासा जैसे महर्षि भी क्रोध करते थे, क्रोध कैसे खत्म हो सकता है ?' हम कहते हैं ठीक है, दुर्वासा क्रोध करते थे तो बीसियों साल बिना खाये तपस्या भी करते थे। तब कहते हैं कि 'वह अतिशयोक्ति है, बिना खाये कोई नहीं रह सकता।' यदि उसी ग्रंथ में लिखी हुई यह बात अतिशयोक्ति है तो उनका क्रोध करना भी अतिशयोक्ति होगा। क्रोध भी नहीं करते होंगे। लेकिन अपनी क्रोध की कमज़ोरी को छिपाने के लिये, उसे भी उचित ठहराने के लिये दुर्वासा महर्षि के क्रोध को नज़ीर बनाते हैं। कृष्ण ने गोपिकाओं के साथ रास किया, इस पर बड़ा विचार चलता है। लेकिन जब कहते हैं कि वे गोपिकाओं को छोड़कर चले जाने के बाद फिर कभी उनसे मिलने नहीं गये तब कहते हैं 'उससे कोई मतलब नहीं है, हमको तो वह रास वाली चीज़ ही पसंद है।' युधिष्ठिर यावत्-जीवन सत्य बोले। जीवन में एक प्रसंग आया जिसमें उन्होंने असत्य बोला। जो सवेरे से शाम तक टैक्स की चोरी करने वाले, घूस खाने वाले, क्षण-क्षण में झूठ बोलने वाले हैं, वे यह कहने में नहीं शर्माते कि 'युधिष्ठिर भी झूठ बोले थे तो हम क्या कर सकते हैं ?'

शास्त्रों ने सत्य बात कही, इसलिये बड़े से बड़े महापुरुष की कोई कमज़ोरी थी तो वह भी शास्त्रों ने बताई। उनकी अच्छाईयों को तो हम अतिशयोक्ति मानते हैं लेकिन उनकी बुराईयाँ मानने में हमें बड़ी रुचि रहती है, बड़ी मीठी लगती है। कोई अगर यह सुनाये कि अमुक आयकर अधिकारी बड़ा ईमानदार है तो तुम कहते हो 'होगा, लेकिन मुश्किल है।' पर कोई यदि सुनाये कि

आयकर क़ा अमुक अधिकारी इस-इस प्रकार से घूस खाता है तो इस बात को उसी समय मान लेते हो। एक ही आदमी यदि किसी की प्रशंसा करे तो सोचते हो कि किसी मतलब से ही करता होगा, लेकिन निन्दा करे तो झट मान लेते हो, वह बात जी में टिक जाती है। कारण है कि वह निन्दा का विषय खुद अपने हृदय में है, खुद अपने में ही वह कमज़ोरी है। उस कमज़ोरी को ढाँकने के लिये तुम यह सिद्ध करना चाहते हो कि 'मैं अकेला नहीं हूँ।'

जीव चाहे जितना महान् होगा, उसके अन्दर जब तक जीवत्व है, तब तक कुछ न कुछ परिच्छिन्नता रहेगी, क्योंकि बिम्ब की प्रतिबिम्ब से कितनी भी समानता हो, लेकिन वह सर्वथा बिम्ब नहीं होगा। प्रतिबिम्ब जितना बिम्ब के जैसा हो उतना ही श्रेष्ठ है। जितना दर्पण श्रेष्ठ होगा, उतना प्रतिबिम्ब श्रेष्ठ पड़ेगा। प्रतिबिम्ब की जितनी श्रेष्ठता उतना ही वह बिम्ब के अधिक समान होगा। बिम्ब (ईश्वर) का वर्णन इसलिये किया जाता है कि उसके साथ मिलान करके पता लगे कि हम कितने आगे बढ़े या कितने पीछे हटे। यही बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त समाज-रचना में है।

जो आदर्श वर्ण-व्यवस्था है, वह वस्तुतः प्रजापति में विद्यमान होने के कारण बिम्बरूप है; जिसे आजकल के समाजवेत्ता 'यूटोपिया' (Utopia) कहते हैं। जब उसे समाज में प्रतिबिम्बित करोगे तो कुछ फ़र्क आयेगा। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक-वार्तिक के अन्दर कहते हैं कि यह जो वर्ण-व्यवस्था है, यह कहाँ की है ? 'देवतायाः समाख्यातो विभागो वर्णसंश्रयः'—यह विभाग देवताओं में है। देव ही हमारे यहाँ बिम्ब

हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ वर्ण रचना बताई, वहाँ किसी मनुष्य का नाम नहीं लिया है। राजन्य की रचना में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र इत्यादि का नाम लिया है, पूषा की उत्पत्ति शूद्र नाम से बताई। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जो चातुर्वर्ण्य का वर्णन श्रुति ने देवताओं को लेकर किया है, वस्तुतः यह वर्ण-विभाग देवताओं के अन्दर पूर्णरूप से मिलेगा। इतिहास के किसी भी काल में यदि देखोगे तो वर्ण-विभाग के अन्दर पूर्णता मानव-समाज में मिलने वाली नहीं है। इससे यह मानना कि यह व्यवस्था ठीक नहीं है, गलत होगा। किसी काल में मनुष्य उसके अधिक अनुरूप था और किसी काल में मनुष्य उसके कम अनुरूप बन जाता है। पूर्णता न होने पर भी जितना-जितना वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल प्रतिबिम्ब मानव समाज में पड़ेगा, उतना ही वह आदर्श के अधिक नज़दीक होगा। वर्ण-व्यवस्था एक आदर्श है जिसके समीप जाने का निरंतर प्रयत्न है। आदर्श कभी भी पूर्ण रूप से नहीं घटता। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी किसी प्रकार से मानव समाज में शत-प्रतिशत हो जाये, यह कभी नहीं होता और न होगा।

ऐसा क्यों ? यदि किसी आदर्श के अनुरूप समाज पूर्णरूप से बन जाये तो अगले दिन से समाज के सामने कार्य करने का उद्देश्य क्या रहेगा ? उद्देश्य का अर्थ ही होता है कि उसके लिये कुछ किया जाये। हमारे यहाँ पुराने लोग कहा करते थे कि 'जीने के लिये मनुष्य को कोई एक तीव्र इच्छा चाहिये', सुना होगा। गाँधी जी के मन में आज़ादी की इच्छा थी, वह इच्छा पूरी हो गई तो जल्दी ही मर गये ! कोई आदमी मरता नहीं था तो कहते थे कि 'इसके प्राण कहीं अटक रहे हैं।' यहाँ प्राण का मतलब

वायु नहीं है, यहाँ प्राण का मतलब इच्छा है। अर्थात् कोई एक उद्देश्य या इच्छा इसके मन में है, यदि वह उद्देश्य पूरा हो जायेगा तो इसके प्राण निकलेंगे। मालवीय जी के बारे में कहते हैं कि जब उनके प्राण नहीं छूट रहे थे तब लोगों ने उनसे पूछा। उन्होंने कहा 'मैंने जीवन में अनेक कार्य किये, अनेक चीज़ें बनायीं लेकिन भगवान् शंकर का मन्दिर नहीं बना पाया।' लोगों ने प्रतिज्ञा की कि 'हम पैसा जुटाकर बना देंगे।' यह प्रसिद्धि है।

जैसे व्यक्ति में, वैसे ही समाज में समझना चाहिये। यदि समाज के सामने भी कुछ पाने का कोई आदर्श नहीं होगा तो वह समाज समाप्त हो जायेगा। जैसे व्यक्ति के प्राण अटके हैं तो वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहेगा, ठीक इसी प्रकार समाज के सामने भी कोई उद्देश्य होगा तो वह समाज जीवित रहेगा। यदि उद्देश्य पूर्णरूप से कभी प्राप्त हो जाये तो वह समाज निरुद्देश्य होने के कारण विशृंखलित होकर मर जायेगा। लोग समझते हैं कि उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति न होना कोई कमज़ोरी है। विचार करने से पता लगता है कि उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति हो जाये तो यह स्वतः में एक कमज़ोरी है, क्योंकि सबसे ज़्यादा कमज़ोरी या सबसे ज़्यादा खराबी शरीर में यही है कि वह मर जाये ! जिस व्यक्ति के जीवन में उद्देश्य नहीं होगा तो उसका नतीजा होगा कि वह मर जायेगा। जो उद्देश्य पूर्ण हो सके, वह उद्देश्य उद्देश्यत्व-रहित है। उद्देश्य कहते ही उसे हैं जिसके चाहे जितने नज़दीक जाओ, लेकिन वह कभी भी पूर्ण न हो।

यहाँ जो वर्ण को आधार बनाकर श्रुति वर्णन कर रही है, वह देवताओं के अन्दर वास्तविक विभाजन है। यदि मनुष्य में यह

मानोगे तो किसी मनुष्य में कोई वर्ण सिद्ध नहीं होगा। ब्राह्मण के कर्तव्यों के अन्दर गिनाया गया है कि वह शम, दम आदि का अभ्यास करे। इसका मतलब यह हो जायेगा कि क्षत्रिय जिस समय क्रोध न करे, उस समय वह ब्राह्मण बन जायेगा, क्षत्रिय नहीं रहेगा। चौबीसों घण्टे कोई क्रोध करके नहीं रहेगा। यह इसलिये समझाते हैं कि आजकल बहुत-से लोग यह बात कहते हैं कि मनुष्य के गुण को देखकर निर्णय कर लेना चाहिये कि इसका कौन-सा वर्ण है। मानव जाति का विचार करो तो प्रत्येक व्यक्ति में सब गुण मिलते हैं। जैसे ब्राह्मण भी विद्यार्थी को पढ़ायेगा, वह पहाड़ा या मंत्र याद करके नहीं आयेगा तो अध्यापक को गुस्सा करना पड़ेगा। तब कहोगे कि 'इसने तो क्रोध कर लिया, इसलिये इसको क्षत्रिय में गिनो।' चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, घर का कार्य चलाने के लिये कुछ न कुछ करना पड़ेगा। वैश्य का कर्म है 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजं' खेती करे, गाय की रक्षा करे और व्यापार करे। यदि तुमने अपने घर में बगीचा लगा लिया तो बनिये बन गये। चाहे ब्राह्मण हो, भगवान् की पूजा के लिये फूल के पौधे लगा लिये, तो कृषक हो गये। तुमने दूध पीने के लिये गाय बाँधी तो गोरक्षक हो गये, इसलिये वैश्य बन गये। यदि वैश्य के घर कोई चोरी करने आया और उसने उसका हाथ पकड़ लिया तो वह क्षत्रिय बन गया। जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्णन शास्त्र में किया जाता है, तब किसका वर्णन है ? आदर्शों का। देवता आदर्श ब्राह्मण इसलिये बताया जाता है कि मानव (ब्राह्मण) उसके जितना नज़दीक पहुँचेगा, उतना वह असली ब्राह्मण माना जायेगा। इसका मतलब यह नहीं लगा लेना कि

मानव समाज में कोई ब्राह्मण तुमको ऐसा मिलेगा जिसमें ये सब गुण घट जायें। इसी प्रकार आस्तिकता को गीता में ब्राह्मण का धर्म गिनाया है। क्या इसका मतलब यह है कि जितने वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र भगवान् को मानते हैं, वे सारे अपने वर्ण से गिर गये?

पहले उसका अध्ययन करने के लिये आदर्श को समझ लिया तब उसके अनुसार ही मनुष्यों में उसको लाना पड़ेगा, उसके बाद मानव में संभव विभाग को समझ सकोगे। लोग ग्रंथों को देखते समय इस आदर्शरूपता को, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव को भूलकर सोचते हैं कि किसी मानव समाज के अन्दर ऐसी रचना होती होगी। उसी दृष्टि से विचार करते हैं कि यह व्यावहारिक है या नहीं। यह एक आदर्श हुआ, एक बिम्ब हुआ जो हम लोगों के सामने चित्रित है, अब उस बिम्ब के अनुसार हम चातुर्वर्ण्य की रचना रखें।

प्रतिबिम्ब का विचार करते हुए जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस उपाधि को देखना पड़ेगा। जैसे काँच को जितना अच्छा साफ और पालिश वाला बनाते चले जाओगे, उतना ही चेहरा काँच में साफ होता जायेगा। प्रश्न है कि वह कौन-सा दर्पण है जिसके अन्दर प्रजापति का प्रतिबिम्ब पड़ने से समाज प्रतीत होता है ? कल बताया था कि ब्राह्मण का ऐश्वर्य क्षत्रिय में प्रकट हुआ। वस्तुतः राजा या क्षत्रिय एक दर्पण है। यहाँ राजन्य शब्द का प्रयोग स्पष्ट ही है 'बाहू राजन्यःकृतः।' राजन्य अर्थात् राज्य, क्षत्रिय अथवा राजा में चातुर्वर्ण्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। यदि यह ठीक न रहे तो प्रतिबिम्ब गड़बड़ा जायेगा। इसी दृष्टि से मनु कहते हैं कि सारी प्रजा का कारण राजा है।

राजा का मतलब किसी एक व्यक्ति-विशेष से नहीं । मीमांसा के अन्दर विचार आया कि राजा का क्या अर्थ है ? वहाँ राजा का अर्थ करते हुए कहा है कि 'राजा गच्छति' का मतलब होता है कि राजा के जितने भी दल वाले हैं उन सबके साथ वह जा रहा है। सब साथियों को अलग-अलग नहीं कहना पड़ता है अर्थात् चंवर वाले, छत्र वाले, हाथी चलाने वाले और मंत्री इत्यादि को अलग-अलग नहीं कहना पड़ता। 'राजा जाता है' कहने पर बाकी सब जाते हैं यह अपने आप ग्रहण हो जाता है। व्यवहार में राज्य की जो शक्ति है वह बलवत्तर अनुभव से सिद्ध है। राज्य की शक्ति बाकी सब शक्तियों से प्रबलतर पड़ती है। इसके लिये कोई बहुत युक्तियाँ देने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। अनुभव से ही सिद्ध हो जाता है कि यह बलवत्तर है। राजा या राजा की सत्ता को लेकर मनु कहते हैं 'राजा कालस्य कारणं' राजा ही काल का कारण है अर्थात् काल-पुरुष का प्रतिबिम्ब जब समाज में पड़ता है तो कैसा प्रतिबिम्ब पड़ेगा इसमें कारण राजा या राज्यसत्ता है। यह उसकी बलवत्तरता है। वह जैसे-जैसे समाज का परिवर्तन करता चला जाये, वैसे-वैसे समाज बदलेगा। प्रजापति वैसा ही रहेगा, बिम्ब में कोई फ़र्क नहीं आता। आदर्श भी नहीं बदलेगा। लोग प्रतिबिम्ब को देखकर आदर्श बदलना चाहते हैं। आज हमारे वर्ण-विधान का प्रतिबिम्ब बड़ा गन्दा हो सकता है। लेकिन उसका कारण बिम्ब नहीं है, उसका कारण दर्पण की खराबी है।

जब बिम्बों का विचार किया जाता है, उस समय उसके अन्दर प्रतिबिम्ब कैसा पड़ रहा है, इसका विचार अनपेक्षित है। जैसे जब ईश्वर का वर्णन हो रहा हो, उस समय बीच में 'ईश्वर सर्वव्यापक

और सर्वथा धर्मस्वरूप है तो हिटलर में उसका प्रतिबिम्ब ऐसा क्यों पड़ा ?' यह प्रश्न करना व्यर्थ है, क्योंकि उस प्रतिबिम्ब का कारण हिटलर का अंतःकरण है, बिम्ब का उसमें कोई दोष नहीं। उसी प्रकार समाज-रचना के अन्दर यदि वर्ण-विभाग का प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता तो उसका दोष बिम्ब-रूपी प्रजापति का नहीं है, बल्कि जिसके अन्दर प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उस दर्पण की कमज़ोरी है। ईश्वर के गुण ठीक हैं या नहीं, इसका विचार करते समय केवल बिम्ब को सोचना पड़ेगा। हम लोग प्रायः गलती यह करते हैं कि विदेशी विचारों के बिम्ब को लेते हैं और उसकी तुलना अपने यहाँ के प्रतिबिम्बों से करते हैं। यदि प्रतिबिम्बों का विचार करें तो सब जगह के प्रतिबिम्बों को देखो। यदि बिम्ब का विचार करो तो सब जगह के बिम्बों को देखो। प्रजापति-रूप वर्ण-विभाग का जो वर्णन यहाँ किया गया है, वह बिम्ब का वर्णन है।

क्षत्रिय की बलवत्तरता को लेकर बताया कि क्षत्र की योनि अर्थात् दर्पण में जब प्रतिबिम्ब पड़ेगा, उसमें प्रतिबिम्ब पड़ने का कारण ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण है। ब्राह्मण का राज्य में जो प्रतिबिम्ब है, उस प्रतिबिम्ब का नाम समाज है। जब प्रतिबिम्ब लीन होगा, तो बिम्ब में जायेगा। इसी प्रकार जब समाज में कोई गड़बड़ी देखने में आयेगी तब समाज के प्रत्येक घटक को ब्राह्मण में लीन होना पड़ेगा, पुनः ब्राह्मण में लीन होने के बाद राज्य में प्रतिबिम्ब डालना पड़ेगा। प्रतिबिम्ब बिम्ब का अनुकारी होता है। प्रतिबिम्ब के भरोसे बिम्ब नहीं चलता। बिम्ब ब्राह्मण है, प्रतिबिम्ब ब्राह्मण में ही लीन होगा। मनुष्य जैसा विचार करेगा, वैसा ही समाज में परिवर्तन लायेगा। आज यदि समाज-रचना में, प्रतिबिम्बरूपता में कुछ

गड़बड़ी देखने में आती है तो इसका कारण यह है कि हम लोग कभी भी बिम्ब के साथ मिलते नहीं हैं। कभी ब्राह्मण के साथ मिलकर, एकता-आपादन करके विचार नहीं कर पाते कि हम क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र क्यों बने। इस 'क्यों' को बताने वाला तुम्हारा विचार है। जब ब्राह्मण में लीन होगे तब वह तुम्हें बतायेगा कि क्षत्रिय को बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी। जिसने कभी तलवार नहीं उठाई ऐसा क्षत्रिय सवेरे से शाम तक व्यापार करते हुए जीवन में एक बार सोचता है कि मैं क्षत्रिय हूँ। बाकी जीवन में उसको कभी यह नहीं होता कि मैं क्षत्रिय हूँ। कहता रहेगा कि 'मैं क्षत्रिय हूँ' पर क्यों हूँ—यह विचार नहीं करेगा। केवल विवाह के समय विचार करता है और सोचता है कि बस इतना ही वर्ण-विभाग का उद्देश्य है कि विवाह के समय जाति देख लो। जाति का बाकी कोई उद्देश्य नहीं है। ऐसे ही सबमें समझ लो। क्षत्रिय पर ज़ोर इसलिये देना पड़ता है कि जैसे बिम्ब की दृष्टि से ब्राह्मण प्रधान है, वैसे ही प्रतिबिम्ब की दृष्टि से क्षत्रिय प्रधान है, राज्य प्रधान है। लेकिन होता यह है कि बाहुबल से उन्मत्त होकर क्षत्रिय भूल जाता है कि मेरा क्षत्रियत्व किस चीज़ को लेकर था, किस प्रतिबिम्ब को घटाने के लिये मेरे दर्पण की रचना की गई थी।

जब दर्पण अपने कार्य को सम्पन्न नहीं करता तब दर्पण को बदलना पड़ता है। पहले ज़माने में एक काँच आया करता था जिसमें चेहरा देखो तो मोटा दीखता था। वह काँच इसलिये बनाया जाता था कि बहुत-से लोग चाहते थे कि हम अपने चेहरे के सौन्दर्य को अच्छी तरह देखें, कहीं दाग लगा हो तो साफ करें, उससे पता लग जाता था कि तिलक दायें-बायें कम है या ज़्यादा

है, उसे ठीक कर लेते थे। इसीलिए उसका उपयोग होता था। यदि थोड़े दिनों में भूल गये कि इस काँच का उद्देश्य क्या है और समझने लगे कि मैं फूलकर मोटा हो गया तो उसे हटाकर दूसरा काँच देखना पड़ेगा। इसी प्रकार जो क्षत्रिय अथवा जो राज्य, वर्ण-विभाग को अपने अन्दर ठीक तरह से प्रतिबिम्बित नहीं कर सकेगा उस क्षत्रिय या राज्य को बदलना पड़ेगा। दर्पण को जब परिवर्तित करोगे, तभी उसमें परिवर्तित प्रतिबिम्ब पड़ेगा। जब लोग कहते हैं कि 'वह वर्ण-विभाग राज्य माने या न माने, हम मानते हैं फिर भी हैं इसी राज्य के', तब हमें हँसी आती है। यदि तुम्हारे बिम्ब को वह राज्य प्रतिबिम्बित नहीं कर रहा है तो वह तुम्हारे लिये काँच कहाँ रहा ? तुम्हारे मुँह को जो दिखायेगा, उसी को तो काँच मानोगे ? इसी प्रकार जो वर्ण-विभाग को ठीक प्रकार से प्रतिबिम्बित करेगा वही प्रजापति-पुरुष का दर्पण हो सकेगा। नहीं तो उसकी दर्पण-संज्ञा प्रजापति-पुरुष के लिये कैसे होगी ?

यह केवल आज ही नहीं है, पहले भी वेन ने यही कार्य किया था। वेन के राज्य में जब प्रजापति पुरुष का प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ने लगा तब ऋषियों ने वेन को मार डाला। यह नहीं समझना कि आप लोग ऋषियों से ज़्यादा वैराग्यवान् हैं। आजकल लोग समझते हैं और कहते हैं कि 'संसार का ऐसा ही रूप चलता रहता है, संसार की चिन्ता करने से क्या होगा ? यह संसार तो वैराग्य के योग्य है, इसलिये यहाँ से अपने मन को हटाकर हम तो शिवचिंतन करते हैं।' हम उनसे यह पूछते हैं कि जिन ऋषियों ने वेन को मारा था, क्या उनसे ज़्यादा तुम वैराग्यवान् या ज्ञान वाले हो ? विचार करने की बात है कि जितने कालों के अन्दर

प्रजापति-पुरुष का प्रतिबिम्ब गड़बड़ाया, उतने ही कालों के अन्दर सब लोगों ने एक ही प्रयत्न किया। नौ दिन तक सप्तशती का पाठ करते हो, उसमें भी यही बताया है कि समाज-रचना का प्रतिबिम्ब गड़बड़ाता है तो उसका नतीजा होता है कि सारे देवता मिलकर प्रयत्न करते हैं कि वे एक शरीर में आ जायें या ब्रह्माणी, कौमारी आदि भिन्न-भिन्न शक्तियों को बनाकर उपाय करें। सब एक शरीर धारण करके बिगड़ी स्थिति को नष्ट करते हैं।

जब बच्चों से बात मनवानी हो या किसी स्त्री पर कोई प्रतिबंध लगाना हो तब तो राम की आज्ञाकारिता और सीता का पातिव्रत्य सुनायेंगे किन्तु उनसे कहें कि अधर्म के विरुद्ध राम जैसे लड़ो तो कहेंगे 'वे तो भगवान् थे, हमारी उनसे कहाँ बराबरी है।' धर्म के कार्य करने के लिये जब राम के आचरण की बात आती है तब कहते हो 'वे भगवान् हैं', और स्वार्थ की पूर्ति के लिये उसी चरित्र को सामने रखते हो। कारण क्या है ? वस्तुतः सप्तशती और रामायण का पाठ तो कर लेते हैं, लेकिन उसके ऊपर हृदय की श्रद्धा, आस्तिकता नहीं है। यदि राम की तरह आचरण करना है तो उनके सारे चरित्र को देखना पड़ेगा। वह एक आदर्श है। जितना जिस स्थल पर हो सके उतना ही हम उस आदर्श के नज़दीक जाने का प्रयत्न करें। तब तो हम उस आदर्श को प्राप्त कर सकेंगे नहीं तो नहीं।

हम क्या करते हैं ? भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'यस्तु बाहुबलोन्मत्तः स्वां योनिं ब्राह्मणं नृपः।
वाङ्मात्रेणाऽपि सक्रोधो हिनस्तीह प्रमादतः।।
ब्रह्मोपमर्दनात् पापः प्रागपि क्रूरकर्मकृत्।

ततोऽपि पापात् पापीयान् स स्याद् ब्रह्मापवादतः ।।'

हम अपनी वाणी के द्वारा ब्रह्म का अपवाद करते हैं। यहाँ ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण बता ही आये हैं। हमारा जो आदर्श है, जिस आदर्श के अनुसार जीवन बनाना है, उसको हम हमेशा नीचा बताते रहते हैं। निरंतर हमारे दिमाग में यह ठूसा जाता है और हम मान लेते हैं कि हमारे आदर्श पुराने हैं, सड़े-गले हैं, किसी काम के नहीं हैं। विजयादशमी के दिन जाकर रावण को जलता देख आयें, क्योंकि हम धार्मिक हैं, लेकिन इससे ज़्यादा कुछ धर्म की विशेषता है, यह नहीं स्वीकारते, धर्म को पुराने ज़माने की सड़ी-गली चीज़ें मानते हैं। वस्तुतः समाज वह है जो हमने मान रखा है। बार-बार कहा जाता है कि 'युग के अनुसार धर्म बदलो।' धर्म वह होता ही नहीं जो युग के अनुसार बदले। धर्म तो नित्य होता है, वह बदला नहीं करता। यदि किसी भी धर्म के अंग के बारे में यह सिद्ध हो जाये कि यह किसी भी एक काल या देश के अनुरूप नहीं है तो उस क्षण से वह धर्म नहीं, अधर्म हो जायेगा। यह हो सकता है कि न्यूटन ने जो नियम बनाया, वह ग़लत सिद्ध हो, पर यह नहीं हो सकता कि १९वीं शताब्दी तक तो संसार में न्यूटन का नियम चलता था, फिर वह नियम बदल गया ! यह तो कह सकते हैं कि न्यूटन ने गलती की, लेकिन यह नहीं कह सकते कि न्यूटन के अनुसार पहले ज़माने में काम होता था, अब बदल गया। इसी प्रकार यह सिद्ध कर सकते हैं कि राम ने जो किया वह गलत था, या ठीक था; इसके बारे में विचार-विमर्श हो सकता है। लेकिन लोग दुधारी या दुरंगी चाल चलते हैं। यह कहने का साहस नहीं कि राम गलत थे और हृदय से यह मानने

का साहस भी नहीं कि राम ठीक थे। मानते हैं कि अपने ज़माने के लिये राम ठीक रहे होंगे पर हमारे ज़माने के लिये हम ठीक हैं।

वाणी से भी जो हमारे आदर्श की हिंसा करते हैं वे पाप बटोरते हैं, समझ-बूझकर ऐसा करने वाले तो पापी हैं ही। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जो प्रमाद से भी हमारे आदर्शों को ख़त्म करना चाहे वह पाप की मूर्ति है, पापस्वरूप है। पूर्व जन्म में भी इसने अवश्य अपने माता-पिता की हत्या की होगी। इसीलिये यहाँ आकर भी यह माता-पिता से भी अधिक प्रेम करने वाली श्रुति के आदर्शों का हमेशा खण्डन करता है। ऐसे व्यक्ति का दर्शन भी करो तो समझो कि हमने पाप का दर्शन कर लिया। इस पाप से वह और भी अधिक नरक योनियों में जाता जायेगा। आदर्शों का खण्डन करने वाले से अधिक बड़ा पापी और कोई नहीं है। जो कहता है कि युग के अनुसार धर्म क़ा परिवर्तन करना चाहिये वह श्रुति के वाक्यों को अन्यथा करना चाहता है; आचार्य कहते हैं कि इससे बड़ा और कोई पाप नहीं है, पापी यही कहता है कि 'मैंने पाप किया' और यह तो कहता है कि सब मिलकर पाप करो। पापी कहता है कि 'मैंने चोरी की, मैंने पाप किया, चोरी करना बुरा है, लेकिन मैं करता हूँ।' लेकिन जो कहता है कि 'टैक्स की चोरी करना तो ठीक है ही, इस युग में टैक्स चुराये बिना काम नहीं चल सकता।' वह आदर्शों को नष्ट करके सबको चोरी करने में प्रवृत्त कर रहा है।

जब प्रजापति-पुरुष का रूप समझो, बिम्ब का वर्णन करो तब यह बात याद रखना कि बिम्ब का राज्य में प्रतिबिम्ब पड़ता है,

इसलिये राज्य के द्वारा समाज का नियंत्रण होता है। प्रतिबिम्ब ब्रह्म का ही क्षत्रिय में पड़ेगा, उसमें जो दिखाई देगा, वह चातुर्वर्ण्य होगा। यदि दर्पण में खराबी आयेगी तो प्रतिबिम्ब में खराबी आ जायेगी। उस हाल में चेहरे को मत काटने लगना, यह नहीं समझ लेना कि बिम्ब गड़बड़ हो गया, बल्कि जो राज्य प्रतिबिम्ब का कारण है उसके परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसलिये प्राचीन काल में जब-जब ऋषियों ने देखा कि वर्ण-व्यवस्था में खराबी आई तो वेन आदि राजा का परिवर्तन किया। यह नहीं समझना कि इस खराब प्रतिबिम्ब के प्रति हम कारण नहीं हैं। यह समझना एक तरह से ब्रह्मापवाद है, इसलिये इससे बचकर यथासम्भव खराबी दूर करने की प्रवृत्ति करें। विजयादशमी का यही तात्पर्य है कि वर्ण-व्यवस्था का विरोध करने वालों को, वह चाहे रावण के रूप में हो, चाहे महिषासुर के रूप में, समाप्त करो। इन्हें समाप्त करना ही व्यवस्था-प्रतिष्ठापन है, नहीं तो यह केवल इतिहासमात्र रह जायेगा या पुरातत्त्व की बात होगी कि वह पुराने ज़माने में वर्ण-विभाग नाम की कोई बात थी, अब उससे कोई मतलब नहीं है।

हर साल विजयादशमी का त्यौहार इसलिये मनाया जाता है कि आज के दिन अपने आदर्शों को देखें। पंचांग देखोगे तो उसमें एक विचित्र बात मिलेगी कि 'राजा आज दूसरे राज्यों को विजय करने के लिये यात्रा करे।' हम विजयादशमी मनाते हैं क्योंकि उस दिन प्रत्येक राज्य में यह विचार किया जाता था कि 'इस वर्ष के अन्दर हमने अपने अन्दर वर्ण-विभाग को कितने सुन्दर रूप से प्रकट करने का प्रयत्न किया, या नहीं किया। जिन-जिन

अंगों के अन्दर हमारे आदर्श की कमज़ोरी रह गई है, उन-उन आदर्शों के अनुरूप समाज को बनाने का आज संकल्प लेना है।' कई क्षत्रियों के घरों में उस दिन शस्त्र-पूजा भी होती है, वह भी इसी निमित्त से है। ब्राह्मण श्रावण पूर्णिमा के दिन श्रावणी उपाकर्म करते हैं। उस दिन ब्राह्मण का विचार उस समय के संकल्प से पता लगता है। चारों वेद और पाणिनीय शिक्षा का पाठ करते हैं। उसने विचार किया कि मैंने कौन-कौन से कर्म नहीं किये और किस-किस अनुभव में मुझे आगे बढ़ना है। ब्राह्मण श्रावणी पूर्णिमा को यह काम क्यों करता है ? क्योंकि उसके बाद ही पूर्ण वृष्टि होने लगती है। राजाओं का कहीं आना-जाना भी बन्द हो जाता है, वैश्य भी घर में रहता है। खेती में काम भी कम हो जाता है। ब्राह्मण ने तब विचार किया क्योंकि उसके बाद उसे डेढ़-दो महीने ऐसे मिले जब उसने दूसरों को बताया कि क्या करना है; यही ब्राह्मण का कार्य है। पहले ब्राह्मण ने विचार किया और फिर सबको सिखाया। इसके बाद विजयादशमी पर क्षत्रिय विचार करे कि हमारी समाज-रचना के अन्दर कौन-कौन-सा पक्ष दुर्बल रह गया है, जिसे दूर करना है। जब यह विचार इस दिन कर लेगा तब उसे धन की अपेक्षा होगी। आज से कुछ दिन बाद दीवाली आ जायेगी। उस दिन वैश्य बैठकर विचार करेगा कि व्यापार के सम्बन्ध में हमने क्या-क्या गलतियाँ कीं और किन-किन दृष्टियों या स्रोतों से राष्ट्र के धन को बढ़ाया जाये।

यह एक सामूहिक त्यौहार हुआ करता था। अब तो विजयादशमी भी अकले का त्यौहार रह गई। श्रावणी पर ब्राह्मण तो इकट्ठे हो भी जाते हैं, लेकिन क्षत्रियों ने इकट्ठा होना ही

छोड़ दिया है, अधिकतर घर में ही पूजादि कर लेते हैं। दीवाली के दिन वैश्य भी खाली अपनी ही बही देखता है। यह तो देखता ही नहीं कि समाज की क्या हालत हो रही है। लेकिन ये सामूहिक त्यौहार हैं। श्रावणी कर्म में ब्राह्मण समूह के अन्दर बैठकर विचार करता था कि राष्ट्र में हमें क्या करना है, समाजपुरुष को हमें गौरवशाली कैसे बनाना है। वह जब ब्राह्मण से सीख लिया तब आगे कार्यरूप में परिणत करने के लिये क्षत्रिय प्रवृत्ति करता था। इसलिये उसके बाद क्षत्रिय की विजययात्रा प्रारंभ होती थी। क्षत्रिय ने ब्राह्मण से सीखकर राष्ट्र की उन्नति का एक खाका बनाया, उसमें किसी न किसी द्रव्य की आवश्यकता होगी, इसलिये उसने वैश्य को सिखाया। दीपावली में वैश्य विचार करेगा कि वस्तुतः किस-किस प्रकार के साधनों को लेकर राष्ट्र उन्नत हो। ये सामूहिक त्यौहार हमारे यहाँ उन्नति का रूप थे।

जैसे-जैसे वह सामूहिक भावना हटती गई, वैसे-वैसे व्यष्टि भावना आती गई। विजयादशमी का त्यौहार विचार करने के लिये था कि इस राज्य के अन्दर एक प्रजापतिपुरुष है। अद्वैत की भावना थी, एकता की दृष्टि थी। उस एकता के अन्दर भिन्न-भिन्न व्यवहार होने पर भी अद्वैत कभी खण्डित नहीं होता था। प्रजापतिपुरुष ही वर्ण-व्यवस्था में प्रतिबिम्बित होता है। यदि वर्ण-व्यवस्था प्रतिबिम्बित नहीं हो रही है तो दर्पण बदलने की आवश्यकता है।

प्रवचन - ६०

समाजपुरुष का मुख अर्थात् सारे नवीन ज्ञानों को एकत्र करने का केन्द्र ब्राह्मण है। ज्ञान का अर्जन करना मूलतः ब्राह्मण-कार्य है। ब्रह्म शब्द के तीनों अर्थ इसी में गतार्थ होते हैं—'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म।' वेद—ज्ञान का साधन, तत्त्व—जिसका ज्ञान होता है और तप—उस ज्ञान को जीवन में लाना। वेद, तत्त्व और तप तीनों ब्रह्म और ब्राह्मण का अर्थ हैं। वेद से ही धर्म और ब्रह्म का पता लगता है, इसलिये वेद इस ज्ञान का साधन है। जिसका पता लगता है वह तत्त्व है। केवल तत्त्व का पता लग गया तो ब्रह्म नहीं, आगे तप पद भी पड़ा है। उस तत्त्व को अपने जीवन में प्रतिफलित या प्रतिबिम्बित करना ही समाज है। वेद के द्वारा पता लगता है कि बिम्ब क्या है। तत्त्व बिम्बस्थानीय हुआ, उस बिम्ब का जो प्रतिबिम्ब पड़ा, वह समाज हुआ। बिम्ब की पूर्णता ब्राह्मण में है, इसीलिये वेद के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व पर वही स्थित रह सकता है जो तपस्वी हो।

हमारे ग्रंथों में रामायण को बड़ा महत्त्व का माना गया है, उस रामायण में सबसे पहला ही शब्द तप है—'तपःस्वाध्यायनिरतं'। सारी रामायण और महाभारत बाँचो तो एक ही मूल तत्त्व समझ में आता है। वेद को मानने वाला, परमात्मा में स्थिर रहने वाला यावज्जीवन तपस्या ही करता है ! चाहे युधिष्ठिर का जीवन हो, चाहे राम और कृष्ण का जीवन हो, चाहे नल का जीवन हो; बड़े-बड़े राजाओं का जीवन भी तपस्या का जीवन था। भोग हमारी दृष्टि

में उपयोगी नहीं है। जब मनुष्य प्रश्न करता है कि 'हम धर्म करते हैं तो दुःख क्यों होता है ?' तो हमें हँसी आती है। क्या तुम युधिष्ठिर और राम से ज़्यादा धर्मात्मा बन सकते हो ? युधिष्ठिर धर्म का पालन करते हुए भी यावज्जीवन कष्ट उठाते रहे—बचपन से लेकर महाभारत के युद्ध की समाप्ति तक जंगल में रहकर दुःख ही उठाते रहे; महाभारत जीतने के बाद माता से विरह हो गया और वह भी बड़ी भयंकर परिस्थिति में जंगल में जल गई। उसके बाद उनके सबसे बड़े सहयोगी कृष्ण मर गये और यादव कुल नष्ट हो गया। क्या उनसे ज़्यादा तुमने धर्म कर रखा है ? परमात्म-मार्ग में चलने वाले को तपस्वी बनना पड़ता है। भोगी के लिये धर्म नहीं है। यह अच्छी तरह से समझना क्योंकि यह प्रश्न बार-बार हृदय में आता है। इसका कारण यह है कि हमारी वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण का प्रतिबिम्ब है। ब्राह्मण का जीवन आँख खुलने से लेकर नींद आने तक तपस्या का ही जीवन है।

भोग व्यक्ति-केन्द्रित होता है और तप समाज-केन्द्रित होता है। यह थोड़ा-सा विचार का विषय है कि भोग का केन्द्र व्यक्ति और भोग-त्याग का केन्द्र समाज होता है। इस बात को आज के लोग भूल गये। कुछ अन्य धर्मावलम्बियों के अनुसार भोग न करना भोग का त्याग माना गया है। भारतेतर अथवा सनातन धर्म से इतर धर्म मानते हैं कि भोग न करना भोग का त्याग करना है। लेकिन वैदिक सनातन धर्म भोग न करने को भोग का त्याग नहीं मानता। त्याग का मतलब छोड़ना होता है। इसलिये तुम्हारे पास पहले भोग प्राप्त हो और उस भोग को तुम न भोग कर समाज को उसका भोग करवाओ, तब वह भोग-त्याग होगा। अभी तक

वह परम्परा कुछ तो चलती है लेकिन उस परम्परा का हृदय मर गया है। चातुर्मास्य में श्रावण में साग नहीं खाते और श्रावण की द्वादशी या पूर्णिमा को एक प्रस्थ अर्थात् साढ़े सात किलो साग किसी ब्राह्मण को दे दिया जाता है। भाद्रपद में दही नहीं खाते और व्रत के अंत में दही किसी योग्य विप्र को दान करते हैं। न खाने मात्र से व्रत पूरा नहीं होता, अर्थात् जो दही तुम खाते हो, उसका पैसा बचाकर घर में रख लेने से व्रत पूरा नहीं होता! उसे किसी योग्य पुरुष को देना ही त्याग है। दूसरे लोग मानते हैं कि हमने अमुक चीज़ खाना छोड़ दिया तो त्याग हो गया। फिर तो मधुमेह के रोगियों को शक्कर-त्याग का पुण्य होने लग जायेगा और हृदय के रोग वालों को घृत-दान का पुण्य हो जायेगा। इसलिये भोग-त्याग का मतलब भोग का न करना नहीं है, बल्कि यह है कि जिस भोग को हम व्यक्तिनिष्ठ होकर करते, वह हमें प्राप्त है, लेकिन हमने उसे न भोग कर समाज के दूसरे अंगों को भुगवाया।

यह भोग-त्याग सनातन धर्म की दृष्टि है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्य का स्वभाव लोभ बताया है। मानव का स्वभाव लोभी होता है, इसलिये भोग न करने वाला हिस्सा तो उसे प्रिय लगा। बच्चों को भी सिखाया जाता है कि ज़्यादा भोग नहीं करना चाहिये। लेकिन वही बच्चा बढ़िया दुशाला खुद न ओढ़कर किसी को दे आये तो पिता कहता है यह क्या किया। बच्चा कहता है—'पिता जी ! तुमने ही तो कहा था कि अच्छी चीज़ का भोग नहीं करना चाहिये। सवेरे पाँच बजे पंडित जी पाठ कर रहे थे, दूसरा कपड़ा नहीं पहने थे, इसलिये तीन हज़ार वाला बढ़िया

दुशाला मैं उनको दे आया।' कहेगा, 'बेटा ! मैंने यह कब कहा था कि घर की चीज़ निकालकर दूसरे को दे दो।' 'न खाने' वाला हिस्सा तो उसे प्रिय लगता है। अपना ही एक अनुभव बतायें, हमने कहीं एक बार बताया कि श्राद्ध कर्म के लिये कैसा ब्राह्मण उत्तम होता है। यह सुनने के बाद दो-एक सज्जनों ने श्राद्ध करना ही छोड़ दिया। दो-एक साल बाद हमें पता लगा। एक दिन हमने उनसे पूछा कि तुमने श्राद्ध करना छोड़ दिया है और सुना है कि हमने कहा है इसलिये छोड़ा है ? कहने लगे 'आपने ब्राह्मण के जैसे गुण बताये थे वैसा ब्राह्मण हमें नहीं मिला तो श्राद्ध करके क्या लाभ ?' हमने तो कहा था कि योग्य ब्राह्मण को ढूँढकर श्राद्ध करना। 'नहीं करना' ऐसा तो नहीं कहा था। लेकिन उन्होंने 'योग्य ब्राह्मण' इतना ही हिस्सा लिया, न वह मिलेगा न उनके पैसे खर्च होंगे। लोभ मनुष्य का स्वभाव होता है, इसलिये न करने की बात उसे झट जँच जाती है। इसी प्रकार जब कहा गया कि 'तपस्वी बनो' तो तप का यह अर्थ लगाया कि मेरा पैसा बच जायेगा, भोग नहीं करना पड़ेगा। वह हिस्सा तो ले लिया, लेकिन भूल गये कि तप व्यक्ति-केन्द्रित नहीं होता, समाज-केन्द्रित होता है। यही भोग और तप का फ़र्क है। पदार्थ व्यक्ति को दो तो भोग है और वही पदार्थ समाज को दो तो तप है।

ब्राह्मण की ज़ो इतनी बड़ी विशेषता क्यों है ? ब्रह्म की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? सृष्टि के कण-कण और क्षण-क्षण को वह सत्ता देता है, कण-कण और क्षण-क्षण को वह ज्ञान देता है, सृष्टि के अन्दर जहाँ-जहाँ तुमको आनन्द की झलक मिलती है वह ब्रह्म की ही झलक है। ब्रह्म इस जगत् के पदार्थों से कुछ लेता

भी है ? इसे उसने सत्ता दी लेकिन इससे लिया क्या ? उसने ज्ञान दिया लेकिन लिया क्या ? आनन्द दिया लेकिन लिया क्या? यह याद रखना कि भारतीय संस्कृति का जो मूल सुख है, जिसके आधार पर यह सारा सनातनधर्म खड़ा है, वह 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महावाक्य ही है। पुरुषसूक्त में उसी का समाज-व्यवस्था के रूप में वर्णन है। ब्रह्म वह हुआ जो कण-कण और क्षण-क्षण को सत्ता, ज्ञान और आनंद देता है लेकिन लेता कुछ नहीं है। इतना ही नहीं, इस ढंग से देता है कि जिसके अन्दर तीव्र विचार नहीं उसको पता भी नहीं लगता कि ब्रह्म ने दे रखा है। संसार में सब सोचते हैं कि घड़ा है, लेकिन घड़े में ब्रह्म की सत्ता आई हुई है—इस बात को पच्चीसों साल समझायें तो भी बात आधी बैठती है, आधी नहीं बैठती। वह सर्वत्र चित्ता देता है लेकिन पता नहीं लगता; हरेक को लगता है कि 'मैं जानने वाला हूँ', यह पता नहीं लगता कि 'जानने वाला तो शिव है, मैं कुछ नहीं हूँ।' संसार के सब पदार्थ आनन्दरूप दीखते हैं, कभी सोचा या कभी पता लगता है कि ब्रह्म ही आनंद का कारण है ? रसगुल्ले में आनंद का कारण ब्रह्म है, बड़े विचार और युक्तियों से यह समझाओ तो दो-एक मिनट के लिये बात बैठती है, लेकिन फिर खिसक जाती है। एक तो ब्रह्म कण-कण और क्षण-क्षण को सत्ता, ज्ञान और आनंद देता है और ऐसे देता है कि किसी को पता ही नहीं लगता कि दिया। इतना ही नहीं, जिनको देता है वे उसको नाम-रूप के द्वारा ढाँक देते हैं। बार-बार शास्त्रों में आया है कि नाम-रूप ब्रह्म को ढाँक देते हैं। रस्सी के अन्दर जो साँप दीखता है, उसे रस्सी ने सत्ता दी, रस्सी के कारण ही वह प्रतीत हुआ। साँप की प्रतीति-काल

में रस्सी का पता नहीं, क्योंकि साँप ने रस्सी को ढाँक दिया। इसलिये कहते हैं कि रस्सी है ही नहीं, साँप ही है।

यह तप का सूत्र है। मैं ब्रह्मरूप हूँ इसलिये मैं समाज को सब कुछ दूँगा, अपना कुछ नहीं रखूँगा और यह अभिमान भी नहीं होना चाहिये कि मैंने समाज को दिया। यह अभिमान इसलिये नहीं होना चाहिये कि परमात्मा से हटकर मैं कुछ नहीं हूँ। अनादि काल से आज पर्यंत अविच्छिन्न परम्परा ही समाज है। मेरा विचार, मेरा शरीर ये सब इस समाज ने ही तो दिये हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ से लेकर आज के गुरु पर्यन्त जितनी गुरु-परम्परा है, उसी के द्वारा तो मुझे ये सारे विचार मिले हैं। राष्ट्र के अन्दर खेती करने वालों के द्वारा उत्पन्न हुए पदार्थों से यह शरीर मिला। मेरा इसमें क्या है ? कभी विचार किया ? जब तुम कहते हो कि 'समाज को देता हूँ' तब सोचो कि तुम क्या चीज़ हो ? क्या तुम्हारी सत्ता इस समष्टि से अलग है ? इस विचार को जानने वाला समाज को देते हुए कभी यह अभिमान नहीं करता कि 'मैं समाज को दे रहा हूँ।' बड़ा भारी वटवृक्ष है, न जाने कहाँ-कहाँ से यात्री आकर उसके नीचे आराम करते हैं, ठण्डक पाते हैं और चले जाते हैं, गाय-भैंसें भी आती हैं, ठण्डक पाती हैं, और चली जाती हैं, उसकी डालियों के ऊपर दिन के समय में अंधकार का अनुभव करने वाले चातक और उल्लू इत्यादि आकर बैठते हैं, दिन निकाल देते हैं। कभी वट-वृक्ष से जाकर कहो कि 'तू बड़ा दयालु है। तूने इन्हें कितना आराम दिया।' वह कहेगा कि 'मैंने किसी को कुछ नहीं दिया। मैं तो चुपचाप खड़ा हुआ हूँ।' जेठ की सारी लू को उसने अपनी पीठ पर ले लिया लेकिन उसको यह भान नहीं है कि 'मैंने

कुछ दिया।' गाय तुम्हें दूध देती है, तुम्हारा बच्चा गाय के दूध के बिना जीवित नहीं रह सकता। लेकिन यदि गाय से जाकर पूछो कि 'तूने कुछ किया' तो वह कहेगी कि 'मैं अपने बच्चे के लिये दूध निकालती हूँ, उसके बाद जो बचा हुआ था वह तुमने निकाल लिया, मैंने क्या किया!' अथवा यमुना से जाकर पूछो कि 'दिल्ली जैसे बड़े-बड़े शहरों को तुमने कितना जल दिया और बदले में दिल्ली वालों ने अपनी सारी गंदगी नालों के रूप में तुम्हारे में डाल दी', तो यमुना कहेगी 'मैं तो अपने स्वभाव से बही जा रही हूँ, इसलिये मैंने तुम्हारे लिये कुछ नहीं किया।'

वस्तुतः इस समाज का आदर्श तप यही है कि जैसे ब्रह्म सबको सत्ता, ज्ञान और आनंद देता रहता है, लेकिन 'मैं देता हूँ'—इस बात को समझवाना भी नहीं चाहता, वैसे हम निरभिमान रहकर दें। मालिक नौकरों को बोनस देता है। वह भी अपनी इच्छा से नहीं देता, किसी के दण्डे के ज़ोर से देता है। लेकिन देने के बाद अनुभव करता है कि 'मैंने बोनस दिया।' बोनस का मतलब क्या है ? उस यंत्रालय से जो लाभ-प्राप्ति हुई, उसका कोई एक अंश मज़दूर को मिल गया। मिलता तो लाभ के अंश से ही है। उस लाभ को उत्पन्न करने में उसी मज़दूर का सहयोग रहा, तुमने उसे बोनस दिया क्या ? जो विचारशील होगा, उसके मन में यह भावना आ नहीं सकती कि 'मैंने दिया'। यदि कभी भावना आयेगी तो यही आयेगी कि 'इन मज़दूरों ने कमाया तब मेरा इतना फ़ायदा हुआ। आज एक लाख मेरे घर आया, इसमें मज़दूरों का कितना सहयोग है'—यह देखेगा। अविचारशील को इससे विपरीत दर्शन होता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दृष्टि को रखने वाला ब्रह्म की तरह

रहेगा, इसलिये उसे देने का अभिमान ही नहीं होगा बल्कि अपने आपको छिपाकर रखेगा जैसे ब्रह्म अपने को छिपाकर रखता है, नाम-रूप-कर्म से वह ढाँक दिया जाता है। मज़दूर दो दिन काम नहीं करता तो गिनाने लगते हैं कि 'हमने इसके लिये इतना किया और इसके बदले में इसने काम भी नहीं किया।' जो पूर्ण ब्रह्मरूपता को समझता है, वह कहता है कि जिस ब्रह्म ने सारे जगत् को उत्पन्न किया उस जगत् ने उस ब्रह्म को ऐसा ढँक दिया कि उसके नाम-निशान का पता नहीं है ! इस मज़दूर ने अभी हमको गोली नहीं मारी, हमारी फैक्ट्री के नाम को काटकर नहीं फैंका, आग नहीं लगा दी। हमने तो उस ईश्वर के अस्तित्व तक को मिटाने के लिये अपना पूरा ज़ोर दिखाया जिसकी सत्ता से ये सारे सत्तान्वित हुए, फिर भी वह मुझे सत्ता, व ज्ञान देता रहा, उसमें कोई कमी नहीं की। और मज़दूर ने दो दिन काम नहीं किया तो हम गिनाने लग गये ! 'अहं ब्रह्मास्मि' का सूत्र बड़ा मुश्किल है। वह भारतीय सनातनी हिन्दू ही कर सकता है, दूसरों से यह नहीं किया जायेगा। सारे नाम-रूप-कर्म ब्रह्म को आच्छन्न करते हैं, उस आच्छन्न करने वाले अध्यस्त को भी वह पूरी ही सत्ता देता है। तुम कहते हो कि 'हमने अपने काम करने वाले के लिये इतना किया, वह इसके बदले में कुछ नहीं करता।' हम तो कहते हैं कि बहुत करता है। यदि वह उस यंत्रालय में आग लगा दे, हमको गोली मार दे, तब भी हम उनको उतनी ही सत्ता और ज्ञान अर्थात् उतना ही प्रेम दें, उसी दृष्टि से देखते रहें, तब कह सकते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' हमारी समाज-व्यवस्था का मूल तप है।

तप समाज-केन्द्रित है। समाज के आनन्द में अपना आनंद

बिना इच्छा के हो जाता है, क्योंकि समाज का स्तर बढ़ेगा तो हम समाज के घटक हैं, हमारा स्तर बढ़ना ही हुआ। मोटी बात समझ लो : पहले हम गाँव में जाते थे। लोग मक्की और बाजरे की रोटी खाते थे तो हमको भी यही खाने को मिलती थी। हमने कभी खेती नहीं की। अब उसी गाँव के लोग गेहूँ की रोटी खाते हैं तो हमें भी बिना कुछ किये हुए गेहूँ की रोटी मिलती है। समाज का स्तर बढ़ेगा तो हम इच्छा नहीं करेंगे तो भी अपने आप हमारा स्तर बढ़ जायेगा। आज हम किसी के घर जायेंगे तो हमें फलों का शर्बत पीने को और पंखा चलता हुआ मिलेगा, वातानुकूलित कमरे में बैठने को मिलेगा, क्योंकि समाज का स्तर बढ़ा हुआ है।

एक प्राचीन कथा आती है जिसमें हमारे समाजपुरुष का आदर्श बताया गया है। एक बड़े अच्छे ज्योतिषी थे। राज्य में उनका बड़ा नाम था। लेकिन उनके पुत्र ने अध्ययन नहीं किया। यह प्रायः होता है, विद्वानों के घर में विद्वान् कम उत्पन्न होते हैं। उसने भी अध्ययन नहीं किया। पिताजी का शरीर शांत हो गया। कई लाख रुपये वे पीछे छोड़ गये थे। पाँच-सात साल तक तो लड़का अच्छा खा-पीकर मौज करता रहा। चाहे इन्द्र का धन हो, उसमें आमदनी का स्रोत बन्द हो जाये तो वह अधिक दिन तक नहीं चल सकता। दो सौ रुपये महीने की नौकरी करने वाले का जीवन तो चलता रहेगा, लेकिन पचीस हज़ार रुपये लेकर जो बैठा हुआ है, उसका जीवन थोड़े दिन बाद नहीं चलेगा क्योंकि स्रोत नहीं रहा। धीरे-धीरे जब रुपया खुट गया तो उसने सोचा कि 'राजा के पास जाकर कुछ लायें।' घरवाली ने कुछ आटा, दाल, घी साथ बाँध दिया और वह राजा के पास जाने के लिये

चल पड़ा। मार्ग में एक जगह बढ़िया पेड़ की छाया थी, पास ही एक कुआँ भी था। उसने सोचा कि 'यहीं बैठकर भोजन कर लें और कुछ आराम कर लें।' उसने गोबर के उपले इकट्ठे कर दाल-बाटी बनाकर खायी और वहीं सो गया।

सोकर उठा तो देखा कि उसके पास ही एक मणिधर कृष्ण नाग बैठा हुआ है और उसकी तरफ देखते हुए हिल रहा है। आँख खोलते ही उसकी छाती बैठ गई। सोचा 'अच्छा धन कमाने आया, प्राण भी हाथ से जाने वाले हैं।' वह साँप मानवीय बोली में बोला, 'मैं तेरे पिता का मित्र था, इसलिये आया हूँ, तू घबरा नहीं।' उसने सोचा कि यह मानवीय बोली बोलता है तो साधारण सर्प नहीं होगा। पूछा, 'कैसे आये ?' सर्प ने कहा, 'कई दिनों से तुझे देखा नहीं था, क्योंकि पिताजी की मृत्यु के बाद तू कभी इधर नहीं आया। इसलिये तुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। तू कहाँ जा रहा है ?' उसने कहा, 'राजा के पास जा रहा हूँ।' 'तेरे पिताजी कहते थे कि तू पढ़ा-लिखा नहीं है, ज्योतिष नहीं जानता। वहाँ जाकर क्या करेगा ?' उसने कहा, 'राजा से रुपये माँगूँगा क्योंकि घर का खर्च खुट गया है।' साँप हँस पड़ा, कहने लगा, 'तू राजा को नहीं जानता। राजा किसी का मित्र नहीं होता। तू सोचता है कि जाकर माँगेगा और राजा दे देगा, लेकिन ऐसे देने वाला नहीं है। मैं एक उपाय बताता हूँ। राजा तुझसे कोई प्रश्न पूछेगा। तू राजा से कहना कि 'मैं साल भर में केवल एक प्रश्न का जवाब देता हूँ, चाहे कोई प्रश्न पूछ लो।' राजा को जनता की चिन्ता है, इसलिये वह पूछेगा कि 'अब की बार मौसम कैसा रहेगा ?' वह पुराना युग था। आज का विदेशी मुद्रा नाम का राक्षस

नहीं आया था। आज हम चावल भेजकर लोहा और मशीनें मँगवाते हैं। कहते हैं विदेशी मुद्रा बढ़नी चाहिये, उससे लोहा-लक्कड़ मिलेगा। लेकिन भोजन की चिन्ता नहीं है, इसलिये चावल चाहे चले जायें। आज भारतवर्ष में होने वाली बढ़िया से बढ़िया चाय यहाँ नहीं मिल सकती, भारत से बाहर मिलेगी। बढ़िया चावल, चाय और चीनी भेजकर उसके बदले रात भर हल्ला मचाने वाले ट्राँजिस्टर मँगाये जाते हैं जो नींद उड़ाते हैं। उसके लिये विदेशी मुद्रा चाहिये, विदेशी फिल्म-रीलों के लिये करोड़ों रुपया चाहिये। चाहे उन करोड़ों रुपयों के लिये चावल, चीनी और चाय खाना-पीना छोड़ना पड़े। बढ़िया दाल हमारे यहाँ नहीं मिलती। मध्यप्रदेश का एक व्यक्ति हमें बता रहा था कि हमारे यहाँ इतनी बढ़िया अरहर की दाल सोने की जात की होती है, लेकिन वह सारी सीधे खेतों से भरकर बम्बई भेजी जाती है और वहाँ से विदेशों में चली जाती है। भारत में वह दाल नहीं मिल सकती। हमने हँसी में पूछा कि तुम्हें फिर उसके स्वाद का कैसे पता लगता है? बोला 'रात को चुराकर अपने खाने के लिये तो ले ही आते हैं।' पैदा करने वाला भी नहीं खा सकता, उसे भी चुराकर लानी पड़ती है। ऐसी चीज़ें भेजकर बदले में टेरीलीन के कपड़े और नायलान की साड़ियाँ मँगाई जाती हैं। लेकिन उस युग में इतना भयंकर समय नहीं आया था। तब लोग खाने-पीने की चीज़ों को ज़्यादा महत्त्व देते थे।

साँप ने कहा, 'जब राजा तुझसे पूछे कि खेती कैसी होगी, जमाना कैसा आयेगा, तब कहना कि 'इस साल भयंकर गर्मी पड़ेगी, पानी की एक बूँद नहीं आयेगी, इसलिये राजन् ! जितना

अनाज इकट्ठा कर सको, इकट्ठा करके रख लेना।'

यह पुराने ज़माने की बात बता रहे हैं, नये ज़माने की नहीं। नये ज़माने में यह सब इकट्ठा करके नहीं रखते। गत वर्ष राजस्थान में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। हम वहाँ कहीं से आ रहे थे तो कुछ मज़दूर नहर खोद रहे थे, सड़क का काम हो रहा था, क्योंकि अकालराहत योजना चल रही थी जिसका मतलब होता है बेगारी। लोग कहते हैं कि 'दूसरे के कष्ट का फायदा न उठाओ' लेकिन राजा कहता है कि हम तो उठायेंगे। छह आने पैसे में उनसे आठ घण्टे काम लिया जाता था, क्योंकि उन बेचारों को खाने को नहीं मिलता था, इसलिये सोचा कि ज़्यादा से ज़्यादा काम इनसे ले लें। भूखे मर रहे हैं तो ज़रूर करेंगे, नहीं तो अकाल से अपने आप मरेंगे। यह आजकल का स्वभाव है। यह वैदिक दृष्टि नहीं है। आज के लोग अनाज इकट्ठा करते हैं, लेकिन इस प्रकार से लोगों से काम लेने के लिये भरते हैं, जो बेचारे कठिनाई में पड़ गये हैं उन्हें लेना पड़ता है। वह युग ऐसा नहीं था। उस युग में राजा अनाज इसलिये भरता था कि जब अनाज की कमी होगी तब जगह-जगह भण्डार खोल दिये जायें, जिस आदमी को अन्न चाहिये, ले जाये। यह वैदिक संस्कृति का मूल दृष्टिकोण है।

पानी मनुष्य पैदा नहीं करता, अपने आप पानी बरसता है और वह बह जाता है। जोधपुर में नल लगे। उस समय के महाराजा के सामने सारी योजना रखी। उसमें मीटर लगाने की बात भी थी। राजा ने पूछा 'यह किसलिये है ?' कहा 'इसमें पानी नपेगा कि किस ने कितना पानी खर्च किया।' महाराजा ने कहा 'बेचारे अब तक तो नाप कर ही खर्च करते रहे हैं, अब भी नाप कर

दोगे ?' कहने लगे, 'खर्च की कोई रुकावट नहीं, चाहे जितना करें, लेकिन जितना पानी खर्च करेंगे, उसका पैसा लिया जायेगा।' महाराजा कहने लगे, 'मैं राजा हूँ या भिश्ती हूँ जो पानी बेचूँगा? पानी तो पीने की चीज़ है।' लोगों ने समझाया कि खर्च कैसे पूरा करेंगे तो उन्होंने कहा 'और हज़ारों तरीके खर्च पूरा करने के हैं, पानी थोड़े ही बेचना है। झरने का पानी इधर से उधर चला गया, इतने मात्र के लिये पैसे लूँगा ? वह तो भिश्ती का काम है।' यह उस समय के राजा की दृष्टि थी। पानी अपने आप आता जाता है, उसके लिये धन क्यों लोगे ?

इसी प्रकार से अन्न कोई पैदा नहीं करता। कहोगे खेतिहर पैदा करते हैं ? लेकिन विचार करो कि एक मन बीज खेतिहर ने डाला, उस एक मन से एक हज़ार मन अनाज पैदा होता है। एक दाने से एक हज़ार दाने से कम पैदा नहीं होते, ज़्यादा चाहे हो जायें। क्या उस खेतिहर का परिश्रम सौ गुना से ज़्यादा करने का परिश्रम है ? आज भी चाहे बड़ी से बड़ी इण्डस्ट्री हो, दस हज़ार प्रतिशत लाभ किसी में नहीं हो सकता। मनुष्य के बड़े से बड़े परिश्रम का फायदा दुगुना-तिगुना समझ लो। बाकी धान किसने लगाया ? परमात्मा ने ही लगाया। यह वैदिक दृष्टि है। इसलिये वैदिक अन्न रखकर किसी को मज़बूर करना बुरा समझता है। अन्न का अधिकार प्राणिमात्र को है, भगवान् देता है, और सब खाते हैं। इसलिये राजा अन्न इकट्ठा करके अन्न-क्षेत्र खोल देता है, जहाँ जो भूखा हो वह आकर खा ले। बहुत-से लोग कहते हैं कि ऐसा करेंगे तो लोग अनाज ले जाकर घरों में रख लेंगे या ज़्यादा दाम में बेच देंगे। हमें हँसी आती है। क्या लोग कीड़ियों

के खाने के लिये घर में अनाज भरेंगे ? आज यदि तुम्हें पता है कि कल खाने को नहीं मिलेगा तब इकट्ठा करते हो। अगर पता है कि अन्न जब चाहिये तब मिल जायेगा तो लोग इकट्ठा क्यों करेंगे ? यदि अधिक दाम में बेचने की सोचते हो तो उसे खरीदेगा कौन ? यह तो इसलिये होता है कि कुछ को दिया जाता है और दूसरों को नहीं दिया जाता, तभी यह परिस्थिति आती है। उस काल में राजा अन्न इकट्ठा करके मुफ्त में सबको बाँटता था।

वह लड़का साँप के कहे अनुसार राजा के पास गया। राजा जानता था कि अमुक ज्योतिषी का पुत्र है। बड़े प्रेम से बैठाया। कहा 'आप पिताजी के मरने के बाद बहुत दिन से नहीं आये?' उसने कहा कि 'पिताजी बड़े जबरदस्त विद्वान् थे, उनकी और बात थी। उतना कुछ तो मैं नहीं जानता लेकिन यह है कि साल में एक प्रश्न का जवाब देता हूँ, कोई भी प्रश्न पूछ लो।' स्वभावतः राजा को वही पूछना हुआ कि ज़माना कैसा जायेगा, खेती कैसी होगी ? उसने कह दिया, 'इस साल बड़ी ज़बरदस्त लू चलेगी, भयंकर गर्मी पड़ेगी, पानी नहीं आयेगा।' राजा ने कुछ दिन तक उसे वहीं रखा। जैसा उसने कहा था, वैसा ही हुआ। राजा ने अन्न भर लिया था, इसलिये प्रजा को दुःख नहीं हुआ। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ कि चाहे एक ही बात बताई लेकिन सौ टंच की बताई। उसे खूब धन दिया।

वह धन लेकर चला तो सोचा कि यह साँप और भी किसी को बताता रहेगा। राजा से कहा 'मेरे साथ चार गाड़े लकड़ी के दे दो।' राजा ने सोचा कि यज्ञ इत्यादि करना होगा, दे दिये। जब उस गाँव के पास पहुँचा तब ज़ोगों से कहा, 'यहाँ जितनी बाँबियाँ

हैं, उनके चारों तरफ लकड़ियाँ रखकर आग लगा दो।' उसका भाव यह था कि गर्मी से झुलसकर साँप मर जायेगा, नहीं तो और किसी को यह भेद बता देगा।' यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है लेकिन यह वैदिक संस्कृति नहीं है। विदेशों में तो यह बात मानी जाती है। ताज बनाने वाले की आँखें फोड़ दीं। इसी प्रकार जो बढ़िया कारीगरी जानते थे, उनके द्वारा कारीगरी कराकर उनके हाथ काट दिये जाते थे। और तो और, जिस पिता की गोद में बैठकर, पिता की दाढ़ी खींच-खींचकर बड़े होते थे, उसी पिता को जेल में डालकर पीने के पानी के लिये तड़पाते थे। यह विदेशी संस्कृति का स्वरूप है कि जिससे ताकत मिली है, उसी को नष्ट करने की सोचते हैं। था वह ब्राह्मण-कुमार लेकिन पढ़ा-लिखा न होने के कारण नाम का ब्राह्मण था। उसने बाम्बियों के चारों तरफ आग लगा दी। सोचा 'साँप मर गया होगा, अपना काम बन गया।' खूब आनंद से रहा।

अगले साल फिर चला। रास्ते में वह पेड़ पड़ता ही था। उसी पेड़ के नीचे जाकर सोया। आँख खुली तो देखा कि साँप फिर वैसा का वैसा बैठा है। घबराने लगा कि इसे पता लग गया होगा तो काटेगा। साँप ने कहा, 'फिर राजा के यहाँ जा रहा है ?' यह सुनकर उसे धैर्य हुआ कि लगता है इसे कुछ पता नहीं लगा! साँप ने कहा 'राजा फिर प्रश्न करेगा ?' कहने लगा, 'चाचा जी! अब तो आपकी कृपा से पता ही है, पूछेगा तो कह दूँगा कि खूब लू चलेगी और अनाज नहीं होगा।' साँप ने कहा 'यह मत कहना। कहना कि इस साल जबरदस्त पानी बरसेगा, बाढ़ें आयेंगी, इसलिये जगह-जगह बाँध बनवा देना, नदी के किनारे के गाँवों को पहले

से दूर हटा लेना।' यह सुनकर वहाँ से चला और राजा के यहाँ पहुँचा। राजा को बड़ी श्रद्धा हो गई थी। कहा 'भगवन् ! आप आये, बड़ी कृपा की। अब के जमाना कैसा रहेगा ?' उसने जैसा साँप ने बताया था, वैसा ही बता दिया कि 'इस साल जबरदस्त पानी बरसेगा, बाढ़ें आयेंगी, कच्चे मकान टूट जायेंगे, इसलिये इन सबका पहले से इंतजाम कर लेना।' राजा ने वैसा ही किया। बाँध इत्यादि बनवा दिये। नदी-किनारे के गाँवों को हटवा दिया। उस साल भी वैसा ही हुआ। राजा बड़ा प्रसन्न हो गया और दृढ निश्चय हो गया कि ज्योतिषी बड़ा अच्छा है। उसे खूब धन दिया। वहाँ से चलने लगा तो सोचा कि 'एक साल लू चलेगी और दूसरे साल पानी बरसेगा।' राजा से कहा कि मेरे साथ पचास मज़दूर भेज दो, रास्ते में कुछ काम है। राजा ने मज़दूर साथ कर दिये। फिर जब उस गाँव में पहुँचा तो सोचा कि साँप जलने से नहीं मरता, इसलिये उसने मज़दूरों से कहा कि 'कुओं से पानी निकालकर सारी बाँबियों के छेदों को भर दो, कोई निकल न पाये।' खूब पानी डालकर छेदों को भर दिया गया। अब उसे संतोष हो गया कि इस बार अन्दर ही अन्दर ज़रूर मर गया होगा, नहीं तो फिर किसी को बता देगा। वहाँ से चला गया।

साल भर बाद फिर उधर से गुजरा। अब की बार उसे निश्चय था कि आग से नहीं तो पानी में डूबकर ज़रूर मर गया होगा। उसी वृक्ष के नीचे आराम करके उठा तो देखा कि फिर वही साँप बैठा था ! साँप ने फिर प्रेम से पूछा तो उसने सोचा कि अब भी इसे पता नहीं है। यह मनुष्य की विशेषता और विचित्र स्वभाव है : सोचता है कि जो सारे ज़माने की हालत बता रहा है, उसको

यह नहीं पता कि इसने मेरे साथ क्या व्यवहार किया है। जिस हनुमान् जी से वह दस लाख का मुकदमा जीतना चाहता है, उनको यह पता नहीं कि इसने वैजीटेबल घी का दिया जलाया है। उसे दृढ विश्वास है कि भगवान् को खोटे पैसे चढ़ा दिये तो कैसे पता चलेगा। हमारे मन्दिर में खोटे पैसे चढ़ते हैं। हम कहते हैं कि घबराने की कोई बात नहीं है। चढ़ाने वाला ठीक ही समझता है : भगवान् शंकर तो पुराने ज़माने के हैं, उनको क्या पता कि कौन-सा सिक्का अच्छा और कौन-सा बुरा है ? सब चल जायेगा। वह भी यह सोचकर कि इसे पता नहीं लगा, 'चाचा जी, चाचा जी' करने लगा। कहा 'अब की बार राजा पूछेगा तो कह दूँगा कि इस साल लू चलेगी, खेती नहीं होगी क्योंकि पिछला साल खूब पानी बरसने और बाढ़ें आने वाला साल था।' साँप हँसकर कहने लगा, 'इस बार कहना कि ठीक पानी बरसेगा, खूब खेती होगी, सारी जनता दूध-पूत से सुखी होगी।' राजा को उस पर विश्वास था। उस साल भी वैसा ही हुआ जैसा उसने कहा था। सारी जनता सुखी हो गई। वहाँ से चलने लगा तो सोचा 'इस ज़माने का कुछ ठिकाना नहीं। किसी साल पानी पड़ेगा तो किसी साल सूखा रहेगा। न जाने कब कैसा हो जाये। इसलिये उस साँप को मारने से तो नुकसान है। उसको तो खूब खिला-पिलाकर अपने से मिलाये रखो तो सब कुछ बताता रहेगा।' यह सोचकर खूब दूध लेकर गया। वहाँ जाकर उस साँप को और उसके सब घरवालों को खूब दूध पिलाया। फिर हाथ जोड़कर साँप से पूछा 'आप प्रसन्न हुए होंगे, मैंने आपकी सेवा की ?'

वह साँप हँसकर कहने लगा 'जब तूने आग लगाई थी तो

न मुझे द्वेष हुआ था, जब पानी भरा था तो मुझे क्रोध नहीं आया और न आज तेरे दूध पिलाने पर मुझे कोई प्रसन्नता है।' यह सुनकर उसकी हवाईयाँ उड़ीं, कहा 'आपने कभी कुछ कहा नहीं?' साँप ने कहा, 'यह तो प्रारब्ध का भोग होता है। जिस गर्मी और लू से सारी जनता को कष्ट हुआ, उस समष्टि के साथ मुझे भी कष्ट होना था, तू केवल निमित्त बन गया। जिस साल बाढ़ और वर्षा के कारण सब को कष्ट हुआ तो मैं भी इस राज्य का ही अंग हूँ, इसलिये उस साल मेरी जाति को भी उसी से कष्ट हुआ। और इस साल सारी जनता को दूध का सुख मिला है तो इसी साल तेरे निमित्त से मुझे भी वह सुख मिल गया है। इसलिये तेरा कोई कसूर नहीं है।'

यह वास्तविक समष्टि-दृष्टि है कि दुःख हुआ तो सब को इकट्ठा हुआ और सुख हुआ तो हम सबको हुआ। हम सब एक दूसरे को सुखी करेंगे। यह हो नहीं सकता कि समष्टि के सुख-दुःख के साथ मुझ व्यष्टि को दुःख-सुख न हो। वैदिक दृष्टि है कि हम निरंतर समाज की उन्नति और सुख के लिये प्रयत्न करते हैं क्योंकि समाज की उन्नति और आनंद में हमारा आनन्द अपने आप हो जायेगा। यह वैदिक समाज-रचना का मूल है। तप का मूल भोग-त्याग है अर्थात् मैं अपने लिये भोग नहीं करूँगा बल्कि अपना भोग समष्टि समाज को दूँगा। समाज आगे बढ़ेगा तो उससे अपने आप मेरी उन्नति होगी। सामाजिक विकास से स्वतंत्र अपनी उन्नति की चिन्ता नहीं है।

प्रवचन - ६१

प्रजापति-पुरुष का समाजपुरुष के रूप में प्रतिबिम्ब है। उस बिम्ब का ज्ञान-संचय का केन्द्र ब्राह्मण है। समग्र वर्ण-व्यवस्था का बिम्ब ब्राह्मण है। जितने भी वर्ण हैं वे अंततः ब्राह्मण के अन्दर ही लीन होंगे अर्थात् जितना भी वर्ण-विभाग है वह ब्राह्मण्य प्राप्ति के लिये है क्योंकि वही हमारा बिम्ब है। इसका स्थूल रूप बाह्य ब्राह्मण हुआ जिसको वेदान्ती 'गौण' ब्राह्मण कहते हैं, और इसका मूल रूप ब्रह्म है जिसको बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है। 'मुख्य' ब्राह्मण ब्रह्म है। उस ब्रह्म को अपने जीवन में जो अधिक से अधिक लाये, वह 'गौण' ब्राह्मण हुआ। गौण का मतलब होता है जो गुण से हो। ब्रह्म के जितने गुणों को अपने अन्दर लायेगा उतना ही वह गौण ब्राह्मण होगा। ब्राह्मण के लिये अन्य सारे कर्तव्यों का परित्याग करके ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों में लगने का ही विधान है। वेद में, परमात्मचिन्तन में लगा रहे और उसके लिये जितना भी कष्ट पड़े, सह ले, तप करता रहे। इस तप का तात्पर्य भोग-त्याग बताया।

भोगत्याग का तात्पर्य वैदिक शास्त्रों के अंदर लोभियों के अनुकूल नहीं है। अपने भोग को छोड़कर समाज को वह भोग देना भोग-त्याग है। केवल भोग न करना वही सीखता है जो स्वभाव से लोभी होता है। जैसे आयुर्वेद में चाहे जितनी अच्छी दवाईयाँ बताई गईं हों लेकिन लोभी को सबसे ज़्यादा अच्छी दवाई लंघन लगती है—'लंघनं परमौषधम्' क्योंकि बाकी सबमें तो खर्च पड़ता है। इसी प्रकार शास्त्रों में अनेक व्रत बताये हैं। लोभी को सबसे

बढ़िया व्रत-उपवास ही लगेगा। महीना भर का उपवास किया तो बहुत ही अच्छा काम किया, पंद्रह दिन का किया तो उससे कम अच्छा किया क्योंकि लोभ-रूप दोष बैठा हुआ है। लोभियों को औषधियों में लंघन और व्रतों में उपवास रुचिकर लगता है। लेकिन तप का यह स्वरूप वैदिक को इष्ट नहीं है। वैदिक तप का रूप वह मानता है जो समष्टि के प्रति त्याग किया जाये। लोभ मानवों का दोष है, यह ज़रूर स्वीकार किया पर इसीलिये कि उस दोष के परित्याग के लिये प्रयत्न करें। उसके परित्याग के लिये प्रयत्न करेगा, तब धीरे-धीरे उसकी आसक्ति हटेगी। यह तप का रूप बताया। जो यह तप नहीं कर सकता है, उसके अन्दर ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब नहीं उतरता। ब्राह्मण बिम्ब है और ऐश्वर्य प्रकट करने के लिये जो किया गया वह क्षत्रिय प्रतिबिम्ब है।

जिसमें यह ऐश्वर्य प्रकट नहीं होता है वह है 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः'। मनुष्य के बाहु हमेशा प्रकट रहते हैं, हाथ हमेशा खुले रहते हैं। हाथ बन्द किये तो कहते हैं कि जेल में डाल दिया गया। मनुष्य की सारी शक्ति और ऐश्वर्य का प्रतीक हाथ ही हैं। इसलिये जब किसी व्यक्ति के ऐश्वर्य को खण्डित करना हो तो हथकड़ी डालते हैं। कमर या अन्य कहीं भी यह पाश डाल सकते थे। हाथ में इसलिये डालते हैं कि हाथ ऐश्वर्य को प्रकट करने वाले हैं। हाथ हमेशा खुले रहते हैं, क्योंकि इनका खुले रहना ही उसके ऐश्वर्य का द्योतक है। लोक में भी कहते हैं कि कोई काम ऐसा नहीं जो मनुष्य दो हाथों से न कर सके। क्रिया-शक्ति का प्रधान केन्द्र हाथ ही हैं। जो हिस्सा ढका रहता है, कभी भी प्रकट नहीं होता, जिसका ऐश्वर्य प्रकट नहीं होता, वह ऊरू हैं। नाभि

से लेकर नीचे का हिस्सा, पेट और नितम्ब वाला हिस्सा ऊरू है, जो हमेशा छिपा कर रखा जाता है, प्रकट नहीं किया जाता। वैश्य वह हुआ जिसका ऐश्वर्य कभी प्रकट न हो।

एक बार हम जालंधर गये हुए थे। वहाँ के एक बड़े अच्छे व्यापारी कहने लगे कि 'जीवन में एक ही बार धोखा खाया है।' हमने पूछा, 'वह क्यों ?' कहने लगे, 'हमारा नियम है कि जो मैले और फटे कपड़े पहने हो, वह कई लाख का सौदा भी उधार माँगे तो दे देते हैं और बढ़िया कोट-पैण्ट पहने हुए ग्राहक यदि थोड़ा भी उधार माँगे तो नहीं देते हैं, क्योंकि मान्यता यह है कि उस कोट-पैण्ट वाले के अन्दर कुछ नहीं है और जिसके अन्दर ठोस मामला होगा वह कपड़ों पर पैसा बर्बाद नहीं करेगा। जीवन में एक ही बार ऐसा मौका मिला कि आदमी मैले कपड़े पहनकर आया, उधार ले गया और भुगतान नहीं आया।' जो इस रहस्य को नहीं जानते वे बाहर के चाकचिक्य को देखकर फँस जाते हैं।

जो असली वैश्य होगा वह एक लाख रुपये का फ़ायदा होने पर भी आँखें फेरकर कहेगा, 'क्या बतायें ? इस सौदे में तो धेला नहीं बच रहा है, लेकिन अब आप आ गये हैं तो क्या करें, शर्म के मारे करना ही पड़ता है।' उसके मुँह पर एक लाख रुपये का फ़ायदा होने के कारण हँसी की झलक तक नहीं। यह केवल ग्राहक के सामने ही नहीं, बाद में मुनीम के सामने भी उसको कभी हँसी आने वाली नहीं है। जो वैश्य नहीं होगा, वह दस हज़ार के फ़ायदे में ही लोगों को दिखाता रहेगा कि इतना फ़ायदा हो गया। भारतवर्ष के किसी व्यापारी से बात करो तो निरंतर यही कहता है कि सब टैक्स में चला जाता है, कुछ बचता नहीं है और

हमारे बहुत-से भोले लोग मान भी लेते हैं कि नहीं ही बचता होगा। कभी सोचा कि उनका दिमाग खराब है कि कुछ नहीं बचता और सवेरे से शाम तक खटते रहते हैं ? वह वैश्य ही क्या जो बता दे कि फायदा हुआ ! उसका ऐश्वर्य हमेशा छिपा रहेगा। क्षत्रिय का ऐश्वर्य हमेशा बाहर प्रकट होता रहेगा।

आज समाज की दुर्व्यवस्था का बहुत बड़ा कारण ही यह है कि लोगों ने अपने ऊरू खोलने शुरू कर दिये हैं। औरत-मर्द दोनों ने ही अपने ऊरू खोलने शुरू कर दिये हैं। हमारे यहाँ औरतों के लिये कहा गया था कि कभी भी उन्हें ऊरू का हिस्सा नहीं दिखाना चाहिये, लेकिन आजकल देखते ही हो कि क्या होता है। स्त्री और पुरुष दोनों का ऊरू खुला हुआ है, छिपा हुआ नहीं है। समाज का ऊरू वैश्य भी अपने ऐश्वर्य को उछाल रहा है। पहले से ज़्यादा रुपया तुम लोगों के पास हो गया हो, ऐसी कोई बात नहीं है, संख्या भले ही बढ़ गई है। यदि तुम्हारे पिताजी आज से चालीस साल पहले पाँच लाख रुपये तुम्हारे पास छोड़ गये और इन सालों के अन्दर यदि तुम्हारे पास आठ करोड़ हो गये हों तो समझ लो कि पाँच लाख ही हैं। चालीस सालों में बदलने वाली अर्थव्यवस्था के हिसाब से जो कीमत है, उसके अनुसार वही मूल्य पड़ जायेगा। लेकिन जिसने आज से चालीस साल पहले पाँच लाख से व्यापार शुरू किया था, उसके पास आज आठ करोड़ नहीं हैं, एक करोड़ होगा। केवल संख्या बढ़ी है, असली रुपया नहीं बढ़ा है। बड़े-बड़े आदमियों के घरों में हम जानते हैं जो अपने ही गहनों को तीन हिस्सों में बाँट कर तीन लड़कियों या लड़कों की शादी कर लेते हैं। यदि तुम्हारा ऐश्वर्य उतना भी रहता तो उन तीन

बच्चों के लिये तिगुने गहने बना लेते। जब उसी गहने को एक-तिहाई करके घर से निकालते हो तो तुम्हारा ऐश्वर्य अच्छा कैसे माना जाये ? इसका मतलब है कि अन्दर से मामला पोला है, लेकिन ऊपर से सब उछल रहे हैं, ऐश्वर्य को उछाला जा रहा है।

जैसे स्त्री अपने ऊरू-प्रदेश को दिखाने पर शोभा लायक नहीं रह जाती, वैसे ही पुरुष भी अपने ऊरू को दिखाने पर शोभा लायक नहीं रह गया। एक कड़ी बात कहेंगे : हमारे यहाँ पहले नर्तकी होती थी वह धन कमाने के लिये अपने ऊरू का हिस्सा जनता को प्रदर्शित करती थी। इसी प्रकार से आज का ऊरू-रूपी वैश्य रुपया उधार लेने के लिये अपना ऐश्वर्य प्रकट करता है। बैंक, एल.आई.सी., फाइनेंस कार्पोरेशन, हुण्डी आदि कई स्रोतों से रुपया उधार लेते हैं। कभी विचार किया कि सारे समाज को धन देने वाला ही जब समाज से धन लेने लग जायेगा तो यह समाज-पुरुष कभी चल सकता है ?' पेट के अन्दर गया हुआ भोजन हजम होकर सारे शरीर को पुष्ट करता है। यदि वह पेट न केवल दूसरे अंगों को पुष्ट करना छोड़ दे, बल्कि खुद भी अपनी स्थिति के लिये शरीर के दूसरे अंगों से भोजन लेना शुरू कर दे तो क्या वह शरीर चलता रहेगा ? वैश्य का धन सारे समाज में फैलना चाहिये, जब वह वैश्य ही समाज से धन उधार लेने लग गया तब यह समाज-पुरुष कहाँ चलेगा।

ऊरू शब्द का अर्थ ही 'विस्तृत' होता है। इसीलिये भगवान् विष्णु को कई जगह पर उरुक्रम कहा है। वामनावतार में अपने को विस्तृत करके सारे संसार को नाप लिया था, इसलिये उन्हें

उरुक्रम कहते हैं अर्थात् लम्बे-लम्बे कदमों वाले। समाजपुरुष को पुष्ट करके बढ़ाने का काम करने वाला ही तो ऊरू हुआ। अब यदि वह विस्तार करने वाला ही विपरीत क्रम अपना ले, विस्तार करने की जगह यही स्वयं को विस्तृत करने के लिये समाज के अंश को लेने लग जाये तो समाज-पुरुष का क्या हाल होगा ? आज के समाज-पुरुष के अन्दर ऐश्वर्य जहाँ प्रकट होना चाहिये, वहाँ प्रकट नहीं है और जहाँ छिपना चाहिये वहाँ प्रकट होता है। विपरीत क्रम मनुष्य को बड़ा दुःखदायी होता है। चाहे वह व्यक्ति-पुरुष हो या समाज-पुरुष हो, विपंरीत क्रम दुःख देता है।

एक कथा आती है : एक बार दो तपस्वी एकांत में रहकर निरंतर जप-तप करते हुए तपस्या कर रहे थे। जहाँ वे रहते थे, वहाँ एक बढ़िया सुन्दर तालाब था। वे उस तालाब के अन्दर स्नान करें, आनंद से भगवान् का पूजन करें और दिन भर तपस्या करें। कुछ समय बाद उंस तालाब के ऊपर कुछ मछुए पहुँच गये। वे मछुए अपना जाल फैलाकर मछलियों को निकालें। वे उन मछलियां में से कुछ को पकाकर खा लेवें और कुछ को बेच देवें। उन तपस्वियों में से एक ने सोचा कि 'वे मछुए कितने अच्छे हैं, दोनों समय मछलियाँ खाते हैं और आनंद से रहते हैं। अपने तो तपस्या में पड़े हुए हैं।' उसने तपस्या छोड़ी नहीं लेकिन मन में यह भावना आ गई कि 'ये बड़े अच्छे हैं, क्योंकि इनको दोनों समय खाने को मिलता है और बेच भी आते हैं।' दूसरे तपस्वी के मन में दया का भाव आया कि 'ये कितने दुःखी हैं। दिन भर तो पानी में सड़ते हैं। हम दिन भर पढ़ते हैं, तपस्या हो जाती है। ये तो दिन भर परेशान रहते हैं और बेचारों को खाने को भी दाल-रोटी नहीं

मिलती, तमाम तालाब की गन्दगी खाने वाली मछलियाँ खाने को मिलती हैं बेचारों को।'

माँस खाने वाले कई बार दूसरों से कहते हैं कि 'मांस छोड़कर यह घास क्या खाते हो ?' विचारशील उनसे पूछता है कि जिसके अन्दर टट्टी पेशाब भरा हुआ है, उसको खाने से तुम्हें क्या रस आता होगा ? हमारे आम में तो गुठली होती है, टट्टी-पेशाब तो नहीं होता। लेकिन तुम्हारे जितने भी खाद्य-पदार्थ हैं, उनमें टट्टी पेशाब ही है, तुमको क्या रस आता होगा ? अपने तो छिलका तक निकाल देते हैं, वहाँ क्या निकालोगे ? यह नहीं समझना कि पेशाब किसी एक जगह भरा रहता है जो निक़ल जाये। सारे शरीर से रस निकलकर गुर्दे में इकट्ठा होता है उसका नाम पेशाब है। वह आता तो सारे शरीर से ही है। किसी से कहो 'मेरा पसीना चाट लो' तो थप्पड़ मारने आयेगा। जब मांस खाते हो तो उसके शरीर में भरा हुआ वही माल है, गर्मी पड़ी तो निकला, नहीं तो नहीं निकला। जो शुद्ध भोजन करने वाला है, उसको तो मांस खाने वाले पर दया आती है कि यह बेचारा गरीब है, दाल-आटा नहीं मिला तो यही खाकर गुज़ारा निकालता है। कुछ तो इतने दरिद्र हैं कि अत्यंत घृणित जगह से निकलने वाले अण्डे को खाकर ही दिन काटते हैं ! ऐसे बेचारे मनुष्य भी हैं जिनको भोजन खाने को नहीं मिलता, क्या करें ? मूर्ख लोग समझते हैं कि यह कोई अच्छी चीज़ होती होगी और प्रलोभन में पड़कर उस गंदी चीज़ को भी खाने लग जाते हैं। पास में पैसा होने वाले लोग भी जब खाते हैं तब आश्चर्य होता है। गरीब आदमी को कुछ और नहीं मिला, अण्डा मिल गया तो उसी को खा लिया, कोई बात नहीं।

एक तपस्वी को तो उन मछुओं पर दया आती थी, जबकि दूसरे में यह भाव था कि बढ़िया चीज़ खाते हैं और आनंद से रहते हैं।

कालान्तर में दोनों ही मरे। जिस तपस्वी को मछुओं के प्रति दया का भाव था, वह किसी ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ। वहाँ वेद-पाठ आदि करता था। जो मछुओं को धन्य समझता था वह मछली बेचने वाला बड़ा भारी व्यापारी हो कर पैदा हुआ। तपस्या का फल दोनों को ही मिला। वह लाखों-करोड़ों रुपये की मछलियों का इधर से उधर खरीदने-बेचने का काम करे। गरीब मछुआ नहीं बना क्योंकि तपस्या की थी। यह नहीं समझना कि ऐसा नहीं होता है, हमने लखपति-करोड़पति चमार देखे हैं। बाटा कम्पनी के मालिक के पास करोड़ों रुपये हों, लेकिन काम तो चमार का ही है। फ्लैक्स कम्पनी का मालिक चमार ही होगा। चमार बड़ा भारी व्यापारी भी हो सकता है, गरीब ही हो, यह आवश्यक नहीं। इसी प्रकार भारतवर्ष से करोड़ों रुपये की मछली बाहर जाती है, क्या तुम समझते हो कि गरीब मछुए भेजते हैं ? कसाई भी तो करोड़पति होता है। जो गाय के मांस का निर्यात करते हैं वे कसाई ही तो हैं। ये वही हैं जो मन्दिर में आकर खूब पूजा करेंगे और कहेंगे कि 'हम खाते कभी नहीं।' हम प्रत्यक्ष एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जिसका काम ही यहाँ से मांस निर्यात करना है। करोड़ों रुपये का मांस निर्यात करता है और बड़ा धर्मात्मा है। एक बार पूछा भी तो कहते हैं, 'यह तो व्यापार है, इससे क्या होता है ? हम खुद नहीं खाते, हमने तो फैक्ट्री खोल रखी है, उसमें काम करने वाले काम करते हैं। हमें कुछ नहीं करना पड़ता,

हम तो उसका फायदा उठा लेते हैं। किसी ने तो भेजना ही हुआ, हमने भेज दिया।' ऐसे ही वह भी मछली का बड़ा भारी व्यापारी बना।

एक बार उस मछली-व्यापारी के ऊपर कोई आपत्ति आई। वह व्यापार करने के लिये विदेश गया हुआ था। वहाँ उसको शबरों ने पकड़ लिया और उसका सारा धन छीन लिया। शबर एक जंगली जाति होती है, उसकी आँखें फोड़ दीं और छोड़ दिया। वह जिस जंगल में घूम रहा था, वहीं ब्राह्मण कुल में उत्पन्न दूसरा तपस्वी उसी जंगल के अंदर तपस्या करने के लिये रह रहा था। यह घूमते हुए वहीं पहुँचा। ब्राह्मण ने देखा कि यह कोई आर्यपुरुष लगता है। उसे प्रेम से बैठाया और पूछा 'तेरे चेहरे से और चलने के ढंग से लगता है कि तू कोई धनाढ्य है।' धनाढ्य, गरीब, ब्राह्मण आदि सबका चलने का तरीका अलग-अलग होता है। यहाँ तक कि शास्त्रों में बताया है कि कपड़े पहनने का तरीका अलग-अलग होता है। रंग भी बताये हैं कि ब्राह्मण किस रंग का, क्षत्रिय किस रंग का, वैश्य और शूद्र किस-किस रंग का वस्त्र पहनता है। इसका मतलब लोग उलटा लगा लेते हैं कि दूसरा आदमी दूसरे रंग का कपड़ा न पहने। देखोगे कि जो जिस वर्ण का है, उसको उसी प्रकार के कपड़े आदि में स्वभाव से रुचि हो जाती है। इसी प्रकार चलने का तरीका अलग-अलग होता है। भोगी और योगी का चलने का तरीका अलग होता है। बुद्धिमान् लोग लक्षण देखकर पहचान जाते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के जूते की एड़ी देखो तो रुपये में छह आना पता लग जाता है कि यह मनुष्य किस स्वभाव का है, कामी है, क्रोधी है या लोभी है। किसी की दायीं तरफ की

और किसी की बाईं तरफ की एड़ी घिसती है, किसी का अन्दर वाला हिस्सा तो किसी का बाहर वाला हिस्सा घिसता है, किसी का आगे का तो किसी का पीछे का हिस्सा घिसता है। पच्चीस आदमियों के जूतों के तले देखो, सब एक जगह से नहीं घिसते हैं। शास्त्रीय पुरुष जूते की घिसाई को देखकर ही मनुष्य के आचरण का पता लगा लेते हैं कि आदमी में कौन-सा विकार ज़्यादा है।

जो नहीं जानने वाला है वह कहता है कि क्या किसी के सिर पर लिखा है कि यह ब्राह्मण है ? हम कहते हैं कि सिर पर ही नहीं, सारे शरीर पर लिखा है कि यह ब्राह्मण है। यह बात दूसरी है कि एक हज़ार ब्राह्मणों के अन्दर दो ऐसे भी होते हैं जो जन्म तो ब्राह्मण का लिये हुए हैं लेकिन कहीं से उनमें विकार आ गया है। एक हज़ार पार्कर के कलम खरीदो तो उसमें भी दो कलम कमज़ोर निकल आते हैं। यह नहीं कि सारे एक ही स्तर के हों। कोई भी चीज़ हजारों में लोगे तो दो-चार नग कमज़ोर आ ही जायेंगे। लेकिन क्या इतने मात्र से कह दोगे कि पार्कर के पैन का पता ही नहीं लगता ? इसी प्रकार पाँच ब्राह्मणों के विषय में कई कारणों से गलत निर्णय हो भी जाये तो नौ सौ पिच्यानबे का तो पता लग ही जाता है। चाल-चलन, खाने, बैठने के तरीके से पता लग जाता है क्योंकि सब अलग-अलग होते हैं। महाभारत के अन्दर तो यहाँ तक बताया है कि उनके चारों तरफ किस रस का प्रवाह होता है। किस वर्ण के पास से निकलो तो जीभ में कौन-सा स्वाद प्रधान हो जाता है। मुँह का स्वाद कभी एक-जैसा नहीं रहता। कभी खटास का, कभी नमकीन, कभी मीठा और

कभी कसैला स्वाद होता है। इसका क्या कारण है ? जिस वर्ण वाले के चारों तरफ रहने वाले वातावरण में अधिक देर तक टिकोगे वैसा ही प्रभाव अपने में आयेगा। बुद्धिमान् पुरुष तो उस तक से समझ लेता है कि जिनके साथ बैठा था, उसमें अमुक वर्ण वाले ज़्यादा रहे होंगे।

जो लोग कहते हैं कि 'किसी के माथे पर लिखा है कि कौन कैसा है', वे वैसे ही लोग हैं जैसे तिब्बत के अन्दर हम एक बार गये थे तो देखा था : वहाँ बड़े अच्छे संस्कृत के ग्रन्थ हैं जो अब तो नष्ट हो गये होंगे, पता नहीं, लेकिन उस समय वहाँ रखे हुए थे। उनमें से कई भोजपत्र पर, कई ताडपत्र पर और कई कागज़ पर लिखे हुए थे। जब हमने कहा कि 'ये ग्रन्थ देखना चाहते हैं' तो उन्होंने नहीं दिखाये। पता लगाने पर मालूम पड़ा कि उनको पता ही नहीं था कि ये कोई किताबें हैं जिनमें कुछ लिखा है। वे लोग समझते थे कि ये कोई मंत्र की पुस्तकें हैं इसलिये उसका उपयोग दवाई के रूप में होता था—कोई आदमी बीमार पड़ जाये तो उसका टुकड़ा फाड़कर उस आदमी को दे देते थे कि उससे उसका रोग ठीक हो जाये।

अपने यहाँ भी कई लोग शिवमहिम्नस्तोत्र की किताब ले जाते हैं और उस पुस्तक को पूजा में रखते हैं, रोज़ उस पर चंदन का छींटा मारते हैं। वह पूज्य पुस्तक है; पढ़ने के लिये है—यह उन्हें पता नहीं है ! पता भी हो तो कहते हैं कि 'समझ में नहीं आता, पूजा कर लेते हैं।' कई लोग रोज़ सप्तशती या गीता का पाठ करते हैं। उनसे किसी श्लोक की बात करते हैं तो कहते हैं 'अर्थ हमारी समझ में नहीं आता, वह तो ब्राह्मणों के लिये है।' उसका

अर्थ होता है या नहीं—इसके विषय में भी लोगों को संदेह है। यह कोई नया रोग नहीं है। भगवान् सायणाचार्य ने जहाँ ऋग्वेद भाष्य प्रारंभ किया है, वहाँ शंका उठाई है कि बहुत-से लोग कहते हैं कि ये मंत्र हवन के समय बोलने के हैं, इनका कोई मतलब नहीं होता। इनका तो पाठ करने से पुण्य होता है। सायणाचार्य ने उनका खण्डन किया और कहा कि कर्म-प्रयुक्त मंत्रों का भी अर्थ होता है।

तिब्बत में भी हमने यही हाल देखा। जब उनसे ग्रंथ पढ़ने को माँगा तो उन्होंने सोचा कि ये कुछ पन्ने ले जायेंगे और किसी को दवाई के तौर पर दे देंगे। जब उनको समझाया कि बेशक चार आदमी हमारे साथ बैठ जाओ, हमें कोई पन्ने ले नहीं जाने हैं, खाली बाँचना है, तो उनमें एक आदमी ने सोचा कि देकर देखें क्या करते हैं। वह बड़े ध्यान से देखता रहा; जब हमने उसे बाँचा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि जीवन में पहली बार उसको पता लगा कि उसमें कुछ लिखा है जिसको बाँचने से अर्थबोध होता है। जैसे वहाँ मान्यता थी कि इन पुस्तकों में कुछ नहीं लिखा है, इसी प्रकार जिनको पुरुष बाँचने की भाषा नहीं आती, वे कहते हैं कि 'किसी के माथे पर लिखा है कि यह ब्राह्मण है?' भाषा जानने वाला कहता है कि माथे पर ही नहीं, सारे शरीर पर लिखा है।

एक बार श्रीप्रकाश जी बता रहे थे : जब उन्होंने आक्सफोर्ड ट्राइपोज़ किया तब परीक्षा के बाद उन्हें जल्दी ही भारत लौट आना पड़ा। प्रिंसिपल से कहा, 'हमें उपाधि दे दो, जल्दी जाना है।' प्रिंसिपल ने कहा—'तुम ट्राइपोज़ हो गये, डिग्री की क्या ज़रूरत

है ?' कहने लगे 'वहाँ जायेंगे तो लोग सर्टिफिकेट माँगेंगे, दिखाना पड़ेगा।' उन्होंने कहा 'यदि आक्सफोर्ड के ट्राइपोज़ का एक फर्लांग दूर से पता न लगे कि यहाँ का पढ़ा-लिखा है तो क्या डिग्री देखने से पता लगेगा ? एक फर्लांग दूर से ही आदमी तुम्हारे चलने, बोलने और हिलने के ढंग से समझ जायेगा कि यह ऑक्सफोर्ड का पढ़ा हुआ है। सर्टिफिकेट दिखाकर क्या होगा ?' यह शिक्षा का रूप है। इसी प्रकार यदि कोई आदमी चन्दन लगाये हुए आपसे आकर कहे कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, टीका लगाने या आशीर्वाद देने आया हूँ' तो उसने अपने माता-पिता के पास फालतू समय बरबाद किया है। एक मील दूर से देखकर पता लग जाये कि पण्डित जी आ रहे हैं, एक मील दूर से आते हुए पता लग जाये कि राजा आ रहा है, तब ब्राह्मण या क्षत्रिय है। आजकल की तरह नहीं कि आकर कहना पड़े कि 'मैं राजा हूँ, मैं एम.पी. हूँ।'

कल ही एक सज्जन सुना रहे थे : उत्तर प्रदेश के अन्दर कोई पहले-पहल मंत्री बने। सुनाने वाले उसी विभाग के सचिव हैं जहाँ वे मंत्री बन कर आये। उन्होंने निर्णय किया कि 'मैं अदालत का मुआयना करूँगा।' मुझ से कहा कि मुआइने का इन्तजाम करा दो। मैंने पूछा 'वहाँ देखोगे क्या ?' कहने लगे, 'जब अदालत चल रही होती है तो देखूँगा कि ठीक से न्याय होता है या नहीं।' मैंने कहा 'अदालत का इस प्रकार का मुआयना तो हाई कोर्ट या सुप्रीम कोर्ट का जज ही कर सकता है। अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारे ऊपर मान-हानि का मुकदमा चल जायेगा।' कहने लगे, 'यह कैसे हो सकता है। मैं विभाग का मंत्री हूँ।' नहीं माने तो मैंने कहा 'जाने का इंतजाम कर दूँगा लेकिन आपके साथ नहीं जाऊँगा

क्योंकि लोग मुझे बुद्धू कहेंगे।' वे मंत्री जी वहाँ पहुँचे तो पहले हाकिम से कहा कि 'मैं मिनिस्टर हूँ, यहाँ बैठूँगा।' उसने ऊपर से नीचे तक देखा कि यह कौन आ गया। उसी समय पुलिस-कांस्टेबल से कहा 'तुम पागलों को अंदर क्यों आने देते हो ?' मंत्री जी ने अपना परिचय पत्र दिखाया, कहा 'मैं अभी नया मंत्री बना हूँ,' लेकिन उसने कुछ नहीं सुना और वहीं अदालत की जेल में डाल दिया। उनके साथ आये हुए पाँच-सात लोगों ने समझाया कि यह मिनिस्टर साहब ही हैं। फोने होने लगे। सेक्रेटरी साहब के पास फोन आया। उन्होंने कहा कि हमने पहले ही मना कर दिया था। वे बेचारे छूट कर तो आ ही गये। आकर कहने लगे 'हाकिमों के ऊपर मानहानि का मुकदमा चलायेंगे क्योंकि उन्होंने हमारा अपमान किया है।' हमने कहा 'ऐसा करने से पहले मेरा कहीं ट्रान्सफर कर दो। मैं सैक्रेटरी हूँ, अदालत में जाना मुझे पड़ेगा और वह अपना काम नहीं है। पहले तो अदालत का मुआयना कोई नहीं करता। यदि कोई भयंकर काण्ड हो जाये तो हाईकोर्ट का जज कर सकता है, बाकी कोई मुआयना नहीं कर सकता कि फैसला ठीक करते हैं या ग़लत करते हैं।' बड़ी मुश्किल से वे इस बात को माने। राजा कहीं पहुँच जाये और उसे यदि अपना 'आइडेन्टिटी कार्ड' दिखाकर बताना पड़े कि मुझे राजा मानो तो क्या वह भी कोई राजा हुआ !

जब ब्राह्मण तपस्वी ने उसको देखा तो समझ लिया कि यह है तो धनी व्यक्ति, लेकिन इसका धन कमाने का तरीका अपवित्र लगता है। उसने उसको बुलाकर अपनी कुटिया के बाहर बैठाया। तबं तक उसके शिष्य ने पूछा 'इनके लिये मधुंपर्क ले आऊँ ?'

हमारे यहाँ कोई श्रेष्ठ और चरित्रवान् व्यक्ति आये तो उसे मधुपर्क (दही, घी और शहद मिलाकर) भेंट करते हैं। इसमें पड़ने वाली तीनों चीज़ें सात्त्विक हैं। बहुत-से लोग इसका बड़ा अण्ड-बण्ड अर्थ करते हैं। कोई इसका अर्थ शराब करता है और कोई उससे भी भ्रष्ट अर्थ मांस करता है। लेकिन उसमें दोनों नहीं होते। दही, घी और शहद—ये तीन ही चीज़ें होती हैं। ये सिवाय मनुष्य के और किसी का भोजन नहीं हैं। घी कोई जानवर नहीं बनाता, दूध पी लेंगे। दही कोई जानवर नहीं जमाता। ये चीज़ें ऐसी हैं जो मानव का भोजन हैं। इसीलिये हमारे यहाँ जब पुत्र उत्पन्न होता है तब सबसे पहले उसकी जीभ में घी सोने की डंठल से लगाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है कि यदि इसे पहले दूध पिला दिया तो यह पशु जाति का हो जायेगा, इसलिये पहले घी चटा दो जिससे उसको मानवता की प्राप्ति हो, पशुत्व की प्राप्ति न हो। इसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति के आने पर उसे सबसे पहले मधुपर्क खाने को दिया जाता है।

जैसे ही शिष्य ने मधुपर्क लाने को पूछा, वैसे ही ब्राह्मण ने अपने शिष्य से कहा कि 'यह मधुपर्क के योग्य नहीं है।' वह कहने लगा 'आपने बड़े उत्साह और प्रेम से मुझे आसन पर बैठाया और फिर कहते हैं कि मैं मधुपर्क के योग्य नहीं हूँ।' ब्राह्मण ने कहा 'तू आर्य है और धनी है, इसलिये तू आसन का अधिकारी तो है, लेकिन तू वैदिक विचारधारा के विरुद्ध आचरण करता है इसलिये तू मधुपर्क का अधिकारी नहीं है।' उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। कहा 'बात तो ऐसी है लेकिन आपको पता कैसे लगा ?' ब्राह्मण ने कहा कि 'तुझे देख कर ही पता लग गया कि तू आढ्य

तो है लेकिन वैदिक धर्म के अनुकूल धनवाला नहीं है।' उसने कहा 'यह बताइये कि इसका कारण क्या है कि मेरे ऊपर यह आपत्ति आई है ?' समझ गया कि पण्डितजी बड़े अच्छे हैं, बता देंगे। पण्डित जी हँस पड़े और कहने लगे 'तुझे तो याद नहीं है, लेकिन मुझे याद है।' उन्होंने अपने अग्निहोत्र से भस्म निकालकर उसकी आँखों पर लगाई तो उसकी नेत्र-ज्योति वापिस आ गई। कहा, 'देख, क्या मुझे पहचान पाता है ?' तब उसको पूर्व जन्म की बात बताई कि 'हम-तुम दोनों साथ-साथ तपस्या करते थे। वहाँ मछुए आए तो उनके प्रति मेरे हृदय में दया और तेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ। उस सुख को समझाने के लिये भगवान् ने तुझे धनी कुल में उत्पन्न किया, तू धनाढ्य हो गया, और मेरे अन्दर दया का भाव था इसलिये तपस्या के फलस्वरूप मुझे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न किया। आज भी मुझे तो तुझ पर दया आती है। देख ले, तू शबरों के हाथ पड़कर कैसा कष्ट पा रहा है।' उस ब्राह्मण के सम्पर्क से और शबरों के हाथ से दुःख उठाने के कारण उसके मन में निश्चय हो गया कि ये ठीक ही कहते हैं। उसी क्षण से उसने अपना जीवन परिवर्तित कर दिया। जितना एकत्रित धन था वह सारा गरीबों में बाँट दिया और स्वतः परमात्मा के भजन में लगकर अपने इष्ट को प्राप्त किया।

विचार करो कि इस कथा के द्वारा क्या बताया गया है ? जिस चीज़ के प्रति तुम्हारे हृदय में यह भाव उत्पन्न हो जायेगा कि 'यह श्रेष्ठ है', वह भाव तुम्हें उधर ही ले जायेगा, तुम्हारे तप आदि का फल भी तदनुसार होगा। अपने हृदय को टटोलो कि तुम्हारी श्रद्धा कहाँ है ? या अमरीका के गोरे लोग अच्छे लगते

हैं या रूस के लाल और चीन के पीले लोग अच्छे लगते हैं। जितनी बातें करो, हृदय से श्रद्धा विदेशों में जाती है। भारतीय हिन्दुओं के हृदय के अन्दर विदेशी भावना ही प्रबल हो गयी है। तुम्हारे लड़के विदेशी बातों को अच्छा मानने वाले उत्पन्न होते हैं। लोग कहते हैं कि 'हम तो धर्म का काम करते हैं, फिर लड़के में ये बुरे संस्कार कहाँ से आ गये ?' वह तपस्वी करता तो तपस्या रहा, लेकिन हृदय से मछुओं को श्रेष्ठ समझता था कि 'ये बड़ा आनंद उठा रहे हैं।' इसके फलस्वरूप उसको मछुआ ही बनना पड़ा। उसी तरह से हम लोग धार्मिक कर्तव्य करते हुए भी वहाँ के धन को, वहाँ के ऐश्वर्य और अन्य चीज़ों को श्रेष्ठ समझते हैं, इसीलिये हमारे लड़कों के अन्दर भी वहीं की प्रवृत्ति आती है। उनको पैण्ट पहनकर जो सुख मिलता है, वह धोती पहनकर नहीं मिलता। यह लड़कों का कसूर नहीं है। तुम भी जितने आदर से अंग्रेज़ों के सामने झुकते थे, उतने ही आदर से जब ब्राह्मण धोती पहनकर आता था तो उसके सामने नहीं झुकते थे। 'पायलागन' करते थे लेकिन हृदय से नहीं और आज भी यही बात है। अगर कोई विदेशी रुद्राक्ष या तुलसी की माला पहनकर घूमता है तो लोग बड़े प्रसन्न हो जाते हैं कि 'ये लोग भी धर्म को मानने लग गये हैं।' हमारे यहाँ के वैदिक ब्राह्मण को देखकर वह प्रसन्नता नहीं होती। क्या कारण है ? मन में बैठा हुआ है कि 'वे अत्यंत श्रेष्ठ हैं और श्रेष्ठों ने यदि रुद्राक्ष-माला पहन ली तो रुद्राक्ष ज़रूर अच्छे होंगे।' श्रेष्ठ वे हुए। रुद्राक्ष पर उनकी मोहर लगी तो वह अच्छा हो गया। अच्छे-अच्छे वक्ता वेदों की पुष्टि के लिये विदेशियों का प्रमाण देंगे कि 'मैक्सम्यूलर ने वेदों की बड़ी प्रशंसा

की है, इसलिये वेद अच्छे हैं।' यदि उसकी छाप से वेद अच्छे हैं तो वह वेद से भी श्रेष्ठ हुआ, क्योंकि उसकी छाप लगे तो वेद श्रेष्ठ बनें।

विदेशी विचारधारा के व्यक्तियों के प्रति तुम्हारे हृदय के अन्दर जो श्रद्धा का भाव कूट-कूटकर भरा है, उसी का नतीजा है कि स्वभावतः तुम्हारे पुत्र में भी वह प्रवृत्ति होती है। तुम्हारे हृदय में उनके प्रति दया नहीं है। यदि वस्तुतः तुम्हारे हृदय में वेद की भावना बैठी होती तो तुम्हारे हृदय में दया का उदय होता कि वे बेचारे वहाँ के रहने वाले हैं जिन्हें खाने को और कुछ नहीं मिलता है तो पशुओं की तरह मांस-अण्डा ही खाते हैं। उन बेचारों को रोज़ धोने वाली धोती इत्यादि कपड़े उपलब्ध नहीं होते तो सुथने से ही गुज़ारा निकालते हैं। सर्दी का मुलक है, रोज़ पानी नहीं मिलता तो बेचारे गरीब, पशु-पक्षियों की तरह बिना नहाये ही गुज़ारा करते हैं। जिस दिन यह दया का भाव उदय होगा, उसी दिन हृदय के अन्दर ब्राह्मण की छाप आयेगी। जब तक मन में उनकी श्रेष्ठता रहेगी, तब तक ब्राह्मण को हमेशा दीन देखोगे।

आज हमारे समाज में सबको ब्राह्मण पर दया है। ब्राह्मण न कभी दया का पात्र हुआ है और न होगा। ब्राह्मण तो वह बिम्ब है जिसके कारण तुम्हारे समाज के अन्दर जीवन है। यही दान और दया में फ़र्क है। दान अपने से श्रेष्ठ के लिये किया जाता है और दया दुःखी के लिये की जाती है। ब्राह्मण दान का पात्र है, दया का नहीं। जब तक तुम्हारे हृदय में ब्राह्मण के प्रति दया रहेगी, तब तक विदेशियों के प्रति पूज्य-बुद्धि, दान-बुद्धि रहेगी, उन्हीं को श्रेष्ठ मानते रहोगे। जब यह भाव बदलकर विदेशी के

प्रति दया-भावना आयेगी, तभी ब्राह्मण के प्रति श्रेष्ठ बुद्धि आयेगी। आज सारी सरकारें कमर कसकर इस ब्राह्मण को समाप्त करने के लिये लगी हैं। यदि भारतीय संस्कृति जीवित रहेगी तो इसलिये रहेगी कि ब्राह्मण मर नहीं पा रहा है। विदेशी संस्कृति को यहाँ लाने वाली सरकारें इस बात को समझ गई हैं कि जब तक ब्राह्मण को खत्म नहीं करेंगे, भारतीयता खत्म नहीं हो पायेगी और जो तुम्हारे टुकड़े करने की नीति को लाना चाहते हैं, वे सफल नहीं हो पायेंगे। ये असफलताएँ संघर्ष को बढ़ायेंगी। क्या कारण है कि हर बात में ब्राह्मण को ही निकृष्ट दिखाया जाता है ? सारा इतिहास इसी को लेकर लिखा गया है कि ब्राह्मण से गया-बीता कोई नहीं है। दूसरी और तीसरी कक्षा के छोटे-छोटे बच्चों को यह पढ़ाया जाता है कि पण्डितजी कैसे निकृष्ट होते हैं। कभी भी किसी ईसाई पादरी को निकृष्ट नहीं दिखाया जाता। यह हिम्मत नहीं कि किसी मौलवी को निकृष्ट दिखायें या ईसाई पादरी के विरोध मे कोई बात लिखें ! वे तो उनके बिम्ब हैं, हमारे बिम्बस्थानीय ब्राह्मण को वे लोग कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

ब्राह्मण के प्रति आज हमारे हृदय में श्रद्धा की भावना नहीं रही। अत्यंत धार्मिक के हृदय में भी ब्राह्मण के प्रति दया भले ही हो, पूज्य-बुद्धि नहीं है। 'मैं भी ब्राह्मण हो जाता और वेदपाठी होकर अग्निहोत्र करता तो कितना अच्छा रहता'—यह बुद्धि नहीं है। कहते हैं—'पण्डितजी को भी गुज़ारे के लिये कुछ चाहिये, इसलिये बेचारे को रोटी-कपड़े के लिये सौ रुपये देने चाहिये।' जब तक ब्राह्मण *गरीब, बेचारा* और *दया का पात्र* रहेगा, तब तक वर्ण-व्यवस्था नहीं चल सकती। विरोधी ब्राह्मण्य को समाप्त करने

में लगे हैं। भारतीयता की रक्षा होनी है तो केवल तभी होगी जब ब्राह्मण्य प्रधान बनेगा। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर का वचन है कि वैदिक धर्म की रक्षा ब्राह्मण को लेकर ही होनी है। वैदिक धर्म की समाप्ति भी ब्राह्मण की समाप्ति से होगी। विरोधी इस बात को समझ चुके हैं, इसलिये वे तुम्हारे हृदय में तरह-तरह के ब्राह्मण-विरोधी भाव पैदा किया करते हैं और तुमको फुसलाकर कहते हैं कि 'तुम किस बात में ब्राह्मण से कम हो।' जैसे किसी लड़के को बाप के खिलाफ भड़काना हो तो मुनीम कहता है कि 'तुम्हारे पिता जी भी कोई व्यापार करना जानते हैं। पुराने ज़माने की बातें करते हैं। सारा काम तो तुम ही करते हो, वे तो खाली बाप बने हुए हैं। तुम ज़रा अपना हाथ तो दिखाओ'; वे तुम्हारे घर को बिगाड़ने वाले होते हैं। इसी प्रकार कहा जाता है कि 'ब्राह्मण में क्या अच्छाई है ? तुम भी इंसान और वह भी इंसान, उसमें क्या श्रेष्ठता है ?' यह सब इसलिये कि वे जानते हैं कि यदि इस समाज की श्रद्धा ब्राह्मण्य से ख़त्म हो गई, यदि बिम्ब नष्ट हो गया तो फिर इन्हें विदेशी धर्म में दीक्षित करने में हमारी स्वतंत्रता हो जायेगी।

जैसे विरोधी इस बात को समझ गये हैं, वैसे ही जिस दिन हमारा समाज यह समझ लेगा कि क्षत्रिय का बाहु ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये, वैश्य का धन ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये और शूद्र की सेवा ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये है उस दिन समाज-रक्षा में हम खुद समर्थ हो जायेंगे। ब्राह्मण वेद की मूर्ति है। ब्राह्मण चूँकि निरंतर वेद के ज्ञान के संरक्षण में लगता है इसलिये यह ज्ञानमूर्ति है। दूसरे सारे संरक्षणों की आवश्यकता ज्ञान की

पूर्णता कायम रखने के लिये है। जब समाज यह बात समझ लेगा तब युद्ध होगा : वे ब्राह्मण को मारना चाहेंगे और हम बचायेंगे। अभी युद्ध नहीं है, अभी तो भेद-नीति है। विरोधी तो समझ चुका है कि किसको मारने से यह समाज मर जायेगा, इसलिये यह हमारे समाज में भेद डाल रहा है। हम अभी इस बात को नहीं समझे हैं। यदि उनकी भेद-नीति सफल हो गई तो उन्हें बिना लड़े जीत मिल जायेगी और यदि उनकी भेद-नीति सफल नहीं हुई तो यह निश्चित समझो कि युद्ध से भारतीय कभी हारा नहीं है। यह प्रकरण समझने का है। पृथ्वीराज को मार नहीं सकते थे यदि जयचंद को न फोड़ा होता। महाराणा प्रताप को परास्त नहीं किया जा सकता था यदि मानसिंह शत्रुओं के साथ न मिला होता। आज तक साक्षात् युद्ध के अन्दर हम भारतीय कभी नहीं हराये गये। हमेशा भेद-नीति से हमें हराया गया है। आज भी यही समस्या है। हमारे यहाँ वैश्य और शूद्र में भेद डाल दिया गया। क्षत्रिय और वैश्य में भेद डाल दिया गया और अंतिम बिम्ब ब्राह्मण का सबके साथ भेद डाला जा रहा है। यदि यह भेद समझ में आ गया तो रूस और अमरीका वाले भी हमें नहीं हरा सकते। यदि इनकी भेद-नीति नहीं समझ पाये तो हम फँसते जायेंगे, बिम्ब-स्थानीय ब्राह्मण के प्रति हमारी भावना नष्ट होती जायेगी। भेद-नीति वाले सफल हो जायेंगे। ब्राह्मण नष्ट कर दिया तो हिन्दू को नष्ट करने में समय नहीं लगेगा।

प्रवचन-६२

भगवती श्रुति समाजपुरुष का वर्णन कर रही है। समाजपुरुष के स्वरूप में बिम्ब के स्थान में ब्राह्मण को बताया। उस बिम्ब का जहाँ प्रतिबिम्ब पड़ जाता है वह क्षत्रिय है। जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह वैश्य है। अब इन तीन वर्णों से अतिरिक्त चौथे वर्ण की *उत्पत्ति* बताई। अभी तक उत्पत्ति नहीं कही। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'—बिम्ब की नित्य सत्ता बताई जिसको शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि में 'ब्रह्म' शब्द से कहा। वह इसकी बिम्बभूत सत्ता है। फिर 'बाहू राजन्यः कृतः'; *किया गया* अर्थात् ब्राह्मण को क्षत्रिय किया गया। आगे उसका स्वरूप वैश्य है। यहाँ तक बताया।

अंत में कहते हैं 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' अब 'अजायत' शब्द का प्रयोग किया अर्थात् उत्पत्ति हुई। यहाँ 'पद्भ्याम्' यह पंचमी का प्रयोग किया अर्थात् 'पैरों से।' पंचमी का अर्थ होता है जिससे अलग हुआ जाये 'अपादाने पंचमी'; 'पेड़ से पत्ता गिरा' यहाँ 'से' में और 'दाल से रोटी खाई' इस 'से' में फर्क है। 'दाल से रोटी खाई', में 'से' का अर्थ करण है, अपादान नहीं है। 'पेड़ से पत्ता गिरा', में 'से' का अर्थ अपादान है। तृतीया और पंचमी दोनों के लिये हिन्दी में 'से' का प्रयोग हो जाता है लेकिन दोनों में फर्क समझ लेना : 'दाल से भात खा रहा है', यहाँ दाल को भात में मिला रहे हैं और 'पेड़ से पत्ता गिर गया' यहाँ पेड़ को छोड़कर पत्ता अलग हो रहा है। यहाँ 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' में 'पैरों के द्वारा' ऐसा अर्थ नहीं करना बल्कि 'पैरों से उत्पन्न हुआ' यह अर्थ

है।

इस 'अजायत' का तात्पर्य क्या है ? गीता में भगवान् ने तीन वर्णों को एक तरफ रखा और शूद्र को अलग रखा। 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' ये इकट्ठे कर दिये, 'शूद्राणां च परंतप' शूद्र को अलग किया। प्रश्न होता है कि अलग क्यों किया ? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं 'शूद्राणाम् असमासकरणम् एकजातित्वे सति वेदेऽनधिकारात्।' समास का मतलब 'इकट्ठा करना' होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों को इकट्ठा कर लिया तो 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' हो गया। शूद्र को इन तीन के साथ इकट्ठा क्यों नहीं किया ? भगवान् भाष्यकार इसका कारण बताते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वे होते हैं जिनके दो जन्म हों और शूद्र वह होता है जिसका एक बार जन्म हो। यही वर्ण का मूल रहस्य है।

प्रत्येक मनुष्य शोक-मोहरूप संसारसमुद्र में उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने में भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं लेकिन उत्पत्ति के अन्दर शोक-मोह हमेशा बने रहेंगे। संसार के परिचायक शोक और मोह हैं। प्रिय पदार्थ के वियोग से शोक और अप्रिय पदार्थ की प्राप्ति से शोक, प्रिय पदार्थ की प्राप्ति से मोह होता है। पहला जन्म प्राणिमात्र का शोक-मोह भोगने के लिये होता है। प्रथम जन्म का यह स्वरूप है। संतान की उत्पत्ति में कारण माता-पिता का मोह, अविवेक और काम ही है। अविवेक से उत्पन्न जो काम है, उससे उत्पन्न शरीर है। जो जिससे उत्पन्न होता है, उसमें उसके गुण अवश्यंभावी हैं। प्रथम जन्म मोह-निमित्तक, काम-निमित्तक होने से शोक-मोह की प्राप्ति वाला ही वह जन्म

होता है। अगर उस जन्म से किसी को संतोष होगा, यदि उसीमें रचना-पचना उसको अनुकूल पड़ गया तो वह शोक-मोह वाला रह गया। इसीका नाम शूद्र है। जो शोक और मोह को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझे, वह शूद्र ही है। शूद्र होने में सब का अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनने में तो सबका अधिकार नहीं है, लेकिन कोई भी प्राणी यदि शूद्र बनना चाहे तो उसको बनने का अधिकार है। 'मुझे संसार के शोक-मोह में ही लगे रहना है, ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है, वह शूद्र है। वह दूसरा जन्म नहीं लेता।

दूसरा जन्म कब होगा ? महर्षि वशिष्ठ कहते हैं 'अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।' प्रथम जन्म काम से सम्मिलित माता-पिता के मोह के द्वारा होता है। लेकिन दूसरा जन्म *लेना* पड़ता है, होता नहीं है। यहाँ माता-पिता को बदल दिया जाता है। सावित्री, जिसे लौकिक भाषा में गायत्री मंत्र कहते हैं, यही यहाँ माता है। सावित्री इसलिये कहा कि वह उत्पत्ति का स्थल है। जहाँ पैदा होकर संसार दुःख से त्राण (रक्षा) हो जाये ऐसी उत्पत्ति के स्थल को सावित्री कहेंगे। 'सु' धातु का अर्थ 'उत्पन्न करना' है। यद्यपि मातृ-गर्भ से भी उत्पन्न हुआ तथापि माता के गर्भ से उत्पन्न होने पर जीव की रक्षा नहीं होती वरन् संसार चक्र में घूमता ही रहता है। जब उस माता को छोड़कर गायत्री को ही सावित्री अर्थात् अपनी माता स्वीकार किया तब रक्षा होती है। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार यज्ञोपवीत के बाद खाना-पीना बिल्कुल परिवर्तित हो जाता है। यज्ञोपवीत के पहले चांहे जिसका छुआ खाने की छूट रहती है, लेकिन बाद में यह

छूट नहीं रहती। इसका यही कारण है। सारे ही कर्मों में यज्ञोपवीत के पहले छूट है क्योंकि तब तक प्राणी शूद्र की तरह है, जो भी आचरण करना चाहे कर सकता है। जब उसने सावित्री को माता बना लिया तब उसकी स्थिति बदल गयी।

'दूसरा जन्म' केवल डोरा डालना नहीं है जैसा आजकल लोगों ने बना लिया है। सावित्री को माता बनाना है। सावित्री मंत्र में प्रतिज्ञा है कि आज से हम अपनी बुद्धि को सर्वथा परमात्मा के अधीन करते हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्।' जो सारे संसार को उत्पन्न करने वाला वरेण्य है, वरणीय है, वही वर्ण-समाज का मूल है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण हैं; शूद्र को हमारे यहाँ वर्ण नहीं माना है, शूद्र को जाति माना है। शूद्र को वर्ण केवल उपलक्षणा से कहते हैं। इसीलिये शूद्रों के अनंत भेद हैं। शूद्र-जातियों की परिगणना नहीं कर सकते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की जाति की सीमा है, निश्चित है कि कौन किस गोत्र से उत्पन्न, किस ऋषि की शाखा से सम्बन्धित है, कौन-से गृह्यसूत्रों को मानने वाला, किस धर्मसूत्र के द्वारा अपना कार्य चलाने वाला है। यह सब तीनों वर्णों के लिये निश्चित है, मन-माना नहीं है। जब त्रैवर्णिक नमस्कार करते हैं, अभिवादन करते हैं, तब उसमें यह कहते हैं कि मैं किस गोत्र का, किस शाखा का, किस धर्मसूत्र का, किस गृह्यसूत्र के अनुसार अपने आपको बाँधता हूँ। ऐसे बँधा हुआ अभिवादन करता है। अभिवादन की पद्धतिमात्र से पता चल जाता है कि यह किस वर्ण का है और किन नियमों के अनुसार चलने वाला है। इसीलिये उसको आशीर्वाद भी विशेषरूप से दिया जाता है। शूद्र का अभिवादन भी 'जय राम जी की' और जवाब भी

'जय राम जी की' है, क्योंकि शूद्र को अभिवादन का अधिकार नहीं है इसलिये उसने भी 'राम की जय हो' कहा और हमने भी कह दिया कि 'राम की जय हो।' शूद्र को आशीर्वाद कैसे दें ? पहले पता तो लगे कि वह क्या चाहता है। ब्राह्मण को आशीर्वाद दिया कि तेरा ब्राह्मणधर्म बढ़े। क्षत्रिय आया तो उसको आशीर्वाद दिया कि तेरा क्षात्रधर्म बढ़े। वैश्य आया तो आशीर्वाद दिया कि तेरा वैश्यधर्म बढ़े। शूद्र का पता नहीं है, वह शोक-मोह में पड़ा हुआ है। इसलिये यह आशीर्वाद नहीं दे सकते कि तेरा शोक-मोह बढ़े ! उसके जीवन का उद्देश्य वही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अभिवादन करते हैं, तब उनको आशीर्वाद मिलता है और वह सारे गोत्र, शाखा आदि के उच्चारणपुरस्सर होता है।

गत हज़ार वर्षों से विदेशी राज्य हमारे यहाँ आया। तब से शूद्र के अन्दर यह संस्कार बैठा कि 'मैं नीच हूँ'। इसलिये बहुत-से शूद्र अपने आपको क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण की पंक्ति में लाने का प्रयत्न करते रहे और आज भी वह प्रयत्न चल रहा है। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप आज अनेक लोग अपने को क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण कहते हैं और यदि उनसे पूछते हैं कि 'किस शाखा के हो ?' तो कहते हैं कि 'यह मुझे पता नहीं है।' अपने को वर्ण वाला कहते हो तो बताओ किस धर्मसूत्र और किस गृह्यसूत्र के हो ? 'वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'—किस का वरण किया है ? कहते हैं 'यह हमें पता नहीं है।' जो धर्मशास्त्रज्ञ है, वैदिक है, वह समझ जाता है कि यह कैसा है। बाज़ार में दो तरह के हीरे होते हैं—नकली और असली। जैसे डालडा का बना हुआ *घी* तेल ही है, परंतु उससे अलग करने के लिये एक और नाम रखना पड़ा 'देसी घी।' जब

लोगों ने कहा कि हम ज़बरदस्ती तेल को घी कहेंगे तो हमें घी के लिये 'देसी' विशेषण लगाना पड़ा। धर्मशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा कि देसी घी की आहुति दो। आज्याहुति अर्थात् घी की आहुति दो, ऐसा लिखा है। इसी प्रकार जब बिना ही वरण किये हुए, बिना ही सावित्री के अधिकारी बने हुए अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम से कहने लगे तब कहना पड़ जाता है कि यह *असली* ब्राह्मण और यह *नकली* ब्राह्मण है। असली-नकली शब्द को गलत समझकर लोग झगड़ा करते हैं। डालडा वाले माल को 'नकली' घी नहीं कहते। जहाँ शाखा आदि का पूर्ण ज्ञान होकर वरण किया जाता है, वहाँ वर्ण है और जहाँ यह वरण नहीं किया गया वहाँ वर्ण नहीं है, क्योंकि तुमने वरण ही नहीं किया। एक पैसे का डोरा गले में डालने से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं हो जाता, यह स्पष्ट बात बता देते हैं। अभिवादन के प्रकारमात्र से पता चल जाता है कि यह किस वर्ण का है।

वरण क्यों ? क्योंकि हमने परमेश्वर के एक वरेण्य (श्रेष्ठ) रूप का वरण किया है, किसी एक बिम्ब को जीवन में लाने की प्रतिज्ञा की है कि हम यह बनेंगे और उसके लिये अपनी बुद्धि को उस परमात्मा के अधीन करते हैं। अब हम अपनी बुद्धि के मालिक नहीं रहे। इसीलिये कोई भी नास्तिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं बन सकता। आज लोग पूछते हैं कि कोई आदमी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य क्यों नहीं बन सकता ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तब बनता है जब अपनी बुद्धि को परमात्मा के अधीन कर दे। बुद्धि को परमेश्वर के अधीन करने से अतिरिक्त वर्ण का मूल तीन हैं—जन्म, श्रुत और तप। जन्म न होने के कारण वर्ण नहीं आ

सकता। कहोगे कि ऐसा क्यों ? बस यह 'क्यों ?' का प्रश्न ही बता रहा है कि तुम अपनी बुद्धि को परमात्मा के अधीन करने को तैयार नहीं हो ! जब कोई बहुत समय बाद आता है तो हम पूछते हैं कि बहुत दिनों से क्यों नहीं आये ? कहता है कि 'महाराज! आप डोर खींचेंगे तब आयेंगे।' इतने सालों में अब हम समझ गये हैं कि हमें धोखा देते हैं, इसलिये चुप रहते हैं। पहले-पहल हमको आश्चर्य होता था, सोचते थे कि बेचारे का प्रेम ही होगा। थोड़ी देर बाद जब कहता था कि 'जाना है' तब हम कहते थे कि डोर पकड़ ली है, अब उठकर नहीं जाना ! कहता था 'आप भी हमारा मज़ाक उड़ाते हैं।' अब हमारी समझ में आया कि हम उनका मज़ाक इसलिये नहीं उड़ा सकते क्योंकि वे हमारा पहले ही मज़ाक उड़ा रहे थे ! 'महाराज ! आपकी शरण हैं' इस वाक्य का अर्थ कुछ नहीं है। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हम वेदपुरुष की शरण लेते हैं' और फिर पूछते हैं कि 'यह वेद-पुरुष ऐसा क्यों है ?' तो शरण क्या ली है ! 'मैं वर्णान्तर में जाऊँ' यह भाव ही शूद्र वर्ण से आगे नहीं जाने देता। 'मैं शूद्र से आगे क्यों नहीं बढ़ सकता ?' क्योंकि तुम अपनी बुद्धि को किसी दूसरे के अधीन करने के अधिकारी नहीं हो। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा कि एक बार जो शोक-मोह में जन्म लेता है, उसके आगे जाने की योग्यता वाला नहीं है, वेदपुरुष में स्वतंत्र रूप से उसकी गति सम्भव नहीं है।

वेद को मैक्समूलर, विटनी ने भी बाँचा और हम भी बाँचते हैं, हमारे यहाँ का एक छोटा-सा बालक भी बाँचता है। वे बड़े-बड़े विद्वान् थे। फ़र्क क्या है ? हम लोगों को उसी वेद के द्वारा

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है, इहलोक और परलोक का सुख मिलता है, पाठमात्र से हमारे पाप प्रक्षीण होते जाते हैं। उसी वेद को वे विद्वान् पढ़ते हैं तो उन्हें उसमें गडरिये के गीत दीखते हैं, पिछड़ी हुई संस्कृति का रूप दीखता है। प्राकृतिक विषय सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का स्वरूप दीखता है। दोनों में ठीक कौन है? भगवान् कृष्ण सोमनाथ का दर्शन करते हुए अपने शरीर को छोड़ते हैं, उन्हें वहाँ साक्षात् भगवान् शंकर के दर्शन होते हैं। न जाने कितने लोगों को उसी सोमनाथ में भगवान् शंकर के दर्शन हुए। उसी सोमनाथ के अन्दर महमूद गोरी को पत्थर के दर्शन हुए। यह नहीं समझना कि सोमनाथ कोई दो थे। उसी विश्वनाथ के अन्दर आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र को भगवान् शंकर का जगमगाता हुआ ज्योतिर्लिंग दीखा और उसी विश्वनाथ में उन्हीं के समकालीन औरंगज़ेब को एक पत्थर दीखा। दोनों में सच्चा क्या है ? सच्चा वह है जो जिसको दीखा।

हमको एक स्त्री दीखी, वहीं पर कुत्ते को एक खाने लायक चीज़ दीखी। न कुत्ते को ग़लत कह सकते हो न अपने को ग़लत कह सकते हो। दोनों ने जो चीज़ देखी वह अपनी दृष्टि से देखी और दृष्टि ही उसमें प्रमाण है। दोनों में से कौन ठीक है ?—यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि किसकी दृष्टि ने कितना लाभ उठाया। हीरे को एक ने हीरा देखा, दूसरे ने काँच देखा। हीरा देखने वाले ने उससे हीरे का लाभ उठाया और काँच देखने वाले ने उससे काँच का लाभ उठाया। दोनों की दृष्टि में फ़र्क है और लाभ में फ़र्क है। वहाँ क्या है ? वेदांती कहता है कि वहाँ तो केवल ब्रह्म ही है। रस्सी में एक ने साँप *देखा*, दूसरे

ने माला और तीसरे ने भूछिद्र *देखा*, इसलिये तीनों ठीक कह रहे हैं। लेकिन वहाँ सच्चा क्या है ? सच्चा तो वहाँ सिवाय रस्सी के और कुछ नहीं है। जिसने वेद के अन्दर तत्त्वज्ञान देखा, वह तो अनंत-समुद्र में मग्न हो गया और जिसने गडरियों के गीत देखे, प्रकृति वर्णनों को देखा, उसके हाथ सिवाय सिर-दर्द के और कुछ नहीं आया। क्या है—इसकी मीमांसा वेदांती नहीं करता, क्योंकि जानता है कि सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है। सोमनाथ को महमूद ने और विश्वनाथ को औरंगज़ेब ने देखकर क्या पाया ? कुछ लाभ नहीं हुआ। जिसकी वेद को बाँचने की दृष्टि अनधिकार वाली है, वह मैक्समूलर की तरह उसको बाँचेगा भी तो उसके हाथ तत्त्वज्ञान नहीं आयेगा। वेद का कुछ नहीं बिगड़ना है। वेद को भले ही पद-पदार्थ समझ कर बाँचो, लेकिन समझने के बाद भी तुम्हारे हाथ कुछ नहीं लगने वाला है क्योंकि वेद में तुम्हारा अधिकार नहीं है।

यह अधिकार कब आये ? जब 'अत्रास्य माता सावित्री' पहले अपनी बुद्धि को वेदपुरुष के अधीन कर दो। जब तक तुम अपनी बुद्धि पर अपना स्वत्व रखते हो, तब तक वेद के अर्थ को नहीं समझ पाओगे। वेद को जाने दो, हमारे यहाँ के ग्रन्थों में जानबूझकर प्रयत्नपूर्वक बीच-बीच में आचार्य लोग गाँठें छोड़ देते हैं। आचार्य श्रीहर्ष कहते हैं 'ग्रन्थ-ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया' कोशिश कर के हमने अपने ग्रन्थ में बीच-बीच में ऐसी गाँठें रखी हैं कि जो इसे हठपूर्वक, बिना गुरु-परम्परा के बाँचेगा वह ठोकर खाकर मुँह के बल गिरेगा ! जिस प्रकार से किला बनाया जाता था तो उसके चारों तरफ प्रयत्नपूर्वक खाई खोदी जाती थी और

समय पर उसमें पानी भरा जा सकता था ताकि कोई प्रवेश करना चाहे तो जल्दी प्रवेश न कर सके। जब सामान्य ग्रन्थ में यह दृष्टि है तो वेद के अन्दर तो कदम-कदम पर ये ग्रन्थियाँ मिलनी हैं। वेद उपन्यास या अखबार की तरह तुम्हारे बाँचने के लिये नहीं हैं ! विचार करो : तुम्हारे घर में एक हीरे का नग होता है और एक काँच का नग होता है। हीरे के नग को मखमल की पेटी में बंद करके तिजोरी में रखते हो, तिजोरी में ताला बन्द करके उस कमरे में भी ताला लगाते हो और उसकी चाभी अपने पास रखते हो। काँच का नग ऐसे ही खुला पड़ा रहने देते हो, उसकी कोई चिन्ता नहीं करते। कारण यह है कि एक बेशकीमती है और दूसरा नहीं है। जब सामान्य हीरे की इतनी कीमत करते हो तब ज्ञानरूपी रत्न को बचाना कितना आवश्यक है ?

ज्ञान रत्न को चुराने वाले लोग चारों तरफ रहते हैं। इसको चुराने वाले कोई आदमी नहीं हैं, आदमी ज्ञान रत्न को नहीं चुरा सकते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि विकार ज्ञान-रत्न को चुराने वाले हैं। जैसे चोर दस लाख रुपये का हीरा चुरा कर ले जायेगा और उसको पचास हज़ार में बेच देगा, इसी प्रकार वेद-रत्न जीव-ब्रह्म की एकता को कामी चुरायेगा, और उसका प्रयोग कहाँ करेगा ? कहेगा, 'महाराज ! यह जो हम अपने घर में बच्चों की सेवा कर रहे हैं, क्या ये ब्रह्म नहीं हैं ! इनके लिये कमाते हुए हम झूठ बोलते हैं पर माया के झूठ में झूठ बोला तो क्या हुआ ? सत्य सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है।' यों कामी ज्ञान की चोरी करता है। क्रोधी भी उस ज्ञान-रत्न की चोरी करता है। वह कहता है कि 'क्रोध तो मन का विकार है। मन क्रोधी

हो रहा है, मेरा इससे क्या होता है !' यह क्रोधी की चोरी है। लोभी भी ज्ञान-रत्न की चोरी करता है। वह कहता है कि 'क्या प्राणिमात्र के हृदय में मैं नहीं हूँ ?' इटावे के अन्दर एक दीक्षित जी थे। वे कभी किसी को एक पैसा नहीं देते थे। एक बार हमने कहा कि क्या बात है ? कहते थे, 'स्वामी जी ! जिसको भगवान् ने दण्ड दिया, उसकी हम सहायता कैसे करें ? जिस प्रकार सरकार का विरोध करने वाले की सहायता करने वाला भी दण्डनीय हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा जिसे दण्ड देना चाहता है, हम उस गरीब की मदद करके परमात्मा के काम में रुकावट पैदा करते हैं, क्या इससे पाप नहीं लगेगा ?' यह लोभी का ज्ञानरत्नापहरण है कि हर-एक आदमी अपने पूर्व जन्मों के पाप-पुण्य से सुख-दुःख पाता है, मुझ-से क्या मतलब है। इसी प्रकार मोही और मद-मात्सर्य वाला भी इस ज्ञान रत्न की चोरी करता है। इसीलिये ज्ञानरत्न को वेदों में बचाकर रखा गया।

वेद में अनधिकर यही है कि जब तक शोक-मोह को अपने जीवन का अंग मान रखा है, उसे नष्ट करने के लिये कोई इच्छा ही नहीं उत्पन्न हुई, जब तक अपनी बुद्धि को किसी महत् बुद्धि का आश्रयण कराने की तुम्हारे अन्दर वृत्ति नहीं बनी, तब तक तुम्हारा प्रथम जन्म ही पर्याप्त है, तुम्हारा वेद में कोई अधिकार नहीं है। किसी के ऊपर यह रुकावट नहीं कि 'तुम शूद्र नहीं बन सकते', सब बन सकते हो। पुराने ज़माने में यदि ब्राह्मण अपने धर्म को छोड़ता था तो उसे जात-बाहर कर देते थे अर्थात् वह शूद्र जाति का हो गया। क्षत्रिय भी ग़लत काम करता था तो उसे जात-बाहर कर देते थे, वह शूद्र जाति का हो गया। हम बड़े उदार

चित्त वाले हैं। शूद्र बनने का अधिकार सबको है, लेकिन ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य बनने के लिये तो अपनी बुद्धि को पहले छोड़ना पड़ेगा। जो अपनी बुद्धि का अभिमान रखने वाला है, जो सोचता है कि 'मेरी बुद्धि वेदपुरुष से बड़ी है', उसको वेद में, ब्राह्मणादि बनने में अधिकार की प्राप्ति नहीं है।

जब अपनी बुद्धि को अर्पण कर दिया तब प्रतिक्षण उस बुद्धि का संरक्षण आचार्य करेंगे, वे ही अब तुम्हारी बुद्धि का पालन करने वाले बन गये। जो तुमको वेद पढ़ायेगा, वही तुम्हारा पिता अर्थात् पालक हो गया। सप्तशती में आता है 'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।' सप्तशती के टीकाकारों ने बताया कि 'ददाति प्रतिगृह्णाति' क्या है। प्रत्येक अमावस्या के दिन मास में उपार्जित किया हुआ सारा धन पहले देवी को अर्पण करे, फिर उसके पाँच हिस्से करे। एक हिस्सा गुरु को दे, एक पितरों के लिये रखे, एक हिस्सा देव-कार्यों के लिये रखे, एक हिस्सा दूसरों को दान और दया में लगाने के लिये रखे और केवल एक हिस्सा अपने कार्यों के लिये रखे, यह प्रतिग्रहण करे। सप्तशती का पाठ किया जाता है लेकिन सिद्धि क्यों नहीं मिलती ? पहले ही नियम वहाँ यह बताया है। इसी प्रकार वैदिक को क्या करना पड़ेगा ? उसका पालन करने वाले अब आचार्य रह गये। सप्तशती पुराणों में आने वाला ग्रन्थ है, तंत्रों में उसका प्रयोग बताया है। इसमें सभी वर्णों का अधिकार है, किसी को रुकावट नहीं है। इसलिये पाँचवाँ हिस्सा रखने के लिये कहा है। वेद में उसी का अधिकार होगा जो अपना सर्वस्व गुरु को समर्पण करेगा। उसके बाद जैसे पिता पालन करता है, ऐसे ही आचार्य पालन करेंगे। जैसे पालन

करना चाहिये, वैसा ही करेंगे। जिसने सावित्री और आचार्य को माता-पिता बनाया, वही व्यक्ति शूद्र वर्ण को छोड़कर द्विजाति में प्रवेश करता है। जो कुछ वरण नहीं करता, या वरण करने के बाद भी उस वरण करने को नहीं निभाता, उसे हम शूद्र वर्ण वाला मानते हैं। सावित्री और आचार्य के सम्बन्ध द्वारा जब द्वितीय जन्म हुआ, तब वह द्विजन्मा हुआ।

कौन व्यक्ति इसका चयन नहीं कर सकता ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ब्रह्मरूप से कभी अलग नहीं होते। क्योंकि इन्होंने अपनी बुद्धि को परमात्मा के अर्पण किया है। ये तो ब्रह्म से अभिन्न होकर रहेंगे। इनकी बिम्बरूपता खण्डित नहीं होती। बिम्ब, दर्पण और प्रतिबिम्ब इन तीनों में आपसी सम्बन्ध कभी नहीं टूटता। शूद्र वह हुआ जो इस आदर्श को छोड़कर शोक-मोह को अपने जीवन का उद्देश्य मानता है, संसार के भोगों को अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। वह भोगों के अन्दर रचने-पचने को ही अपनी श्रेष्ठता मानता है। उसने वेद को अपना आदर्श नहीं माना, इसीलिये उसे वर्ण केवल उपचार से कह दिया गया है, वस्तुतः वह जाति है। इसीलिये वह तीनों से अलग हो गया।

प्रवचन-६३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजाति हैं, शूद्र एकजाति हैं। शरीर से होने वाला जन्म मनुष्य का पशु के साथ एकता वाला है। माता-पिता जिस शरीर को उत्पन्न करते हैं उस शरीर में और

पशु-शरीर में कोई भेद नहीं है। यदि उसी जन्म की दृष्टि वाले रहे तो 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' पशु से कोई विशेषता नहीं रही! मानव जन्म की खास विशेषता ही यह है कि इसमें पशु और देवत्व दोनों भाव संभव हैं। देह-दृष्टि से यह पशुभाव को रखता है और विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि-दृष्टि से यह देव-गुणों की तरफ बढ़ता है। इसका शरीर पशु सम्बन्धी है, इसकी बुद्धि देव-सम्बन्धी है। इन दोनों का जहाँ विरोध हो वही मानव है ! जिसने शरीर के पाशव-भाव को जीत लिया, वह देव हो गया, मनुष्य नहीं रहा। जिसने बुद्धि के द्वारा शरीर को जीत लिया, वह मानव नहीं रहा, देव हो गया। जिसने शरीर के द्वारा बुद्धि को जीत लेने दिया वह पशु हो गया, वह भी मानव नहीं रहा। जिस-जिस काल में हम शरीर के द्वारा बुद्धि को जीत लेने देते हैं, उस-उस काल में हम पशु हो जाते हैं। मानव वह हुआ जहाँ यह संघर्ष मौजूद है। जब यह संघर्ष मिट जाये तो या पशु बनो या देव बनो। इस संघर्ष में जिसने देव बनने का निर्णय किया, वह द्विज हुआ। माता-पिता से जो शरीर मिला था, वह पशु-शरीर था। द्विजने गायत्री और गुरु के द्वारा इस पशु-शरीर को छोड़ने का निर्णय कर लिया। 'छोड़ दिया'—ऐसा नहीं कह रहे हैं। जो यह निर्णय भी नहीं कर पाता, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। इस भ्रमण में जो रहता है, वह शूद्र है।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत।' पद शब्द का अर्थ होता है 'पद्यते गम्यते' जिससे गति हो। चारों तरफ घूमने वाले की दो गतियाँ हैं—एक गति देवयान की है। दूसरी गति के पुनः दो भेद हैं—पितृयान की गति तथा संसार चक्र के अन्दर बार-बार घूमने

की गति। जिसने अपने शरीर को बुद्धि-तत्त्व के द्वारा जीत लिया, वह तो या देवयान की प्राप्ति करता है या यहीं परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति करता है अर्थात् गतिमात्र से छूट जाता है। दूसरी तरफ जिसने बुद्धि-तत्त्व को शरीर के द्वारा विजय कर लेने दिया, वह या पितृयान में जाता है या बार-बार के जन्म-मरण के चक्र में जाता है। ये दो गतियाँ हैं। देवयान और यहीं पर परमात्म-प्राप्ति का भेद वैराग्य की पूर्णता और वैराग्य की कमज़ोरी को लेकर है। जिसमें वैराग्य पूर्ण होगा, वह यहीं परमात्मभाव को प्राप्त कर लेगा। जिसमें वैराग्य की कमी होगी, वह देवयान के द्वारा सगुण ब्रह्म को प्राप्त करके, सगुण ब्रह्मलोक में अपनी कामनाओं को पूर्ण कर लेगा और फिर प्रलयकाल में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। वैराग्य की कमी या अधिकता के कारण यह भेद है। इसी प्रकार पितृयान और जन्म-मरण के चक्र में पड़ने वालों में राग की अधिकता और राग की न्यूनता को लेकर भेद है।

अत्यधिक राग होने के कारण किसी को हर क्षण शरीर प्रधान लगता है। एक व्यापारी है जिसको हर क्षण शरीर मुख्य दीखता है। वह दीर्घ समय के लिये कोई योजना नहीं बना पाता। इस समय के पाँच रुपये के नुकसान को वह सहन नहीं कर सकता। वह व्यक्ति आज खरीदकर कल बेचने वाला व्यापारी है। उससे कहो कि 'कोई उद्योग लगाओ' तो वह नहीं लगा सकता। उद्योग प्रारंभ करेगा तो पहले पाँच साल तक घाटा चलेगा, उसके बाद लाभांश आयेगा। जो अत्यंत रागी है, वह उद्योग नहीं कर सकता, क्योंकि वह सोचता है कि 'लाभ तो अभी हो ही नहीं रहा है।' दूसरा जो विचारशील है, वह है तो रागी, लेकिन कहता

है कि 'एक बार पाँच-सात साल घाटा भी उठा लेंगे तो भविष्य ठीक हो जायेगा।' इस दृष्टि से देखने वाला व्यापारी उद्योग कर सकेगा, जो इस दृष्टि वाला नहीं होगा, वह कभी उद्योग नहीं कर सकेगा। राग की कमी और राग की अधिकता का यह मूलगत भेद है।

जिसमें अत्यधिक राग होता है, वह जन्म-मरण के क्षयिष्णु चक्र में पड़ा रहता है। जो अपने राग को कुछ नियंत्रित कर लेता है, वह यहाँ के सुखों की अपेक्षा उत्तम सुखों को भोगने के लिये शुभ कर्मों को करके पितृयान से स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति करता है। दो गतियाँ राग से और दो ही गतियाँ वैराग्य से हैं। इनमें जो सर्वथा क्षयिष्णु जन्म-मरण के चक्र में पड़ने वाला है वह चूँकि अपने पशुभाव को सर्वथा छोड़ता ही नहीं, इसलिये उसे एकजाति कहा। पितृयान, देवयान और यहीं परमात्मा की प्राप्ति—इन तीन में जिसकी गति है उसका तो वेद में अधिकार है। लेकिन जो सिवाय पशुयोनि में प्राप्त होने वाले सुख के अतिरिक्त सुख की इच्छा वाला है ही नहीं, उसका वेद में अधिकार नहीं है। किंचित् राग का भी जो नियंत्रण नहीं करता, उसके लिये वेद नहीं है। उसके लिये केवल बार-बार जन्म-मरण के चक्र की प्राप्ति बताई, तदतिरिक्त कुछ नहीं, क्योंकि उसे यही चाहिये। वेद के अन्दर अधिकार तभी प्राप्त होगा जब तप करने की तैयारी हो। पितृयान में जाने वाले व्यक्ति को भी कुछ न कुछ तप करना पड़ेगा। शुभ कर्म चाहे स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति के लिये करे तो भी कष्ट सहन करना पड़ेगा। जो तप नहीं करना चाहता, जो कष्ट सहन नहीं करना चाहता उसे वेद में अधिकार की प्राप्ति नहीं है।

भोगाभिलाषी के लिये वेद नहीं है। इहलोक के भोगों की जिसे कामना है, इसके अतिरिक्त कोई कामना नहीं है, उसको वेदों से कुछ नहीं मिलना है।

जैसे ही कोई द्विजाति बनता है अर्थात् जैसे ही उसकी वेद में दीक्षा हुई, वैसे ही उसके ऊपर तुरंत तीन ऋण चढ़ जाते हैं। इसके पहले उस पर कोई कर्ज़ा नहीं रहता। ऋण कर्ज़े को ही कहते हैं। 'जायमानो वै ब्राह्मणःत्रिभिःऋणवान् जायते' यह वेद-वाक्य है कि ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋण वाला उत्पन्न होता है। 'जायमानः' का मतलब है कि जब वह वेद के अध्ययन को समाप्त करके निर्णय करता है कि मुझे केवल शरीर के भोगों की अभिलाषा नहीं बल्कि मैं वैदिक धर्म के अनुरूप गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँगा, तब उस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के ऊपर तीन ऋण चढ़ते हैं, उसके पहले नहीं। यहाँ 'जायमानः' का भाष्यकार ने जो अर्थ किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के घर पैदा हुआ भी यदि शूद्र बनना चाहे तो उस पर कोई रुकावट नहीं है ! हमारे यहाँ ब्राह्मण शूद्र बन सकता है, शूद्र के ब्राह्मण बनने पर रुकावट है। आज कठिनाई यह है कि जिन ब्राह्मणों ने शूद्र बनने का निश्चय किया, वे ईमानदारी से यह बात नहीं कहते और दूसरे ब्राह्मण उन्हें बलात् अब्राह्मण घोषित नहीं करते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की संख्याओं से कुछ नहीं होता।

आजकल एक मान्यता चली है कि ऐसा करोगे तो ब्राह्मण कितने रह जायेंगे ! हम लोगों का कहना है कि ब्राह्मण एक गुणविशेष होने के कारण है। ब्राह्मण नाम वालों से क्या लाभ, जब वे शूद्रभाव की प्राप्ति कर रहे हैं ? विदेशियों ने हमारे

अंतःकरण में ये संस्कार डाल दिये हैं कि संख्या बढ़ने से काम होता है। यह विदेशी विचारधारा है। संख्या पर ज़ोर देने वाले व्यक्ति मूर्ख कहे जाते हैं। यदि यह निर्णय करने के लिये मतदान कराओ कि 'सूर्य उदय होते समय ऊपर उठता है या पृथ्वी', तो बहुमत कह देगा कि सूर्य ऊपर उठता है, पृथ्वी स्थिर है ! लोगों को सिखाना पड़ेगा कि मूर्खो ! तुम लोगों को जैसा दीखता है, वैसा नहीं है। सारी शिक्षा का मूल यह मानकर है कि एक-दो विद्वानों ने जिस चीज़ का आविष्कार किया, वह बाकी सबको सिखाई जाये। यदि उलटा यह मानकर चलोगे कि बहुमत का निर्णय सच्चा होता है तो सारे शिक्षा-संस्थान बन्द कर देने चाहिये, कहीं कुछ पढ़ाने की ज़रूरत नहीं है। बल्कि उन दो-चार विद्वानों के लिये ही कोई विद्यालय खोल देना चाहिँये कि 'तुम लोग इन मूर्खों के मध्य में रहते हुए अपने सिद्धान्तों को बदल दो।' आइंस्टाइन के सिद्धान्त को समझने वाले विश्व में शायद पाँच सौ व्यक्ति होंगे। अणु की कल्पना को समझने वाले व्यक्ति अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं, अणु-विस्फोट की तो बात ही दूसरी है। अधिक संख्या के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय नहीं होता। इसी प्रकार ब्राह्मणों की संख्या कितनी है, इससे निर्णय नहीं होना है। ब्राह्मणों के अन्दर गुण कितने हैं, इससे निर्णय होना है। पहले या तो स्वयं ब्राह्मण यह घोषित करता था कि मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र बनना चाहता हूँ। यदि वह स्वयं घोषित नहीं करता था और शूद्रवत् आचरण करता था तो ब्राह्मण उसे जाति से निष्कासित कर देते थे कि अब यह ब्राह्मण नहीं है। संख्या से निर्णय केवल शूद्र में किया जा सकता है।

जब व्यक्ति निर्णय करता है कि मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अनुरूप जीवन व्यतीत करना है, जब वरण करता है, तब तप प्रारंभ होगा। जितना-जितना उसका तप श्रेष्ठ होगा, उतना वह श्रेष्ठ अधिकारी होगा, उसके अनुसार ही वह आगे बढ़ेगा। यह तप भी परमात्मा की कृपा है। गीता के अन्दर भगवान् श्रीकृष्ण ने इस वरण के आधार को बताया

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।'

यहाँ कहा 'स्वभावप्रभवैः गुणैः' स्वभावप्रभव गुणों के द्वारा कर्मों का विभाजन है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकरभगवत्पाद बड़ा सुन्दर पूर्वपक्ष उठाते हैं। कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्या कर्म करें यह तो शास्त्रों में लिखा है, शास्त्रों के द्वारा ही तो कर्मों का प्रविभाग है; फिर भगवान् ने 'शास्त्रप्रविभक्तानि' न कहकर 'स्वभावप्रभवैः गुणैः' कैसे कह दिया ? इसके द्वारा बड़ा सुन्दर और विलक्षण सिद्धान्त भगवान् भाष्यकार निरूपित कर रहे हैं : 'शास्त्रेणापि ब्राह्मणादीनां सत्त्वादिगुणविशेषापेक्षयैव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि।' कहते हैं कि शास्त्र ने भी कर्मों का जो प्रविभाग किया है, वह गुणविशेष की अपेक्षा रखकर ही किया है। भाष्यकार मूल कारण तक जाते हैं।

सूत्रभाष्य में एक जगह विचार आया कि किस कर्म का किस व्यक्ति के लिये विधान हो ? वे कहते हैं कि जो आदमी जो करता है, कर सकता है, उसका ही शास्त्र उसके लिये विधान कर सकता है। जो नहीं कर सकता, उसके लिये शास्त्र द्वारा विधान नहीं होता। शास्त्र कहता है कि आँख के द्वारा देखकर पैर रखना चाहिये

'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं' आँख से देखे कि कहाँ पैर रख रहा है, फिर पैर रखना चाहिये। यह विधि किसके लिये है ? इसका अर्थ स्वतः है कि जो अंधा नहीं है, वह देखकर पैर रखे। सामर्थ्य वाले को उपदेश होता है, असमर्थ को उपदेश नहीं होता। जो जिसमें सामर्थ्य वाला है, जो जिस काम को करने में समर्थ है, उसी के लिये विधि होती है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह विधि कहती है कि आत्मा का दर्शन करे, तो यह विधि उसी को लगेगी जिसने पहले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा को प्राप्त कर लिया; नहीं तो उसमें सामर्थ्य ही नहीं होगी। अशांत व्यक्ति कभी भी आत्मा का दर्शन कर ही नहीं सकता। उसको कहना कि 'आत्मा का दर्शन करो', व्यर्थ है। सामर्थ्यवान् को उपदेश होता है, असमर्थ को नहीं होता। भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

उसी सिद्धान्त को यहाँ भी कहते हैं कि शास्त्र ने भी गुण-विशेष की अपेक्षा रखकर ही शम, दम आदि कर्मों का विधान किया है। गुण की अपेक्षा को न रखकर यत्किंचित् विधान कर दिया हो, ऐसा नहीं है। इसीलिये भगवान् ने यहाँ 'शास्त्रप्रविभक्तानि' न कहकर 'स्वभावप्रभवैः गुणैः' कह दिया अर्थात् कर्मों का विभाजन स्वभाव-प्रभव गुणों को लेकर होता है।

जिस व्यक्ति के अन्दर बुद्धि तत्त्व नहीं है, जो शरीर के अधीन है, शरीर के धर्मों को ही सब कुछ समझता है, उसमें ही रतिवाला है और उसके लिये ही सब कुछ करता है, उसके ऊपर कोई ऋण नहीं होता है। ब्राह्मण ही ऋणग्रस्त है। शूद्र के ऊपर ऋण इसलिये नहीं हैं क्योंकि वह अपने शरीर से ही बाहर निकलने

की सामर्थ्य वाला नहीं है, उसके ऊपर और क्या ऋण चढ़ाओगे! जैसे ही तुमको वेद में दीक्षा मिली, तुमको नित्यकर्मों की प्राप्ति करा दी गई। नित्य कर्म वे हैं जिनका फल कुछ नहीं है और न करो तो दोष लगे ! यह सर्वप्रथम शिक्षा तब मिलेगी जब दीक्षा लोगे। शूद्र प्रत्येक कर्म का फल चाहता है। लोग कहते हैं कि भस्मी लगाने से शरीर को क्या फ़ायदा, रुद्राक्ष पहनने से क्या फ़ायदा होता है ? सोचते हैं हर कर्म करने से ज़रूर *शरीर* को कुछ फ़ायदा होता होगा। ऐसा प्रश्न करने वाले के बारे में हम समझ लेते हैं कि बिना वेद के अधिकार के इसने वेद सुन रखा है ! वेद का अधिकारी तो वह है नहीं, इसलिये बेचारे वेद को शरीर के लाभ में घटाना चाहता है ! शूद्र का वेद में अधिकार तो था नहीं, लेकिन कहीं बाँच लिया या सुन लिया है। ऐसे लोग वेद का अनर्थ करेंगे।

हमारे स्मृति-शास्त्रों में यहाँ तक कहा है कि यदि शूद्र वेद का श्रवण कर ले तो उसके कानों में रांगा डाल दो ! इस दण्ड का कारण था कि वह वेद का अर्थ नहीं अनर्थ करेगा, वेद के अन्दर दैहिक फलों को ढूंढेगा, यह सिद्ध करेगा कि वेद इहलोक के फल को देने वाला है। वेद का तात्पर्य स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष, अनुमान से जिस धर्म व ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी में वेद प्रमाण है। वेद के जिस वाक्य का अर्थ इहलौकिक हेतुफलभाव होगा वह वाक्य हम लोगों की दृष्टि में प्रमाण नहीं रह जाता। प्रत्यक्ष व अनुमान के द्वारा जिस अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, उस अर्थ को बताने वाला ही वेद है। जिस चीज़ का प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान हो जाता है, उस के अंदर वेद अप्रमाण हो जाता

है।

हम लोग नैयायिकों से बड़ा झगड़ा करते हैं। नैयायिक भी ईश्वर को मानता है और हम भी ईश्वर को मानते हैं। लेकिन हम उनकी ईश्वर-सिद्धि का खण्डन करते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं कि तर्कसिद्ध ईश्वर नहीं है ! नैयायिक युक्तिसिद्ध ईश्वर को मानते हैं। कहते हैं कि ईश्वर की सिद्धि अनुमान से हो जाती है। जो-जो कार्य है, वह सकर्तृक होता है। कोई बनायेगा तब कुछ चीज़ बनेगी। इसी प्रकार संसार है तो किसी ने बनाया है और वही संसार बनाने वाला ईश्वर है। हमको खुश होना चाहिये कि ये बेचारे ईश्वर को सिद्ध कर रहे हैं, ईश्वर को मानते हैं लेकिन हम खण्डित करते हैं ! कहते हैं कि जहाँ कर्तृत्व है वहाँ शरीर भी होता है। ईश्वर का शरीर किस से बना हुआ है ? कुछ कार्य होता है तो वह किसी देश-काल में किया जाता है, किसी इच्छा से किया जाता है। ईश्वर ने किस इच्छा से सृष्टि बनाई ? हमारा कहना है कि युक्ति से जो ईश्वर को सिद्ध करते हैं, उनकी युक्ति कमज़ोर है, उसीके सहारे ये ईश्वर सिद्ध नहीं कर पाते। पूछो कि 'आप ईश्वर को नहीं मानते ?' हम मानते हैं लेकिन *युक्तिसिद्ध* ईश्वर को नहीं मानते, वेदसिद्ध ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर को *सिद्ध* करने वाले की युक्तियों में कुछ दम नहीं है। यदि ईश्वर युक्तिसिद्ध हो जायेगा तो ईश्वर को बताने वाले वेदवाक्य अप्रमाण हो जायेंगे। वेदसिद्ध ईश्वर को बुद्धि में बैठाने के लिये युक्तिविचार ज़रूर करो, हम भी युक्तियों से समझायेंगे, लेकिन यह मत मानो कि सिर्फ़ युक्ति के आधार पर निर्णय हो सकता है कि ईश्वर है, यह हम लोगों की दृष्टि है। दूसरे लोग वेद की बातों को वैज्ञानिक

सिद्ध करना चाहते हैं, कहते हैं कि वेद में विज्ञान है। वेद में विज्ञान होगा तो वेद की क्या ज़रूरत है ? वह तो प्रत्यक्ष-अनुमान से वैज्ञानिक खुद पता लगा लेता। प्रत्यक्ष अनुमान से जिसका ज्ञान-संभव नहीं, उसे वेद बताता है। जो वेद में अश्रद्धालु हैं, वेद में अधिकार वाले नहीं हैं, वे वेद को सुनकर वेद का अर्थ इहलौकिक लगायेंगे। साधारण आदमी उस अर्थ से पथभ्रष्ट हो जायेगा। इसलिये कहा कि यदि भूल से भी वह वेद सुन ले; पहले तो सुनना ही नहीं चाहिये, यदि भूल से सुन ले; तो आगे समाज में वेद के अनर्थ को न फैला पाये, इसलिये उसे दण्ड देना चाहिये।

राज्य का भी गुप्त रहस्य होता है। जब चीन का भारत पर आक्रमण हुआ उस समय प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने एक चिट्ठी अमरीका के राष्ट्रपति केनेडी को घबराहट में लिखी कि 'किसी तरह हमें बचा लो।' वह चिट्ठी विदेश विभाग में थी, बाद में उसे मंगवाकर प्रधानमंत्री के गुप्त कार्यालय में रख दिया गया कि भारत का बनने वाला प्रधानमंत्री ही उस चिट्ठी को पढ़े, और कोई उसे न पढ़ पाये। अमरीका वालों को भी लिख दिया कि 'आप लोग इस पत्र की प्रतिलिपि कभी किसी को न दिखायें।' कोई प्रश्न कर सकता है कि हम लोग भी संसद के सदस्य हैं, हमें भी क्यों न दिखाई जाये ? उत्तर है कि जो देश का सबसे बड़ा अधिपति नहीं है, वह उसका दुरुपयोग करेगा। उस दुरुपयोग को बचाने के लिये यह प्रतिबंध किया गया। विचार करो कि वह चिट्ठी किसी ने टाईप भी की होगी, किसी को दिखाई भी गई होगी; उनको तो पता ही होगा; लेकिन ऐसों को भी प्रधानमंत्री के सचिवालय से हटाकर उगाण्डा जैसे किसी बहुत दूर देश के

दूतावास में भेज दिया जाता है ताकि आगे वे इस बात को किसी से कहें भी तो कोई न माने। ऐसा इसलिये किया गया कि राज्य के गुप्त रहस्य का कोई दुरुपयोग न हो जाये। ऐसे ही वेदों के अन्दर जो अतिसूक्ष्म रहस्य बताया गया, आत्म-कल्याण का मार्ग बताया गया, कोई व्यक्ति उसके अर्थ को संसार के पदार्थों में लगा ले तो उससे बड़ी हानि हो जाती है।

एक मोटे दृष्टांत से समझ लोः हमारे यहाँ तन्त्रों में वशीकरण का प्रयोग है जिससे दूसरे के मन को अपने वश में कर सकते हैं। कोई पति और पत्नी आपस में झगड़ा करें, उनके घर में रोज़ झगड़ा हो, तो उस झगड़े को मिटाने के लिये, उनका हार्दिक मेल-मिलाप हो जाये, इसके लिये वशीकरण का प्रयोग बताया गया है। यदि किसी अत्यंत निर्दयी के हाथ में वशीकरण का प्रयोग आ जाये, तो जो प्रयोग धर्म के लिये है, पति-पत्नी के रोज़ के झगड़े को मिटाने के लिये है, वही अधर्म में विनियुक्त हो जायेगा। यदि वह प्रक्रिया किसी अनधिकारी शूद्र के हाथ पड़ गयी जिसे केवल अपने शरीर का सुख चाहिये, तो किसी पुरुष की किसी दूसरी स्त्री के प्रति कुदृष्टि हो, वहाँ उस वशीकरण का प्रयोग करके दो घरों को उजड़वा देगा। परस्त्री पर वशीकरण हुआ तो उसका घर भी उजड़ा और दूसरी औरत प्राप्त हो गयी तो पहले वाली के बच्चे उजड़ जायेंगे। जिसको अधिकार नहीं उस व्यक्ति के हाथ में पड़ा हुआ यह प्रयोग अनर्थ को प्राप्त करायेगा। इसलिये कहा कि इससे अच्छा है कि उस एक अनधिकारी शूद्र को दण्ड दे दो, नहीं तो सारे समाज में विशृंखलता आ जायेगी। ऐसे ही उच्चाटन का प्रयोग है : ग़लत संगत में कोई फँस गया, वहाँ से

उसे हटाने के लिये प्रयोग करो तो ठीक है। अनधिकारी इसका प्रयोग करेगा अपने फ़ायदे के लिये, जिस पर प्रयोग कर रहा है उसके फ़ायदे के लिये नहीं।

आजकल के चिकित्सकों का भी ऐसा ही हाल है : सरकार ने कहा कि कोई व्यक्ति यदि औषधि के लिये शराब का प्रयोग करना चाहे तो चिकित्सक के आदेश से उसको शराब मिलेगी। कानून तो ठीक है। लेकिन आज भारतवर्ष में चिकित्सक *चिकित्सक* तो है नहीं। हमारे यहाँ शूद्र वैद्य नहीं बन सकता। उसका कारण यही है कि वैद्य दवाओं को जानता ही है, वह जैसे उनका सदुपयोग कर सकता है वैसे ही दुरुपयोग भी कर सकता है। अपना स्वार्थ प्रधान रखेगा तो रोगी का फ़ायदा नहीं देख सकता। ऐसे डाक्टर को दस रुपये दे दो, फिर तुम्हें चाहे शरीर-रक्षा के लिये शराब की कोई ज़रूरत नहीं फिर भी वह तुम्हें पुर्जा लिख देगा, जिससे तुम्हें शराब मिल जायेगी और तुम नशेबाज बनकर बर्बाद होते रहोगे। वास्तव में वह डाक्टर बनने का अधिकारी नहीं। अपने स्वार्थ को ही सब कुछ मानने वाला है, डाक्टर बन गया तो डाक्टरी का ही दुरुपयोग किया। कहीं अच्छा था कि उसको चिकित्सक न बनने दिया जाये इसकी अपेक्षा कि वह चिकित्सक बनकर ज्ञान का दुरुपयोग करे।

द्विजों को पहली शिक्षा नित्य कर्म करने की दी गई ताकि व्यक्ति प्रश्न न करे कि 'इस कर्म का क्या फल है ?' जिसके मन से यह प्रश्न हट चुका है कि कर्म का क्या फल होगा, वह द्विज रहेगा। जो कार्य ठीक है, वह करना चाहिये, उसको न करने से प्रत्यवाय (दोष) लगेगा; 'करने से क्या फायदा होगा ?'—यह

प्रश्न नहीं उठना चाहिये; यह वेद में प्रवेश की पहली शिक्षा है। जो इस प्रकार के कर्म का अनधिकारी है, वह देवभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। उसके लिये महाराज मनु ने कहा

'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुःकर्म समादिशत्।
एतेषाम् एव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।'

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये तो बड़े विस्तार से कर्म बताने पड़े, पर शूद्र के लिये कर्म बड़ा सरल है। परमात्मा ने वेदाज्ञा के द्वारा शूद्र के लिये एक ही कर्म का विधान किया कि इन वर्णों की शुश्रूषा करे। 'शुश्रूषा' शब्द बड़ा विलक्षण है। इसका मतलब संस्कृत में है 'सुनने की इच्छा'। द्विजों ने जो बात कही, उसे सुने और सुनकर करे, स्वयं अपनी बुद्धि से न करे। वैद्य के निर्देशानुसार औषधि तो शूद्र दे दे, उसमें रुकावट नहीं है। 'अमुक रोगी को यह औषधि देनी चाहिये'—यह भी उसे पढ़ा दो, कोई हर्जा नहीं है। लेकिन अमुक औषधि अमुक रोग के लिये है या नहीं—इसका विचार करने का अधिकार शूद्र को नहीं है। यह विषय ठीक से समझना क्योंकि आज सब जगह यह बात सामने आती है। 'इस रोग में यह औषधि दो', यहाँ तक जानने में तो उसका अधिकार है। शूद्र ने देखा कि अण्डा खाने से भी ताकत बढ़ती है और दूध पीने से भी ताकत बढ़ती है। इससे आगे यह विचार करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है कि अण्डा खाने से भ्रूण-हत्या होगी। यदि उसे इतना ही सिखाया जाता कि 'ताकत के लिये घी, छेना खाना बताओ' तो ठीक था, वह आगे वैसा ही करता, उसमें कोई रुकावट नहीं। लेकिन यदि उसे यह अधिकार दिया कि 'पता लगाओ कि ताकत के लिये कौन-सी चीज़ देनी चाहिये' तो वह

अण्डा-मुर्गी खिलाने लगेगा ! उसका दूसरा असर वह नहीं समझ सकेगा। वह शरीर के लाभ को देखते समय तदतिरिक्त समाज के उद्देश्य को नहीं देख सकता।

लोग समझते हैं कि 'शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय की सेवा करे', लेकिन भगवान् मनु यह नहीं कह रहे हैं बल्कि कहा कि *वर्णों* की सेवा करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन में से किसी एक को छाँट ले, उस आदर्श के अनुसार जो निर्णय हो उसको काम में लाये। ब्राह्मण *व्यक्ति* की सेवा करना नहीं बताया, *वर्ण* की सेवा करना बताया है। वर्ण-धर्मों में से कोई भी धर्म चुनकर उसे अपने जीवन में ढाल ले, यह समाज का कार्य हो गया, किसी एक व्यक्ति की सेवा नहीं। यह हमेशा याद रखना। प्रायः इस रहस्य को न जानने के कारण लोग समझते हैं कि ब्राह्मण ने अपनी सेवा कराने के लिये ऐसा नियम किया होगा। किंतु मनु का कहना है कि उस आदर्श की सेवा करनी है जिसका ब्राह्मण ने निर्णय किया। आदर्श-निर्णय करने का कार्य शूद्र का नहीं है, उस आदर्श में लग जाना उसका उद्देश्य है। कहीं-कहीं उसे शंका होती रहेगी, लेकिन जो आदर्श उसके सामने रखा गया है, उसी आदर्श के अनुरूप करे, उसमें असूया अर्थात् दोषदृष्टि न करे क्योंकि शंका उठाने में कोई अयोग्यता आड़े नहीं आती पर उसका समाधान समझना सबके बूते का होता नहीं। जो उत्तर समझ नहीं सकता उसे प्रश्न करने की छूट मिलेगी तो वह प्रश्न उठाकर ही अपने को कृतकृत्य समझ लेगा और जो करना चाहिये उसे करेगा नहीं; कहेगा 'समझाओ कि क्यों करें ?' और समझे इस लायक वह है नहीं। वह डाक्टर बने, इंजिनियर बने लेकिन जो आदर्श रखा जाये, उसमें

दोषदृष्टि न करे। आदर्श कुछ न कुछ त्याग करायेगा। उस त्याग के समय देहभोग की कमी के कारण असूया होती है। दोषदृष्टि मन में न लाकर वह इतना निश्चय रखे कि 'यह आदर्श हमें भविष्य में सुख देने के लिये है।' जैसे देश में अन्न की कमी है। क्षत्रिय ने एक आदर्श बनाया कि देश में अन्न की कमी होने के कारण सारे अन्न के उत्पादन और विभाजन का हम अमुक ढंग कायम करेंगे। शूद्र तुरन्त सोचेगा कि 'खेती मैंने की, अन्न मैंने पैदा किया। मैं ज़्यादा खाऊँ, कम क्यों खाऊँ ?' वह यह नहीं सोच पायेगा कि दूसरे व्यक्ति जो फौज में काम करते हुए सीमाओं पर खड़े हैं, उन्हें भोजन की ज़्यादा आवश्यकता है। वह झट दोषदृष्टि लायेगा कि 'जितने सरकारी कर्मचारी हैं, हमसे छीन कर ले जायेंगे और खुद खायेंगे!' उसकी यह दोषदृष्टि बनेगी। इसलिये उसका धर्म अनसूया है, यह विश्वास रखे कि 'योग्य लोगों ने बैठकर जो निर्णय किया है, वह हमारे कल्याण का ही है, हम समझ न पायें तो भी कल्याण का है।' समझने का प्रयत्न भले ही करे कि यदि सीमायें सुरक्षित नहीं रहीं तो हम भी मारे जायेंगे। राष्ट्र की उन्नति के लिये हमने कमर कसनी है। सर्वथा समझने का प्रयास न करे तो शूद्र को लगता है कि 'बड़े लोग और राजा लोग अपने लाभ के लिये कर रहे होंगे, हमसे क्या मतलब।' इसलिये शूद्र समझे ज़रूर लेकिन खुद विचार कर निर्णय लेने की उसे छूट नहीं है। निर्णय वह वर्णी का माने।

यह नियम सर्वत्र लगाना : जो आज अपने को व्यापारी समझता है, वह भी शूद्र है ! सरकार जब कहती है कि 'देश की उन्नति के लिये हमें कर लगाना पड़ता है' तब व्यापारी समझता

है कि 'ये सब अय्याशी के लिये धन ले जाते हैं, मैं क्यों दूँ ?' ऐसा समझने वाला शूद्र ही है। अपने धर्म का पालन करता नहीं और करने की उसकी इच्छा भी नहीं है, दोषदृष्टि अलग-से करता है। यदि *वैश्य* होगा तो सारा अर्थशास्त्र समझकर निर्णय करेगा कि राज्य का कहना सही है या ग़लत और ग़लत होगा तो राजा पर दबाव डालकर उसे ठीक करायेगा। दबाव शूद्र व्यापारी भी डालता है लेकिन अपने निजी फायदे के लिये। देश के, समाज के फायदे के लिये समझने या करने की उसमें योग्यता नहीं। कर्मचारी मालिक में दोषदृष्टि करते हैं कि 'यह मुझसे खींचना चाहते हैं'। वैसे ही मालिक भी राष्ट्र-व्यवस्था में दोषदृष्टि करता है। हमारा तथाकथित शासक वर्ग भी शूद्र है : उनका पहला प्रश्न हमेशा यही रहता है 'इससे हमारा क्या फ़ायदा होगा ?' वह भी समाज के, देश के फ़ायदे की दृष्टि वाला नहीं है। अपने दल का फ़ायदा होने वाला हो तो उनको कोई चिन्ता नहीं कि देश का कितना बड़ा नुकसान हो जायेगा ! इसलिये आज के तथाकथित क्षत्रिय और वैश्य भी शूद्र ही हैं, क्योंकि उनके अन्दर नित्य कर्म की भावना नहीं है, उलटी यह भावना है कि 'हमें इससे क्या लाभ मिलेगा!'

जब वर्णी के निर्देशन से उन्मुक्त रहने लगता है जब वह शूद्र ही नहीं, पतित शूद्र हो जाता है। आज अपने हृदय को टटोल कर देखोगे तो पता लगेगा कि यह दोषदृष्टि का भाव कितना बढ़ गया है : आज पति पत्नी में दोषदृष्टि रखता है। पत्नी बढ़िया साड़ी पहनती है तो घर का ऐश्वर्य और इज़्ज़त बढ़ती है। लेकिन पति को लगता है कि वह अपनी मौज के लिये लेती है। पत्नी

की भी दृष्टि है कि 'पति अपने सुख के लिये कार्य करता है, मुझे क्या !' पिता पुत्र से भी आज असूया करता है। सब एक-दूसरे में दोषदृष्टि करते हैं। यह कोई नहीं सोचता है कि सामने वाला ठीक है। यह जो असूया की दृष्टि है, यह हमको पतित शूद्र बनाकर रखती है। शूद्र भी हम श्रेष्ठ नहीं बन पा रहे हैं ! जब शूद्र ही श्रेष्ठ नहीं बन पा रहे हैं तो आदर्श रखने वाले आर्य कहाँ से बनेंगे? नित्य कर्म करने वाले द्विजाति कहाँ से बनेंगे ?

'*मुझे* इससे क्या लाभ होगा'—यह प्रश्न शूद्र ही करेगा। नित्य कर्म करने वाला यह प्रश्न करेगा कि इससे *समष्टि* का क्या लाभ होगा। यदि वह भोजन भी करेगा तो उसका प्रश्न होगा कि यह 'भोजन करने के बाद मैं कौन-सा काम कर पाऊँगा जिससे समाज का कल्याण होगा ?' यदि केवल खाद बनाने के लिये ही हमें भोजन करना है तो द्विज कहेगा कि 'जाने दो, कौन भोजन का टण्टा करे !' पुराने ज़माने की औरत के हृदय में यह रहता था कि भोजन बनायें तो पति या पुत्र के लिये बनायें, वही उसका समाज है। अकेली हो तो खिचड़ी से गुजारा निकाल लेती थी। आज की औरत अकेली होगी तो अपनी पसंद का भोजन बनायेगी या उससे भी आगे, बाज़ार से मन-माना भोजन ले आयेगी और घर वालों के लिये बनाना हो तो कहेगी 'इतनी मेहनत कौन करे? घी बहुत महँगा है।' यह शूद्र का लक्षण है।

जो द्विजाति होगा वह सोचेगा कि 'मेरे प्रत्येक कार्य से समष्टि ईश्वर को क्या मिलेगा', क्योंकि यदि समष्टि को कोई फ़ायदा नहीं हुआ तो प्रत्यवाय होगा। समाज की तरफ दृष्टि रखना द्विजाति का लक्षण है। मुझे क्या मिलेगा, यह सोचना शूद्र का लक्षण है।

शूद्र बनने में किसी को रुकावट नहीं है ! लेकिन यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—द्विजाति बनना चाहो तो स्वकेन्द्रित लाभ को छोड़ना पड़ेगा। अच्छे शूद्र बनना चाहते हो तो जिस आदर्श को अपनाते हो, उसमें असूया को भी छोड़ना पड़ेगा नहीं तो 'जायस्व, म्रियस्व' में ही रह जाओगे। यदि असूयारहित कर्म करोगे तो पितृलोक, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति करोगे। इसके आगे देव लोक की प्राप्ति या इसी जीवन में परमात्मा की प्राप्ति का अधिकार द्विजाति को है, शूद्र को यह अधिकार नहीं है। शूद्र का क्या उद्देश्य है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-६४

श्रुति ने शूद्र को 'अजायत' कहा। इसका तात्पर्य बताया कि शूद्र एकजाति है अर्थात् एक बार ही जन्म लेता है। एक बार जन्म लेने के कारण ही उसका वेद में अधिकार नहीं है। वेदाधिकार के लिये द्वितीय जन्म आवश्यक है। शूद्र के लिये एक कर्म का ही आदेश किया—'असूया अर्थात् दोष-दर्शन से रहित होकर द्विजों का सेवन करे, शुश्रूषा करे, उनकी आज्ञा का पालन करें।' यहाँ तक कल विचार किया।

तीन वर्णों और शूद्र की एकजाति के अन्तर में मूल हेतु क्या है ? कुछ लोग मानते हैं कि इसमें केवल नियोग या विधि ही प्रमाण है, शास्त्र ही इसमें प्रमाण है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। गीताभाष्य में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्र भी गुण को निमित्त बनाकर ही विधि करेगा। इसीलिये श्रीकृष्ण ने

'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैःगुणैः', केवल 'शास्त्रप्रविभक्तानि' नहीं कहा। शास्त्र भी किसी न किसी को लेकर ही सामर्थ्य के अनुसार विधि कर सकता है। गीता में जो भगवान् ने कहा वह 'स्वभाव-प्रभव' क्या है ? यही वर्ण का आधार है। सर्वज्ञ शंकर यहाँ भाष्य में तीन विकल्प करते हैं। 'स्वभावः ईश्वरस्य प्रकृतिः' यह भगवान् भाष्यकार स्वभाव का पहला अर्थ करते हैं। ईश्वर की जो प्रकृति है, उसको ही वेदान्त-सिद्धान्त में स्वभाव कहते हैं। सृष्टि-रचना की अनेक सम्भावनाओं पर विचार करके अंत में भगवान् गौडपादाचार्य माण्डूक्यकारिका में अपना सिद्धान्त कहते हैं 'देवस्यैष स्वभावोऽयं ह्याप्तकामस्य का स्पृहा' यह उस परब्रह्म परमात्मदेव का स्वभाव है। जैसे रस्सी का स्वभाव है मंदांध कार में सर्प की तरह, भूछिद्र की तरह, माला की तरह या मूत्रधारा की तरह प्रतीत होना। स्वभाव में आगे प्रश्न नहीं बनता। पानी गरम क्यों है ? क्योंकि चूल्हे पर चढ़ा था। पानी ठण्डा क्यों है ? क्योंकि रैफ्रिज्रेटर में रखा था। लेकिन कोई प्रश्न करे कि आग गरम क्यों है ? तो यह प्रश्न नहीं बनता क्योंकि गर्मी अग्नि का स्वभाव है। किसी चीज़ से प्यास बुझती है तो प्रश्न होता है कि उसमें प्यास बुझाने वाला तत्त्व क्या है ? कोका-कोला पिया, प्यास बुझी, प्रश्न होता है कि इसने कैसे प्यास बुझाई ? जवाब है कि उसमें पानी है, इसलिये प्यास बुझी। इसी प्रकार लिम्का और लस्सी ने प्यास बुझाई क्योंकि उनमें भी प्यास बुझाने वाला तत्त्व पानी मौजूद है। कोई कहे कि पानी से प्यास क्यों बुझी ? तो इस प्रश्न का जवाब नहीं है क्योंकि पानी का स्वभाव प्यास बुझाना है। इसी प्रकार आग गरम क्यों है ?—यदि यह प्रश्न होता

है तो उसका उत्तर सिवाय 'स्वभाव' के और कुछ नहीं। इसलिये कहते हैं कि यह प्रश्न ही गलत है। इसी प्रकार 'परमात्मा भिन्न-भिन्न जगत्-रूपों में, अनंत नाम-रूपों में क्यों प्रतीत होता है ?' यह प्रश्न नहीं बनता, क्योंकि 'देवस्यैष स्वभावोऽयं' यह उसका स्वभाव है। भगवान् भाष्यकार गीता के 'स्वभावप्रभवैः' में स्वभाव का मूल अर्थ करते हैं 'स्वभावः ईश्वरस्य प्रकृतिः'।

ईश्वर की प्रकृति का क्या स्वरूप है ? रस्सी क्यों साँप की तरह दीखती है, मेंढक की तरह क्यों नहीं दीखती, शेर की तरह क्यों नहीं दीखती ? इसका कारण है कि साँप में और रस्सी में कुछ समानतायें हैं। किंचित् साम्य को लेकर ही उसके जैसी दूसरी चीज़ की प्रतीति होती है। रस्सी की मोटाई और साँप की मोटाई में कुछ समानता है, रस्सी की गोलाई और साँप की गोलाई में, रस्सी की लम्बाई और साँप की लम्बाई में कुछ समानता है। कई समानतायें हैं। माला, भूछिद्र, मूत्रधारा, जलधारा—इन सब चीज़ों से रस्सी की कुछ समानतायें हैं और कुछ विलक्षणतायें भी हैं। समानता सर्वथा दब जाये तो भी भ्रम नहीं होता और विलक्षणता की प्रतीति न हो तो भी भ्रम नहीं होता। भ्रम के लिये कुछ समानताओं की प्रतीति चाहिये और कुछ विलक्षणताओं की प्रतीति भी चाहिये। केवल रस्सी की गोलाई देखने से साँप नहीं दीखेगा, रस्सी की गोलाई की प्रतीति और वैसे ही गोल सर्प की स्मृति से साँप दीखेगा। कुछ समानता और कुछ विलक्षणता होने पर ही भ्रान्ति प्रतीति होती है। बिल्कुल विलक्षण चीज़ों में हो तो साँप के अन्दर शेर का भी भ्रम हो जाना चाहिये लेकिन वह भ्रम नहीं होता।

भ्रम से जगद्रूप में दीखना ईश्वर का स्वभाव है तो उसके अन्दर भी कुछ विलक्षणता और कुछ समानता है। दोनों की आवश्यकता पड़ती है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका माया' ब्रह्म के अन्दर भी तीन गुण और माया में भी तीन गुण हैं ! ब्रह्म में वे गुण गुण-सम्बन्ध से न रहकर अभिन्नसम्बन्ध से रहते हैं, यह दूसरा विषय है। भगवान् पद्मपादाचार्य कहते हैं कि वे अभिन्न होते हुए भी व्यवहार काल में भिन्नवत् प्रतीत होते हैं। सत्, चित् और आनन्द ये तीन गुण ब्रह्म के हैं। सत् के द्वारा पदार्थों की प्रतीति, चित् के द्वारा पदार्थों की प्रतीति का आश्रय, और आनन्द के द्वारा पदार्थों की प्रतीति के आश्रय और विषय दोनों का सम्मिलन होता है। 'पदार्थों की प्रतीति का आश्रय' अर्थात् जिसे पदार्थों की प्रतीति होती है। पदार्थ और जिसको प्रतीति होती है, दोनों का संयोग आनंद है। माया के अन्दर पदार्थों की प्रतीति का विषय तमोगुण है। वेदांत-प्रक्रिया को समझने वाले जानते हैं कि पंचमहाभूतों के तमोगुणांश से प्रमेय की सृष्टि है। पदार्थों की प्रतीति अर्थात् सत् के साथ तम की समानता। जैसे सत् के द्वारा पदार्थों की, ब्रह्म की प्रतीति, उसी प्रकार तमोगुण के कार्यरूप जगत् के पदार्थों की प्रतीति है। प्रतीति का आश्रय जैसे चित्, वैसे ही रज है। चाहे इन्द्रियों से क्रिया करें, चाहे अंतःकरण वृत्ति बनाने का कार्य करे, सर्वत्र क्रिया अर्थात् रजोगुण है। यदि रजोगुण न हो तो न अंतःकरण वृत्ति ही बना सकता है और न इन्द्रियाँ विषयों तक पहुँच ही सकती हैं। जब इन दोनों का सम्बन्ध हुआ तब आनन्द—सत्त्व का कार्य है। सत् और तम का सम्बन्ध, रज और चित् का सम्बन्ध और सत्त्व तथा

आनंद का सम्बन्ध है। कहोगे कि सुख सत्त्व से उत्पन्न है पर ज्ञान भी तो सत्त्व से उत्पन्न बताया है ? दोनों में सूक्ष्म फ़र्क समझना : रजोगुण सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले अंतःकरण को चलाकर ज्ञान करता है, इसलिये दोनों बातें कहनी ठीक हैं। 'ठण्डी अल्मारी (फ्रिज) से पानी ठण्डा होता है', यह भी ठीक है, लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो ठण्डी अल्मारी की मशीन के द्वारा *बिजली* पानी ठण्डा करती है। इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से देखो तो पता लगेगा कि सत्त्वगुण का कार्य अंतःकरण ज्ञान करता है और सूक्ष्म दृष्टि से—अंतःकरण में जब रजोगुण ने वृत्ति की, प्रवृत्ति कराई तब ज्ञान हुआ। ब्रह्म के तीन गुणों का माया के तीन गुणों के साथ सम्बन्ध का विरोध नहीं है। अंतःकरण कभी भी प्राण-शक्ति के बिना क्रिया नहीं कर सकता। सारी क्रियायें प्राण करने वाला है जो रजोगुण से उत्पन्न है। सत् का सम्बन्ध तम से, रज का सम्बन्ध चित् से तथा सत्त्व का सम्बन्ध आनंद से है।

रजोगुण का ज्ञान से न कहकर क्रिया से सम्बन्ध अधिकतर क्यों कहते हैं ? जैसे बिजली ठण्डी अल्मारी से ठण्डक भी करती है और तापक (हीटर) के द्वारा गर्मी भी करती है। दोनों के प्रति बिजली समान कारण है। वैसे रजोगुण सत्त्व के कार्य अंतःकरण को प्रवृत्त करके तो ज्ञान करता है लेकिन वह अंतःकरण के सिवाय दूसरी चीज़ों में भी तो परिवर्तन लाता है, वहाँ वह ज्ञान नहीं करता है। श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर को शक्ति देता है, वहाँ प्राण ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर रहा है। गहरी नींद में प्राण चलता रहता है, ज्ञान नहीं होता है। किंतु सत्त्व से ज्ञान अवश्य होगा इसलिये भगवान् ने 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानं' कह दिया।

जैसे ब्रह्म के अन्दर तीन गुण, वैसे ही उसके जैसी मिलने वाली उसकी प्रकृति माया में भी तीन गुण हैं। भ्रम के लिये कुछ समानता चाहिये और कुछ विलक्षणता भी चाहिये। विलक्षणता क्या है ? यहाँ दो विलक्षणतायें हैं। ब्रह्म स्वतंत्र है, माया परतंत्र है। ब्रह्म व्यापक है, माया परिच्छिन्न है। इसीलिये माया के गुणों के द्वारा जो पदार्थ दीखते हैं, वे परिच्छिन्न पदार्थ ही दीखते हैं। माया के गुणों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह परिच्छिन्न ज्ञान ही होता है अर्थात् थोड़ा-सा ज्ञान होता है। माया के गुणों के द्वारा जो आनंद होता है, वह परिच्छिन्न आनंद होता है। ब्रह्म के द्वारा पदार्थमात्र में व्यापक अनंत भूमा प्रतीति है। ब्रह्म के द्वारा ज्ञान भी अनंत भूमा व्यापक ज्ञान है। ब्रह्म का आनंद भी अपरिच्छिन्न व्यापक भूमानंद है। ब्रह्म स्वतंत्र और माया परतंत्र है, इसीलिये माया की कोई चीज़ ऐसी नहीं जो स्वतंत्र हो। चाहे जितने माया के पदार्थों का नियंत्रण करो, चाहे जितना प्रयत्न करो, लेकिन माया के पदार्थों में पूरी तरह से स्वतंत्रता नहीं आती है। न चाहने पर भी परतंत्रता प्रकट हो जाती है, यह माया की विशेषता है। पूर्ण स्वतंत्रता केवल ब्रह्म में ही रहेगी। दूसरा फ़र्क है कि ब्रह्म के द्वारा जो प्रतीति होगी, उसमें पूर्णता, व्यापकता और भूमापना रहेगा, माया के द्वारा जितनी भी प्रतीतियाँ होंगी, उन सबमें परिच्छिन्नता रहेगी। तीनों तरह की परिच्छिन्नता समझना : देश, काल और वस्तु तीनों से परिच्छिन्नतायें रहेंगी। माया में जितने पदार्थ प्रतीत होंगे, वे सारे किसी एक देश में प्रतीत होंगे, यह देशगत परिच्छिन्नता है। किसी एक काल में प्रतीति होगी, यह कालगत परिच्छिन्नता है, सब कालों में प्रतीति होने वाली नहीं है। किसी एक नाम-रूप के आकार

में प्रतीति होगी, सारे नाम-रूपों के आकारों में प्रतीति नहीं होगी। एक-एक करके सारे आकार सामने आ जायें, लेकिन इकट्ठे नहीं आयेंगे। इसी प्रकार एक-एक करके सारे काल नज़र आ जायें, लेकिन एक साथ नज़र नहीं आते। इस तरह ब्रह्म और माया दोनों में समानता भी है और विलक्षणता भी है। अतः स्वभाव हुआ कि ब्रह्म में माया का भ्रम हो जाता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति, माया को ही श्रुतियों ने तम भी कहा है। तम का मतलब अंधकार होता है। श्रुति ने ऋग्वेद के दशम मण्डल में जहाँ सृष्टि-प्रक्रिया बताई है वहाँ तम शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ बताया है 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'—तम था। कैसा तम था ? तम के द्वारा ही छिपा हुआ था ! जिसमें कवित्व नहीं होगा, वह यह कथन नहीं समझ सकेगा। वह कहेगा कि यह क्या ऊटपटांग कहा है कि तम ही तम के द्वारा छिपा हुआ था! यह कैसे होता है ? अंधकार के द्वारा अंधकार छिपा हुआ था। कभी अनुभव करके देखो तो पता लगेगा कि हमारा अंधकार अंधकार से ही छिपा रहता है : मेरा अज्ञान अज्ञान से ही छिपा रहता है। यदि मुझे पता लग जाये कि मुझे अमुक चीज़ का अज्ञान है तो ज्ञान हो जाये ! 'मैं रामकिशोर को नहीं जानता', यह वही कह सकता है जो रामकिशोर के बारे में कुछ जानता है, चाहे यही जानता है कि वह आदमी है, दिल्ली का रहने वाला है। जिसने कभी रामकिशोर को सर्वथा जाना ही नहीं, वह इस बात को भी नहीं जानता कि वह रामकिशोर को नहीं जानता है।

अथवा दूसरे दृष्टांत से समझ लो : मेरे पास दस हज़ार रुपये का बैंक अकाउण्ट है। सामने वाले को यह पता है कि इसका

दस हज़ार का बैंक अकाउण्ट है। किस बैंक में है—यह उसे पता नहीं है, इसका अज्ञान है। उसे आधा अज्ञान हुआ, क्योंकि उसे इतना तो पता है कि इनका बैंक अकाउण्ट है, पर बैंक का ज्ञान नहीं है। जिसको पता ही नहीं कि हमारे पास बैंक अकाउण्ट है, उसके मन में यह बात भी नहीं आती कि 'मुझे पता नहीं कि किस बैंक में अकाउण्ट है।' बैंक में अकाउंट है—यह ज्ञान हुआ तब प्रश्न उठा कि किस बैंक में है। इसका बैंक में अकाउण्ट है या नहीं, यह भी जिसे पता नहीं उसे इस बात के अज्ञान का भी पता नहीं कि किस बैंक में है।

वेदांत की दृष्टि से समझ लो : सामान्य पुरुष, जिसने वेदांत का श्रवण नहीं किया, उसको यह भी पता नहीं कि मैं ब्रह्मरूप को भूला हुआ जीव हूँ ! मुझे ब्रह्म का अज्ञान है, इसलिये मैं जीव हूँ—यह उसे पता नहीं है। वेदान्त-श्रवण करने वाला तो कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ, मेरा स्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप है, उसको मैं नहीं जानता। मैं ब्रह्म हूँ, इस बात का मुझे अज्ञान है'। यह सब उसे पता है जिसने वेदान्त-श्रवण किया है अतः जिसे कुछ पता लगा हुआ है। बाकी को यह पता भी नहीं है कि 'हम ब्रह्म को नहीं जानते इसलिये जीव बने घूम रहे हैं।' इसलिये अज्ञान से अज्ञान छिपा हुआ है, अंधकार से अंधकार छिपा हुआ है। यही माया की विलक्षण शक्ति है। वह केवल भुलावा नहीं देती बल्कि 'हम भूल गये हैं' इस बात को भी भुलवा देते हैं।

संसार के प्रमेय पदार्थ क्या करते हैं ? हम भूले हुए हैं इसको भी भुलवा देते हैं। अनुभव करके देख लो : तुम्हारा नियम है कि सवेरे उठकर रोज़ घड़ी में चाबी दोगे। एक दिन सवेरे उठे, किसी

ने दरवाज़ा खटखटा दिया, तुमने झट दरवाज़ा खोल दिया। तुम्हें याद है कि घड़ी में चाबी नहीं दी है। तुमने सोचा 'पहले दरवाज़ा खोलकर देखें कि कौन आया है फिर चाबी दे देंगे।' जो व्यक्ति आया, उसने कुछ ज़रूरी बात की। उस बात में से और कई काम निकल आये, फिर दिन भर एक के बाद एक काम सामने आते गये। उन पदार्थों ने यह भी भुलवा दिया कि आज चाबी देना भूल गये। दूसरे दिन देखते हो कि घड़ी रुक गयी है, क्योंकि उसे चाबी नहीं मिली। कहती है कि 'कल तूने मुझे धोखा दिया था, आज मैं तुझे धोखा दूँगी !' संसार में सर्वत्र यह नियम है। मज़दूर कहता है कि 'बीस साल तक तुमने हमें लूटा, अब हम तुम्हें लूटेंगे।' तुम कहते हो कि 'मज़दूर बिना काम के रुपया चाहते हैं।' ठीक ही चाहते हैं। तुमने बिना रुपयों के कई सालों तक उनसे काम लिया हुआ है, अब वे बिना काम के रुपया चाहते हैं। ऐसे ही घड़ी कहती है कि 'तूने कल मुझे भूखा रखा, आज मैं तुझे धोखा दूँगी।' तुम सोचते हो कि शायद घड़ी खराब हो गई, लेकिन ठीक से चाबी देते हो तो चलने लगती है। तब समझ आता है कि इसे चाबी नहीं मिली। लेकिन अभी यह पता नहीं लगा कि इसे चाबी *क्यों* नहीं मिली। न केवल हमको संसार की प्रतीतिकाल से लेकर रात्रि पर्यन्त पदार्थों ने चाबी देना भुलवा दिय, बल्कि 'चाबी देना भूल गये' इस बात को भी भुलवा दिया। अनुमान करते हो कि 'चाबी नहीं दी होगी क्योंकि घड़ी चलती नहीं है।' यह अज्ञान की, माया की विशेषता है। इसीलिये सत् का सम्बन्धी तम को बताया, अंधकारस्वरूप है इसलिये अंधकार के अंधकार को ढाँक देता है।

बार-बार हम लोग शास्त्रों में कहते हैं—इन विषयों से दूर होकर एकांत में बैठो। ऐसा क्यों कहते हैं ? एकान्त में विषयों से दूर जाने की क्या ज़रूरत है ? जो विषयों से लिप्त होते हैं, वे कहते हैं कि 'मन को परमात्मा में लगाओ, विषय क्या कर लेंगे ?' विषय यह करेंगे कि हम जिस साधना को भूले हैं, उसको भूले हैं इस बात को भी भुलवा देंगे ! अच्छे-अच्छे और नियम से जप करने वाले जब लड़की का ब्याह आता है तो एक दिन के लिये माला फेरना भूल जाते हैं, क्योंकि विषयों का प्रवाह आया और उसने भुलवा दिया। यह विषयों का स्वरूप है। इसीलिये सत् और तम का सम्बन्ध बताया है।

इसी प्रकार चित् और रज में समझना। रज का मतलब धूल होता है। जैसे धूल चिपट जाती है इसी प्रकार जब तुम किसी पदार्थ का ज्ञान करते हो तब वह पदार्थ तुम से चिपट जाता है। तुमने घड़े को देखा। घड़ा तो अगले क्षण बेचारा चला गया लेकिन घड़े का ज्ञान अर्थात् घट-संस्कार ऐसा चिपका हुआ है कि जाता नहीं है ! पाकिस्तान बने हुए २४ साल हो गये। तुम्हारा लाहौर का मकान जला या क्या हो गया, पता नहीं है। लेकिन वहाँ से आये हुए शरणार्थी आज भी कहते हैं कि 'मेरा लाहौर का मकान ऐसा था' और कहते हुए उनके हृदय में दुःख है ! पदार्थ खत्म हो गया, लेकिन चिपका हुआ है। जैसे धूल (रज) चिपट जाती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे पदार्थ का वृत्ति के द्वारा ज्ञान होता है, वह पदार्थ चिपट जाता है और ऐसा चिपट जाता है कि लाख बार कोशिश करो तो भी नहीं जाता। जैसे जिस बर्तन में लहसुन का छोंक दो, उसे चार-पाँच बार माँज डालो लेकिन बदबू उसमें

से नहीं जाती, ऐसे ही एकबार अंतःकरण में जो संस्कार पड़ जाते हैं उनको अनेक प्रयत्नों से धोते रहो, लेकिन नहीं जाते। इसीलिये चित् का रज के साथ सम्बन्ध बताते हैं।

आनन्द का सत्त्व के साथ सम्बन्ध है। सत् और सत्त्व में भेद है। 'सत्' में आगे 'त्व' लगाओ तो सत्त्व बनता है। 'त्व' भावार्थक प्रत्यय है जैसे पशु से पशुत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व। सत् का जो भाव वह सत्त्व होता है। सत् का भाव आनन्द ही है, और कोई दूसरा भाव सत् का नहीं है। जो चीज़ अस्थिर होती है, क्षणिक होती है, वह कभी आनंद नहीं देती। और चीज़ से ही आनन्द होता हो, ऐसी बात नहीं है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सामवेद का यह वाक्य कहता है कि जो अल्प चीज़ होती है, खत्म हो जाती है, उससे आनंद नहीं है। जो चीज़ हमेशा बनी रहती है उसी से आनंद है। सत् का भाव वह है जो कभी नहीं बदलता। जो देश, काल, वस्तु में कहीं न बदले, वही सत् का भाव है। और जो ऐसा अपरिणामी, अपरिवर्तित होने वाला है, वही आनंद है। विषय के साथ भी जब तुम एक होते हो तब आनंद इसलिये प्रकट होता है कि सच्चाई है अर्थात् प्रमेय और प्रमाता का भेद नहीं है। प्रमाता-प्रमेय के सच्चे अभेद को प्रकट करता है, इसलिये उसमें सुख है। अभेद नित्य है। आज से लाखों साल तक भेद की भावना करते रहो, लेकिन एक क्षण के लिये अभेद सामने आये तो लाखों साल की भेद-भावना खत्म हो जायेगी। भेद को तो ज़बरदस्ती थोप कर रखना पड़ता है और अभेद स्वभाव है, इसलिये झट प्रकट होता है। जहाँ प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता का अभेद प्रकट हुआ, वहीं आनंद प्रकट होता है। यह अभेद चूँकि नित्य है, इसीलिये इसे

सत्त्व कहा, क्योंकि यही सत् का भाव है।

एक कथा आती है : उज्जैन देश के अन्दर एक राजा था। उसका नाम पुण्यसेन था। उसका एक सांधिविग्रहिक था जिसे आजकल विदेशमंत्री कहते हो। आज तक हमारी समझ में नहीं आया कि हिन्दी वालों ने विदेश-मंत्री नाम क्यों रखा है ? संस्कृत में उसे सांधिविग्रहिक कहते हैं जो दूसरे देशों से संधि और विग्रह कर लेता है। हम लोगों की आज के युग की सबसे बड़ी विशेषता नकल करना है। अंग्रेज़ी में 'फॉरेन मिनिस्टर' कहते हैं तो हमने दोनों के प्रतिशब्द रखकर 'विदेश मन्त्री' कह दिया। कोई विचार नहीं किया कि इस पदा का उचित नाम क्या हो। पूछें कि 'तुम्हारे शब्द का क्या अर्थ है' तो कहते हैं 'फॉरेन मिनिस्टर !' भारतवर्ष के व्यक्तियों को तब संतोष होता है कि हमारी यह बात सच्ची है या झूठी जब बी.बी.सी. को सुनते हैं। उसने कह दिया तो बात पक्की है। मंत्री जब घोषणा करने वालों से प्रश्न करते हैं कि 'तुमने अमुक घोषणा किस प्रमाण से की ?' वह कह दे कि 'बी.बी.सी. ने कहा था' तो मंत्री भी चुप हो जाते हैं ! आगे संदेह नहीं हो सकता।

सान्धिविग्रहिक ब्राह्मण का नाम हरिस्वामी था। उसका एक पुत्र देवस्वामी था और एक कन्या सोमप्रभा थी। सोमप्रभा बड़ी सुन्दर थी। उसकी सुन्दरता पर सब लोग मुग्ध थे। जब वह विवाह के योग्य हुई तब ब्याह की बात चलने लगी। सोमप्रभा को भी अपने सौन्दर्य पर गर्व था। उसने अपने माता-पिता से कहा कि 'या तो मेरा विवाह अत्यंत विलक्षण बुद्धि वाले के साथ या अत्यंत बहादुर व्यक्ति के साथ या अत्यंत धनी व्यक्ति के साथ करना।

इन तीन में से एक भी गुण जिसमें न हो, उसके साथ यदि मेरा विवाह किया तो मैं जहर खाकर मर जाऊँगी।' माता-पिता ने कहा ठीक है। उसके माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई कि ब्राह्मण हैं, ऐसा वर कहाँ से लायेंगे।

इसी बीच हरिस्वामी को किसी कार्य से विदेश जाना पड़ा, कोई संधिविग्रह का कार्य पड़ा। वहाँ उसे एक ब्राह्मण मिला। उस ब्राह्मण ने सोमप्रभा के सौन्दर्य की कथा सुन रखी थी। उसने हरिस्वामी से कहा कि 'मैं तेरी लड़की के साथ ब्याह करना चाहता हूँ।' हरिस्वामी ने कहा 'मेरी लड़की की विचित्र शर्त है कि कोई या तो तीव्र बुद्धिमान् हो या बहादुर हो या अत्यंत धनी हो, इनमें से किसी क्षेत्र में विलक्षण हो तो उसके साथ ब्याह करेगी।' उसने कहा 'मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ, भूत-भविष्य की सब बातें बता देता हूँ।' हरिस्वामी ने भूत-भविष्य की कुछ बातें पूछीं तो उसने ठीक-ठीक बता दीं। निश्चय हो गया कि यह बड़ा बुद्धिमान् है। उसने विवाह की तिथि पौषशुक्ला सप्तमी निश्चित कर दी कि 'उस दिन आ जाना और मैं अपनी लड़की का ब्याह कर दूँगा।'

इधर उन्हीं दिनों सोमप्रभा का भाई देवस्वामी भी कहीं गया हुआ था। उसके एक दोस्त ने कहा 'तेरी बहन के साथ ब्याह करने की मेरी बड़ी इच्छा है।' उसने भी अपने दोस्त को अपनी बहन की शर्तें बता दीं। उसके दोस्त ने कहा 'मैं बड़ा बहादुर हूँ, चाहे किसी से लड़ा दो, चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय राजा हो।' उसके भाई ने भी कहा कि 'पौषशुक्ला सप्तमी का लग्न बढ़िया है, उस दिन आ जाना, ब्याह हो जायेगा।'

इधर उज्जैन में रहने वाला एक ब्राह्मण सोमप्रभा की माँ के

पास पहुँचा और कहा कि 'तुम्हारी लड़की से ब्याह करने की मेरी बड़ी इच्छा है।' उसने भी कहा कि 'मेरी लड़की ने ऐसा नियम कर रखा है।' उसने कहा 'मैं बड़ा धनी हूँ, संसार की कोई ऐसी चीज़ नहीं जो मैं न खरीद सकूँ।' उसकी माँ ने भी कहा कि 'पौषशुक्ला सप्तमी का मुहूर्त बड़ा अच्छा है, उस दिन आकर ब्याह कर लेना।'

देवस्वामी और हरिस्वामी घर आ गये। तीनों ने कहा कि एक लड़का देख आये हैं। अब विचार होने लगा कि श्रेष्ठ कौन-सा है। तीनों बेचारे चक्कर में पड़े। तब तक पौषशुक्ला सप्तमी आई और तीनों लड़के पहुँच गये। वहाँ घर में ही झगड़ा हो रहा था कि किसके साथ ब्याह किया जाये ! हरिस्वामी ने भगवान् शंकर का पूजन करते हुए कहा 'भगवन् ! हमारी लाज किसी तरह से बचाओ।' जब ब्याह के लिये तेल चढ़ने का समय हुआ तब देखा कि लड़की गायब है ! अब सारे चक्कर में पड़े। बुद्धिमान् से कहा कि 'तू बता, लड़की कहाँ गई !' उसने विचार करके बताया कि 'विंध्याचल में रहने वाले धूम्रशिखा नाम का राक्षस उसे भगा ले गया है।' सब दुःखी होने लगे कि अब क्या कर सकते हैं ? किसी तरह वहाँ पहुँचें तो काम हो। धनी ने कहा 'मत घबराओ। मैं तुमको अपने धन के द्वारा एक उड़नखटोला (आजकल हवाई जहाज समझ लो) दे देता हूँ।'

उस उड़नखटोले पर तीनों वहाँ से उड़कर चले। पहले वाला बुद्धिमान् लड़का बताता गया और ठीक उसी जगह पहुँचा दिया जहाँ राक्षस ने उस लड़की को रख छोड़ा था। वहाँ उन्होंने एक भयंकर परकोटा देखा। जैसे ही वहाँ अपना उड़नखटोला रखा,

वहाँ एक लम्बा-चौड़ा राक्षस पहुँचा। उसे देखकर धनी ढीला पड़ा। बहादुर ने कहा—'घबराओ नहीं, मैं जो हूँ।' वह जाकर राक्षस से लड़ा और चंद्राकार बाण के द्वारा उसका सिर काट दिया। अंदर जाकर देखा तो सोमप्रभा वहाँ बंद थी। उसे उड़नखटोले पर बैठाकर तीनों वापिस आ गये।

उज्जैन आने पर झगड़ा हुआ कि किस के साथ सोमप्रभा का ब्याह हो। बुद्धिमान् कहने लगा 'मैंने पता न बताया होता तो तुम दोनों क्या करते ?' धनी कहने लगा 'मैंने वहाँ न पहुँचाया होता तो तुम क्या करते ?' बहादुर कहने लगा 'पहुँच भी गये होते और मैं न होता तो तुम लोग क्या करते ?' अंत में लड़की से पूछा गया 'तू अपना निर्णय दे।' उसने कहा कि 'वस्तुतः तो मेरा पति बुद्धिमान् ही है जिसने पता बताया क्योंकि पता बताने के बाद तो और उपाय भी हो सकते थे। लेकिन पता ही न लगता तो दूसरे क्या करते ? लेकिन इन दोनों का भी इसमें पूर्ण सहयोग रहा, इसलिये मैं मूलतः तो बुद्धिमान् की पत्नी हूँ लेकिन बाकी दोनों भी मेरे साथ रहेंगे, उनका भी परित्याग नहीं, क्योंकि उनके बिना भी काम नहीं होता।' सब मान गये।

जैसे यह कथा है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिये, आनंदस्वरूप के प्रकट होने के लिये सत्त्वगुण सबसे प्रधान है परन्तु रज और तम की सहायता न हो तो प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सत्त्वगुण बुद्धिमान् की जगह, रजोगुण बहादुर की जगह और तमोगुण धनी की जगह है। पदार्थ (प्रमेय) धन से ही प्राप्त होंगे। क्रिया रजोगुण है। यद्यपि सत्त्वगुण परमात्म-प्राप्ति में प्रधान है, लेकिन रजोगुण, तमोगुण न होते तो कोई पदार्थ ही न होता, फिर

ज्ञान किस से होता ? प्रधान सत्त्व के होने पर भी गौण रज और तम हैं। सोमप्रभा की जगह आनंदाकार वृत्ति है। इसे धूम्रशिखा राक्षस चुरा कर ले गया। धुआँ जिसकी चोटी हो, वह धूम्रशिखा है। अज्ञान अंधकार ही उस आनंद को चुरा ले जाता है। इस अज्ञान को नष्ट करने के लिये तीनों की आवश्यकता पड़ती है।

समाज के सन्दर्भ में भी समझना, क्योंकि पुरुषसूक्त में समाज का विचार प्रधान है। सर्वत्र तीनों मिलकर ही कार्य करेंगे। होता क्या है ? इस समाज के सुख को शोक-मोह में लिप्त शूद्र रूपी धूम्रशिखा ने चुरा रखा है। इसलिये इसमें सोमप्रभा—शंकर का तेज—चमकना चाहे भी तो नहीं चमकती। समाज आनंद को प्रकट करने के लिये था, लेकिन दुःख को प्रकट करने वाली चीज़ हो गई है। धूम्र अर्थात् शूद्र ने समाज के अन्दर होने वाले आनंद को शोक-मोह के द्वारा ढाँक लिया है। इसकी प्राप्ति कैसे हो ? सत्त्वगुण को प्रकट करने वाला ब्राह्मण बुद्धिमान्, रजोगुण को प्रकट करने वाला क्षत्रिय बहादुर और प्रमेय पदार्थों को प्रकट करने वाला वैश्य धनी है। ये तीनों मिलकर प्रयत्न करें तब काम बने। इनमें ब्राह्मण प्रधान है क्योंकि बुद्धिमान् वही है। लेकिन वह जो रास्ता बताता है, तदनुकूल वैश्य धन जुटाये और क्षत्रिय बहादुरी दिखाये तभी समाज में होने वाला आनंद प्रकट होगा।

शूद्र की एकजातिता से बताना यह है कि शोक-मोह के द्वारा वह समाज के वास्तविक प्रयोजन को, आनंद को ढाँक देता है। इस शोक-मोह को दूर करने में इनमें से कोई भी एक पूर्ण सामर्थ्य वाला नहीं है। तीनों मिलकर प्रयास करें तभी वह आनन्द प्रकट होगा।

प्रवचन - ६५

वर्णविभाग का मूल क्या है ? चार ही वर्ण क्यों हैं, चार से कम या चार से ज़्यादा क्यों नहीं ? इसका कारण बताया कि ब्रह्म और माया में तीन प्रकार का साम्य है। ब्रह्म में सत्, चित् और आनन्द हैं तथा माया में सत्त्व, रज और तम गुण हैं। माया का वैशिष्ट्य अपने आपको आच्छादन कर लेना है। इसी प्रकार तीन गुणों के सर्वथा आच्छादन से होने वाला शूद्र है। ब्रह्म तीन गुणों से विशिष्ट हुआ त्रिवर्ण और तीनों गुणों के घनघोर अंधकार से ढँका हुआ शूद्र है। तीनों गुणों से रहित जिसका शुद्ध रूप ब्रह्म है वही उन-उन गुणों से युक्त होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भावों को प्राप्त होता है और जब वह सर्वथा आच्छादित हो गया तब शूद्र हो जाता है। जैसे त्रिगुणातीत में तीनों गुणों से मुक्ति है वैसे सर्वथा तीन गुणों से ढँक गया तब शूद्र हो गया। यहाँ तक विचार किया।

विश्व में जहाँ देखो वहाँ ये चार वर्ण किसी न किसी प्रकार से मिलेंगे। साम्यवादी देश में जाओ तो वहाँ भी विचारक, अन्वेषक, चिन्तक, विद्वान् होते हैं। उनका कार्य सिद्धान्तों का विचार है। वहाँ भी एक जाति होती है जो क्षत्रिय का काम करती है। वहाँ भी सहकारी समिति का प्रधान कार्यवाहक वैश्य है। जितने गुलाम हैं जो साइबेरिया भेजे जाते हैं, वे सारे शूद्र हैं। संसार के किसी भी समाज में जाओ तो ये चार प्रविभाग ज़रूर मिलते हैं। फ़र्क क्या है ? हमारे यहाँ *वर्ण* हैं, उनके यहाँ वर्ण नहीं हैं।

वर्ण का मतलब *चुनना* होता है। हमारे यहाँ इन भावों को वरण करके हम उनके ऊपर स्थित और दृढ रहते हैं। उनके यहाँ वर्णरूपता न होने से या ऊपर से दबाव है, जैसा साम्यवादी देश में है कि 'अमुक को यह काम करना पड़ेगा', ऐसा राज्य की तरफ से नियम हो जाता है; अथवा जैसे अमरीका इत्यादि देशों में होता है—जहाँ अधिक धन-प्राप्ति होगी उधर प्रवृत्ति हो जायेगी, जिस में ज्यादा पैसा मिले उधर व्यक्ति चला जायेगा। दोनों प्रक्रियाओं में कर्तव्य-बोध नहीं रहता है। कर्तव्य-बोध यदि रहता तो फलदृष्टि के बिना काम करते। यही फ़र्क है।

हमने अपनी नई परतंत्रता सन् १९४७ से प्रारंभ की। कुछ समय तक मुसलमानों का राज्य रहा और फिर कुछ समय तक अंग्रेजों का राज्य रहा। दोनों विदेशी राज्य थे। सन् १९४७ से कहा यह जाता है कि स्वतंत्रता आई लेकिन यह स्वतंत्रता नहीं, यह भी विदेशी राज्य ही है, क्योंकि जो राज्य करने वाला है उसकी सारी विचारधारा विदेशी है। अकबर भी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ था, औरंगजेब भी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ था। यदि हिन्दुस्तान में पैदा होने वाला राजा बने इतने मात्र से हम कहें कि हम स्वतंत्र हो गये तो अकबर और औरंगजेब के राज्य को भी स्वतंत्रता मानना पड़ेगा। इसलिये वस्तुतः स्वतंत्रता का सम्बन्ध इससे है कि हमारे देश के ज्ञान के द्वारा हमारा शासन होता है या विदेशी ज्ञान के द्वारा। राज्य करने वाला चाहे हिन्दुस्तान में पैदा हुआ हो या नहीं हुआ हो, इससे कोई मतलब नहीं है। मनुस्मृति के ऊपर कुलूकभट्ट की टीका में विचार आया है कि आर्य देश कौन-सा है ? वे कहते हैं कि चाहे हिमालय और विंध्याचल से दूर कहीं वर्णाश्रम व्यवस्था

मानी जाती हो तो वह भी आर्य देश है। यदि हिमालय और विंध्याचल ही नहीं, गंगा-यमुना के मध्य में भी वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं मानी जाती है तो वह म्लेच्छ देश है। पैदा होने से सब कुछ नहीं हो जायेगा। नई परतंत्रता का नाम स्वतंत्रता रख दिया है। अंग्रेज भी राज्य करने आये तब यही कहते थे कि 'तुम लोगों को मुसलमानों से छुड़ाने आये हैं, उनके द्वारा तुम्हारे ऊपर तरह-तरह के अत्याचार होते रहते हैं इसलिये तुम्हें बचाने आये हैं।' रूस भी चेकोस्लोवाकिया के ऊपर चढ़ाई करता है तो उनको छुड़ाने ही जाता है। कोई किसी पर चढ़ाई नहीं करता है ! इसी प्रकार आज का शासक कहता है कि 'हमने तुमको स्वतंत्रता दी।' वस्तुतः वे विदेशी विचारधारा की परतंत्रता हमारे ऊपर लादना चाहते हैं और लाद रहे हैं।

विचार करो कि इन पच्चीस वर्षों के अन्दर, क्या कारण है कि हमारा कर्तव्यबोध घटता जा रहा है ? पहले जितना कर्तव्यबोध था, उतना अब नहीं है, और कम होता जा रहा है। अध्यापकों के मन में पहले घमण्ड होता था कि हम पढ़ाते हैं और जी-जान से पढ़ाते थे क्योंकि कर्तव्यबोध था। पढ़ाने से ही स्वयं को गौरवान्वित मानते थे। अब अध्यापक केवल अधिक वेतन चाहता है। आज यदि किसी अध्यापक को पाँच सौ रुपया महीना अध्यापकी में मिलता है और कल कहीं हजार रुपया महीना क्लर्की में मिल जाये तो वहाँ जाने को तैयार है। इसी प्रकार अन्यों की भी कर्तव्यबोध से प्रवृत्ति नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी में भी कर्तव्यबोध नहीं रहा, कहीं भी कर्तव्यबुद्धि से प्रवृत्ति नहीं है। सर्वत्र धन के लोभ से प्रवृत्ति है। धन के लोभ से प्रवृत्ति

होगी तो वर्ण नहीं रहेगा। यद्यपि सारे संसार में चार वर्ण मिलते हैं तथापि मनमानी से विभाजन है। वह चाहे व्यक्ति की अपनी मनमानी हो या शासनकर्ता की। इसलिये वहाँ वर्ण नहीं हैं, कर्तव्यबोध नहीं है। वहाँ कर्तव्य-बोध से प्रवृत्ति नहीं बल्कि या राज्य के दण्ड के भय से या धन के लोभ से प्रवृत्ति होती है। भय और लोभ से प्रवृत्ति करने वाला शोक-मोह में पड़ा हुआ शूद्र ही होता है, यह पहले बता आये हैं।

कर्तव्यबोध नहीं रहे तो कभी भी किसी क्रिया में किसी को सुख नहीं होगा। चातुर्वर्ण्य के प्रतिपादन के ठीक बाद भगवान् ने कहा 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' अपने-अपने कर्म में अभिरति करने से अर्थात् कर्तव्य के अन्दर प्रेम-बुद्धि उत्पन्न होने से नरको संसिद्धि मिलती है। नर का मतलब है 'न रमते विषयेषु यः स नरः' जो विषयों में रमण नहीं करता वह नर है। विषय-लोलुप व्यक्ति हमारे यहाँ नर-शब्द से नहीं कहा जाता। वही व्यक्ति कर्तव्य-बोध में अभिरति अर्थात् प्रेम कर सकेगा जो विषय-लोलुप नहीं है। अपने कर्तव्य में अभिरति प्राप्त करके अंतःकरण की शुद्धि के द्वारा अंत में परमात्म-प्राप्ति का साधक बन जायेगा। कर्तव्य-बोध को हटा दिया तो भय और लोभ से प्रवृत्ति रह जायेगी। भय और लोभ से होने वाली प्रवृत्ति न अंतःकरण को शुद्ध करेगी और न मनुष्य को कर्तव्य से सुख पहुँचायेगी। कर्तव्य के फल से चाहे सुख मानें, कर्तव्य से सुख नहीं होगा। दुकान में बैठकर व्यापार से सुख नहीं होगा, व्यापार करके जो पचास लाख रुपये का लाभ हुआ, उससे सुख होगा। ब्राह्मण को वेद-पाठ करके सुख नहीं होगा, वेद-पाठ के द्वारा ५१

रुपये की दक्षिणा मिलने से सुख होगा। क्षत्रिय को युद्ध के मैदान में खून बहाकर सुख नहीं होगा, उसके द्वारा जो वीरचक्र या महावीरचक्र मिलेगा उससे खुशी होगी। राजनीतिज्ञ को लोगों को किसी युक्ति से समझाकर सुख नहीं होगा, उसके द्वारा वोट प्राप्त करके मंत्री बनने से सुख होगा। सर्वत्र यही नियम चलता जायेगा। कर्तव्यबोध के लिये ही भगवान् प्रजापति ने हमारे सामने वर्ण-व्यवस्था रखी। मिलते तो ये चारों प्रकार के कार्यकर्ता सभी जगह हैं लेकिन वे वरण नहीं किये हुए हैं, त्रैवर्णिक नहीं बने हैं।

कर्तव्य करना अपने हाथ में है, फल अपने हाथ में नहीं है। ब्राह्मण का वेद पढ़ना तो अपने हाथ में है, लेकिन वेद पढ़कर वरणी मिलना उसके अपने हाथ में नहीं है। उसके प्रति कारण तो अपन-अपना प्रारब्ध कर्म पड़ता है। पुण्य कर्म का उदय होने पर सफलता मिलेगी और पाप कर्म का उदय होने पर असफलता मिलेगी। सफलता-असफलता, फल मिलना-न-मिलना अपने हाथ में नहीं है लेकिन कर्तव्य कर्म करना अपने हाथ में है। फल के अधीन यदि हमने अपने सुख को कर दिया तो हम हमेशा ही असंतुष्ट रहेंगे और कर्तव्य के अधीन यदि हमने अपना सुख कर दिया तो हम स्वतंत्र होकर सुखी रहेंगे। मैंने प्रातःकाल उठकर आटा भी समय पर गूँथकर भिजो दिया, चावल भी अच्छी तरह से भूनकर बनाने को रखे, कढ़ी के लिये दही भी खट्टा ले लिया; मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। बढ़िया भोजन बनाकर तैयार किया, मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। सारा भोजन तैयार था, उसी समय अकस्मात् घर के कुत्ते ने आकर रसोई में मुँह डाल दिया। अब वह सारा भोजन खाने के लायक नहीं रहा। जो फल की दृष्टि

से देखेगा, वह तो दुःखी हो जायेगा। जो कर्तव्य की दृष्टि से देखेगा, उसे कुछ दुःख नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि मैंने अपना कर्तव्य ठीक कर दिया। कुत्ता मुँह डाले, न डाले यह हमारे हाथ में नहीं है। मैंने प्रतिदिन उठकर नित्य-नैमित्तिक कर्म कर लिया, वेद का स्वाध्याय कर लिया। मुझे वरणी मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। मैंने अपना कर्तव्य ठीक किया, इसका सुख मेरे हाथ में है। कर्तव्य को केन्द्र बनाने से तो सुख स्वाधीन होता है, और यदि फल-केन्द्रित हमने काम किया तो सुख पराधीन रहता है।

शूद्र इसीलिये नित्य पराधीन है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से ही तो किसी की सेवा करेगा। ब्राह्मण की सेवा करेगा तो ब्राह्मणवत् कर्म करेगा, क्षत्रिय की सेवा करेगा तो क्षत्रियवत् और वैश्य की सेवा करेगा तो वैश्यवत् कर्म करेगा। शूद्र में ब्राह्मण जैसी, क्षत्रिय जैसी और वैश्य जैसी क्रिया करने वाला भी होगा। फिर उस शूद्र और ब्राह्मण आदि में क्या फ़र्क है ? एक ने गायत्री ले रखी है, दूसरे ने नहीं ले रखी है, अर्थात् शूद्र फल से सुखी होगा और ब्राह्मण आदि वर्णी कर्तव्य से सुखी होंगे।

ईश्वर के जो तीन गुण हैं, इनसे तीन वर्ण और तीनों गुणों का जहाँ आवरण है वहाँ शूद्रता है। तीनों वर्णों से जो अतीत है अर्थात् जिसने तीनों वर्णों को छोड़ दिया, वह शुद्ध ब्रह्मरूप है। यहाँ एक बात बताते हैं, ठीक से समझना। किसी भी वैदिक कर्म में परमहंस संन्यासी को अधिकार नहीं है क्योंकि वह अपने शिखा-सूत्र को छोड़ देता है। शिखासूत्र परित्यागी होने के कारण संन्यासी को किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। और शूद्र को भी किसी वैदिक या शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है।

दोनों को ही अधिकार नहीं है। फिर फ़र्क क्या है ? एक ने तीनों गुणों को छोड़ दिया है और दूसरा तीनों गुणों से अंधकार में पड़ा हुआ है। जहाँ अत्यंत तेज़ रोशनी होती है, वहाँ भी आँख को नहीं दीखता है, तेज़ रोशनी में आँख झपक जाती है, उसमें कुछ नहीं देख सकते। जहाँ घुप्प अंधकार होता है वहाँ भी नहीं दीखता। न दीखना दोनों जगह एक-जैसा है। लेकिन क्या एक जैसा *ही* है ? जिसने तीनों गुणों को समझकर परित्याग कर दिया या जो गुणातीत हो गया, उसे भी वैदिक कर्म में अधिकार नहीं। वह किस कर्म का वरण करे ? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वह क्या छोड़े और क्या पकड़े ! यदि उसके मन में कुछ फल प्राप्त करने की इच्छा हो या अनिच्छा हो तभी पकड़ेगा या छोड़ेगा।

शूद्र भी बेचारा क्या पकड़े और क्या छोड़े ? विवेक करने की सम्भावना हो तभी पकड़ेगा या छोड़ेगा। वह बेचारा गरीब तो धन और भय के द्वारा ही प्रवृत्ति करता है। राजा ने भय दिखाया कि 'टैक्स नहीं दोगे तो जेल में बन्द कर देंगे' तो वह टैक्स देने चला गया। टैक्स अधिकारी ने कहा कि 'एक लाख टैक्स के बदले दस हज़ार मुझे दे दो, कागजात ठीक कर दूँगा' तो नब्बे हज़ार के लोभ के कारण उसको दे दिया। ऐसा बेचारा तो नित्य परतंत्र है। महाभारत में तो बड़ी कड़ी बात व्यास जी ने ही लिखी है 'क्षुत्परीतो यथा दीनो सारमेयो गृहं गृहम्' जैसे भूख के द्वारा दीन हुआ कुत्ता घर-घर के सामने जाकर आशा लगाता है, उसी प्रकार जो बेचारा तीनों प्रकार का वरण करने में असमर्थ है वह दर-दर भटकता है। जैसे कुत्ते को कहीं 'तू-तू, दुर-दुर' किया तो हट गया, उसी प्रकार जिस विषय वस्तु के अंदर इसको किसी समय में सुख

की प्रतीती होने लगी तो लोभ से उधर चला गया और जहाँ से धक्का, 'दुर-दुर' मिली वहाँ से पूँछ छिपाई और चला आया। यही हालत होती है। वर्ण-व्यवस्था का जो प्रतिबिम्ब है अर्थात् उसका कार्य-विभाजन है, वह तो संसार में सब जगह मिलेगा। जहाँ भी समाज होगा वहाँ कुछ लोग सत्त्वगुण का, कुछ रजोगुण का और कुछ तमोगुण का कार्य करेंगे। लेकिन चूँकि उन्होंने कर्तव्य-बोध का वरण नहीं किया, इसलिये फल के पराधीन रहेंगे। वर्ण व्यवस्था वाले ने चूँकि उस कर्तव्यबुद्धि का वरण किया है इसलिये नित्य स्वतंत्र और सुखी रहेगा। यही वर्ण-व्यवस्था की विशेषता है।

गीता के अन्दर ब्राह्मण आदि के जो धर्म बताये हैं वे व्यावर्तक धर्म नहीं हैं। व्यावर्तक का मतलब है कि ब्राह्मण करे और दूसरे न करें। ऐसे वे धर्म नहीं हैं। जैसे ब्राह्मण ही वेद पढ़ाये, दूसरे न पढ़ायें—यह व्यावर्तक धर्म है। गीता में बताये गये धर्म व्यावर्तक नहीं, उलटा सब के करने के हैं—

'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।'

ये धर्म किसी के छोड़ने के नहीं हैं। शम—मन का नियंत्रण करे। यह व्यावर्तक धर्म नहीं है। सब प्राणियों के लिये अच्छा है। दम—इन्द्रियों का नियंत्रण करे। तप—धर्म के मार्ग में कष्ट सहने को तैयार रहे। शौच—शरीर को पवित्र रखे। क्षान्ति—कोई अपराध कर दे तो क्षमा करने की प्रवृत्ति रखे। आर्जव—सरल व्यवहार रखे, कुटिलता न रखे। ज्ञान—जो काम करे उसे जाने।

विज्ञान—परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति करता रहे। आस्तिक्य—गुरु, वेदांत-वाक्य और ईश्वर में श्रद्धा-बुद्धि करे। इनमें से कोई धर्म व्यावर्तक नहीं है। ये सब के करने के हैं।

फिर क्या विशेषता कि कहा, 'ब्रह्मकर्म स्वभावजं' ? विशेषता है कि ब्राह्मण के लिये ये कर्म स्वभावज हैं अर्थात् उसमें तो ये धर्म स्वभाव से प्रकट होंगे। अग्नि यदि किसी चीज़ को गरम करती है तो अग्नि की कोई महत्ता नहीं है। लेकिन यदि अग्नि किसी चीज़ को गरम नहीं करती तो उसकी निन्दा होती है। ब्राह्मण के ये धर्म बाकी लोग भी करें। वे जितना करेंगे उतना प्रशंसा के पात्र बनेंगे। ब्राह्मण वह करेगा तो प्रशंसा का पात्र नहीं है, पर नहीं करेगा तो उसकी निन्दा ज़रूर होगी, क्योंकि उसमें ये स्वभावज हैं। सत्त्वगुण का रजोगुण में, रजोगुण का तमोगुण में अनुवर्तन तो होना ही चाहिये। इसलिये ब्राह्मण के गुण क्षत्रिय में आने ही चाहिये। क्षत्रिय के गुण वैश्य में आने ही चाहिये। एक के गुण दूसरे में नहीं आते हैं तो उसका कारण है कि किसी तरह से वे छिप गये हैं। दोषों से स्वभाव छिप जाता है। जैसे आग के सामने चन्द्रकांत मणि रखो तो आग की जलाने की शक्ति छिप जाती है। चन्द्रकान्त मणि को हटा लेने पर फिर आग का स्वभाव प्रकट हो जाता है। जिस समय ग्राहक आता है, उस समय सेठ का मुनीम को डाँटने वाला स्वभाव दब जाता है। ग्राहक के सामने बड़ी मीठी-मीठी बातें करता है। जैसे ही ग्राहक गया, वैसे ही पहले वाला स्वभाव प्रकट हो जाता है और फिर मुनीम को डाँटने लगता है। इसी प्रकार शम, दम आदि किसी दोष के कारण ब्राह्मण धर्म छिप भी जायें तो फिर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि वे

स्वभावज हैं, प्रयत्न से नहीं लाये गये हैं।

एक कथा आती है। इरावती देश में परित्यागसेन नाम का एक राजा था। अब इरावती नदी बर्मा में चली गयी है। किसी काल में वह सारा भारत था। जिस प्रकार आज से पाँच सौ साल बाद यदि कोई कहेगा कि 'कराची अपना है' तो लोग कहेंगे कि 'अपना कहाँ से आया ? वह तो पाकिस्तान का है।' इसी प्रकार जब आज कहते हैं कि 'कुभ नदी का सारा किनारा अपना है।' वेदों में कुभ नदी का वर्णन आया है। कुभ के किनारे काबुल बसा हैं। तब लोग कहते हैं, वह अफगानिस्तान में है, उसका नाम न लो। लेकिन वस्तुतः ये सारी भारत की सीमायें थीं। अब इरावती बर्मा में पड़ती है, तब भारत में थी। परित्यागसेन वहाँ राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम अधिकसंगमा था। राजा की दूसरी पत्नी का नाम काव्यालंकारा था। लेकिन दोनों से उसके कोई संतान नहीं हुई थी।

उसने ब्राह्मणों से यज्ञ करवाया। फलस्वरूप उस यज्ञ में से दो फल निकले। पुरोहित ने कहा 'अपनी दोनों रानियों को एक-एक फल दे देना तो उनके लड़का हो जायेगा।' राजा ने वे फल लाकर अपने कमरे में रख दिये। पहली रात्रि वह अधिकसंगमा के पास था, इसलिये एक फल उसे खिला दिया। दूसरा फल वहाँ रख दिया कि प्रातःकाल दूसरी रानी को दे दूँगा। रात्रि में अधिकसंगमा की नीयत खराब हो गई। सोचा कि 'मेरे ही दो लड़के हो जायें तो ठीक है।' पुरानी औरतों को लड़कों का शौक होता था। इसलिये उसने रात्रि में दूसरा फल भी खा लिया, राजा सोया हुआ था। प्रातःकाल राजा नहा-धोकर जब फल उठाने

आया तो वहाँ उसे फल नहीं मिला। ढूँढने पर भी नहीं मिला तो पूछा 'फल कहाँ चला गया ?' अधिकसंगमा ने कहा कि 'रात्रि में मुझे भूख लगी तो मैंने खा लिया।' राजा समझ तो गया, लेकिन अब क्या करता, चुप रह गया। काव्यालंकारा को जब इस बात का पता लगा तो वह बड़ी दुःखी हुई लेकिन अब कर क्या सकती थी ! जो गया सो गया।

समय पाकर अधिकसंगमा के दो पुत्र उत्पन्न हो गये, क्योंकि दोनों फल उसने खाये थे। एक का नाम इंदीवरसेन रखा और दूसरा चूँकि जबरदस्ती पैदा हुआ था, इसीलिये उसका नाम अनिच्छासेन रखा, क्योंकि राजा की अनिच्छा से पैदा हुआ था। दोनों लड़के बड़े होने लगे। अधिकसंगमा बड़ी प्रसन्न रहती थी और काव्यालंकारा हमेशा दुःखी बनी रहती थी। वह हमेशा सोचे कि किसी प्रकार से इनका अनिष्ट हो तो अच्छा है। एक तो वैसे ही सौत के लड़के के प्रति भाव अच्छा नहीं होता और यदि उसने इस प्रकार से लड़का पाया हो तो फिर क्या कहना ! लड़के बड़े हुए, एक दिन आकर पिता से कहने लगे कि 'हम क्षत्रिय हैं और अब युवावस्था में आ गये हैं। इसलिये जब तक हम अन्य राज्यों को विजय न करें, तब तक हमारे क्षत्रिय होने का कोई लाभ नहीं है।' यह प्राचीन राजाओं की दृष्टि थी। प्राचीन राजधर्म कहता था कि विदेशों से धन जीतकर लाओ और अपने देश वालों को दो। इसीलिये जनता उसकी इतनी इज़्ज़त करती थी कि ये हमारे राजा हैं। आज राजाओं का दृष्टिकोण है कि अपने ही राज्य को लूटो और उसमें से धन निकालकर विदेशों को दो। यह दृष्टिकोण का भेद है। राजा पुत्रों की बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और

उनकी बात का समर्थन किया 'ऐसा ही करो।' वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं में गये। अनेक राज्य जीते और पत्र लिखते रहे कि हमने अमुक राज्य जीता, अमुक राज्य जीता और धन भी काफी भेजते रहे।

जितनी उनकी विजय की सूचना आये, उतनी ही काव्यालंकारा की छाती जलती रहे। अंत में उसने विचार किया कि किसी तरह से इन लड़कों को खत्म करना चाहिये। इसके लिये उसने वहाँ के सेनाध्यक्ष को धीरे-धीरे अपने साथ मिला लिया, उसे बड़ा धन दिया और न करने लायक कार्य भी करे। फिर एक पत्र लिखवाकर और उस पर मोहर लगवाकर उनके पास भिजवा दिया। उसमें लिखा था कि 'यह पत्र जब मिले तब देखते ही दोनों को मार देना, क्योंकि ये विदेशों को जीतकर फौज इकट्ठी कर रहे हैं और अंत में आकर हमको भी पकड़ लेंगे।' यह पत्र राजा की तरफ से था। इस ढंग का पत्र जब उनके पास पहुँचा तो वहाँ के व्यक्तियों ने विचार किया कि ये लड़के तो इस भाव के नहीं हैं। फिर भी राजा का पत्र आया है तो क्या करें ? उन्होंने उन दोनों से कहा कि 'राजा तुम्हारे विषय में संदेह वाला हो गया है। इसलिये तुम्हारी जान पर आपत्ति आ सकती है। बस इतना ही कहेंगे, बाकी बात सवेरे करेंगे।' दोनों लड़के बुद्धिमान् थे। रात्रि में ही दोनों वहाँ से भाग गये। प्रातःकाल सेनानायक ने लोगों को बुलाया, वे लड़के तो वहाँ से उड़ गये थे। वहाँ से राजा को पत्र लिख दिया कि 'आपके पत्र के आने से लड़कों के मन में कोई संदेह हो गया, इसलिये वे पकड़े जाने से पहले ही भाग गये हैं।'

वे दोनों भागकर जंगल में रास्ता भूल गये और राक्षसों के

देश में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि एक बड़ा भारी नगर है और उसमें बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है, और भी सारी चीज़ें बड़ी सुन्दर बनी हुई हैं। लेकिन इतने बड़े महल में केवल एक राक्षस और उसके साथ एक औरत बैठी हुई है। वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहा कि 'इतने बड़े नगर में केवल तुम दो ही हो ?' राक्षस ने कहा, 'तुम कैसे घुस आये, मैं तुम्हें मार डालूँगा ?' दोनों में लड़ाई होने लगी और उस लड़ाई में उन दोनों भाईयों ने उस राक्षस को मार दिया। अब उस औरत से पूछा कि 'तू राक्षसी तो मालूम नहीं होती, कौन है ?' वह रोने लगी और कहा कि 'इसका नाम यवनदंष्ट्र था। मेरा नाम मदनदंष्ट्रा है। इसने यहाँ रहने वाले लोगों को मार डाला है। मैं यहाँ के राजा की पत्नी थी। इसने राजा को भी मार दिया और मुझे अपनी औरत बनाकर रख लिया। प्राणभय से मैं भी इसके यहाँ रहने लग गई। हमारे एक कन्या खड्गदंष्ट्रा उत्पन्न हुई। उसको मैं अभी बुलाती हूँ।' वह कन्या युवा हुई तो उस राक्षस ने उसको भी अपनी औरत बना लिया। यह राक्षसी प्रवृत्ति है। इस बात से खड्गदंष्ट्रा बड़ी दुखी हो गई और हमेशा अपना दरवाजा बन्द करके यही प्रार्थना करने लगी, 'हे परमात्मा ! यह मर जाये तो अच्छा है।'

शास्त्रों में बताया है कि पिता भी यदि धर्म-विरुद्ध कार्य करने लग जाये तो वह भी दण्डनीय होता है। यह धर्मशास्त्र का नियम है कि उसे भी दण्ड देना पड़ता है। सारे वर्णों की सृष्टि करने के बाद धर्म की सृष्टि की गयी। धर्म से प्रबल तथा महान् और कुछ नहीं है। धर्म अतिसृष्टि है। इसलिये धर्म के लिये चाहे अपना पिता-माता हो, पति हो, पुत्र हो सबका त्याग उचित है, सबको

दण्ड दिया जाता है। बाकी सारे कर्तव्य चूँकि धर्म से प्राप्त हुए, इसलिये धर्म का विरोध होने पर बाकी सब कर्तव्यों से धर्म ही प्रबल पड़ता है। आजकल के जीवन में जानते ही हो, क्या होता है : पति कहता है कि 'मेरे साथ बाइस्कोप देखने या शराब पीने चल।' पत्नी मना करे तो कहेगा 'तेरा धर्म तो पति की आज्ञा का पालन करना ही बताया है। सत्संग में जाती है, वहाँ यही तो सिखाया जाता है।' लेकिन यह धर्मशास्त्र का नियम नहीं है कि उसकी आज्ञा मानकर तुम सिनेमा, शराब या अन्य अधर्म के कार्य करो। धर्म प्रबल है। धर्म का निषेध चाहे कोई करे, उसको नहीं माना जायेगा। इसीलिये खड्गदंष्ट्रा हमेशा यही प्रार्थना करती थी कि यवनदंष्ट्र मारा जाये।

दोनों राजपुत्र वहीं रहने लगे। एक दिन मदनदंष्ट्रा ने कहा 'तुम लोगों ने हमें बड़े नरक से बचाया तो हम लोगों की भी तुम्हारे लिये कुछ करने की इच्छा है, कोई कार्य बताओ। हम लोग चूँकि राक्षसी हैं इसलिये हमारे पास भी कुछ विशेष शक्तियाँ हैं।' अनिच्छासेन ने कहा 'मेरी बड़ी इच्छा है कि एक बार जाकर माता-पिता को देख आऊँ कि उनका क्या हाल है। हमको उन्होंने दण्ड दिया लेकिन वहाँ और कोई नहीं है, इसलिये उन्हें देख आयें।' राक्षसी ने उसे साथ लेकर अपनी शक्ति से वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ जाकर जब वह अपनी माँ अधिकसंगमा से मिला तो वह कहने लगी कि 'हम बड़ी चिन्ता में थे, तुम कहाँ चले गये थे?' उसने बताया कि 'पिताजी ने ऐसी-ऐसी आज्ञा भेजी थी, क्या आपको पता नहीं है ?' उसने कहा, 'ऐसी कोई बात ही नहीं है, वे तो तुम्हारे वियोग में दुःखी हैं।' वह जाकर अपने पिता से

मिला और सारी बात बताई। पिता ने कहा कि 'किसी ने धोखा किया है। मैंने ऐसा पत्र कभी नहीं लिखा।' काव्यालंकारा ने विचार किया कि 'अब ये आ गये हैं, इसलिये बात खुल जायेगी।' उसने वहीं जहर खाकर आत्महत्या कर ली। राजा ने कहा 'अपने भाई इन्दीवरसेन को भी बुला लो।' जब वह आ गया तब राजा ने अपना राज्य उन दोनों को दे दिया और स्वयं एकांत में जाकर भजन करने लगा।

यह तो कथा है। वस्तुतः इरावती शरीर के अन्दर होने वाली इडा नाडी के अन्दर होने वाली बात को बताती है। इरावती अर्थात् इडा-देश ही मनुष्य की समग्र इच्छाओं का देश है। इडा कामना को ही कहते हैं। इसीलिये शतरूपा को पुराणों में इडा कहा है। मनु की दो पत्नियाँ—श्रद्धा और इड़ा बताई हैं। इडा अर्थात् संसार के भोगों में जो अवलिप्त है। उस देश में रहने वाला राजा परित्याग सेन कामनाओं के देश में रहने वाला जीव है। जीव बड़ा भारी त्यागी है, साधारण त्यागी नहीं, परित्यागी अर्थात् सब चीज़ों को छोड़ने वाला है। संसार में अपने व्यापक-रूप को छोड़कर बेचारा आजकल तो काँच के भी नहीं, केवल कागज के टुकड़े लेकर गुजारा निकालता है। यह परित्याग है। इसका स्वरूप अनंतकोटि ब्रह्माण्ड है, यह कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला है, लेकिन यह पुराने ज़माने में हीरे-पन्नों को, फिर काँच के टुकड़ों को और अब तो कागज़ के टुकड़ों को ही कर्तव्य समझता है। घरवाले और समाज के लोग जितना भी कर्तव्यों का उपदेश देते हैं, उसके हृदय में एक ही कर्तव्य है—जो जितनी कागज़ की ढेरी इकट्ठी कर ले, वह तो कर्तव्य कर रहा है और जो इस कागज़ की ढेरी को हटा

देता है, वह कर्तव्य से च्युत हो रहा है ! जो औरत कम खर्च में घ़र का काम चलाये, वह औरत तो कर्तव्य कर रही है और यदि वह दान इत्यादि करके घर का धन कुछ कम कर दे तो कहते हैं कि यह घर का कर्तव्य नहीं कर रही है। सब जगह एक ही बात समझना। इसीलिये जीव ही इडा देश में रहने वाला राजा परित्याग-सेन है। यह छोटी-मोटी चीज़ों को नहीं त्यागता, परमात्मा को ही त्यागे बैठा है !

इस जीव की दो पत्नियाँ हैं। एक अधिकसंगमा जो अधिक संगम करने वाली है। यह इस जीव की लिप्सा है। इसको जितनी चीज़ें मिलती हैं, उतनी ही इसकी भोग की इच्छा बढ़ती है, यह विचित्र हाल है। हम लोगों की इच्छा भोजन करने की होती है, भोजन मिलता है तो भूख मिटती है। पानी की इच्छा होने पर पानी पी लेते हैं तो प्यास बुझ जाती है। लेकिन अधिकसंगमा का हाल बड़ा विचित्र है : दस हज़ार की इच्छा होती है। दस हज़ार मिलने के साथ ही लाख की इच्छा होती है। तृप्ति नहीं हुई कि दस हज़ार मिल गये, अब आनंद से रहें। लाख मिलने पर भी तृप्ति नहीं, दस लाख की इच्छा हो जाती है। इसलिये परित्यागसेन की यह प्रधान पत्नी है। उसकी दूसरी पत्नी काव्यालंकारा है जो बड़ी दुःखी है। काव्य अर्थात् सुन्दर ग्रंथ, उपन्यास आदि समझ लो; अलंकार—नया मकान इत्यादि। औरत के लिये गहनों से शरीर की शोभा हो यह प्रधान नहीं है। गहनों इत्यादि से थोड़ा दिल बहल जाता है, ये सब चीज़ें बस इतने ही काम की हैं।

दोनों से कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होता। पुत्र कहाँ से हो ? 'पु' का अर्थ नरक होता है। जो नरक से बचाये उसे पुत्र कहते हैं।

न अधिकसंगमा से और न काव्यालंकारा से ही पुत्र होने वाला है क्योंकि इनसे तो बार-बार नरक की प्राप्ति होगी। अंत में किसी पुण्यपुंज-परिपाक से कोई सत्कर्म किया तो इसको फल मिले। लेकिन वह फल भी काव्यालंकारा को नहीं मिल पाया। वे फल भी अधिकसंगमा ही खा गई। इसको किसी सत्कर्म का फल मिलता भी है तो यह उसका विनियोग भी अपनी इच्छा बढ़ाने में कर लेता है। उस सत्कर्म के फल का भी आगे किसी सत्कर्म में उपयोग नहीं कर पाता। सत्संग में भी जाते हैं तो धनादि किसी चीज़ का आशीर्वाद ही चाहते हैं। किसी सत्संगी के ज़ोर से मंदिर में भी पहुँचे तो वहाँ इच्छा होती है कि 'टैक्स का झूठा मुकदमा जीत जायें।' कभी यह इच्छा नहीं होती कि 'हमने जो झूठा मुकदमा किया है, इसमें हमारे ऊपर एक लाख का जुर्माना हो जाये तो बहुत-सा बुरा पैसा निकल जाये।' यह भावना कभी नहीं आती। वहाँ भी जाकर प्रवृत्ति भोग की ही बनी रहती है।

अधिकसंगमा फलों को खा गई तो उससे इंदीवरसेन और अनिच्छासेन दो पुत्र उत्पन्न हो गये। जैसे-जैसे तुम्हारी सफलता बढ़ती है, वैसे-वैसे बचपन में जिन चीज़ों की इच्छायें थीं, वे भी घटती जाती हैं। प्रायः लोग इसकी शिकायत करते हैं कि घर में आदमी जैसे-जैसे बुड्ढा होता है, वैसे-वैसे इसकी माया बढ़ रही है, कंजूसी बढ़ रही है। पहले कम से कम घरवाली को तो कहता था कि 'अच्छा खाया-पिया और पहना कर', ब्राह्मण को न देने तक बात थी। अब घरवाली का खाना-पीना भी उन्हें खटकता है, लेकिन स्वयं तो खा ही लेते हैं। जब ज़रा और भी बुड्ढा होता है तो अपना खाना भी उन्हें खटकता है। दुःख होता है। कहता

है, 'हे भगवान् ! इतनी भूख क्यों लगती है कि चार फुलके खाने पड़ते हैं।' यह अनिच्छा है। इंदीवर कमल को कहते हैं। जैसे कमल के ऊपर चाहे घड़ा भर पानी डाल दो, उस पर कुछ असर नहीं होता, ऐसे ही यह भी इंदीवर हो जाता है। चाहे घरवाले, चाहे गुरुजन और बड़े शास्त्रज्ञ कुछ भी इसे कहते रहें, समझाते रहें, यह सब सुन लेगा, लेकिन कमल के पत्ते की तरह सर्वथा निर्विकार बना रहेगा, नित्य निरंतर अपने उद्देश्य को न जानकर उसी प्रवाह में जाता है और उसको दृढ पकड़ता है।

जैसे-जैसे उमर बढ़ती है, वैसे-वैसे वर्णाश्रमी तो वानप्रस्थ की तरफ और वानप्रस्थी संन्यास की तरफ जाता है। पचास की उमर हो गई तो सोचता है कि वानप्रस्थी बनो। लेकिन आज इसे सरकार कहती है कि सेवानिवृत्त हो जाओ तो यह सेवाकाल बढ़ाने के लिये अर्जी लिखता है। लड़के कहते हैं कि 'अब हम काम सम्भाल रहे हैं, आप भजन करो', तो सोचता है कि 'नालायक मुझे निकालना चाहते हैं ! मुझे क्या समझ रखा है, मैंने इसे अपने खून से सींचा है, कैसे छोड़ दूँ ?' वर्णाश्रमी वानप्रस्थ और संन्यास की तरफ जाता है लेकिन यह और ज़्यादा चिपकता है क्योंकि इसको अब लड़कों का भी भय है कि कहीं गड़बड़ न कर दें। अब हिसाब खुद रखता है। यही इंदीवरसेन और अनिच्छासेन का रूप है। काव्यालंकारा इनको भी मारना चाहती है, और इनको दुःख ही देती रहती है। अपनी नहीं सोचता कि बचपन में कहाँ थे, आज कहाँ पहुँच गये। उलटा दूसरे को देखता है कि 'यह तो हमारे जितना था, अब यह हमसे भी आगे हो गया।' 'मैं क्लर्क बनकर भर्ती हुआ था, आज मैनेजिंग डाइरेक्टर बन गया', यह

सुख भी वह नहीं लेने देती, क्योंकि दूसरा चेयरमैन जो बन गया। वहाँ भी इन्हें शांति नहीं लेने देती।

अंत में बेचारे यमदंष्ट्रा के यहाँ पहुँचते हैं। यम के यहाँ पहुँचने पर इन्हें पता लगता है कि यहाँ तो मदनदंष्ट्रा और खड्गदंष्ट्रा दोनों रह रहे हैं। यम का अर्थ प्रसिद्ध है। जीवन के अंत में यम की दाढ़ें दिखाई देती हैं, सब जानते ही हैं। कान शब्द नहीं सुनते, आँखें रूप नहीं देखतीं, पेट हज़म नहीं करता, घुटने चलने नहीं देते, ये सब यम-दाढ़ें ही तो हैं। इसके घर में देखता है कि मदनदंष्ट्रा बैठी है, अर्थात् कामनाओं के कारण ही हमारा यह हाल हुआ। रात भर बिजली के लट्टू में बैठकर जमा-खर्च का ब्यौरा बनाते रहे, इसीलिये इन्द्रियों का यह हाल हुआ। जब किसी महात्मा को देखते हैं कि बिना चश्मे के और ज़्यादा उमर में भी इनकी आँखें ठीक काम करती हैं तो धड़कन होती है। दाँत टूटते हैं तो नकली दाँतों से भी पापड़ नहीं खा सकता, पान भी नहीं खाया जाता। यह सब हाल क्यों हुआ ? क्योंकि गरम पूरी साग दुकान पर आया हुआ ठण्डा हो जाता था ग्राहकों के चक्कर में, उसी ठण्डे पूरी-साग को खाकर ही पेट में कमज़ोरी आई तो दाँत गिरे। अब समझ में आया कि यह सब मदनदंष्ट्रा के कारण है। उसी काल में खड्गदंष्ट्रा को वहाँ देखता है। यह थी तो राक्षस से उत्पन्न, लेकिन चाहती थी कि माँ-बाप मर जायें तो अच्छा है। खड्ग विवेक को कहते हैं। अपना विवेक उत्पन्न होने लगता है तब कहता है कि इस जीव-भाव को रखने से क्या फ़ायदा ? जीवभाव हमको इतना दुःख दे रहा है, इससे तो जीवभाव मर जाये और ईश्वर-भाव रह जाये तो अच्छा है। इसकी प्रार्थना सफल हो जाती है और तब

यह अंत में जाकर सुखी होता है। सफल हो गया तो परित्याग-सेन जीव का राज्य भी इसे मिल जाता है। जब अपने जीवभाव को छोड़कर ईश्वरभाव में जाता है तब यहाँ भी इसको सुख मिल जाता है।

जब हम शूद्र-भाव को छोड़कर, भय और लोभ से प्रवृत्ति छोड़कर, विवेक के द्वारा अपने वर्ण को, जहाँ हम पैदा हुए हैं और जो हमारा कर्तव्य है, उसको पकड़ते हैं तब हमने ईश्वर की प्रकृति को पकड़ा। तब हमको इहलोक में भी जीवभाव का सुख मिल जाता है और आगे के लिये भी 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः' में कहे ढंग से मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। यह वर्णाश्रम की व्यवस्था की विशेषता है। ईश्वर के स्वभाव को, प्रकृति को, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रकृति को पकड़कर तदनुकूल आचरण करना है। यदि ब्राह्मण हैं तो सत्त्वगुण और क्षत्रिय हैं तो रजोगुण के अनुकूल कर्तव्य करके ही पूर्णता-प्राप्ति है, अन्यथा नहीं।

प्रवचन - ६६

श्रुति पुरुषसूक्त में समाजपुरुष के जिस मूल स्वरूप को बता रही है, वह ईश्वर की स्वाभाविक प्रकृति-निमित्तक है। वह एक आदर्श है। ईश्वर की जो सत्त्व, रज, तम रूप प्रकृति है, उससे उत्पन्न होने वाला द्विज आदर्श पुरुष है। वास्तविकता और व्यावहारिकता में हमेशा समानता नहीं होती। पहले इसे देवताओं के स्वरूप के विचार से बतायेंगे, क्योंकि वर्णाश्रम-व्यवस्था का

वर्णन करते हुए सबसे पहले आगाह कर दिया था कि वस्तुतः यह व्यवस्था देवताओं की व्यवस्था है, उसका मनुष्यों में केवल अतिदेश है। यह भगवान् सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यक वार्तिक के आधार पर बताया था। स्वयं श्रुति ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ वर्णन किया वहाँ ब्राह्मणों में अग्नि की उत्पत्ति, क्षत्रियों में इन्द्र, वरुण की उत्पत्ति, वैश्य में रुद्र, आदित्य, मरुद्गणों की उत्पत्ति और शूद्र में पूषा की उत्पत्ति बताई। वहाँ किसी मनुष्य का नाम नहीं लिया। इसलिये देवताओं के अन्दर आदर्शरूप से किस प्रकार विचार व्यवहार में आता है, यह बतायेंगे। वैसा ही फिर मनुष्यों में आ जायेगा।

पुराणों के सिद्धान्त से रजोगुण से ब्रह्मा, तमोगुण से रुद्र और सत्त्वगुण से विष्णु उत्पन्न हुए। सत्त्वगुणावच्छिन्न चेतन का नाम विष्णु, रजोगुणावच्छिन्न चेतन का नाम ब्रह्मा और तमोगुणावच्छिन्न चेतन का नाम रुद्र रखा। सिद्धान्त-बिन्दु के अन्दर आचार्य मधुसूदन स्वामी और उसकी टीका में गौडब्रह्मानन्द स्वामी कहते हैं कि ये *आदर्श* ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र समझना। पुराणों में आने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व्यावहारिक हैं। कैसे ? रजोगुणावच्छिन्न चेतन ब्रह्मा में यदि केवल रजोगुण का कार्य होता तो वे केवल क्रिया करते, क्योंकि रजोगुण का कार्य क्रिया है। लेकिन ब्रह्मा वेद का उपदेश देते देखे जाते हैं जो सत्त्वगुण का कार्य होना चाहिये। इसी प्रकार सत्त्वगुणावच्छिन्न चेतन का कार्य विष्णु ज्ञानरूप, आनंदरूप होना चाहिये, लेकिन इनको चक्र से नक्र को मारते देखा जाता है। इस प्रकार की मार-काट तमोगुण का कार्य होना चाहिये। उनके अवतार राम, कृष्ण आदि के अन्दर भी रावण, शिशुपाल

इत्यादि का उनके द्वारा मरना देखा जाता है। रुद्र का कार्य संहार तमोगुण होना चाहिये, लेकिन वे सनत्कुमारों को उपदेश देते देखे जाते हैं तो वहाँ सत्त्वगुण मानना पड़ेगा। इसलिये जब विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा का तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण के रूप से वर्णन करते हैं। तब *आदर्श* ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का वर्णन होता है। व्यवहार में तो उनमें से प्रत्येक में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों मिलेंगे। जब ईश्वर में ही व्यवहारकाल में तीनों गुण मिलेंगे तो उसके प्रतिबिम्ब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में भी ये तीनों गुण कभी शुद्ध मिलने वाले नहीं हैं। ब्रह्मा में रजोगुण के साथ तमोगुण-सत्त्वगुण विद्यमान हैं, विष्णु में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण-तमोगुण भी हैं, रुद्र में तमोगुण के साथ सत्त्वगुण और रजोगुण भी हैं। इसलिये व्यावहारिक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र में तीनों गुण मिलेंगे।

यह भी नहीं कह सकते कि इसमें यह गुण *ज़्यादा* है। यह नहीं कह सकते कि विष्णु में सत्त्वगुण ज़्यादा है, क्योंकि सबसे ज़्यादा राक्षसों को मारने का कार्य विष्णु ने ही किया है इसलिये उनमें सत्त्वगुण की अधिकता नहीं कह सकते ! ज्ञान का उपदेश तो कादाचित्क है। भगवान् कृष्ण ने जीवनभर में केवल उद्धव और अर्जुन को ही उपदेश दिया, लेकिन राक्षस कितने मारे ? कोई ठिकाना नहीं। यह तमोगुण का कार्य है। और रजोगुण का कार्य—विवाह कितने किये ? सैंकड़ों की बात नहीं सोलह हज़ार एक सौ आठ ब्याह किये ! उपदेश केवल दो को ही दिया। इसलिये नहीं कह सकते कि उनमें सत्त्वगुण ज़्यादा था। इसी प्रकार ब्रह्मा का अधिकतर कार्य लोगों को कर्मकाण्ड की शिक्षा देना है; ब्रह्मा

बेचारे कहाँ किसी राक्षस को मारने जाते हैं ? और उनके ब्याह-शादी भी कोई खास-ज़्यादा नहीं हुए। इसी प्रकार अधिकतर समाधि में बैठने वाले रुद्र हैं, इसलिये यह नहीं कह सकते कि उनमें तमोगुण अधिक है।

देवताओं में यह बात समझ ली तो अब उसके प्रतिबिम्ब में समझो : ब्राह्मण में केवल सत्त्वगुण रहेगा, ऐसा भी नहीं और सत्त्वगुण प्रधान रूप से रहे तब वह ब्राह्मण हो, ऐसा भी नहीं। घोर रजोगुण और तमोगुण रहने पर भी वह ब्राह्मण ही है। लेकिन *व्यावहारिक* ब्राह्मण है। पारमार्थिक ब्राह्मण के अन्दर तो केवल सत्त्वगुण है। वह आदर्श हो गया। व्यवहार में जो मिलेगा, उसमें केवल सत्त्वगुण ही नहीं, वरन् सत्त्वगुण गौण भी हो सकता है और रजोगुण, तमोगुण ज़्यादा भी हो सकते हैं। इसी प्रकार जो व्यावहारिक क्षत्रिय मिलेगा, उसमें सत्त्वगुण और तमोगुण ज़्यादा भी मिल सकते हैं, व्यावहारिक वैश्य में सत्त्वगुण और रजोगुण ज़्यादा भी मिल सकते हैं, केवल तमोगुण हो यह बात ही नहीं बल्कि तमोगुण अधिक हो यह भी नियम नहीं है। आदर्श ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को यदि तुम व्यावहारिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में ढूँढोगे तो मिलने वाला नहीं है। यही आधुनिकों की ग़लती है। रजोगुण-प्रधान और तमोगुण-प्रधान भी ब्राह्मण हो सकता है। इतने-मात्र से उसका जाति-परिवर्तन होकर वह क्षत्रिय या वैश्य हो जाये, ऐसा नहीं; वह ब्राह्मण ही रहेगा। जिस प्रकार विष्णु चाहे जितने राक्षसों को मार लें लेकिन वे विष्णु ही रहेंगे। यह नहीं कि मारने लग गये तो उनका नाम रुद्र रख लो ! इतिहास-पुराणों की दृष्टि से सोच लो। रावण जैसा रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति

जल्दी नहीं मिलेगा। वह महान् रजोगुणी था। इतने बड़े राज्य को अकेला ही जीता था, बाप से नहीं मिला था, अपने बाहुबल से जीता था। इतना बड़ा राज्य किया। यह सारा रजोगुण होने पर भी क्या रावण को कहीं क्षत्रिय कहा गया ? भारतवर्ष के सबसे बड़े महायुद्ध महाभारत के प्रधान सेनाध्यक्ष द्रोणाचार्य बने, इतने मात्र से क्या वे क्षत्रिय हो गये ? रात्रि के अन्दर अश्वत्थामा ने पाण्डवों के पुत्रों को पशुओं की तरह मारा, परीक्षित को गर्भ में मारने के लिये भ्रूण-हत्या का प्रयत्न किया, लेकिन क्या उसे कहीं क्षत्रिय या शूद्र कहा गया ? पद-पद पर धर्म के लिये अपने सारे सुखों को छोड़ने वाले और शम-दमादि की मूर्ति युधिष्ठिर को कहीं ब्राह्मण कहा गया ? इन गुणों के कारण उन्हें ब्राह्मण कोटि में गिनना चाहिये था लेकिन नहीं गिना गया। ब्रह्मज्ञान लेने के लिये और उसकी दृढता के लिये शुकदेव जिसके घर गये वह जनक क्या कहीं ब्राह्मण कहे गये ? यद्यपि उनकी ब्रह्मनिष्ठा में कोई कमी नहीं थी। तुलाधार वैश्य के पास ब्राह्मण शिक्षा लेने गये और तुलाधार ने उपदेश दिया है; उस तुलाधार को कितना उत्तम कोटि का ज्ञान होगा, कितनी उसकी शांति-दांति होगी ! जितने ब्राह्मण के गुण गिनाये गये हैं वे सब उसमें हैं लेकिन वह वैश्य क्या कहीं ब्राह्मण कहा गया है ? विदुर सब प्रकार के ज्ञानों से परिपूर्ण थे, उनके ज्ञान में कहीं कमी नहीं थी। विदुर-नीति के अन्दर विदुर ने धृतराष्ट्र को सारा उपदेश किया लेकिन क्या इतने मात्र से विदुर को ब्राह्मण माना गया है ? यदि गुण या कर्म मात्र से परिवर्तन मानते होते तो ये सारे परिवर्तन देखे जाते। ब्राह्मण रजोगुण-प्रधान होने पर भी ब्राह्मण और तमोगुण-प्रधान होने पर भी ब्राह्मण

ही रहेगा। सत्त्वगुण-प्रधान होने पर या तमोगुण-प्रधान होने पर भी क्षत्रिय तो क्षत्रिय ही है। सत्त्वगुण-प्रधान हो या रजोगुण-प्रधान, वैश्य भी वैश्य ही है।

कर्म-प्रविभाग का क्या मतलब है ? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर सूत्र भाष्य में इसका जवाब देते हैं। 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते।' कहते हैं कि शास्त्र ने जिस आदर्श को जिसके सामने रख दिया वह उसका धर्म हो गया। कोई किसी काम को अच्छी तरह से कर सके इससे वह उसका धर्म नहीं हो जाता। जैसे औरत का धर्म बच्चों को पालना है। कोई आदमी औरत से ज़्यादा अच्छी तरह से बच्चों को पालता है, ऐसे आदमियों को हमने खुद देखा है। औरत इतने प्रेम से बच्चों को नहीं नहलाती जितने प्रेम से वह आदमी नहला लेता है। इतने मात्र से क्या आदमी का धर्म बच्चों को पालना हो जायेगा ? जिसका जिसके लिये विधान है वही उसका धर्म होता है। कोई किसी काम को अच्छी तरह कर सकता है इतने मात्र से वह उसका धर्म नहीं बन जाता।

तुमने मुनीम जी को हिसाब ठीक रखने के लिये रखा है। मुनीम जी बड़े सत्संगी हैं, विचारसागर पढ़ा सकते हैं। तुम कहो 'मैंने तुमसे मंगलवार तक हिसाब तैयार कर देने को कहा था, आज बुधवार हो गया, हिसाब तैयार क्यों नहीं कर रहे हो ?' मुनीम जी कहें 'हिसाब तो तैयार कर लूँगा लेकिन मुझसे ज़रा विचारसागर की पंक्तियाँ तो समझकर देखो, कितना बढ़िया पढ़ाता हूँ।' तो कहोगे—'मुनीम जी ! तुम्हें हिसाब के लिये रखा है, विचारसागर पढ़ाने के लिये नहीं। जब पढ़ाने का काम आये

तब पढ़ा देना।' तुमने मंगल तक हिसाब तैयार करने को कहा, वह समय से तैयार करके दे दे और फिर कहे कि 'विचारसागर सुना दूँ ? देखिये, क्या आनंद आता है ?' तो तुम उस पर विशेष श्रद्धा करोगे। दूसरा मुनीम काम करके देता है और घर चला जाता है जबकि यह काम करके ऊपर से सत्संग भी सुना देता है—इससे उस पर अधिक श्रद्धा तो हो जायेगी, लेकिन मुनीमी नहीं जाने तो किस काम का !

जब स्वतंत्रता मिली तब बंगाल में प्रफुल्लचंद्र घोष मुख्यमंत्री बने। वे बड़े भले आदमी थे। उनके जैसा ईमानदार और भला आदमी नहीं मिलेगा। लेकिन वह काम करना नहीं जानते थे ! सचिव लोग आकर उन्हें बात समझायें लेकिन उनकी समझ में ही न आये। जब तक समझ में न आये तब तक दस्तखत कैसे करें ? थोड़े दिनों में राज्य ढीला पड़ने लगा। वे थे बड़े भले आदमी, उनकी ईमानदारी में भी कोई शक नहीं, लेकिन उन्हें किसी मठ का मठाधिकारी तो बनाया नहीं था जो सीधाई से काम चले ! मुख्यमंत्री बनाया था, इसलिये शासन करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। भले आदमी हो, बढ़िया बात है, पर बढ़िया शासन करो। यदि शासन करने में ही समर्थ नहीं तो तुम्हारी भलमनसाहत जनता के किस काम की ? वह मुख्यमंत्री पद के लिये फालतू है। इसी प्रकार कोई व्यापारी बड़ा भला आदमी हो लेकिन जो सौदा करे उसमें घाटा ही खाये,हो बड़ा ईमानदार, कभी झूठ भी नहीं बोले, लेकिन वह किस काम का व्यापारी हुआ ? यदि व्यापार सफलतापूर्वक करते हुए एक और ज़्यादा गुण है कि बड़ा भला आदमी है तो बड़ा अच्छा है।

जो जिसके प्रति विधान किया जाये वही उसका धर्म होता है। अच्छी तरह से कर सके—इतने से वह उसका धर्म नहीं होता है। ब्राह्मण के लिये जिस आदर्श का विधान किया गया उस आदर्श की तरफ ब्राह्मण को चलना है, उस आदर्श को अपने जीवन में प्रतिबिम्बित करना है, उसे अपने जीवन में उतारना है। जितना वह उस आदर्श को जीवन में उतार पायेगा उतना ही वह श्रेष्ठ ब्राह्मण होगा। उसमें यदि क्षत्रिय, वैश्य के धर्म उतारने की सम्भावना भी हो तो उसके उतारने से वह श्रेष्ठ नहीं बन पायेगा। आदर्श के अनुसार ही मनुष्य की परीक्षा होगी और निर्णय होगा। दूसरे गुण उसमें नहीं हैं, यह नहीं कहते हैं। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने 'स्वभावप्रभवैः गुणैः' का पहला अर्थ तो आदर्श किया।

उसी श्लोक के भाष्य में आगे विकल्प करते हैं कि यदि व्यवहार से इसका अर्थ करो तो 'जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेन अभिव्यक्तः स्वभावः।' व्यावहारिक दृष्टि से स्वभाव का मतलब जन्मान्तरकृत संस्कार हैं। पूर्व जन्म के अन्दर जो संस्कार बने हैं, वे ही स्वभाव बनते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म में सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन नहीं आता, केवल स्थूलदेहमात्र बदल जाता है। सूक्ष्म शरीर ही अगले जन्म में जाता है। बहुत-से लोग पूछते हैं 'मनुष्य जन्म को बड़ा दुर्लभ मानते हैं। आजकल तो मनुष्यों की जनसंख्या बहुत ज़्यादा बढ़ रही है, तो इसका मतलब है कि लोगों के अच्छे कर्म उदय हुए होंगे ?' हम कहते हैं कि मनुष्य जन्म एक तरह का 'जंक्शन' है जहाँ दो रेलें मिलती हैं। एक रेल स्वर्ग से आती है और दूसरी

रेल नरक से आती है। एक रेल देवताओं से आती है और दूसरी पशुओं से आती है। जिस प्रकार दिल्ली जंक्शन में किसी समय कलकत्ते से राजधानी एक्सप्रैस पहुँचती है तो बढ़िया सुन्दर कपड़े पहने हुए, सूटकेस हाथ में लिये हुए और छोटी-सी अटैची लिये हुए निकलते हैं; उस समय लगता है कि यह कैसे आधुनिक लोगों का स्टेशन है। तुम्हारी गाड़ी शाम को जाने वाली है, इसलिये तुम दो घण्टे तक स्टेशन पर बैठे रहे। तब तक मारवाड़ से जनता एक्सप्रैस वहाँ आती है। उसमें से लोग उतरते हैं तो किसी के साथ छह बच्चे हैं, जिनमें किसी की नाक बह रही है तो किसी की आँख बह रही है। उन सबको देखकर तुम सोचते हो कि अभी यह स्टेशन अच्छा लग रहा था और अब यह स्टेशन गंदा हो गया। लेकिन यह स्टेशन अच्छा या गंदा नहीं है, यह तो जंक्शन है। इसलिये किधर से गाड़ी आई है, उससे सफाई-गंदगी का अंतर आयेगा, उतरने वाले तो सारे ही यात्री हैं।

इसी प्रकार इस युग के अन्दर जो मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ रही है, यदि उनकी तरफ दृष्टि डालते हैं तो पता लगता है कि किसी को मांस खाना, किसी को अण्डे खाना अच्छा लगता है, किसी को शराब पीना अच्छा लगता है, किसी को टैक्स की चोरी करना अच्छा लगता है, किसी को झूठ बोलना अच्छा लगता है, किसी को पुत्र-पिता में परस्पर झगड़ा करके धन कमाना अच्छा लगता है। जब चारों तरफ दृष्टि डालते हैं तो सोचते हैं कि यह नरक और पशुओं की तरफ से आने वाली गाड़ी आई हुई है। स्टेशन तो भरा है, लेकिन यह गाड़ी नरक से ही आई है।

विचार करो तो वस्तुतः मनुष्य जीवन के अन्दर कोई

विलक्षणता नहीं है। जैसा सूक्ष्म शरीर पूर्व जन्म में कर्म करते हुए आया है वैसा ही यहाँ पर भी करेगा। वर्तमान जन्म के अन्दर वे ही संस्कार जिस कार्य को तुम पूर्व जन्म में छोड़ आये, उसी को आगे प्रकट करेंगे। जो संस्कार अभिव्यक्त हो गये, वे ही स्वभाव हैं। अगर ऐसे कुल में उत्पन्न होता है जहाँ माता-पिता ब्राह्मण हैं तो यह पता लगा कि उसके अन्दर ब्राह्मण के गुण को पूर्ण करने वाले संस्कार अभिव्यक्त हुए हैं। उस अभिव्यक्ति के कारण ही वैसे ही घर में तुम पैदा हुए हो। जैसे जो आई०ए०एस० की परीक्षा में पास हो गया उसे आई०ए०एस० अफसर, प्रशासक बना दिया गया। आगे वह अच्छा, बुरा, चोर, ठग निकलता है, यह विषय दूसरा है। उसी प्रकार से जिसको ब्राह्मण के आदर्श को पूर्ण करने की आवश्यकता थी, वह ब्राह्मणी में ब्राह्मण के द्वारा उत्पन्न कर दिया गया। उसी आदर्श को अपने पूर्व जन्म में सामने रखा था, इसीलिये वहीं आकर पैदा हुआ। उसकी अंतिम अभिलाषा वही थी जिसको पूर्ण करने के लिये वह ब्राह्मण के घर में आया। आगे अच्छा ब्राह्मण बने, बुरा बने, चोर या ठग बन जाये, यह दूसरा विषय है। उसकी सफलता किससे मानी जायेगी? जिन आदर्शों को लेकर वह आया है उसे पूरा किया तो वह सफल हुआ और उस आदर्श को पूरा नहीं किया तो असफलता है।

दूसरे दृष्टांत से समझ लो; तुम घर से पाँच सौ रुपये लेकर अपनी बहू के लिये बढ़िया साड़ी लेने को चले थे कि करवा चौथ को उसे देंगे। बाजार की चकमक और जगमगाहट देखी तो उसके चक्कर में तुम साड़ी तो भूल गये और जो रुपया बहू के लिये साड़ी खरीदने को लाये थे, उससे बजाय साड़ी खरीदने के तुमने

बढ़िया सुन्दर टी सैट देखा और उसी को खरीद लिया। वह पाँच सौ पचास रुपये का सैट तुम्हें पाँच सौ में मिल भी गया। घर लेकर आये। घरवाली पूछती है तो कहते हो कि 'साड़ी तो नहीं लाया, बढ़िया टी-सैट सस्ता मिल गया, इसी को ले आया।' वह पूछती है 'फिर आज बहू को क्या दोगे ?' लेने क्या गये थे और क्या ले आये ! विचार करो कि क्या बढ़िया माल लाने मात्र से पत्नी प्रसन्न हो जायेगी ? वह कहेगी कि जिस मतलब से गये थे, वह तो नहीं किया और दूसरे काम चाहे जितना बढ़िया से बढ़िया कर आये, उससे क्या फ़ायदा ?

इसी प्रकार तुमने ब्राह्मण के आदर्श को पूर्ण करने का पूर्व जन्म में जो संकल्प किया इसके कारण परमात्मा ने तुमको ब्राह्मण के घर जन्म दिया। उस आदर्श को पूरा करना था लेकिन तुमने वह छोड़कर एक दुकान खोली और बहुत बढ़िया व्यापार किया और सब लोगों ने प्रशंसा की कि बड़े सफल व्यापारी हो। जब वापिस जाओगे तो परमात्मा पूछेंगे 'तुम तो वहाँ ब्राह्मण के आदर्श को प्रकट करने गये थे, क्या पूरा कर आये ?' कहोगे—'मुझे व्यापार करना बढ़िया आता था, आप ही बताइये मैंने व्यापार सुन्दर किया या नहीं ?' भगवान् कहेंगे 'वैश्य का काम तो तुमने बढ़िया किया लेकिन तुम्हें क्या सौदा खरीदने भेजा था ?' जिसका जिसके प्रति विधान किया गया, वही उसका धर्म है, जिसे अच्छी तरह कर सके, इतने मात्र से वह उसका धर्म नहीं होता। ब्राह्मण आया है तो उसमें रजोगुण, तमोगुण भी होगा, लेकिन यदि वह ब्राह्मण के धर्म को पहले से ज़्यादा अच्छा कर गया तब उसका जीवन सफल है, चाहे दूसरे काम भी उसने किये। पाँच सौ रुपये की

साड़ी लेने गया हुआ यदि चार सौ रुपये की बढ़िया साड़ी भी ले आया और एक सुन्दर कटलरी सैट भी सौ रुपये में खरीद लाये तो पत्नी प्रसन्न होगी कि जो काम करने गये थे, वह भी किया और साथ में दूसरी अच्छी चीज़ भी ले आये। लेकिन मूल काम भूल गये तो गड़बड़ है। इसी प्रकार ब्राह्मण का आदर्श पूर्ण करने का प्रयत्न किया और पूरा भी किया, साथ में तुमने क्षत्रिय, वैश्य की क्रिया भी कर ली तो कोई हर्जा नहीं। लेकिन यदि अपने मूल आदर्श को भूल गये तो गड़बड़ हो गया।

जैसे ब्राह्मण के विषय में वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में समझ लो। यदि तुमने यह निर्णय किया कि 'मैं तो संसार के पदार्थों के शोक-मोह में ऐसा फँसा हुआ हूँ कि मेरा काम तो आदर्श को भूलना ही है', तो भी ब्राह्मण हो तो क्षत्रिय नहीं बन सकते और क्षत्रिय से ब्राह्मण नहीं बन सकते। क्षत्रिय यदि धन-लोभ से कहीं अध्यापक बन जाता है तो वह क्षत्रिय से ब्राह्मण नहीं, बल्कि शूद्र बन जाता है। पहले ही बता आये हैं कि शूद्र बनने का अधिकार सबको है। तुमने कह दिया 'हे परमात्मा ! मैंने तुझे वरण किया है, तू ही मेरी बुद्धि प्रवृत्त कर।' ईश्वर ने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की तरफ तुम्हें प्रवृत्त किया लेकिन तुमने कहा—'नहीं जी, मैं तो खुद ही प्रवृत्ति करूँगा। जो मुझे अच्छा लगता है, वही करूँगा।' ऐसा करने वाला तो शूद्र है। ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है और क्षत्रिय, वैश्य भी शूद्र हो सकता है, लेकिन ब्राह्मण क्षत्रिय, क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। शूद्र अपने जीवन में ब्राह्मण की शुश्रूषा कर सकता है जैसे जो क्षत्रिय अध्यापक है, वह शूद्र होकर ब्राह्मण की शुश्रूषा कर रहा है क्योंकि शूद्र का अपना कोई धर्म

नहीं है। शूद्र का धर्म बताया इन वर्णों की, अर्थात् आदर्शों की उसे नकल करनी है। उसका अपना कोई अलग धर्म नहीं है। वह ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य के आदर्श की नकल करे। यदि कोई क्षत्रिय अपना धर्म छोड़कर अध्यापक बना तो वह शूद्र होकर ब्राह्मण के धर्म की शुश्रूषा कर रहा है।

युधिष्ठिर नित्य-निरंतर धर्म के अन्दर, शम, दम आदि में लगे रहते थे, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन युद्ध के मैदान में महारथियों में गिनाये गये हैं। महारथी रहते हुए शम, दम आदि का पालन करते थे। इसलिये क्षत्रिय रहते हुए उन्होंने ब्राह्मण के बिम्ब का भी अनुकरण किया, क्षत्रिय बने रहे। द्रोणाचार्य इतने बड़े सेनाध्यक्ष का काम करते हुए भी अपने अग्निहोत्र को नहीं छोड़ते थे। उनका कहना था 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः' मेरे आगे तो वेद की ऋचायें चलती हैं, वे आँखों से कभी ओझल नहीं होतीं। उन ऋचाओं का स्मरण करते हुए ही मैं युद्ध करता हूँ। वे अग्निहोत्र का परित्याग कभी नहीं करते थे। ब्राह्मण के धर्म का पूर्ण पालन करते हुए क्षत्रिय का धर्म भी किया, इसलिये उनके धर्म-परित्याग का प्रश्न ही नहीं आया। इसी प्रकार तुलाधार वैश्य ने इतना सुन्दर उपदेश करते हुए भी कभी अपने वाणिज्य को नहीं छोड़ा, इसलिये वैश्य ही रहे। यह नहीं कि अपना धर्म छोड़कर शूद्र बन गये हों। इसलिये अपने आदर्श को पूरा करते हुए यदि किसी दूसरे कार्य को भी करते हो तो कोई हर्ज़ा नहीं है, वह तुम्हारे लिये गुण की बात है। जैसे मुनीम हिसाब ठीक रखते हुए यदि विचार-सागर भी पढ़ाता है तो कोई हर्ज़ा नहीं, बल्कि अच्छा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये आदर्श हुए। जिस आदर्श

की प्राप्ति के लिये हम यह जन्म लेकर आये हैं उस आदर्श को पूर्ण करने के लिये प्रवृत्ति करते रहना है, उसको करते हुए अन्य धर्म भी हो जायें तो कोई हर्जा नहीं।

ब्राह्मण बिम्बस्थानीय है और बाकी सारे उसका प्रतिबिम्ब हैं। वेदांत की भाषा में समझ लो : देहादि के अन्दर अहंता आती है। लेकिन क्या देह आदि में ब्रह्म को अहंता आती है ? साक्षी को देह आदि में अहंता नहीं है। साक्षी का प्रतिबिम्ब तो केवल अहंकारात्मिका वृत्ति में है, और कहीं नहीं है। अहंकारात्मिका वृत्ति फिर देह आदि से सम्बन्धित होती है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मन में पड़ा। मन में जब 'मैं' हो गया, तब शरीर के साथ उसका सम्बन्ध हुआ। सीधा 'मैं' का सम्बन्ध शरीर से नहीं हुआ। मन (अन्तःकरण) सत्त्वगुण से बना है, इसलिये ब्रह्म का साक्षात् प्रतिबिम्ब तो सत्त्वगुण में पड़ा और उस सत्त्वगुण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब फिर रजोगुण, तमोगुण में जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म का समाजपुरुष में साक्षात् सम्बन्ध ब्राह्मण से है। ब्राह्मण का प्रतिबिम्ब फिर क्षत्रिय, वैश्य में गया। इससे क्या आया ? क्षत्रिय, वैश्य भी ब्राह्मण के गुणों को तो अपने अन्दर लाने का प्रयत्न करें ही, इसलिये गीता में बताये गये ब्राह्मण के गुण सबको करने हैं। फ़र्क यह है कि ब्राह्मण तो उनको करने में ही लगे और क्षत्रिय, वैश्य जितना उसको कर सकें, उतना करें। ब्राह्मण के ही गुण फिर एक बार गिना देते हैं। शम—अंतःकरण पर नियंत्रण, दम—इन्द्रियों का निग्रह, तप—कष्ट सहना, शौच—शरीर को साफ रखना, क्षान्ति—कोई अपराध करे तो क्षमा करना, आर्जव—सरलता, हृदय में कुटिलता न रखना, ज्ञान—वेद आदि सच्छास्त्रों का

अध्ययन, विज्ञान—परमात्मा का ध्यान आदि करना, आस्तिक्य—गुरु, ईश्वर और वेदवाक्य में विश्वास रखना। इनमें से कोई कर्म ऐसा नहीं जो क्षत्रिय-वैश्य को न करने हों। शूद्र के लिये पहले ही बता दिया कि वह तो तीनों में से किसी की भी नकल कर सकता है। इसलिये शूद्र तो ब्राह्मण के इन धर्मों को अपने जीवन में ला ही सकता है। क्षत्रिय, वैश्य के धर्म अलग होने पर भी वे ब्राह्मण के धर्मों का पालन कर सकते हैं और करें ही, जितना करेंगे उतना ही उन्हें श्रेष्ठ माना जायेगा। यदि नहीं कर पायेंगे तो क्षत्रिय, वैश्य को दोष से छूट रहेगी लेकिन ब्राह्मण इनमें जितना नहीं कर पायेगा, उतना ही निन्दा का विषय होगा, कर पाये तो ख़ास बात नहीं क्योंकि यह उसका धर्म है। क्योंकि ब्राह्मण बिम्ब है इसीलिये भगवान् ने उसके वे ही धर्म गिनाये जिनका अनुकरण सबको करना उचित है।

क्षत्रिय के जो धर्म गिनाये गये हैं वे ब्राह्मण की अपेक्षा सीमित हैं, सबके करने के नहीं हैं।

'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।'

शौर्य—बहादुरी। बहादुरी का मतलब यह नहीं है कि हर समय लड़ने को तैयार रहे वरन् भयंकर से भयंकर परिस्थिति और विरोधी आ जाये तो उसमें दिल छोटा न करे, जैसे 'हाय ! चीन इतना बड़ा देश, वहाँ साठ करोड़ आदमी, हम कैसे जीतेंगे ? चलो भाई, थोड़ा तिब्बत ले लो, मैक्मोहन लाइन ले लो, लड़कर तो हम बर्बाद हो जायेंगे, इसलिये चुपचाप बैठो।' क्षत्रिय देखता है : साढ़े

तीन करोड़ की जनसंख्या वाला जापान हरयाणा जितना बड़ा है। उस जापान ने चीन, दक्षिणपूर्व एशिया, इंग्लैंड और फ्रांस को हरा दिया। हम तो छप्पन करोड़ हैं, एक हरयाणा नहीं पचासों हरयाणा जितनी हमारी ज़मीन है। हम उस चीन से कैसे डर जायें ? क्षत्रिय में शौर्य हो तो डर कभी नहीं होता।

तेज—युद्ध करने में तेज चाहिये। तेज का मतलब क्या होता है ? जिसने पहली मार मारी, समझ लो कि रुपगे में दस आने बाजी उसने मार ली। और जो पहले ही सोचता रहे कि 'पहले यह मार करे तब आगे विरोध करूँ' उसे शुरू में जिसने थप्पड़ मारा वही भारी पड़ेगा। बनिया कहता है कि 'अब के मारे तो जानूँ।' दूसरी बार मार खाकर भी वही कहता है ! क्योंकि उससे कभी थप्पड़ मारी तो जानी नहीं है। हमारे भी राष्ट्रपिता बनिये हैं। पाकिस्तान ने पहले कश्मीर की थप्पड़ मार ली तो कहा कि 'अब के मारे तो जानें।' उसने दूसरी भी मार ली, एक करोड़ शरणार्थी यहाँ भेज दिये, कहते हैं कि 'अब के मारो तो जानें, आगे नहीं मारने देंगे।' इसका कारण यही है कि तेज नहीं है।

धृति—जिस क्षत्रिय में धैर्य नहीं वह अधीर हो जायेगा। किसी ने थोड़ा मारा तो हाथ-पैर ढीले पड़ जायेंगे, जैसे चीन ने आक्रमण किया तो हाथ-पैर ढीले पड़ गये। हिटलर रूस की राजधानी के चारों तरफ छह महीने तक फौज लेकर अड़ा रहा लेकिन स्टालिन के मन में यह प्रश्न ही नहीं आया कि 'हार जायेंगे', 'ज़रूर जीतेंगे'—यही भाव रहा। इसका नाम धैर्य है। दक्षता—कुशलता। 'युद्धे चाप्यपलायनम्'—युद्ध में कभी भी पीठ न दिखाना। कभी भी युद्ध छोड़ना नहीं।

इन सब गुणों का यदि मूर्तरूप देखना हो तो महाराणा प्रताप में देखो। शौर्य इतना कि मुसलमानों की शरणागत हुए सारे भारत के राजा चढ़कर आये। भयंकर परिस्थिति हो गई। अभी तक वह स्थान है जिसके चारों तरफ घोर जंगल है और बीच में एक जगह साँकल पकड़कर उतरना पड़ता है। वहाँ उन्होंने नौ महीने बिताये। वहाँ भगवान् शंकर का मन्दिर और तालाब है। खुद, घर के बच्चे और पत्नी केवल छह प्राणी वहाँ रहे। वहीं की प्रसिद्ध और सच्ची कथा है : एक बार सात दिन भूखे रहने के बाद उन्होंने घास पीसकर बच्चों के लिये उसकी रोटियाँ बनाईं। इतने पर भी उनके शौर्य में कमी नहीं आई। अकबर आखिर उन्हें कहता क्या था ? इतना ही कहता था कि 'तू पूरा राज्य रखे रह, केवल इतना कह दे कि मैं बादशाह हूँ।' लेकिन महाराणा का कहना था 'अकबर ! तू तुर्क है तो तुर्क ही कहा जायेगा, चाहे जितना बड़ा राज्य कायम कर ले। लेकिन तू हमारा राजा नहीं हो सकता, बाहर से आया हुआ तुर्क ही है।' कितना धैर्य है !

क्षत्रिय का धर्म है कि भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी कभी युद्ध से न भागे, दान करे और हमेशा अपने अन्दर ईश्वर-भाव रखे कि जिस प्रकार ईश्वर शासन करता है उसी प्रकार मैं भी शासन करूँगा। दूसरों के सामने उससे खुशामद नहीं होती है। महाराजा पृथ्वीराज के चाचा काका काहन थे। एक बार किसी बात पर उन्हें गुस्सा आ गया और सभा में ही उस ग़लत बात कहने वाले का उन्होंने सिर काट दिया। पृथ्वीराज ने बुलाकर कहा, 'काका जी ! यह क्या किया ?' उन्होंने कहा—'तू जानता है कि वह बड़ा नालायक था, इसलिये मैंने उसे मार दिया।' पृथ्वीराज

ने कहा कि राजदण्ड देने की एक प्रक्रिया होती है, सब अपनी मर्जी से दण्ड देने लगें तो व्यवस्था बिगड़ जायेगी।' काका कहने लगे, 'मुझसे कोई ग़लत बात करेगा तो मैं मार दूँगा।' पृथ्वीराज ने कहा—'इससे तो सभा का ढंग खराब हो जायेगा।' उन्होंने कहा 'मेरी आँखों के आगे पट्टी बाँध दे। आँख से ग़लत बात करने वाले को देखूँ और न मारूँ, यह नहीं हो सकता।' तबसे वे आँखों पर पट्टी बाँधे रहते थे। केवल युद्ध के समय उनकी पट्टी खोली जाती थी, बाकी समय पट्टी बँधवा लेते थे, क्योंकि नालायक सामने आये और उसे छोड़ दें, यह कैसे हो सकता है ! यह ईश्वर-भाव है। ये क्षत्रिय के गुण हैं।

'कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजं'—'स्वभावजं' पद सब जगह है। यही दूसरे धर्मशास्त्रों से गीता की विचारधारा का फ़र्क है। गीता उन आदर्शों को बताती है जिसे अपने जीवन में प्रकट करना है। वैश्य का धर्म कृषि है अर्थात् अन्न पर ध्यान देना और दूध इत्यादि आवश्यक चीज़ों का ख़्याल रखना अर्थात् खान-पान की चीज़ों को बढ़ाना और भी जनता की वस्त्र आदि की जो आवश्यकतायें हैं, उनको पूरा करना है। जैसे क्षत्रिय का धर्म केवल अपने राज्य को बढ़ाना नहीं है, वैसे ही वैश्य का धर्म केवल अपने रुपये बढ़ाना नहीं है। बहुत लोग ऐसा सोचते हैं कि हम बनिये हैं, पैसा कमा रहे हैं तो अपना धर्म कर रहे हैं। लेकिन भगवान् ने यह नहीं कहा। कृषि को बढ़ाना कहा है, कृषि से *धन* को बढ़ाना नहीं कहा है ! यहाँ 'धन' कहीं भी नहीं कहा है। गोरक्षा करना; यह नहीं कहा कि उसके द्वारा धन को बढ़ाओ। इसी प्रकार कहा 'वाणिज्यम्' व्यापार बढ़ाये। 'व्यापार बढ़ाने' का

मतलब व्यापार से *धन* बढ़ाना नहीं है। यह ठीक समझना। वैश्य समझता है कि वाणिज्य के द्वारा हमें रुपया कमाने की छूट मिल गई, जबकि वहाँ धन का नाम ही नहीं लिया है।

'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं'—शूद्र का कर्म तीनों वर्णों की परिचर्या करना है।

यह चातुर्वर्ण्य की दृष्टि है। इसमें ब्राह्मण तमोगुणी या रजोगुणी भी हो सकता है, और क्षत्रिय सत्त्वगुणी या तमोगुणी हो सकता है। लेकिन वह स्वभावज कर्मों को जितना अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करेगा, जितना उस आदर्श को जीवन में उतारेगा, उतना ही वह श्रेष्ठ बनेगा, नहीं तो अश्रेष्ठ रहेगा। यह नहीं हो सकता कि ब्राह्मण दूसरे आदर्श का अनुसरण करे तो क्षत्रिय बन जाये। दूसरे आदर्शों का अनुसरण करने पर शूद्र ही बना जाता है।

प्रवचन - ६७

समाजपुरुष का वर्णन किया। समाजपुरुष के चार अंग, उन चारों अंगों का आदर्श की दृष्टि से क्या भेद है और उनका व्यवहार में कैसा प्रकटीभवन है, ये दोनों बातें बताईं। आदर्श-दृष्टि से ईश्वर की त्रिगुणात्मिका प्रकृति के द्वारा त्रिवर्ण और सर्वथा आच्छादित प्रवृति के द्वारा चतुर्थ एकजाति को बताया। यह पुरुषसूक्त पुरुषमेध यज्ञ का अंग है। पुरुषमेध यज्ञ के अंदर पुरुषपशुओं को निरूढ करके फिर उनका प्रोक्षण करते समय इन मंत्रों का

प्रयोग है। पुरुष-यज्ञ के अन्दर प्रोक्षणानंतर कौन-सा पशु किस देवता की बलि के लिये है, इसका वर्णन किया है। यजुर्वेद संहिता में पुरुषसूक्त इकतीसवाँ अध्याय है, उसके पहले तीसवें अध्याय में कहा कि किस की किस देवता के लिये बलि है। पुरुषमेध यज्ञ के अन्दर अलग-अलग खम्भों के साथ अलग-अलग पुरुषयज्ञ के पशुओं को बाँधा गया। किस पुरुष की किस देवता के लिये बलि देनी है, इसका वहाँ निरूपण किया। उस निरूपण के पहले कहा कि सारे पुरुषों को हम अलग-अलग भागों में बाँटते हैं, यह यज्ञ की प्रक्रिया है। कभी श्रौत यज्ञ देखा होगा तो समझोगे।

'विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्।।'

पुरुषमेध यज्ञ में पुरुष की बलि देनी है। बलि मायने गर्दन काटना ही नहीं है ! बलि का मतलब होता है अपने सुखों को छोड़ देना। जैसे कहते हैं कि 'वह राष्ट्र के लिये बलि हो गया।'

यह याद रखना कि वैदिक पुरुषयज्ञ का पुरुष बनना और बलि देना मरने की अपेक्षा बहुत कठिन है, क्योंकि जोश में आकर एक मिनट में मर जाना सरल है लेकिन होश में रहते हुए तिल-तिल करके आदर्श के लिये अपने जीवन में प्रतिक्षण मरना बड़ा कठिन है। आदमी का किसी लड़की से प्यार हो जाता है पर ब्याह नहीं होता है तो वह आदमी मजनूँ के टीले से या कुतुब मीनार से कूदकर मर जाता है। लोग उसकी बड़ी तारीफ करते हैं कि 'उसका कितना बड़ा प्यार था कि उसके लिये मर गया।' लेकिन रहस्य की बात यह है कि यदि उसके माता-पिता ने उससे ब्याह का विरोध न

किया होता और उनकी शादी हो गई होती तो साल भर में ही थोड़ा-बहुत झगड़ा होना शुरू हो गया होता और छह साल में तो खुलकर लड़ाई करते। यह सच्ची बात है। अष्टम एडवर्ड ने इंग्लैंड की राजगद्दी मिसेज़ सिम्पसन से ब्याह करने के लिये छोड़ दी, वह भी सन् ३७ में जब इंग्लैंड का पूरा वैभव था। उस युग में भारतवर्ष में बड़ी कवितायें लिखी गईं कि उसका प्रेम कितना बड़ा है। दोनों अभी तक ज़िन्दा हैं और जिस होटल में जाकर ठहरते हैं, अलग-अलग कमरे में ठहरते हैं। एक-दूसरे की बातें पसन्द नहीं करते। इसका क्या कारण है ? एक बार जोश में आकर कुतुबमीनार पर चढ़कर कूद जाना सरल है, लेकिन होश में रहते हुए जिससे प्रेम करते हो, क्षण-क्षण में उसकी इच्छा के अनुरूप बनना कठिन है। इसी प्रकार यदि हम कहें कि धर्म के नाम पर तुम्हारी गर्दन को कटाना है तो लोग खड़े हो जायेंगे कि एक बार कट जाये; लेकिन धर्म का पालन करते हुए क्षण-क्षण में विपत्तियों का सामना करना हो—तो कहते हैं कि यह काम नहीं होने का है। वेद एक झटके में मारने वाली बलि को नहीं कहता। वेद की बलि तो उन आदर्शों का पालन करने के लिये क्षण-क्षण में तिल-तिलकर मरना है।

पुरुषमेध यज्ञ में पुरुष की बलि है। किस पुरुष की किस आदर्श के लिये बलि है—यह सारा प्रकरण पुरुषमेध यज्ञ में बताया है। यह सारी बलि किसके लिये है ? कहा, 'सवितारं हवामहे' इस सृष्टि को उत्पन्न करने वाले परब्रह्म परमात्मा के लिये ही यह बलि देनी है। सविता मायने इस सृष्टि को उत्पन्न करने वाला परमात्मा। वह कैसा परमात्मा है ? बड़ा विलक्षण विशेषण दिया

है 'नृचक्षसम्'। नृचक्ष–प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति को देखने वाला साक्षी; नृ–मनुष्य को चक्ष अर्थात् हर क्षण देखने वाला। हमारे मन में कोई वृत्ति बने और वह न देखे यह नहीं हो सकता। उससे छिपाने का प्रयत्न वैसे ही व्यर्थ है जैसे कोई किसी रूप को रोशनी द्वारा छिपाने की चेष्टा करे। रोशनी से किसी का रूप नहीं छिपाया जा सकता। इसी प्रकार 'परमात्मा को कुछ पता न लगे और मैं कुछ कर लूँ' यह कभी नहीं होने वाला है। लोग सबसे ज़्यादा धोखा भी परमात्मा को ही देना चाहते हैं! सोचते हैं कि उसके आँख, कान, नाक तो कुछ हैं नहीं, उसको क्या पता लगेगा? कहते हैं–'हे परमात्मा तू सर्वज्ञ है', लेकिन व्यवहार करते हैं मानो वह साधारण कल्लू जितनी अकल रखने वाला भी नहीं है। दस दिन पहले जो मन्दिर जाने वालों की निन्दा करेगा, दस दिन बाद वही मुकदमे का प्रसंग आने पर मन्दिर जाकर इक्यावन रुपये की प्रसादी बोलेगा। उसे दृढ विश्वास है कि उस परमात्मा को क्या पता कि दस दिन पहले मैंने उसकी निन्दा की थी। हृदय में सब यही समझते हैं कि उसमें कल्लू जितनी भी अक्ल नहीं है। इसलिये वेद ने आगाह कर दिया 'सवितारं नृचक्षसम्।' इस पुरुषयज्ञ के अन्दर यह याद रखना कि इसका देवता इन्द्र, वरुण यम आदि कोई साधारण नहीं, साक्षात् साक्षी पुरुष है।

उस साक्षी पुरुष के लिये क्या करें? इसने हम पुरुषों को अनेक आदर्शों के लिये विभक्त अर्थात् अलग-अलग कर रखा है। गीता में भगवान् ने इसी मंत्र के आधार पर कहा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' समाज के भागों को 'मया सृष्टं' मैंने ही बाँटा है। गीता में कहीं भगवान् ने यह नहीं कहा कि 'समाज

वाले आपस में मिलकर एक-दूसरे को बाँटे देना।' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में बताया कि 'यह इस जन्म के गुण-कर्म को लेकर नहीं कहा बल्कि कहा कि 'प्रत्येक जीव के गुण-कर्म का विचार करके मैंने ही सृष्टि की।' गीता में 'मैं' का अर्थ परमात्मा होता है। यहाँ वेदमंत्र कहता है कि 'उसने हम सबको विभक्त किया है अर्थात् अलग-अलग कामों के लिये बाँटा है।' कौन-सा काम हमको दिया है ? पूर्व जन्म की हमारी जो इच्छायें थीं, जो आदर्श हमारे सामने था, उसको ही पूरा करने का मौका हमें दिया। उन्होंने विभाजन किया। हमें उन्होंने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अन्दर बसाया। हम जहाँ पैदा हुए, वहीं तो बसते हैं। किसी को उसने विद्वान् के घर में, किसी को राजा के घर में बसाया है अनेक प्रकार के कर्मफलों को भुगवाने के लिये, उसकी 'राधसः' अर्थात् आराधना के लिये अर्थात् इसके लिये कि उन कर्मफलों की प्राप्ति हमें हो। सामान्यरूप से इस मंत्र में कहा कि अलग-अलग बाँटा है। किसको कहाँ बाँटा, यह अगले मंत्र में बताया।

'ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्' इत्यादि भिन्न-भिन्न लोगों के आदर्श को श्रुति पूरे अध्याय में बताती जाती है। जितने प्रकार के पुरुष हैं, उनका विभाजन इन मंत्रों में बताया।

पहले चार मंत्रों तक चार वर्णों को बताया। ब्राह्मण के सामने तो ब्रह्म का आदर्श है। ब्राह्मण अपनी बलि ब्रह्म के लिये ही करे, यही ब्राह्मण का प्रधान कार्य है कि वह ब्रह्म की स्थिति लाये। इसीलिये समाज-पुरुष की रचना में ब्राह्मण को बिम्ब बताया था

क्योंकि तत्त्वमीमांसा में ब्रह्म ही बिम्ब है। एक तो परब्रह्म परमात्मा ब्रह्म है और उसकी प्राप्ति के साधन वेद को भी ब्रह्म कहते हैं। परब्रह्म परमात्मा और उसको सिद्ध करने वाले वेद के अतिरिक्त बाकी सब चीज़ें ब्राह्मण छोड़ दे। मनु ने भी जहाँ ब्राह्मण का वर्णन किया, वहाँ कहते हैं कि ब्राह्मण और कुछ करे-न करे, यदि वह वेद-स्वाध्याय, वेद के अध्ययन और प्रचार में लगा रहता है, तो उसकी दूसरी सारी कमियाँ दोष नहीं रह जाती हैं। यही ब्राह्मण का बलिदान है। ब्राह्मण कहे कि 'वेद को पढ़कर मुझे समाज से क्या मिलेगा ?' तो जवाब है कि कुछ नहीं मिलेगा ! नित्य कर्म वह है जिसे नहीं करेगा तो प्रत्यवाय होगा और करेगा तो कोई लाभ नहीं है। जिसने नित्य कर्म की शिक्षा नहीं ली, वह वेद का अधिकारी नहीं रहा, चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कोई हो। त्रिवर्ण में वह तभी गिना जायेगा जब उसने पहले नित्य कर्म की शिक्षा ली कि करने से कोई लाभ नहीं, न करने से दोष लगेगा। वेद पढ़ने से कोई लाभ होगा—यह नहीं, लेकिन नहीं पढ़ेगा तो अपने आदर्श से गिर जायेगा। इसलिये वेद और परब्रह्म परमात्मा ही ब्राह्मण के बलिदान का यूप हो गया। बार-बार शास्त्र यह कहता है कि बाकी सब वर्ण ब्राह्मण की रक्षा के लिये हैं क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्म और वेद की रक्षा के लिये हैं। इसलिये यदि ब्राह्मण की रक्षा हुई तो वेद और ब्रह्म की रक्षा होकर समग्र धर्म की रक्षा हो जाती है। यदि ब्राह्मण की रक्षा न हुई तो ब्रह्म और वेद की रक्षा न होने से धर्म समाप्त हो जायेगा। इसलिये बाकी सब ब्राह्मण की रक्षा करें और ब्राह्मण वेद और ब्रह्म की रक्षा करे।

यह जब हृदय में बैठेगा, तब रहस्य समझ में आयेगा कि शास्त्र

बार-बार क्यों कहता है कि ब्राह्मण को ही दान दो। बुरा नहीं मानना, क्योंकि आजकल के लोग कहते हैं कि अंधों, लंगड़ों, कोढ़ियों को दान दो। उन पर दया करके उनकी रक्षा न करो, यही नहीं कह रहे हैं। लेकिन यह बताओ कि अंधे दान लेकर किसकी रक्षा करेंगे ? ग़लत नहीं समझना : उससे वे अपने प्राणों की रक्षा करेंगे, उनको थोड़ा सुख मिल जायेगा। कोढ़ी तुम्हारे दान को लेकर अपने प्राण बचायेगा। उनके सामने कोई आदर्श तो है नहीं, इसलिये वे दया के पात्र हो सकते हैं, दान के नहीं। ब्राह्मण को जब तुमने दिया तब वह अपनी सारी शक्ति वेद और परब्रह्म परमात्मा के चिन्तन और प्रचार में लगायेगा। अपने प्राणों की ही रक्षा में लगा हुआ तो शूद्र है ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वह है जो अपनी रक्षा में नहीं लगा हुआ है। उसने क्योंकि पहले ही परमात्मा का वरण किया है। इसीलिये हमारे समाज की सारी रचना ब्राह्मण के पीछे है, क्योंकि वह वेद और ब्रह्म का रक्षक है। बाकी कोई भी त्रुटि उसमें होगी तो वह इसका रक्षण करने के कारण दूर हो जायेगी।

यह हमारे हृदय से गत सौ साल की शिक्षा के प्रचार ने निकाल दिया। यहाँ मैकाले साहब आये। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में यह लिखा कि जब तक ब्राह्मण पर श्रद्धा बनी हुई है, तब तक हिन्दू को हज़ार साल तक मुसलमान भ्रष्ट नहीं कर सके। अंग्रेज़ लोग बहुत अन्वेषण करने वाले होते हैं। उन्होंने पता लगाया कि क्या कारण है कि पारस देश के अन्दर मुसलमानों ने तलवार के राज्य के ज़ोर से पारसी धर्म खत्म कर दिया। टर्की के अन्दर भी वहाँ का धर्म नहीं रह गया। पेलेस्टाइन, जार्डन में फिलिस्तीन

धर्म नहीं रह गया। मिस्र के अन्दर चार हज़ार साल पुराना धर्म और संस्कृति भी मुसलमानों ने नष्ट कर दी, कोई रहा नहीं जो उसका नाम ले। संसार के इतने बड़े-बड़े प्राचीन धर्म को मानने वाला कोई नहीं रह गया। आजकल पुरातत्त्ववेत्ता कहते हैं कि ये प्राचीन धर्म थे। सब धर्म मुसलमानों ने नष्ट कर दिये। लेकिन इन हिन्दुओं पर मुसलमानों ने सबसे ज़्यादा, एक हज़ार साल तक, राज्य कर लिया और सारे तरीके इन्होंने अपना लिये, लेकिन ये ख़त्म नहीं हुए, आज तक ज़िन्दा हैं। क्या कारण है ? किस बल से ये ज़िन्दा हैं ?

उन्होंने अन्वेषण करके पता लगाया कि ब्राह्मण ही एक ऐसा बल है जो अपने प्राणों की बलि देकर वेद की रक्षा करता है। गम्छा पहनकर बैठता है, सूखे टिक्कड़ खाता है लेकिन घमण्ड यह है कि मुझे घनपाठ, जटापाठ आता है। दो-चार ब्राह्मणों को मार दोगे, सब को कहाँ से मारोगे ? ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये ये सारे लगे रहते हैं। इसलिये मेकाले ने निर्णय किया—जब तक ब्राह्मण ज़िन्दा है तब तक हम हिन्दुओं को ईसाई नहीं बना सकते, जैसे मुसलमान इन्हें मुसलमान नहीं बना सके। इसलिये इन्हें यह शिक्षा दो कि 'ब्राह्मण तुम्हारा खून पीता है।' इनके मन से यदि ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा हट गई तो हम अपना काम बना लेंगे।—यह विचार करके उन्होंने अपने सारे ग्रंथों में ब्राह्मण के ऊपर अवश्यमेव कुछ न कुछ लांछन लगाया है। सूक्ष्म दृष्टि से उनके ग्रंथों को देखो तो यह पता लगेगा।

पाँच-छह साल पहले हम पूना गये हुए थे। वहाँ के उपकुलपति की अध्यक्षता में अपने यहाँ एक सभा हुई थी। वह बड़े इतिहासज्ञ

हैं, इतिहास के बड़े प्रोफेसर रहे हैं। हमने उन्हें अपने यहाँ बुलाया था। उन्होंने अपने प्रवचन में हमारे सामने यह बात कही कि 'पहले ब्राह्मण ने बड़ा अन्याय किया है। इसलिये अब हमें चाहिये कि हम सब लोगों को आगे बढ़ायें।' मन्दिर में ही यह प्रवचन हुआ। उनके प्रवचन के बाद हमने अपने प्रवचन में भी कहा और प्रवचन के बाद व्यक्तिगत रूप से भी उनसे बात की। हमने सोचा कि बड़े भारी इतिहासज्ञ हैं, इसलिये इन्होंने जो कहा वह प्रमाण-पुरस्सर ही कहा होगा। हमने पूछा, 'यह बताइये कि आपको बाप-दादों से दस-बीस लाख रुपये मिल गये होंगे ? इस मन्दिर में इतने ब्राह्मण बैठे हैं, यह बताइये कि इनमें से कौन-कौन करोड़पति हैं? ब्राह्मण लूटते रहे हैं। लूटा हुआ धन कहीं तो होगा, किसी के पास होगा ? यदि कहो कि 'अब नहीं है, पहले था' तो यह बताइये कि कैयट के समय से लेकर आज तक जितने विदेशी आये हैं, सब यही कहते रहे हैं कि ब्राह्मण कितना त्यागी है। मार्कोपोलो हो, या चीन से आने वाला फाह्यान हो, जो आता है, प्रशंसा करता है कि ब्राह्मण त्यागी है। कहो कि उससे पहले इतिहास, पुराण काल में ब्राह्मण लुटेरे रहे होंगे ? तो किसी पुराण में बताओ कि ब्राह्मण के धनों का वर्णन किया गया हो ? पुराणकाल में, इतिहास-काल में, विदेशियों के आगमन काल में, पिछले पाँच-सात सौ साल में भी ब्राह्मण धनी नहीं रहा और आज भी नहीं है। आप बड़े भारी इतिहासज्ञ हैं। हम तो केवल यह जानना चाहते हैं कि ब्राह्मण ने कब लूटा ?' कहने लगे कि 'इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं सोचा, लेकिन वी. स्मिथ लिखता है कि ब्राह्मणों ने लूटा।' हमने कहा 'तुम सोचते तो सही कि लूटकर कहीं तो रखा होगा!'

ऐसी बातें उन लोगों ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में बार-बार लिखकर हमारे दिमाग में यह जँचा दिया और उस का नतीजा यह हुआ कि हमारी ब्राह्मण से श्रद्धा हट गई। जिस श्रद्धा के बल पर ब्राह्मण ब्रह्म के लिये बलि होता है, वह श्रद्धा न मिलने पर उसने उस काम को छोड़ दिया। आज घर-घर में देख लो कि हज़ार साल में जो काम मुसलमान नहीं करा सके, वह तुम और तुम्हारे लड़के खुल कर करते हैं ! हज़ार साल तक मुसलमान तुम्हारी चोटी नहीं कटा सका और आज तुम नाई को पैसे देकर कटा देते हो। हजार साल तक मुसलमान तुम्हारा जनेऊ नहीं छुड़ा सका, और आज तुम जनेऊ छोड़ बैठे, तुम्हारा लड़का जनेऊ डालने की हिम्मत नहीं कर पाता। हज़ार साल तक मुसलमान तुम्हारी संध्या-वंदन नहीं छुड़ा सके और आज तुम्हारा प्रश्न यही होता है कि सवेरे क्यों उठा जाये ? आज तुम आठ बजे के बाद उठते हो। ज़रा कड़ी बात कह रहे हैं। इसका मूल कारण क्या है ? श्रुति ने पुरुषमेध यज्ञ में पहला काम बताया कि बाकी सब ब्राह्मण की रक्षा के लिये हैं और वह केवल श्रद्धा के आधार पर नित्य निरंतर ब्रह्म और वेद की रक्षा में लगा रहे। जिस दिन ब्राह्मण यह सोचने लगा कि 'मुझे वेद-पाठ करने पर कम मिलेगा और बी०ए० पास करने पर ज़्यादा मिलेगा' उस दिन वेद का रक्षण असम्भव है। दस बीस निकल आयेंगे जो केवल पैसे के लिये करेंगे लेकिन *ब्राह्मण* पैसे के लिये वेद रक्षा नहीं करता, केवल इसलिये करता है कि कहीं भी निकले तो उसे 'पायलागन' मिले। इसी पर हज़ारों सालों से वह अपनी बलि दे रहा था। अभी तक भी यह है कि किसी ब्राह्मण के पास जाकर नमस्कार करो तो पण्डितजी ढीले पड़ जाते

हैं। चाहे दुकानदारी कर रहे हों या दलाली का काम करते हों, कोई आकर कहे कि 'आप तो मेरी शरण हैं, सौदा एक आना कम कर लो' तो वह सोचेगा कि अपनी दो आने की दलाली में से ही एक आना कम कर दें। वह इस श्रद्धा के आधार पर हज़ारों सालों से इस वेद की रक्षा में लगा रहा।

अंग्रेजों ने इस बात का पता लगाया और कहा कि पहले इसकी इज़्ज़त घट्टाओ, जो चीज़ इसे मिल रही है। बड़ी मीठी बात उन्होंने कही, कि मनुष्य-मनुष्य सब एक-से हैं, कोई किसी का पैर क्यों छुए ? लोगों को भी यह बात बड़ी मीठी लगी। यह नहीं सोचा कि उसके बाद ब्राह्मण के हृदय में यह प्रश्न आने वाला है कि 'आदमी-आदमी सब एक-से तो मैं वेद की रक्षा में क्यों लगूँ?'

'क्षत्राय राजन्यम्'—राजन्य अर्थात् क्षत्रिय। यहाँ भी वही तात्पर्य है जो 'बाहू राजन्यः कृतः' से बताया था। क्षत्रिय अपने को किस चीज़ के लिये बलिदान करे ? 'क्षत्राय'—क्षत् का मतलब है घाव हो जाना। हिन्दी में भी कहते हैं कि वह लड़ाई में क्षत-विक्षत हो गया अर्थात् घायल हो गया। त्र मायने त्राण करना अर्थात् बचाना। क्षत्रिय का मतलब हुआ—जहाँ घाव लगे, वहाँ बचाये। इसका मतलब यह नहीं कि क्षत्रिय वैद्य है ! जहाँ-जहाँ धर्म में घाव लगे, धर्म के ऊपर कोई आपत्ति आये वहाँ उसका त्राण करे। हमारे यहाँ राजा सर्वाधिकारी नहीं माना गया, यह एक विलक्षण विचार है। आजकल लोग राजाओं की बातें करते हैं पर उन्होंने कभी संस्कृत पढ़ी नहीं, किताबें वे देखते नहीं; यह भारतवर्ष का बड़ा दुर्भाग्य है। आज राजा वह बनता है जो विदेशी किताबें पढ़ सके। यह कोई नहीं पूछता कि 'यह हम पर राज्य करेगा तो हमारी

संस्कृति को जानता है या नहीं ?' यहाँ का पहला राजा हुआ जिसने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' *(Discovery of India)* एक किताब लिखी, अर्थात् मैंने भारत का पता लगाया ! जब यह बात सुभाषचन्द्र बोस को कही गई कि 'आप भी ऐसी किताब लिखेंगे ?' तो उन्होंने तुरन्त जवाब दिया 'मैं भारत में पैदा हुआ हूँ, मुझे *खोजने* की आवश्यकता नहीं है, मैं भारतीय हूँ।' कोलम्बस को अमरीका का पता नहीं था, इसलिये उसने अमरीका का पता लगाया तो 'डिस्कवरी ऑफ अमेरिका' हुई। अमेरिका का रहने वाला नहीं कहेगा कि 'अमरीका का पता लगाऊँ।' जो बेचारा खुलकर कहता है कि 'मैं भारतीय नहीं हूँ, मैं भारत की खोज करने आया, मुझे मिल गया' उसे हम विदेशी राजा कहते हैं। आज भी जिसे अपने लड़के के लिये विदेशी लड़की मँगाकर ब्याह करना पड़े, वह हमारा राजा बना बैठा है ! जिसे भारत की तीस करोड़ लड़कियों में से एक लड़की पसन्द नहीं आई, वह राजा है। इसीलिये हम बराबर कहते हैं कि अभी हम स्वतंत्र नहीं परतंत्र हैं। केवल चमड़ी का रंग बदला है, राज्य तो विदेशी ही करते हैं।

विचार करो कि किस दृष्टि के कारण ऐसा करते हैं ? जब हम राजत्व का विचार करते हैं तो 'राइज़ एण्ड फॉल ऑफ द रोमन एम्पायर' *(Rise and Fall of the Roman Empire)* इंग्लैंड और जर्मनी का इतिहास पढ़ते हैं, उससे यह निर्णय करते हैं कि जैसे वहाँ के, वैसे ही हमारे राजा भी होते होंगे क्योंकि राजा-राजा सब एक-जैसे हैं। हमारे यहाँ राजा को कभी भी और किसी राज्य के अन्दर सार्वभौम स्वतंत्र नहीं माना गया। चाणक्य ने भी ऐसा नहीं माना है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि चारों वर्णों की

सृष्टि के बाद 'तच्छ्रेयोरूपम् अत्यसृजत—धर्मम्।' वेद कहता है कि उसने क्षत्रिय को बनाकर उसके हाथ में सारी ताकत को नहीं दिया वरन् उसने धर्म की सृष्टि की। धर्म की सृष्टि करने के बाद धर्म को ही अतिबल कहा है, 'धर्मात् परं नास्ति।' इसलिये यदि क्षत्रिय राजा धर्म का विरोध करता है तो वह राजा दण्डनीय बन जाता है। धर्म हमारे यहाँ अंतिम तत्त्व था, राजा नहीं।

दूसरे देशों में राजा विधान बनाता था और जनता को मानना पड़ता था नहीं तो दण्ड दिया जाता था। हमारे यहाँ सन् १९५० के पहले तक कभी भी किसी भी राजा ने विधान नहीं बनाया था ! १९५० में पहली बार भारत के अन्दर *राजा* ने विधान बनाया। इसके पहले विद्वान् लोग विधान बनाते थे। हमारे यहाँ नियम ही यह था

'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न पठन्ति वेदान्।।'

हमारी परम्परा यह थी कि विधान या नियम बनाने से पहले निर्णय करना होता था कि आगे तदनुसार करना है या नहीं करना है। अतः पहले सभा होती थी। आज सभा उसे माना जाता है जहाँ लोग इकट्ठे हो जायें। वे लोग धर्म का निर्णय नहीं कर सकते, उसका नाम भीड़-भाड़ है। सभा वह नहीं कही जाती जहाँ *वृद्ध* लोग न रहें। कहोगे कि जितने पचास साल के ऊपर वाले बैठे हैं, उन सबको इकट्ठा कर लें ? ऐसा नहीं। हमारे यहाँ वृद्ध उसे कहते हैं जिसने वेद का अध्ययन कर रखा है। यह विलक्षण विचार है। ब्रह्म-शब्द का अर्थ बढ़ना होता है और वृध धातु का अर्थ

भी बढ़ना होता है। इसलिये वृद्ध शब्द का अर्थ होता है बढ़ा हुआ। वृद्ध और ब्रह्म का एक ही अर्थ है। बढ़ा हुआ का मतलब लम्बा-चौड़ा पहलवान नहीं बल्कि 'ब्रह्म में बढ़ा हुआ' है। इसलिये जिसने जितना ज़्यादा वेदों का अध्ययन करके परमात्म-तत्त्व को प्राप्त किया, वह उतना ही हमारे यहाँ वृद्ध है। ऐसे वेदाध्ययन करने वाले लोग जब धर्म-मीमांसा करते थे कि 'पता लगाओ कि वेद का तात्पर्य क्या है', तब अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं करते थे। जो वेद का तात्पर्य है, वही हमारा विधान होगा। हमारा विधान तो ईश्वर ने वेद में बना दिया, उसको समझने का प्रयत्न करते हैं, अलग-से नया विधान नहीं बनाते।

जैसे सनातन धर्म कोई नया नहीं है, किसी ने चलाया नहीं। यथाकथंचित कहो तो कहना पड़ेगा कि ईश्वर ने चलाया ! दूसरा कोई उस धर्म को चलाने वाला नहीं है। दूसरे धर्म नये-नये चले हैं, इसलिये उन्होंने कुछ नियम बनाये हैं। जैसे ईसा साहब बोले तो उनके 'सर्मन' हो गये। इसी प्रकार संसार के जितने दूसरे राज्य हैं, सब किसी न किसी के बनाये हुए हैं। हमारा राज्य किसी का बनाया हुआ नहीं है, केवल ईश्वर का बनाया हुआ है। इसलिये उसका विधान तो वेदों में निश्चित हो गया। हमें तो केवल वेद से पता लगाना है कि हमको विधान के अनुसार कब क्या करना है। इसलिये हमारे वृद्ध लोग आजकल की भाषा में सुप्रीम कोर्ट के जज होते थे, सांसद नहीं होते थे। उनका काम वेदों के तात्पर्य को बताना होता था, वे कोई नया संविधान नहीं बना सकते थे। इसी प्रकार हमारे यहाँ आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि बड़े से बड़े आचार्य हुए, किसी ने नया विधान नहीं बनाया, केवल

वेदों के तात्पर्य को बताया। जैसे सुप्रीम कोर्ट के जजों में मतभेद सम्भव है कि 'इस संविधान का क्या मतलब निकलता है', मतलब निकालने में मतभेद हो सकता है, इसी प्रकार हमारे वृद्धों में भी मतभेद भले ही रहे पर सभा वाले नया विधान नहीं बनाते थे। विधायक तो हमने केवल परमात्मा को माना, वेद हमारा विधान हो गया। हम लोग सुप्रीम कोर्ट के जजों की तरह यह पता ज़रूर लगाते थे कि इस विधान का पालन किस प्रकार हो।

सन् १९५० में भारतवर्ष में सबसे पहले एक नई पद्धति चली कि हमने स्वयं अपने को मान लिया कि हम विधान बना सकते हैं। जिस दिन से बनाया, उसी दिन से बड़े बेवकूफ सिद्ध हुए हैं ! बाईस साल में चौबीस संशोधन कर चुके हैं। इसके द्वारा एक बात का पता लगता है कि हमारे यहाँ इस समय मूर्खतंत्र अर्थात् मूर्खों का शासन चल रहा है जो बैठकर विधान बनायें और बार-बार कहें कि 'ग़लती कर गये।' खुद कह रहे हैं कि 'हम मूर्ख हैं' और मूर्खों की बात मानने वाले महामूर्ख लोग भी भारतवर्ष में मौजूद हैं जो कहते हैं कि 'ये गल्तियाँ तो होती ही हैं।' यदि कोई ज्योतिषी भविष्यवाणी में बीस साल में चौबीस संशोधन कर ले अर्थात् बीस साल से पत्री में जितनी बातें लिखी हैं, उनमें चौबीस बातें ग़लत सिद्ध हो जायें तो कहोगे कि ज्योतिष ढकोसला है। यदि कहें कि यह संविधान भी ढकोसला ही है तो कहते हैं कि 'आपको संविधान मानना चाहिये।' क्या मानें ! पहले निर्णय तो करो कि क्या मनवाना चाहते हो। खुद ही मिर्ज़ापुरी लोटे की तरह इधर से उधर घूमते रहते हो।

जो हमारे वेद का संविधान है इसकी रक्षा करनी है। जब

धर्म की बात का आदेश सभासद देंगे, जिन्होंने वेदाध्ययन करके कहा है, वह 'सुप्रीम कोर्ट की रूलिंग' होगी कि 'ऐसा होना चाहिये'। उनके निर्णय को कार्यरूप में परिणत करना क्षत्रिय का काम है। क्षत्रिय और कुछ नहीं कर सकता। क्षत्रिय धर्म का क्षत से त्राण करे। राजा स्वतंत्र नहीं है। कहते आज भी हैं कि शासनतंत्र और न्यायपालिका परस्पर विभिन्न होने चाहिये पर आज तक ऐसा कर नहीं पाये। हमने इसका कितना सुन्दर विभाजन किया था। हमारे यहाँ ब्राह्मण न्यायपालिका हो गया जो वेदाध्ययन करके निर्णय करने वाला है, लेकिन शासक नहीं है। अलग इसलिये करना चाहिये, क्योंकि दोनों एक हों तो अन्याय हो जाता है। वे ही काम में लाने वाले और न्याय देने वाले हों तो मनुष्य में कभी लोभ आ जाता है। अतः इसे बचाना चाहते हैं। हमने इसे पहले ही बचा रखा था। ब्राह्मण यदि निर्णय देकर शासन के काम में लाता तो कभी शायद लोभ से कुछ ग़लत कर जाता। लेकिन हमारे यहाँ ब्राह्मण कुछ कर नहीं सकता, उसे तो केवल निर्णय देना है। यदि ब्राह्मण का निर्णय सर्वथा अन्याय वाला हुआ तो क्षत्रिय अन्य दस ब्राह्मणों को बुला सकता है कि 'तुम्हारा निर्णय हमारी समझ में नहीं आ रहा है।' क्षत्रिय यदि अत्याचार करे तो लोग पूछेंगे कि किस के आदेश से कर रहे हो ? क्योंकि आज हमने सभा बुलाकर कभी निर्णय नहीं किया इसलिये आज तक यह विभाजन नहीं कर पा रहे हैं। उलटा क्या कर रहे हैं ? न्यायपालिका की शक्ति को प्रशासक, विधायिका अपने हाथ में लेना चाहती है, कहते हैं कि 'न्याय करने वाले ठीक न्याय नहीं करते हैं। हम शासक हैं, इसलिये न्याय करने का काम भी हम ही करें।' वेद

ने इस कमी को बहुत पहले समझकर ब्राह्मण-क्षत्रिय का विभाजन बताया था।

क्षत्रिय के लिये हमने बड़ा सुन्दर शब्द चुना। हमने विचार किया कि धर्म के क्षत को हटाना है तो कैसे हटायें; अतः उसका नाम रखा 'राजन्य' अर्थात् जो दूसरे को राजी करे ! हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग 'खुश करने' के अर्थ में होता है। धर्म पर आई हुई आपत्ति को दूर तो करे लेकिन खुश करके करे। यह एक विलक्षण आदर्श क्षत्रिय के सामने है। हमारे यहाँ दण्ड बहुत बाद में दिया जाता है। राजा की नीतियों का वर्णन करते हुए पहली नीति है 'साम' अर्थात् पहले प्रेम से समझाओ। रुपये में बारह आने आदमी तो प्रेम से समझ जायेंगे। लेकिन कुछ बदमाश होंगे तो दूसरी नीति बताई कि उन बदमाशों को दाम दो। उनसे कहो कि 'तुम्हें यहाँ का अफसर बना देते हैं अथवा फौज में भेजकर कहीं लगा देते हैं।' जो इन दोनों से न माने, उसे दण्ड दो। साम, दाम और दण्ड नीति घरवालों के लिये थी। विदेशियों के लिये हमने भेद-नीति रखी थी। विदेशियों से युद्ध करो तो पहले उसके घर में भेद डालो। विदेशियों के साथ व्यवहार करने में ठीक विपरीत क्रम हो जायेगा। भेद के बाद दण्ड दो अर्थात् आक्रमण करो। आक्रमण करके जब जीत लो तो उनके बड़े-बड़े अफसरों की तनख्वाहें बढ़ाकर उन्हें हाथ में कर लो और फिर जनता को शान्ति का उपदेश दो। अंत में साम अर्थात् सबको शान्त करो, क्योंकि अब सत्ता अपने हाथ में आ गई है। इसलिये राजन्य घर में पहले साम, फिर दाम और अंत में दण्ड नीति को अपनाये और विदेश में पहले भेद, फिर दण्ड और दाम तथा अंत में साम

नीति से काम ले अर्थात् वहाँ जब अपना काम पूरा हो जाये तब साम नीति को अपनाये, इससे पहले नहीं। आज के हमारे विदेशी शासक, चमड़ा चाहे भारत का हो, वे सबसे पहले भेद का प्रयोग हम पर ही करते हैं ! 'तुम बिना पैसे वाले और तुम पैसे वाले आपस में लड़ो, तुम अच्छे वर्ण के और हरिजन आपस में लड़ो, तुम मराठे और तुम गुजराती आपस में लड़ो और भाषावर प्रान्त बनाओ' अर्थात् किसी न किसी प्रकार से तुम लोग लड़ो। यह पहले भेद हुआ। जब आपस में लड़ें तो कभी एक को और कभी दूसरे को दण्ड देते हैं। जो इन दोनों नीतियों से हाथ में न आये उसे दाम देकर खरीदते हैं। किसी को मंत्री और किसी को राजदूत बनाते हैं। इसका कारण यह है कि ये अपने को विदेशी मानकर शासन करते हैं। यदि ऐसा न होता तो पहले साम, फिर दाम और अंत में दण्ड पर पहुँचते और भेद का प्रयोग कभी न करते। हमने इस समस्या के हल के लिये वर्ण के सिद्धान्त को लिया। हमको जब कोई कहता है कि ये भारतीय हैं तो हम पहले 'राजन्य' देखते हैं कि ये राजी करते हैं या झगड़ा करवाते हैं ? यदि ये मतभेद और लड़ाई करवाते हैं तो हम इनको स्वदेशी मानने को तैयार नहीं, वे अपने को चाहे स्वदेशी कहते रहें। 'क्षत्राय राजन्यं' यह हमारा आदर्श था। हमारे राजा किस प्रकार इस आदर्श का पालन करते थे, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन - ६८

पुरुषसूक्त में भगवती श्रुति समाजपुरुष का वर्णन करती है। पुरुषमेध प्रकरण पुरुष को समाज के लिये बलि चढ़ाने का प्रकरण है। पुरुष तब मेध्य अर्थात् पवित्र होता है जब वह अपनी समग्र व्यक्तिगत भावनाओं को समाप्त कर देता है। प्रतिक्षण समष्टि के लिये कार्य करने वाला व्यक्ति ही पुरुषमेध यज्ञ कर रहा है। इस समाजपुरुष का वर्णन करते हुए बताया कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न अंगों की यहाँ कल्पना है।

इन कल्पनाओं में एक विलक्षणता देखोगे : संस्कृत भाषा में तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। हिन्दी और अंग्रेज़ी में केवल दो वचन होते हैं, द्विवचन उनमें नहीं होता। यहाँ एकवचन में तो केवल ब्राह्मण को लिया है। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्।' बाकी तीनों को द्विवचन के साथ लिया है—'बाहू राजन्यः कृतः' में 'बाहु' द्विवचन में है। 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः'—'ऊरू' द्विवचन में है। इसी प्रकार 'पद्भ्याम्' भी द्विवचन में है। वैसे सीधी दृष्टि से देखो तो मनुष्य के हाथ, ऊरू और पैर दो-दो होते हैं, इसलिये द्विवचन में कह दिया; लेकिन यहाँ द्विवचन का प्रयोग किसी गंभीर तात्पर्य से है। श्रुति जाति के अभिप्राय से एकवचन भी कर सकती थी। भुजायें दो होने पर भी जाति में एकवचन कहना बन जाता है। जैसे 'बहुत से ब्राह्मण' कहने की जगह केवल 'ब्राह्मण' कहें तो भी काम चल जाता है। ऐसे में एकवचन को जाति अर्थ में एकवचन कहते हैं। या रुपये

का दृष्टांत जल्दी समझ में आ जायेगा। जैसे 'रुपया कमाना है', यह जाति में एकवचन है, नहीं तो एक रुपया कमाकर कहें कि आगे नहीं कमाना ! लेकिन इसका अर्थ है कि बहुत से रुपये कमाने हैं।

श्रुति ने ब्राह्मण में एकवचन का और बाकी तीन के साथ द्विवचन का प्रयोग किया। क्योंकि ब्राह्मण बिम्बरूप है, यह पहले बताया था, इसलिये उसमें तो केवल ब्रह्मरूपता ही प्रधान है। सत्त्वगुण में पड़ने वाले उसके प्रतिबिम्ब 'मैं' या 'अहं' में भी प्रधानता चेतन की है, जड की प्रधानता नहीं है। कहने को उसमें अंतःकरण की वृत्ति है लेकिन वस्तुतः वहाँ प्राधान्य चेतन का है। आगे मन बुद्धि के अन्दर तो चेतनप्रधान नहीं रहता। जैसे 'मेरी बुद्धि काम नहीं करती, मेरा मन ध्यान में नहीं लगता' यहाँ मन और बुद्धि की अपेक्षा 'मैं' अर्थात् चेतन का कुछ भेद है। लेकिन 'मेरा मैं अच्छा नहीं है' यह कभी बोध नहीं होता या 'मेरा मैं मेरी बात नहीं मानता' यह कभी अनुभव नहीं होता। मन बात नहीं मानता, मन ध्यान में नहीं लगता—यह अनुभव तो होता है अर्थात् चेतन ध्यान करना चाहता है लेकिन मन बात नहीं मानता। यद्यपि 'मैं' के अन्दर भी सत्त्वगुण की वृत्ति तो है लेकिन वृत्ति गौण है, चेतन प्रधान है।

जैसे घर में आदमी का रिश्ता सबके साथ है। माँ के साथ, बाप के साथ, बेटे के साथ, बहन के साथ, मामा के साथ और पत्नी के साथ भी रिश्ता है। सब रिश्तों में प्रधान रिश्तेवाला होता है, लेकिन पत्नी के साथ जो रिश्ता है, उसमें रिश्तेवाली पत्नी प्रधान नहीं है, वह खुद प्रधान है क्योंकि बाकी सब रिश्ते दूर किये

जा सकते हैं लेकिन पत्नी का रिश्ता दूर नहीं किया जा सकता। आदमी बाहर से थककर आता है तो माँ-बाप के साथ, लड़कों के साथ मीठा बोलता है। लेकिन अपनी थकावट की कड़वाहट पत्नी के सामने प्रकट करता है। फ़र्क केवल इतना है कि बुद्धिमान् पति कह देता है कि 'आज थका हुआ हूँ, इसलिये मेरे मन में बड़ी उलझन है।' आदर्श पत्नी समझ जाती है कि आज इनको कह लेने दो, जो कहना चाहते हैं। यहाँ पत्नी की बात कर रहे हैं, *वाईफ़* या *बीवी* की बात नहीं कर रहे हैं ! वहाँ तो दूसरे रिश्तों की तरह रिश्तेदार ही प्रधान होता है। *हज़बैंड* से *वाइफ़* की प्रधानता होगी। पत्नी का जो पति के साथ सम्बन्ध है उसमें भी प्रधानता पति की है; पत्नी को कोई कष्ट होगा तो पति को ही बतायेगी, सास या देवर के सामने नहीं बतायेगी। बाकी सब रिश्तों में रिश्तेदार प्रधान है लेकिन पति-पत्नी के अन्दर पत्नी प्रधान रिश्तेदार नहीं, पति खुद प्रधान होता है रिश्तेदार अर्थात् पत्नी गौण होती है।

इसी प्रकार चेतन का प्रतिबिम्ब 'अहम्' में पड़ा; 'अहम्' पत्नी की जगह है, इसलिये 'अहम्' में चेतन प्रधान है। चेतन हमेशा 'अहम्' को विषय करेगा। चेतन का अनुभव हमेशा 'अहम्' से एक होकर ही होगा। 'अहम्' से आगे जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें धीरे-धीरे जड की अर्थात् उपाधि की प्रधानता होती जायेगी और चेतन गौण होता जायेगा। 'अहम्' में जो प्रतिफलित या प्रतिबिम्ब होगा, उसमें चेतन प्रधान रहेगा और जडांश बिल्कुल गौण रहेगा। लेकिन बाकी रिश्ते 'अहम्' के द्वारा हैं अर्थात् 'अहम्' की अपेक्षा बुद्धि में जड तत्त्व ज़्यादा होगा, बुद्धि प्रधान होगी। मन में जाने

पर बुद्धि की अपेक्षा भी मन की उपाधि ज़्यादा होगी। मन की अपेक्षा भी इन्द्रियों के अन्दर उपाधि और प्रधान होती जायेगी। इन्द्रियों की अपेक्षा देह में जब पहुँचोगे तब उपाधि और प्रधान हो जायेगी। देह की अपेक्षा जब संसार के बाह्य विषयों में पहुँचोगे तब उपाधि और अधिक हो जायेगी। अनुभव से देख लो कि 'अहम्' तो सर्वथा चेतन का अनुकारी है। सर्वथा चेतन की तरह ज्ञानस्वरूप ही है। तदपेक्षया बुद्धि के अन्दर चेतन की कुछ प्रधानता है, लेकिन फिर भी बुद्धि अपना ज़ोर दिखाती है। मन में पहुँचते हो तो बहुत-सी बातें चेतन वाली हैं, पर अहम् और बुद्धि से कम। बुद्धि समझ लेती है लेकिन मन में बात नहीं बैठती। परमात्मा का विचार, चिन्तन और परमात्मविषयक बातें बुद्धि में तो झट बैठती हैं। बड़े से बड़ा संसारी व्यक्ति भी यदि हफ्ते भर तक सत्संग करता है तो उसकी बुद्धि में यह बात बैठने लगती है कि 'अब तक हम जो सोचते थे, वह गलत था, यह बात ठीक है।' लेकिन बात मन में नहीं बैठती। मन कहता है—'बात ठीक तो है लेकिन मरने का समय आयेगा, तब देखा जायेगा। अभी तो संसार के पदार्थों को ही देख लो।' यहाँ बात बुद्धि में बैठ गई, लेकिन मन में नहीं बैठी। संसार की बात बुद्धि में जल्दी नहीं बैठती, लेकिन मन में झट बैठ जाती है। बुद्धि तो कहती है कि ग़लत है लेकिन मन कहता है कि 'व्यवहार ऐसे ही चलता है।' इसलिये 'मैं' में चेतन सर्वथा प्रधान है, बुद्धि में चेतन कुछ गौण हुआ।

मन के अन्दर उपाधि, मन ज़्यादा प्रधान हो गया, फिर भी बार-बार समझाओ तो मन समझ जाता है। इन्द्रियों में पहुँचे तो कितना ही समझाओ, बात समझना मुश्किल है। मन को तो

रोककर आदमी घर में बैठ जाये। यह साधना का विषय है, ठीक से समझना। यह बिल्कुल सत्य है कि अंधेरे कमरे में बैठकर 'ॐ नमः शिवाय' की माला एकाग्र चित्त से फेरो, चाहे बाइस्कोप के हॉल में एकाग्र-चित्त होकर इस मंत्र की माला फेरो, कोई फ़र्क नहीं, क्योंकि जब चित्त एकाग्र होगा उस समय न हॉल रहेगा और न अंधेरा कमरा रहेगा। यह बात बिल्कुल ठीक है। लेकिन यह बात कहने वाला एक चोरी करता है—बाइस्कोप के हॉल में जिस समय गाने की ध्वनि आयेगी, उस समय चित्त एकाग्र नहीं रहेगा या जब किसी सीन के लिये ताली बजेगी तब आँखें बंद नहीं रहेंगी। इसी प्रकार जब कहते हो कि 'चाहे घर में बैठें, चाहे एकान्त में, मन ही तो एकाग्र करना है', तब उसमें चोरी यह है कि आज बेटा बीमार है, कल उसको टट्टियाँ लग रही हैं, परसों पत्नी का ब्लडप्रैशर बढ़ रहा है, अगले दिन भाई को टायफायड हो गया है; उसमें कहना कि 'हमारा मन सर्वथा एकाग्र और शान्त बना रहेगा', केवल हँसी करना है। सिद्धान्त तो ठीक है कि मन एकाग्र हो गया तो फिर कुछ अन्तर नहीं, लेकिन वस्तुतः वहाँ मन एकाग्र होगा ही नहीं।

कहीं जनक, अश्वपति राजाओं में ऐसा देखा जाता है तो वह ज्ञान के परिपाक का फल है। दोनों में फर्क है। एक व्यक्ति ने गीता के हर श्लोक को अच्छी तरह से याद कर रखा है और रोज़ उसका गीता-पाठ का नियम है। लेकिन आज सवेरे साढ़े पाँच बजे के हवाई जहाज पर चढ़ना है। वह व्यक्ति स्नान का लोटा डालते हुए, बाद में शरीर पोंछते हुए, फिर कपड़ा पहनते हुए, फिर चाय का पानी चढ़ाते हुए, नीचे जाकर दरवाजा खोलकर दूध लाते

हुए, सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आदि सब कुछ करते हुए अपना गीता-पाठ का नियम पूरा कर लेता है, कोई श्लोक नहीं छूटता है। अगर इस बात को देखकर तुम अपने लड़के से कहो कि 'बेटा ! तुझे भौतिकी के समीकरण याद करने हैं तो कमरे में चुपचाप बैठकर क्यों याद करता है ? देख, तेरे ताऊजी दूध भी ले आते हैं और सीढ़ियाँ उतरते-चढ़ते सारी गीता बाँच लेते हैं। ऐसे ही तू भी नीचे से दूध लाते हुए समीकरण रट लिया कर।' उससे नहीं रटा जायेगा। उन्होंने तो पंद्रह साल तक गीता-पाठ कर निरंतर अभ्यास कर लिया, प्रत्येक श्लोक उनके लिये ऐसे नाचता है जैसे तुम्हारी आँखों के सामने बंगाली मार्कीट का रसगुल्ला नाचता है। इसलिये वे इस काम को कर सकते हैं। लेकिन लड़का तो अभी पढ़ रहा है। इसी प्रकार जनक, अश्वपति इत्यादि राजाओं को सारा कार्य करते हुए क्षणमात्र को भी आत्माकार वृत्ति का परित्याग नहीं होता। इतने मात्र से यदि साधक सोचेगा कि चाहे कहीं बैठकर मन एकाग्र करूँ तो नहीं कर पायेगा। उसके मन की वृत्ति कभी शान्त नहीं हो पायेगी, असम्भव है।

ब्राह्मण के अन्दर एकवचन का और आगे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ द्विवचन का प्रयोग किया। 'अहम्' में चेतन प्रधान है लेकिन बाकी सर्वत्र उपाधि की प्रधानता बढ़ती जाती है, भले ही चेतन बना ही हुआ है। चेतन और उपाधि दोनों का सम्बन्ध वहाँ बन जाता है। ऐसे ही ब्रह्मरूप ब्राह्मण में ब्रह्मरूपता की प्रधानता है। सत्त्वगुण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने पर भी उसमें ब्रह्मरूपता की ही प्रधानता रहती है। उसके आगे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अन्दर भिन्न-भिन्न गुणों की प्रधानता होती है, वहाँ उपाधि और ब्रह्म

दोनों एक-जैसे प्रधान हो जाते हैं। इसलिये उनके अन्दर बार-बार द्विवचन का प्रयोग किया, 'बाहू', 'ऊरू' और 'पद्भ्याम्' में द्विवचन का ही प्रयोग किया। वहाँ सर्वत्र उपाधि प्रधान है। इस रहस्य को समझने के कारण ही प्रारंभ में कहा था कि ब्राह्मण बिम्बरूप है और बाकी सब प्रतिबिम्बरूप हैं। प्रतिबिम्ब बिम्ब के अनुकारी होता है। इसलिये ब्राह्मण के लिये जो शम, दम आदि बताये, वे तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में भी अनुवृत्त होंगे अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी उन धर्मों का पालन करें। लेकिन क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो धर्म गिनाये गये हैं, वे एक-दूसरे में अनुवृत्त नहीं होंगे।

दूसरे दृष्टांत से समझ लो : तुम्हारा मुँह तो लाल, पीले और काले काँचों में एक-जैसा दीखेगा, जैसा मुँह है वैसा दीखेगा, लेकिन लाल काँच के प्रतिबिम्ब में जो लालपन है, वह पीले काँच के प्रतिबिम्ब में नहीं होगा। प्रतिबिम्ब आपस में एक-दूसरे से भिन्न होंगे लेकिन बिम्ब से उनकी अनुरूपता रहेगी। इसीलिये ब्राह्मण्य तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में भी रहेगा लेकिन क्षत्रिय में वैश्य और वैश्य में क्षत्रिय नहीं रहेगा, यही फ़र्क है। कल बता रहे थे कि क्षत्रिय का प्रधान कर्म 'रंजनात् राजा' है। साम, दाम, दण्ड में राजा के लिये साम ही प्रधान है, क्योंकि उसको तो प्रजा को राजी करना है। इससे ठीक विपरीत ब्राह्मण का दृष्टिकोण रंजन करने का नहीं है। ब्राह्मण तुमको खुश करने के लिये कुछ नहीं करता। यदि खुश करने के लिये कुछ करे तो उतने अंश में उसमें क्षत्रिय, वैश्यपने की अनुवृत्ति है। वह तो जैसा सत्य है, बिल्कुल वैसा कहेगा। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में सारे साधनों के अंत में आत्मज्ञान की जिसमें परिपूर्णता हो गई, उसे जाकर कहा है

'अथ ब्राह्मणः' ऐसा परमहंस ही पूर्ण ब्रह्म है। ऐसा क्यों कहा ? यद्यपि गृहस्थ ब्राह्मण भी सत्यवक्ता होता है लेकिन उसमें कुछ न कुछ अपने गृह-संचालन को लेकर क्षत्रिय, वैश्य की अनुवृत्ति हो जाती है। वह सच तो बोलेगा, खुशामद नहीं करेगा, लेकिन यथासम्भव सच को मीठा बनाकर बोलेगा। लेकिन ब्रह्मरूप ब्राह्मण, जिसे बृहदारण्यक उपनिषद् में 'अथ ब्राह्मणः' कह दिया, वह परमहंस सत्य बोलते समय एक क्षण को भी नहीं सोचेगा कि इसे मीठा बनाया जाये, जैसा है वैसा ही बोलेगा, क्योंकि उसमें ब्राह्मणत्व पूर्ण है। राजा रंजन करने वाला होने से प्रजा को राजी करने की बात करेगा।

राजाओं के आदर्श राम को ले लो। राम जानते थे कि सीता में कोई दोष नहीं है फिर भी किसी के अन्दर दोष की भावना न हो इसलिये उन्होंने सीता की अग्नि-परीक्षा करवाई। सीता ने अग्नि में प्रवेश किया और अग्नि ने साक्षी दी कि इसके अन्दर कोई दोष नहीं है। उससे पहले भी रामचन्द्र जी को उसके बारे में संदेह नहीं था, लेकिन चाहते थे कि जनता इस बात से राजी रहे कि मैंने परीक्षा करके सीता को ग्रहण किया है। सीता *भगवान्* राम की नहीं *राजा* राम की पत्नी थी। केवल पत्नी नहीं थी, राम की पत्नी होने का मतलब था कि अयोध्या की पूज्य रानी थी। यदि जनता उसमें पूज्य-बुद्धि नहीं रख पाती तो प्रजा का रंजन नहीं होता। व्यक्तिगत जीवन में राम को सीता पर कोई संदेह नहीं था लेकिन जिसको रानी बनाना है, जिसको जनता रानी समझेगी, उसकी ठीक प्रकार से परीक्षा करके दिखाना है। इसलिये अग्नि-परीक्षा ली। यह परीक्षा करके उन्होंने समझा कि अब तो

प्रजा राजी हो गई। लेकिन प्रजा फिर भी राजी नहीं हुई ! अन्दर ही अन्दर सीता के बारे में खूब बातें चलती रहीं कि 'इतने दिन तक रावण के यहाँ रही, हमारी पूज्यता के योग्य है या नहीं'—यह संदेह प्रजा के मन में बना रहा। उस समय राजा राम को प्रजा-रंजन के लिये अपनी प्राणप्रिया पत्नी को भी दूर करना पड़ा, क्योंकि रंजन से राजा होता है। आजकल के राजा वे नहीं थे जो कहते हैं कि 'यह हमारा व्यक्तिगत जीवन है, हम क्या करते हैं, इससे तुम्हारा क्या मतलब ?' आजकल जब राजा को कहते हैं कि 'यह तुम्हारी गड़बड़ी कैसे ?' तो जवाब मिलता है कि 'यह हमारा व्यक्तिगत जीवन है।' व्यक्तिगत जीवन वाला राजा नहीं बन सकता, रंजन से राजा होता है। राजा वह होगा जो हमेशा प्रजा के रंजन की दृष्टि रखे चाहे उसे इसके लिये कितना भी बड़ा बलिदान क्यों न करना पड़े।

लेकिन ब्राह्मण प्रजा-रंजन नहीं करता। वाल्मीकि के पास जब सीता पहुँचीं तब उन्होंने उसे सर्वथा निर्दोष ही जानकर आश्रम में रखा। फिर उन्होंने रामायण लिखी। लव, कुश और अपने सब शिष्यों को पढ़ाया कि जगह-जगह जाकर तुम इस बात का प्रचार करो कि जनता की बुद्धि भुथरी हो गई है। उनको समझाओ कि तुम लोग कितने मूर्ख हो। वाल्मीकि ब्राह्मण थे, यह याद रखना। बहुत-से लोग समझते हैं कि वाल्मीकि जिसे आज 'हरिजन' कहते हैं उस जाति के थे। मूलतः वे ब्राह्मण थे, कुसंग से डकैत बन गये थे, हरिजन का काम फिर भी नहीं करते थे। ब्राह्मण होने के कारण वाल्मीकि में जनता के रंजन की इच्छा नहीं थी। यही ब्राह्मण और क्षत्रिय में फ़र्क है। राजा मूलतः जनता का रंजन करेगा

और ब्राह्मण जनता को शिक्षित करेगा। शिक्षा शब्द का एक अर्थ ही 'दण्ड' होता है। हिन्दी में भी इस शब्द का दण्ड के अर्थ में प्रयोग होता है कि 'मैं उसको इस बात की सीख दूँगा।' सिखाना या सीख भी शिक्षा ही है, इसका मतलब है कि 'मैं उसको दण्ड दूँगा।' राजा के लिये तो साम, दाम और दण्ड तीनों हैं और ब्राह्मण के लिये शिक्षा या दण्ड ही प्रधान है। उसकी दृष्टि में प्रजा-रंजन की कोई प्रधानता नहीं है।

प्रजा-रंजन के रूप का हमारे प्राचीन लोगों ने बड़े आदर्श रूप से पालन किया। जैसे रामचन्द्र, इसी प्रकार दिलीप ने किसी काल में गौ के लिये अपना शरीर छोड़ना भी स्वीकार कर लिया। क्या कारण था ? प्रजा-रंजन की दृष्टि थी। प्रह्लाद के राज्य-काल में एक बार उसके पुरोहित के पुत्र और प्रह्लाद के पुत्र में झगड़ा हो गया। यहाँ भी प्रजा-रंजन की दृष्टि बताते हैं। वे दोनों किसी एक लड़की से ब्याह करना चाहते थे। लड़की भी बड़ी बुद्धिमान् थी। उसने सोचा कि 'इनमें से जिसे ना करूँगी, वही बुरा मानेगा।' इसलिये उसने कह दिया कि 'तुम दोनों में से जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसके साथ ब्याह करूँगी।' अर्थात् पहले दोनों झगड़ा करके निर्णय करो कि कौन श्रेष्ठ है ! अब दोनों इस बात का निर्णय किससे करें कि कौन श्रेष्ठ है ? विचार किया कि प्रह्लाद से निर्णय करायें। प्रह्लाद का बेटा तो खुश हो गया। प्रह्लाद के पास गये। उन्होंने अपने पुत्र से कहा, 'देख बेटा ! तू क्षत्रियपुत्र है और यह ब्राह्मणपुत्र है, इसलिये जाति से यह श्रेष्ठ है। तू भोगों में लगा रहता है, यह तप में लगा रहता है, इसलिये कर्म से भी श्रेष्ठ है। तेरा दादा राक्षसी प्रकृति का था और इसका दादा दैवी प्रकृति का था,

इसलिये कुल से भी यही श्रेष्ठ है। सब प्रकार से यही श्रेष्ठ है, तू नहीं।' विचार करो कि यह दृष्टिकोण तब था जब राजा का उद्देश्य प्रजारंजन था, तब उसे राजा कहा जाता था। ऐसे अनेक दृष्टांत आते हैं। राजा की यही विशेषता होती है।

जैसे राजा की विशेषता होती है, वैसे ही वैश्य की भी विशेषता होती है। वैश्य की विशेषता धन कमाना नहीं है। राष्ट्र के अर्थ का अभिवर्द्धन करना ही वैश्य की वास्तविक विशेषता है। स्वकीय अर्थ-वृद्धि में वैश्य की विशेषता नहीं है, क्योंकि अपने लिये जो अर्थ को बढ़ाता है उसके सामने उच्च आदर्श कुछ नहीं रहता, जैसे इदानीं काल में हो रहा है।

एक कथा आती है : दक्षिण भारत में कांचीपुरम नाम की जगह है। औरतों ने नहीं भी देखा होगा तो जानती होंगी कि कांजीवरम् की साड़ियाँ आती हैं। वहाँ का राजा बाहुबल था। उसके यहाँ अर्थलोभ नाम का एक द्वारपाल था। अर्थलोभ था तो व्यापारी लेकिन द्वारपाल का काम भी करता था। वह द्वारपाल होकर काम करता था अतः उसे अपना व्यापार सम्भालने का पूरा समय नहीं मिलता था क्योंकि जब भी राजा कहे, उसे काम पर आना पड़े। इसलिये उसका दुकान का काम ठीक नहीं चलता था। उसके मुनीम काम को पूरी अच्छी तरह से नहीं करते थे। व्यापार में यह नियम हमेशा याद रखना चाहिये, वस्तुतः व्यापार का ही नहीं, सब चीज़ों में यही नियम है । व्यापार में कोई सोचे कि 'हमें नौकर कमाकर देगा और हम खायेंगे' तो यह नहीं हो सकता। एक दिन वह नौकर मालिक हो जायेगा और मालिक सड़क पर घूमेगा ! जो राजा यह सोचेगा कि सेनापति मेरे काम को चला लेगा, वह

एक दिन धोखा खायेगा। सेनापति तो राजा बन जायेगा और राजा बैठा रह जायेगा। यह नियम है।

उसने जब देखा कि मुनीम लोग ठीक तरह से काम नहीं करते हैं तब उसने अपनी पत्नी मानपरा से कहा कि 'मुनीम लोग ठीक से काम नहीं करते, इसलिये तू जरा काम सम्भाल लिया कर।' मानपरा को यह कुछ अच्छा तो नहीं लगा लेकिन पति की आज्ञा मानकर दुकान में काम करने लगी। मानपरा विलक्षण सुन्दरी थी, उसकी बोली भी बड़ी मधुर थी। प्रायः दोनों चीज़ें इकट्ठी नहीं मिलतीं। वैसे शास्त्रों में तो तीन चीज़ें बताई हैं जो इकट्ठी नहीं मिलतीं—जहाँ बुद्धि होती है, वहाँ सुन्दरता नहीं होती। जहाँ सुन्दरता होती है, वहाँ वाणी का मिठास नहीं होता। अनुभव करके देख लो। सुन्दर लड़की से ब्याह करो तो डाँट खाने को तैयार रहो, क्योंकि सुन्दर लड़की में वाणी का मिठास नहीं होता। जिसमें वाणी का मिठास होगा, उसमें सुन्दरता नहीं है। इसी प्रकार जिसमें बुद्धि होगी उसमें वाणी का मिठास नहीं होगा। बुद्धिमान् बोलते समय एकदम खरा बोलेगा। जो मीठी बातें बोलने वाला, खुशामद करने वाला हो, उसमें बुद्धि कुछ नहीं होती, वह 'हाँ जी, सेठ जी' कहकर ही खुश करता रहेगा। इसलिये शास्त्रों में कहा है कि बुद्धि, सौन्दर्य और मधुर वाणी तीनों एकत्र नहीं होते। मानपरा में यह विलक्षणता थी कि उसका रूप भी बड़ा सुन्दर था और वाणी भी बड़ी मधुर थी। ग्राहकों से वह बढ़िया सौदा पटा लेती थी। सौदा खरीदते समय लोगों से दो आने भाव तोड़ कर खरीदे और बेचते समय ग्राहकों को औरों से दो आने महँगा बेच दे। उसके सुन्दर रूप और वाणी के कारण लोग मुग्ध हो जाते थे। व्यापारी लोग

तो रोज़ ही देखते होंगे कि जो व्यापारी अच्छा व्यवहार करे और मीठा बोल बोले वह एक आना ज़्यादा भी ले तो ग्राहक वहीं पहुँचते हैं। दूसरा व्यापारी ग्राहक की बिना चिन्ता किये हुए ऊटपटांग व्यवहार करे तो उसका माल सस्ता होने पर भी कोई खरीदने नहीं जाता। हम तो ऐसे दलालों को जानते हैं जो कह देते हैं कि 'और जगह माल नहीं है, अमुक के यहाँ है पर वहाँ मैं तो नहीं जाऊँगा, तुझे लेना हो तो ले आ।' मधुर वाणी का बहुत असर पड़ता है।

अर्थलोभ का व्यापार बढ़ने लगा तो वह बड़ा प्रसन्न हो गया। हाथी, घोड़े, रत्न, वस्त्र इत्यादि सब चीज़ों में उसके भाव औरों से सवाये ड्योढ़े हो गये, खूब लाभ होने लगा। एक समय वहाँ पर चीन देश का एक व्यापारी आया। चीन देश के वस्त्र बड़े अच्छे होते हैं। आप लोगों में से कुछ को याद होगा कि चीन से बनियानें बहुत बढ़िया आती थीं। चीन का रेशम अतिप्राचीन काल से इतना बढ़िया है कि रेशम का एक नाम ही संस्कृत में चीन देश के नाम से पड़ गया। वह व्यापारी बहुत सुन्दर वस्त्र वहाँ से लाया। इस अर्थलोभ व्यापारी ने मानपरा से कहा कि 'वहाँ जाकर वस्त्र के पचास हज़ार नग खरीदकर ले आ।' वह वहाँ पहुँची। चीन देश के व्यापारी से उसकी बात-चीत हुई तो उस व्यापारी ने मानपरा के सौन्दर्य को देखकर कहा 'बात यह है कि मैं खुद ही खुदरा व्यापार करने वाला हूँ। बहुत-से लोग खुदरा बेचने का झंझट नहीं करना चाहते, इसलिये दो आने सस्ते में खुदरे व्यापारी को माल बेच देते हैं। मुझे थोक व्यापार तो करना नहीं है, खुद ही खुदरा बेचूँगा। इसलिये पचास हज़ार नग इकट्ठे तुझे नहीं दूँगा। क्योंकि तू यहाँ की रहने वाली है, इसलिये तू मेरे साथ प्रतियोगिता

कर सकती है। मैं तेरे हाथ किसी भाव में माल नहीं बेचूँगा।' फिर उसे एक तरफ ले जाकर कहने लगा कि 'यदि तू मेरे साथ एक रात्रि बिता दे तो दे दूँगा, व्यापार की दृष्टि से नहीं दूँगा। तब तो मैं तुझे एक लाख नग भी दे दूँगा, लेकिन पैसे से नहीं दूँगा।' मानपरा ने कहा, 'देखो, मैं विवाहित हूँ, तेरे साथ रात्रि में कैसे रह सकती हूँ ! लेकिन मैं अपने पति से पूछ लेती हूँ। जैसा वे कहेंगे, वैसा मैं कर लूँगी।' मानपरा ने इतने दिन में अपने पति के स्वभाव को जान रखा था। घर जाकर उसको जब यह बात कही कि 'वह व्यापारी तो किसी भाव पर पचास हज़ार नग देने को तैयार नहीं है, खुद ही खुदरा व्यापार करना चाहता है, इसलिये जब मैंने उससे कहा तो उसने सर्वथा नकार दिया।' अर्थलोभ ने कहा कि 'तू ज़रा ढंग से बात करती, तेरा तो बड़ा प्रभाव पड़ता है।' तब मानपरा ने कहा 'मैंने तो बात नहीं की लेकिन उसने खुद ही मुझसे कहा कि 'एक लाख नग बिना पैसे के दे दूँगा यदि तू एक रात मेरे साथ रह जाये।' अर्थलोभ ने झट कहा, 'अरे तो इसमें क्या है भलीमानस ! एक लाख नग मिलते हैं तो एक रात वहाँ रह आना। आज ही रात चली जा।'

पत्नी ने मन में विचार किया कि यह व्यक्ति हृदय-रहित है। इस बात से स्त्री के दिल में कितना दुःख होगा, यह इस बात को नहीं सोच सकता। उसकी उस हृदय-रहितता से मानपरा के मन में बड़ी घृणा उत्पन्न हो गई कि यह केवल फ़ायदा ही देखता है, सिवाय फ़ायदे के इसके मन में कुछ नहीं है। मैंने इतने साल तक इसकी सेवा की। बाजार का और घर का भी सारा काम किया। जितना यह द्वारपाली से लाता है, उससे भी ज़्यादा फ़ायदा

करके इसे दिया, फिर भी मेरी इसके दिल में कोई कीमत नहीं है। नफ़े को सोचते-सोचते यह केवल नफ़े की मूर्ति बन गया है, और इसमें कुछ नहीं रह गया है। उसी समय उसके हृदय में आया कि एक वह व्यापारी है जो एक लाख वस्त्र देने को तैयार है और मेरे साथ केवल एक रात्रि बिताना चाहता है और एक यह है कि जो एक लाख वस्त्रों के पीछे मुझे बेचने को तैयार है। इसलिये मेरी कीमत तो उस व्यापारी ने समझी। उसने अपने पति से कहा कि 'मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगी, लेकिन आगे कोई पुण्य-पाप, सुख-दुःख हो तो आप जानो, मैं उसमें भागीदार नहीं हूँ।' तब भी उसने कहा 'हाँ-हाँ ! जा, इसमें कोई हर्जा नहीं है।'

वह वहाँ पहुँची तो उस व्यापारी को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन बड़ा प्रसन्न हो गया। उसने कहा कि 'एक लाख कपड़े तो अभी पहले ही भेज दो।' उसने तुरंत एक लाख वस्त्र गिनाकर भेज दिये। रात्रिभर वह उसके साथ रहा। उसके सुन्दर रूप, सुन्दर वचनों और सुन्दर व्यवहार से वह व्यापारी अपने को धन्य मानने लगा कि 'मैं इतना भाग्यशाली हूँ कि मुझे तेरे जैसी स्त्री एक रात्रि के लिये मिली।' उसको ऐसा लगा कि मानो न जाने कितने जन्मों के पुण्य कर्मों का परिपाक होकर एक रात्रि के लिये यह स्त्री मिली है। मानों पुण्य ही मूर्तिमान् होकर आ गये। वह बार-बार उसकी प्रशंसा करने लगा। कहने लगा कि 'तू अपने पति से पूछकर एक दिन फिर भी आना।' मानपरा हँस पड़ी। कहने लगी 'उसने तो मुझे तुझे बेच ही दिया है। अब मुझे वापिस करना-न करना तो तुम्हारे हाथ में है। सवेरे आठ बजे का समय हुआ तो अर्थलोभ ने अपने आदमी भेजे। उन्होंने आकर कहा, 'सेठानी जी चलिये।'

उसने कहा कि 'तुम्हारे मालिक ने तो मुझे बेच दिया, अब तुम्हीं बताओ कि क्या मैं जाने में स्वतंत्र हूँ ? अब तो यह भेजे तभी जा सकती हूँ, मैं जाने में स्वतंत्र नहीं रही। जैसे इसने कीमत दी, वैसे ही वह भी यदि इसको कीमत देकर राजी कर ले तो वहाँ चली जाऊँगी।' जब अर्थलोभ ने सुना तो खुद दौड़कर आया, कहने लगा, 'यह क्या बात करती है ?' मानपरा ने कहा 'मैं तो कुछ नहीं करती, तूने मुझे बेचा, इसने खरीदा। मैं तो माल हूँ। जिसने सौदा खरीद रखा है, इस समय तो पति (मालिक) वही है। आगे तू सौदा पटा, मैं ना नहीं करती।' उस व्यापारी से कहने लगी कि 'अब तू ही अर्थलोभ से निपट ले।' विदेशी यात्री सुखधन कहने लगा कि 'अब मैं इसे किसी भाव देने वाला नहीं हूँ।' अर्थलोभ कहने लगा 'अपना कपड़ा वापिस ले ले, लाख ऊपर से और ले ले। ' लेकिन उसने कहा कि 'अब इसे किसी भाव बेचने वाला नहीं हूँ। तू सारा राज्य भी दे तो नहीं देने वाला हूँ।' पहले तो अर्थलोभ लड़ाई झगड़ा करने लगा, जब वह नहीं माना तो राजा से जाकर फरियाद की। राजा ने मानपरा को बुलाया और उसने सारी सच्ची बात कह दी। राजा भी अर्थलोभ को धिक्कारने लगा कि 'तू आदमी नहीं है, अपनी पत्नी को बेचता है। तेरे को ही जेल में बन्द किया जायेगा। आर्य पुरुष और आर्य स्त्री कभी बिकते नहीं। इसलिये तू ही जेल जाने का पात्र है।' राजा ने उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली। नौकरी से भी हटा दिया और जेल में डाल दिया। सुखधन और मानपरा उसके बाद सुख से रहने लगे। यह दृष्टांत है।

अर्थलोभ वह है जिसे अर्थ अर्थात् धन का लोभ है। वह व्यक्ति

अपनी मानपरा पत्नी को इज़्ज़त से नहीं रखता अर्थात् किसी भी चीज़ के अन्दर वह अपना सम्मान नहीं रखता। अपने धर्म को बेच दे, अपने पुत्र को बेच दे, धन कमाने के लिये अपने शरीर को भी बेच देगा। आजकल चारों तरफ देखोगे तो पता लगेगा कितने अर्थलोभी चारों तरफ हैं। यह नहीं समझना कि उसीने मानपरा को दिया। आज तो यह चीज़ बड़ी फैल रही है। बड़ी-बड़ी पार्टियों में लोग अपनी पत्नियों को लेकर जाते हैं, जो अफसरों से मीठी-मीठी बातें करके उन्हें खुश करती हैं। कुलांगनाओं को कुलटायें बनाने के लिये उन्हें वहाँ ले जाया जाता है। उनका प्रयोग अर्थलाभ के उद्देश्य से किया जाता है। और उनको मान रखा है कि ये लड़कियाँ 'सोशल' हो गई हैं, सामाजिक बन गई हैं। तुम्हारा कमाने का काम है, तुम कमाओ, औरतें क्यों दिखाते फिरते हो ? यह दृष्टि सब लोगों में धीरे-धीरे घर करती जा रही है। जैसे स्त्री वैसे ही धर्म है; मुसलमान सामने आकर बैठा, कोई सौदा खरीदने वाला है। बीच में कोई मांस की बात आ गई तो चुप रहते हो क्योंकि सौदा खरीदने आया है, अगर कुछ कह दिया तो बुरा मान जायेगा। कहने की हिम्मत नहीं कि 'तू अधर्मी है, पापी है।' क्यों नहीं कह पाते ? क्योंकि धर्म को सौदे के पीछे बेच रहे हो।

इसी प्रकार कुल को बेचता है। अच्छे-अच्छे ब्राह्मण, क्षत्रिय, कोई बात हो तो अपनी जाति छिपाते हैं। अपनी जाति को क्यों छिपाते हो ? कहते हैं कि 'आजकल कोई अपने को ब्राह्मण कहे तो लोग उसे आगे बढ़ने नहीं देते। छोटी जाति का समझ लेंगे तो काम मिल जायेगा। इसमें क्या हर्जा है, ठीक तो है।' यह कुल

को बेचना हुआ। धन, कुल और पत्नी को बेचा, आचार को भी बेचा। कहते हैं, 'महाराज ! हमारी इच्छा तो बिल्कुल नहीं होती कि होटल, रेस्तराँ में जाकर खायें लेकिन क्या बतायें, आजकल का व्यापार इस के बिना चलता नहीं है।' यह धन के पीछे आचार को बेचना है।

अर्थलोभी किसी चीज़ से बाज नहीं आता। इसलिये मानपरा को अर्थात् अपने सारे सम्मानों को भी बेचता है। जो राजनीतिक दल एक हज़ार एक गाली सुना देते हैं कि 'सारे पूँजीपति उड़ा दिये जायेंगे', उन्हीं को रुपयों की थैली भेंट करते हैं कि 'तुम जीतो', क्योंकि हमें दो-चार परमिट मिलेंगे। इसलिये कोई चीज़ ऐसी नहीं जो अर्थलोभी न बेचता हो। अपने सम्मान को बेच देता है। जिस व्यक्ति में सम्मान नहीं, वह मनुष्य नहीं है।

हम कई बार सोचते हैं कि आज हिन्दू की रगों में खून नहीं बर्फ का पानी रह गया है ! इसकी निन्दा लोग इसके मुँह पर करते हैं, समाचार-पत्रों और मासिक पत्रों में भी करते हैं, लेकिन इसका खून नहीं खौलता। यह अपने लड़कों को उन मासिक पत्रिकाओं को खरीदने से भी नहीं रोक सकता, उन्हीं मासिक पत्रों में विज्ञापन देने से *अपने* को नहीं रोक सकता ! चाहे उनमें भगवान् राम की निन्दा हो पर पत्रिका ज़्यादा बिकती है तो उसी में विज्ञापन देता है। इसकी रगों में खून नहीं, पानी भी नहीं, बर्फ का पानी है। चाहे जितने अपमान के जूते पड़ जायें, इसको कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसीलिये संसार के सब देश इसको सब जगह लताड़ते हैं, क्योंकि जानते हैं कि इसको कुछ नहीं करना है।

वह मानपरा कभी किसी सुखधन के पास गई अर्थात् जो सुख को अपना धन मानता था। सुख को धन मानने वाला जानता है कि सम्मान के साथ तीन दिन में एक दिन सूखे टिक्कड़ खाना अच्छा है लेकिन अपमान के साथ तीन दिन घी की चुपड़ी खाने में कोई सुख नहीं है। सुखधन ही जानता है कि मानपरा कितनी अच्छी चीज़ है। ऐसे सुखधन को जब मानपरा की प्राप्ति होती है, तब वह फिर उसे किसी भाव पर नहीं छोड़ता। वह फिर अपने धर्म के सम्मान को कभी नहीं छोड़ने वाला है। हरिजन को आप लोगों ने इतनी सुविधायें दीं लेकिन कोई मुसलमान हरिजन नहीं बना। जैसे ब्राह्मण-क्षत्रिय कहता है कि 'मैं हरिजन ही बन जाऊँ तो अच्छा है, नौकरी ही मिल जाये', ऐसे कोई मुसलमान ऐसा कहते नहीं सुना, करते नहीं देखा है। धर्म, कुल, आचार कभी किसी बात को वह नहीं बेच सकता, क्योंकि उसके अन्दर सम्मान है। जो वास्तविक धनी होता है, वह सुख-धन वाला होता है, अर्थलोभी नहीं होता। जब अर्थलोभ को छोड़ कर सुखधन बनेगा तभी वास्तविक सुख की प्राप्ति होगी। जैसे अर्थलोभी का मान भी गया, मान जाने के बाद जेल भी गया, धन भी गया; इसी प्रकार अर्थलोभ के कारण ये लोग अपनी पत्नियों को चाहे मिनिस्टरों के साथ नचा दें चाहे उनके पैरों पर जाकर थैली रखें, अंत में वे सब छीनकर और तुम्हें धक्का मारकर जेल में डालने वाले हैं। लेकिन अर्थलोभी इस बात को नहीं समझ पाता। जब जेल में जाकर पड़ेगा तब हाय-हाय करेगा कि 'मैंने वैदिक अर्थव्यवस्था को छोड़कर अर्थ के चक्कर में अपना सब कुछ खो दिया और अंत में जिस अर्थ का लोभ था, वह भी हाथ से गया।' इसीलिये कहते हैं कि अर्थलोभी न बनकर सुखधन बनो।

प्रवचन - ६९

पुरुषसूक्त में जिस प्रकार वैदिक समाज-रचना का वर्णन किया उसका पुनः संक्षेप में संकेत कर देते हैं। वैदिक समाज-रचना विश्व की अन्य सभी समाज-रचनाओं से एक आधार पर भिन्न है। विश्व चाहे भौतिक हो, आध्यात्मिक हो, आधिदैविक हो, अधिज्योतिष हो, आधिलौकिक हो, इन सबकी रचनाओं का आधार एक है, यह वैदिक मान्यता है। अंग-प्रत्यंगों का आपस में समतोल होना वैदिक विशेषता है। समता वैदिक विचारधारा का आधार है। अवैदिक विचारधाराओं में विषमता की प्रधानता है, इसलिये उनके अन्दर कभी भी सामंजस्य नहीं। वैदिक विचारधारा से जो जितना दूर है, वह उतना ही ज़्यादा संघर्ष और अशान्ति का समर्थक है। वैदिक विचारधारा संघर्ष को ख़त्म करके शान्ति लाने में ही विश्वास करती है। विश्व की सारी समाज-रचनाओं का वैदिक समाज-रचना से यह आधारभूत फ़र्क है। इसलिये वैदिक दृष्टि सर्वत्र एक-दूसरे में समतोलता लाती है, प्रत्येक पलड़े को देखती है, एक पलड़े को नहीं। इसी का नतीजा है कि वैदिक जीव और ईश्वर के अन्दर समतोलता लाता है। जीव और ईश्वर यदि सर्वथा विषम होंगे तो जीव और ईश्वर की विषमता राजा और प्रजा की विषमता हो जायेगी, मालिक और नौकर की विषमता हो जायेगी, क्योंकि यदि मूल में तुमने विषमता का बीज रख लिया तो आगे भी विषमता ही आयेगी। यदि मूल में समता का बीज हो तो आगे सर्वत्र समता ही आनी है। वैदिक विचारधारा 'पुरुष' के आधार पर है। यही समाज-रचना का

आधार हुआ।

जैसे वैदिक सिद्धान्त तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जीव, जगत् और ईश्वर तीनों के भेद को मिटाकर अभेद की सिद्धि करता है कि जीव, जगत्, ईश्वर प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः एक अखण्ड चिन्मात्र ही है, उसी प्रकार वह सामाजिक दृष्टि से मानता है कि परब्रह्म परमात्मा समाजपुरुष का रूप लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रूपों में प्रतीत होता हुआ भी केवल परमात्मा ही है। जीव में ब्रह्म कम और ईश्वर में ब्रह्म ज़्यादा हो, ऐसा नहीं है ! भेद प्रतीत होने पर भी वस्तुतः चेतन कम और अधिक नहीं है। इसी प्रकार ब्राह्मण में वह ब्रह्मतत्त्व ज़्यादा हो, क्षत्रिय में कम और वैश्य में उससे कम हो, ऐसा नहीं है। जैसे जीव और ईश्वर का भेद प्रतीत होते हुए ही वह एक है, ऐसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय का भेद प्रतीत होते हुए ही वे सब समाज-पुरुष से अभिन्न हैं। जो लोग यह कहते हैं कि 'क्षत्रिय ब्राह्मण क्यों नहीं हो सकता ?' वे द्वैतवादी हैं। वे सोचते हैं कि 'यह भेद वास्तविक है, इसको कैसे-कैसे मिटाकर अभेद लायें।' जीव किसी साधना के द्वारा ईश्वर *बनता* नहीं है। जिस काल में जीवरूप में प्रतीत हो रहा है, उस काल में ही ब्रह्म है। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर लिखते हैं 'इदंबुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्मैव' जिस समय तुमको संसार इदंरूप से दीख रहा है, उस समय भी ब्रह्मरूप ही है। यह नहीं कि जब निर्विकल्प समाधि लगाओगे तब जगत् ब्रह्मरूप होगा। जिस समय इदंरूप में प्रतीत हो रहा है, उस समय भी ब्रह्म ही है।

इसी प्रकार यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य समाजपुरुष से अलग होते तो प्रश्न उठता कि ब्राह्मण क्षत्रिय क्यों नहीं, क्षत्रिय वैश्य

क्यों नहीं, और वैश्य ब्राह्मण क्यों नहीं, इत्यादि। वेदांत की दृष्टि से विचार करने पर झगड़ा इसलिये नहीं है कि ब्राह्मण ब्राह्मण रहते हुए, क्षत्रिय क्षत्रिय रहते हुए ही और वैश्य वैश्य रहते हुए ही समाजपुरुष से अभिन्न है। पुरुष-विधता की विचित्र कल्पना है, यह वेदांत की समाज-रचना की विशेषता है। जिस प्रकार हाथ हाथ रहते हुए ही हमसे अभिन्न है। ऐसा नहीं कि हाथ जब मुँह बन जायेगा, तब मेरा अंग बन जायेगा ! अथवा पैर को हाथ बनने की स्वतंत्रता क्यों नहीं मिलती ?—ऐसा कोई प्रश्न नहीं बनता, क्योंकि पैर पैर रहते हुए ही मेरा उतना ही अभिन्न अंग है जैसे हाथ हाथ रहते हुए, मुँह मुँह रहते हुए मेरा अभिन्न अंग है। पुरुष-विधता यह है कि भेद रहते हुंए ही अभेद दृष्टि है।

इस रचना को न समझने के कारण भारतवर्ष ही नहीं, संसार में केवल ब्राह्मण क्षत्रिय ही नहीं लड़ रहे हैं, अब तो वह लड़ाई घर की दीवालों में पहुँच गई है। स्त्री कहती है कि 'मैं पुरुष क्यों नहीं बन सकती ?' अर्थात् मैं पुरुष का कार्य क्यों नहीं कर सकती? वह भी वैसे ही सोचती है जैसे क्षत्रिय सोचता है कि मैं ब्राह्मण बनकर वेदपाठ क्यों नहीं कर सकता ? इसी प्रकार स्त्री कहती है कि 'मैं कोट-पैण्ट पहनकर दफ्तर जाकर नौकरी क्यों नहीं कर सकती ?' वेदांत की दृष्टि से स्त्री को पुरुष बनना नहीं है, बल्कि स्त्री रहते हुए ही वह समाजपुरुष की गृहस्थी का अभिन्न अंग है और पुरुष पुरुष रहते हुए ही समाज का अभिन्न अंग है। यह थोड़ा-सा कठिन मालूम पड़े, लेकिन वेदांत के विचारक समझ जायेंगे कि नाम-रूपों में परिवर्तन नहीं करना है, नाम-रूपों का बाध करना है। नाम-रूप एक दूसरे के प्रति एक-जैसे हैं। रस्सी

में दीखने वाला साँप ज़्यादा अच्छा होता हो और रस्सी में दीखने वाला भूछिद्र कम अच्छा होता हो, ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुतः जो सत्यांश (रस्सी) है वह साँप और भूछिद्र दोनों में एक-जैसा है और मिथ्यांश तो मिथ्या है ही, उसके परिवर्तन में कोई तात्पर्य नहीं है। 'चेतनदृष्ट्या, समाजपुरुष की दृष्टि से, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों अभिन्न हैं, नाम-रूप की दृष्टि से भिन्न रहें, उससे कोई फ़र्क नहीं। यह पुरुषविधता की दृष्टि है।

इसलिये हमारी सृष्टि संघर्षात्मक नहीं है। हमारी सहयोगात्मक सृष्टि है। फ़र्क केवल प्रतियोग और सहयोग का ही है। विदेशी समाजरचना का आधार प्रतियोगिता का है अर्थात् एक-दूसरे से झगड़े का है। हमारी समाज-रचना का आदर्श सहयोगिता अर्थात् एक-दूसरे से मिलना है। हमारा मूल आधार समग्र वेद का सार-वाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि'। संसार के विचारक 'अहम्' अर्थात् जीव और 'ब्रह्म' अर्थात् ईश्वर दोनों को प्रतियोगी मानते हैं। जैसे प्रतियोगी एक-दूसरे का आमना-सामना करते हैं, ऐसे ही बाकी जितने लोग हैं, वे जीव-ईश्वर को आमने-सामने रखते हैं, क्योंकि वे उन्हें अलग-अलग मानते हैं। वेदांत जीव ईश्वर को आमने-सामने नहीं करता बल्कि उन्हें एक-साथ रखता है। हमारी समग्र रचना का आधार सहयोगिता है, 'तुमको हम अपने में मिलाकर एक रखें'—बस यही हिन्दू दृष्टि है। इसीलिये जहाँ भेद होता भी है, वहाँ हम अभेद देखते हैं, ढूँढते हैं कि हम दोनों में समानता क्या है। प्रतियोगिता वाले हमेशा फ़र्क देखते हैं।

संसार में सबसे बड़ा फ़र्क कौन-सा है ? अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, साढ़े तीन हाथ के शरीर में फँसा हुआ, प्रतिक्षण

अपने दुःखों से रोने और कराहने वाला जीव है, यही जीव का रूप है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सारी सृष्टि को चलाने वाला कभी भी जहाँ दुःख-शोक का स्पर्श नहीं, वह ईश्वर है। हर दृष्टि से देखने पर दोनों ऐसे अलग-अलग हैं कि मनुष्य को आश्चर्य होता है कि इनमें क्या समानता हो सकती है ! लेकिन वेदांती का साहस देखो कि सर्वथा एक-दूसरे से अलग प्रतीत होने वाले जीव-ईश्वर के अन्दर भी वह चेतन की समानता ढूँढ लेता है। जब जीव और ईश्वर की एकता को समझ लिया तब बाकी जगहों की एकता समझना बड़ा सरल है। क्यों बार-बार 'अहं ब्रह्मास्मि' के ऊपर ज़ोर दिया जाता है ? क्योंकि जहाँ एकता कहीं नज़र नहीं आती, यदि वहाँ एकता देख लो तो दूसरी जगह एकता स्वतः दीखेगी। एक कहावत है कि जिस व्यक्ति ने अपने धक्केमात्र से हाथी को मार दिया, उसके बारे में आगे कोई प्रश्न करे कि 'चींटी आयेगी तो क्या करोगे' तो हँसी आयेगी। अथवा हिन्दी में भी कहते हैं कि 'हाथी हाथी डूब गये चींटी पूछे कितना पानी।' चींटी देख रही है कि हाथी डूब रहे हैं, फिर भी पूछ रही है कि 'मैं डूबूँगी या बच जाऊँगी ?' इसी प्रकार जहाँ कहीं एकता नज़र नहीं आती—एक अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, प्रतिक्षण दुःख के झोंके में बहने वाला और दूसरा प्रतिक्षण आनंदघन—उन दोनों में जब एकता देख ली तब फिर और कहाँ एकता नज़र नहीं आयेगी ? यही वेदांत और हमारी समाज-रचना का आधार है। जो भी सामने आये उसे प्रतियोगी नहीं समझो, उसकी समानता को देखकर अपने साथ मिला लो, उससे सहयोग कर लो। सहयोग करने का मतलब ही होता है कि कुछ समानतायें और कुछ विषमतायें होंगी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की समाज-रचना के आदर्श रूप का शास्त्र में वर्णन है। सत्त्व, रज और तम केवल इन एक-एक से व्यवहार नहीं होता। देवताओं के विचार से बताया था कि व्यावहारिक भूमि पर सत्त्व के साथ रज, और तम का भी अनुप्रवेश रहेगा। अंतिम बात बताते हैं, जो इस व्यवहार का तृतीय सोपान है : ब्राह्मण भी तीन तरह के हैं—१. ब्राह्मण-ब्राह्मण, २. ब्राह्मण-क्षत्रिय और ३. ब्राह्मण-वैश्य। इनमें से फिर हर-एक के कई भेद हैं। आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र ने ब्रह्मसूत्र पर भामती टीका की कल्पतरु-टीका की टीका परिमल में बड़ा विचार किया है और वहाँ उन्होंने एक सौ आठ प्रकार के भेद किये हैं। उतने भेद तो यहाँ नहीं बतायेंगे। मूल आधार यही है कि ब्राह्मण के भी पुनः उक्त तीन भेद हैं। भगवान् भाष्यकार इस तीसरे सोपान को बताते हुए भाष्य में लिखते हैं 'रजउपसर्जनीभूतस्य तमः प्रभूतः, तमउपसर्जनीभूतस्य रजः प्रभूतः' कहीं रज उपसृष्ट हो जाता है और तम से प्रभूतता आ जाती है तो कहीं तम उपसर्जन होता है, रज से प्रभूतता आ जाती है। सत्त्वगुण के होने पर भी ब्राह्मण में रज और तम का उपसर्जन और प्रभूतत्व का भेद है। साक्षी और द्रष्टा दोनों में क्या भेद है ? साक्षी में उपाधि उपसर्जन हो जाती है और प्रभूतता चेतन में आ जाती है। द्रष्टा के अन्दर चेतन उपसर्जनीभूत हो जाता है और उपाधि (वृत्ति) प्रभूत हो जाती है। बस इतना ही फ़र्क है, और कुछ नहीं। लेकिन इतने से आगे बड़ा फ़र्क हो जाता है, यह विषय दूसरा है। इस प्रकार जब विचार करके देखते हैं तो प्रत्येक के अन्दर उपसर्जन और प्रभूतत्व दोनों में फ़र्क आ जाता है। जैसे ब्राह्मण में ऐसे ही क्षत्रिय में तीन

भेद—क्षत्रिय-क्षत्रिय, क्षत्रिय-ब्राह्मण और क्षत्रिय-वैश्य और ऐसे ही वैश्य में वैश्य-वैश्य, वैश्य-ब्राह्मण और वैश्य-क्षत्रिय।

विचार करके देखो कि जो ब्राह्मण-ब्राह्मण होगा, वह क्या करेगा ? वह वेद को पढ़ेगा और पढ़ायेगा, शास्त्रचिन्तन करेगा, शास्त्र के नवीन अर्थों का उद्भावन करेगा और खूब आनन्द में रहेगा, कभी दुःखी नहीं होगा। यह ब्राह्मण-ब्राह्मण है। मनुष्य तब दुःखी होता है जब रजोगुण से कामना उत्पन्न होती है। यही दुःख का मूल है। ब्राह्मण-ब्राह्मण में तो रजोगुण दबा हुआ है, इसलिये उसकी दृष्टि है—

'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः।।'

वह कहता है कि देवराज इंद्र भी हमें तो सुखी दिखाई नहीं देता। कभी राक्षस आकर मारते हैं, कभी अप्सराओं का झंझट है और कभी ऋषि तपस्या करने लग जायें तो उनसे भय का दुःख है। इसलिये हमें तो उसमें सुख नज़र नहीं आता। ब्रह्मा जी बेचारे इतने बड़े देवता, उनके घर में ही गायत्री और सावित्री झगड़ा करती रहती हैं ! हम कई बार सोचते हैं कि क्या हालत होती होगी ? विष्णु के यहाँ भी श्री देवी और भू देवी दोनों बैठी हैं। वे कभी राक्षसों को मारने के लिये जाते हैं, कभी उनकी पत्नी को राक्षस चुरा ले जाते हैं, कभी ऋषि लोग शाप दे देते हैं। क्या-क्या टण्टा नहीं करना पड़ता ! किसी को सुख नहीं है, दीखता ही है कि सुख है। चक्रवर्ती राजा को भी दुःख ही है। बेचारा हमेशा सोचता रहता है कि कोई जहर न दे दे। इसी डर से मरता है, भोजन

खा नहीं सकता। मैसूर महाराजा जब पढ़ा करते थे उस समय दक्षिण देश में एक दुकान थी जहाँ मसालदोसा बड़ा बढ़िया बनता था। पढ़ते समय वहाँ जाकर मसालदोसा खा लिया करते थे। जब उनके पिता कृष्णराज मर गये, तब इनका राजतिलक हो गया। महीने बीस दिन बाद ड्राइवर से कहा, 'मसालदोसा वाले की दुकान पर चलो, वहाँ चलकर मसालदोसा खायेंगे।' उनके ए०डी०सी० ने कहा 'आप वहाँ जाकर नहीं खा सकते क्योंकि जान का खतरा है।' उन्होंने कहा, 'भले आदमी। बीसियों साल से खा रहा हूँ, कभी जान पर खतरा नहीं हुआ, अब क्या हो गया ?' कहा, 'उन बीसियों साल में आप राजा नहीं थे।' वे बड़े विद्वान् और संस्कृत तथा महात्माओं के बड़े प्रेमी हैं। एक दिन हमसे कहने लगे 'कहने को हम राजा हैं, लेकिन मसालदोसा नहीं खा सकते !' विचार करो कि जो बेचारा खाने में भी स्वतंत्र नहीं, उसको क्या सुख होना है ? सुख उसको होता है जो सारे राग को छोड़कर एकांत में जाकर रहता है। जो ब्राह्मण-ब्राह्मण होगा वह खूब वेद-स्वाध्याय करेगा, शास्त्रों के तात्पर्य को समझेगा और एकांत में रहते हुए आनंद का भोग करेगा।

जिसमें रजोगुण है, वह ब्राह्मण-क्षत्रिय बनेगा। वह लोगों को शस्त्र-शिक्षा देगा, जैसे द्रोणाचार्य। राजनीति की शिक्षा देगा, लोगों को व्यावहारिक तत्त्वों की शिक्षा देगा। है तो वह ब्राह्मण, इसलिये उस समय भी कर तो वह ज्ञान का काम रहा है लेकिन यह सब करते हुए भी उसमें अनुवर्तित क्षात्र है। इसलिये उन्हें नीति और व्यवहारशास्त्र की शिक्षा देगा, कहीं उच्च पदों पर न्यायाध्यक्ष बनेगा। इन सब कामों को वह ब्राह्मण करेगा। यदि उसके अन्दर

तम का प्रभूतत्त्व हो गया तो वह शिल्पशास्त्रों का अध्ययन करेगा, बड़े-बड़े वैज्ञानिक तत्त्व को ढूँढकर निकालेगा, उनका व्यावहारिक रूप निकालेगा कि किस प्रकार क्या किया जाये। पैसे खर्च करके मशीनों के द्वारा बड़ी से बड़ी इण्डस्ट्री खोली जाये और उत्पत्ति बढ़ाई जाये—यह ब्राह्मण-वैश्य करेगा। वह हमेशा सोच तो समाज के ही बारे में रहा है। यह ब्राह्मण-वैश्य भी कभी अपने विषय में नहीं सोचता। सोचता तो समाज की बात है। ब्राह्मण के समाज की बात ब्राह्मण-ब्राह्मण सोचता है कि किस प्रकार वेद आदि सच्छास्त्रों और परमात्म-तत्त्व में लोग आगे बढ़ें। जो ब्राह्मण-क्षत्रिय होगा वह शास्त्र, नीति और व्यावहारिक धर्म की शिक्षा देगा कि किस प्रकार समाज के अन्दर किसी भी प्रकार का दुःख न आये। दुःख की निवृत्ति भी कर रहा है, इसलिये ब्राह्मण होते हुए क्षत्रिय का काम कर रहा है लेकिन तदनुकूल ज्ञान को बढ़ाकर कर रहा है। जो ब्राह्मण-वैश्य होगा वह अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र पढ़कर ऐसा करेगा कि किस प्रकार से समाज के धन का अभिवर्द्धन हो, इसकी शिक्षा देगा, अन्वेषण करके पता लगायेगा। अगर कहीं उसके अन्दर अत्यधिक तम हो गया तो वह व्यापार भी कर सकता है लेकिन आदर्श को दिखाने के लिये अत्यंत त्यागमय व्यापार करेगा। इसी प्रकार यदि राष्ट्र पर बड़ी भारी आपत्ति आ जाये तो ब्राह्मण-क्षत्रिय शस्त्र भी ले सकता है, यह आपद्-धर्म है। इसलिये मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा है कि ब्राह्मण आपत्काल में क्षत्रिय और वैश्य के धर्म को भी अपना ले। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दुकान खोलकर अपने फ़ायदे की सोचे। यदि देखता है कि समाज में वैश्य सर्वथा विरुद्ध आचरण कर रहा है

तो केवल आदर्श दिखाने के लिये वह धर्म कर सकता है।

जो क्षत्रिय-क्षत्रिय होगा जिसमें सत्त्व और तम दबा हुआ है, वह राजा बनेगा, राज्याधिकारी बनेगा, सेनापति बनेगा या सैनिक बनेगा। ये सब क्षत्रिय-क्षत्रिय के कार्य हैं। यदि क्षत्रिय-ब्राह्मण है तो राजा का मंत्री बनेगा, बुद्धि का काम कर रहा है, वहाँ सलाह देगा। वह राय देता है कि कैसे युद्ध करना चाहिये। उसमें प्रधानता क्षत्रियत्व की रहेगी। ब्राह्मण-क्षत्रिय और क्षत्रिय-ब्राह्मण का फ़र्क यह हुआ कि ब्राह्मण-क्षत्रिय में ब्राह्मणत्व की प्रधानता है, इसलिये प्रधानता शिक्षा की और तत्सम्बन्धी चीज़ों का पता लगाने की है। जो क्षत्रिय होकर ब्राह्मण है उस क्षत्रिय-ब्राह्मण में प्रधानता क्षत्रियत्व की होगी, उन्हीं चीज़ों को दूसरों को बतायेगा। बड़े-बड़े अधिकारी जब अवकाश ग्रहण कर लेते हैं, 'रिटायर' हो जाते हैं तब लोग उनसे राय लेते हैं। मुख्य कार्य तो उन्होंने कर लिया, अब गौण कार्य—शिक्षा दे रहे हैं। ये सारे क्षत्रिय-ब्राह्मण के कार्य हैं। विधान, कानून इत्यादि बनाना क्षत्रिय-ब्राह्मण का कार्य है। ब्राह्मण-क्षत्रिय तो केवल आधार बतायेगा और क्षत्रिय-ब्राह्मण बतायेगा कि किस प्रकार उसे काम में लाया जाये। जो क्षत्रिय-वैश्य होगा, वह किस प्रकार से विदेशों में जाकर व्यापार किया जाये इसमें प्रवृत्त होगा। विदेशों में जाकर लड़ने का कार्य क्षत्रिय का है, वहाँ से कुछ धनादि लाना वैश्य का कार्य है। व्यापार से तो वैश्य ला सकता है लेकिन जाकर शक्तिपूर्वक लाना यह क्षत्रिय-वैश्य का कार्य हो गया। इसीलिये कई जगह पर अर्जुन को धनंजय नाम से कहा गया है क्योंकि वह दूसरे देशों से धन बहुत जीत कर लाता था। धन जीत कर लाना वैश्य का काम

है लेकिन क्षत्रिय के ढंग से लाता था। था तो क्षत्रिय, इसलिये धनंजय नाम पड़ा। 'टैक्स कलैक्टर' इत्यादि का काम, लोगों से कर इकट्ठा करने का काम क्षत्रिय-वैश्य का है। यह काम तो शासन का है लेकिन यहाँ सम्बन्ध धन इकट्ठा करने से है, इसलिये क्षत्रिय-वैश्य हो जायेगा। जैसे वित्तमंत्री है तो मंत्री लेकिन वित्तविषयक है। मंत्रित्व क्षत्रिय का काम है लेकिन धन-सम्बन्धी कार्य वैश्य का कर रहा है। अथवा देश की आर्थिक उन्नति के लिये एक योजना-आयोग खुला हुआ है जो योजनायें बनाता है, यह भी क्षत्रिय-वैश्य का कार्य है।

इसी प्रकार जो वैश्य-वैश्य होगा जिसके अन्दर ब्राह्मण और क्षत्रिय की अनुवृत्ति नहीं है वह तो व्यापार करेगा। व्यापार के तीनों प्रकार समझ लेना—द्रव्यों का विनिमय, नवीन द्रव्यों की उत्पत्ति और उनका विनियोग। ये सब व्यापार के ही अंग हैं। जो वैश्य-ब्राह्मण होगा, वह अर्थ के विषय में यह विचार करके लोगों के सामने रखेगा कि इसको कैसे काम में लाया जाये। ब्राह्मण-वैश्य तो केवल आविष्कार करेगा कि किस प्रकार की मशीनों से बढ़िया उत्पादन हो सकता है। वैश्य-ब्राह्मण का काम है कि उस मशीन को कहाँ लगाने से ज़्यादा फ़ायदा होगा, जैसे जहाँ कत्थे का जंगल है, वहाँ फैक्ट्री खोल दें तो ज़्यादा फ़ायदा होगा। दूर खोलने से लाने-ले जाने में ज़्यादा खर्च पड़ेगा। यह सब समझने-करने वाला वैश्य-ब्राह्मण है, प्रधानता वैश्य के विषय में है। इसी प्रकार लेखा-जोखा रखना है जैसे मुनीम; बुद्धि से काम करता है, वह स्वयं कुछ नहीं लेता-देता है। लेकिन धन का काम होने से वैश्य-ब्राह्मण का काम हो जायेगा। जो वैश्य-क्षत्रिय होगा

वह कृषि, गौरक्षा इत्यादि में उन्नति करेगा। दूसरों से सीखकर स्वयं प्रयोग करेगा, विकास करेगा। देश-देशान्तर से व्यापार, उद्योग, तकनीक आदि विषयक जानकारी एकत्र करना, उसका प्रयोग करना वैश्य-क्षत्रिय का काम है।

इस प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के भेद हैं। और भी कई प्रकार के भेद सम्भव हैं। यहाँ इतना समझ लो कि सारी समाज-रचना अत्यन्त विचारपूर्वक की गई है। यह सारी समाज-रचना तुम्हारे शरीर के अभिन्न अंगों की तरह हुई है। इसमें पुरुष-विधता कैसे है ? जैसे हाथ का काम पकड़ना है या रक्षा करना है और पैर का काम चलना है। हम तुमको बताते हैं कि कहीं-कहीं पैर में हाथ और हाथ में पैर जाति भी मिलती है ! पहाड़ के ऊपर चढ़कर जाते हैं तो एक लाठी लेकर टेकते जाते हैं। वहाँ लाठी पैर का काम कर रही है; लाठी तो जड है, इसलिये हाथ ही पैर का काम कर रहा है। हाथ की जाति पैर का काम करने मात्र से नहीं बदल गई। कहीं ऊँची चोटी पर चढ़ो तो दोनों हाथ टेककर चढ़ोगे। यहाँ हाथ पैर का काम करते हुए पैर नहीं हुए। पैरों से भी हाथ का काम होता है। कभी किसी पटुए के पास माला पिरोने दो तो देखोगे कि वह डोरा पैर से दबाकर रखता है। यहाँ पैर हाथ का काम कर रहा है। क्या पैर की जाति बदल गई ? कभी-कभी सिर भी पैर-हाथ का काम करता है। यह सबकी समझ में नहीं आयेगा, जिसने 'फुटबाल' का खेल देखा होगा, वह समझेगा—'फुट' पैर को ही कहते हैं अर्थात् पैरों से जहाँ गेंद को मारा जाये, वह खेल 'फुटबाल' है। लेकिन उसमें खिलाड़ी कई बार सिर से भी गेंद पर मार देता है, गोल हो जाता है। वहाँ सिर

ने पैर का काम किया तो क्या सिर की जाति बदल गई ? विचार करके देखोगे तो पता चलेगा कि जिस प्रकार इस शरीर की पुरुषविधता है, ठीक वैसे ही पुरुषविधता हमारे समाज-पुरुष की है। उसके अन्दर भी वैसे ही अभेद है जैसे शरीर के अंगों में अभेद है।

कारण क्या हुआ कि हम अपनी इतनी सुन्दर समाज-रचना के प्रति विरोधी हो गये ? बड़े आदमियों के लड़के अधिकतर बिगड़ते हैं, क्योंकि उनको जीवन की सारी सुख-सुविधायें उपलब्ध होती हैं, वे कभी सोचते ही नहीं कि यह सुख-व्यवस्था कभी हाथ से निकल भी सकती है। विद्वानों के लड़के अधिकतर विद्वान् नहीं निकलते। इसका कारण यह है कि कक्षा में जो अधिकतर पढ़ने वाले लड़के हैं, उन लड़कों से तो विद्वान् का लड़का अधिक बुद्धिमान् होता ही है, क्योंकि उसके घर का वातावरण ही वैसा है। कक्षा के दूसरे लड़के अंग्रेज़ी के जिन शब्दों को तीन दिन तक घोटकर याद करते हैं, वे शब्द विद्वान् के लड़के को पहले ही आते हैं क्योंकि माँ-बाप उन शब्दों को काम में लेते हैं तो बच्चे भी सीख जाते हैं। इसलिये उन्हें आगे ज़्यादा पढ़ने और मेहनत करने की प्रेरणा नहीं मिलती। उनको वह विद्या सुख से उपलब्ध हो गयी। जब उनको आगे पढ़ने की मेहनत नहीं करनी तो जितना उन्होंने घरवालों से ले लिया उतना ही रह जाता है, आगे विद्या नहीं बढ़ती। जिसको जिन सुख-सुविधाओं की उपलब्धि होती है, वह उसके लिये फिर परिश्रमशील नहीं रह जाता। इसी प्रकार हमारी वर्ण-व्यवस्था की समाज-रचना इतनी सुन्दर थी कि इसमें सब सुखी थे। उस सुख के कारण हम इसके

प्रति उदासीन हो गये। हम समझने लगे कि समाज का सुख तो ऐसे ही हो जाया करता है। यह जो हमारे अन्दर प्रमाद आया, यही हमारे पतन का कारण है। हमारे ऋषियों ने इतनी सुन्दर व्यवस्था बनाई कि हम लोगों को यह पता ही नहीं कि अगर यह व्यवस्था नहीं रहेगी तो क्या होगा। हम समझते थे कि ऐसे ही यह व्यवस्था चलती रहेगी।

जैसे बड़े आदमी का लड़का नहीं समझता कि पिता जी ने एड़ी से चोटी का परिश्रम करके कारखाने लगाये हैं। वह सोचता है कि पिता जी तो दो-चार घण्टे कार्यालय जाकर घर चले आते हैं। उन्होंने अपनी जवानी में कितना परिश्रम किया होगा जिसका नतीजा है कि वह अब जिस बात का निर्णय पाँच मिनट में दे सकते हैं, मुनीम पाँच दिन में नहीं दे सकता। चूँकि उनके पूर्व का जीवन उन लड़कों ने देखा नहीं, इसलिये समझते हैं कि 'पिताजी जैसे मन में आया कह देते हैं, हम भी कह देंगे।' लेकिन यों कहने से वह व्यापार ही खत्म हो जायेगा ! इसी प्रकार बड़े भारी प्राध्यापक का लड़का समझता है कि पिताजी कालेज जाने से पहले दो-एक पन्ने पलटकर व्याख्यान दे आते हैं। अथवा पी०एच०डी० की परीक्षा करने से पहले आधा घण्टा तक एक-आध किताब देखते हैं और परीक्षा ले आते हैं। लेकिन वह यह नहीं जानता कि उन्होंने उस किताब को पाँच सौ बार पहले देख रखा है, इसलिये पन्ने पलटते ही सब प्रतिभात हो जाता है। उनका परिश्रम वाला समय उसने नहीं देखा है, इसलिये सोचता है कि 'हम भी ऐसे ही बोल आयेंगे।' लेकिन उसका काम ऐसे नहीं चलेगा।

इसी प्रकार हमारे ऋषियों ने कितना परिश्रम करके और कितने कष्ट उठाकर इस समाज-रचना को बनाया, यह हम लोगों के सामने नहीं है। न जाने कैसी-कैसी परिस्थितियों का प्रयोग करके उन्होंने यह निर्णय किया। श्रुति ने तो इतना ही कहा है 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'; लेकिन उन्होंने परम श्रद्धापूर्वक कितना प्रयोग किया और अंत में निर्णय पर आये कि इस श्रुतिवाक्य का क्या अर्थ है। अक्षरों के अर्थ समझने से *ज्ञान* नहीं होता, बल्कि उसका प्रयोग जीवन में करना पड़ता है। श्रुति ने कह दिया कि सत्य ही जीतता है 'सत्यमेव जयते', झूठ नहीं जीतता। इसका प्रयोग करो। दस हज़ार आदमी खड़े होकर कहें कि 'हम सत्य ही बोलेंगे' और दस हज़ार आदमी कहें कि 'हम झूठ ही बोलेंगे', तब पच्चीस साल के प्रयोग से पता चलेगा कि सत्य जीतता है या झूठ। तभी पता चलेगा कि व्यवहार में सत्य जीतता है या नहीं। यदि नहीं जीतता तो भी हमें श्रुति पर श्रद्धा है, इसलिये जो सत्य श्रुति कहती है वह दूसरा होगा, उसे ढूँढेंगे। श्रद्धा हमेशा कर्म करवाती है। श्रुति ने 'सत्यमेव जयते' कहा है तो ठीक ही है। जो कहते हैं कि 'झूठ बोले बिना काम नहीं चलता', उन्होंने कभी प्रयोग करके नहीं देखा। ऋषियों का वह परिश्रम हमारे सामने नहीं रहा। इसका नतीजा हुआ कि हमने अपने को कुछ का कुछ मान लिया। विदेशियों ने इसका लाभ उठाया और हमसे कहने लगे कि 'हम तुमको बढ़िया व्यवस्था देंगे।' हम भी लालच में आकर उनके पिछलग्गू बन गये। अपनी सुघड़ व्यवस्था तो हाथ से गयी और उनकी अव्यवस्था में उलझ गये।

एक प्राचीन कथा आती है : विलासपुर में विलासशील नाम

का राजा राज्य करता था। कमलप्रभा नाम की उसकी पत्नी थी। कमलप्रभा बड़ी सुन्दर थी। लेकिन राजा का उसके साथ विवाह तब हुआ जब वह वृद्ध हो गया था, उसकी उम्र प्रौढावस्था को पार कर गई थी। उस समय उसने कमलप्रभा की सुन्दरता को देखकर उसके साथ विवाह कर लिया। वृद्धावस्था में विवाह होने पर मनुष्य के हृदय में हमेशा एक भाव रहता है कि औरत जवान है, इसलिये वह बड़ा सज-धज कर रहता था। लेकिन कुछ भी करे, थोड़े वर्षों में बाल सफेद होने लगे, मुँह पर झुर्रियाँ पड़ने लगीं। चाहे जितना भी परिश्रम करे, ये सब लक्षण तो बाहर आने ही हुए। राजा दो साल के लिये राज्य के किसी काम से विदेश चला गया। वह उम्र ऐसी होती है कि दस दिन में ही आदमी का चेहरा बदल जाता है। जैसे आदमी जब बालकपन से जवानी में जाता है तब बच्चे को छह महीने बाद देखो तो पहचान में नहीं आता, क्योंकि शरीर के सारे अंग-प्रत्यंग बदलते जाते हैं। उसी प्रकार जब प्रौढावस्था वृद्धावस्था में बदलती है तब भी थोड़े दिनों में काफ़ी फ़र्क हो जाता है। राजा को काम में साल-डेढ़ साल विदेश में ही लग गये। उसने देखा कि 'मेरा शरीर तो बहुत बुड्ढा हो रहा है। अब मैं कमलप्रभा को क्या मुँह दिखाऊँगा ?' मानों उसके ऊपर पाला पड़ गया हो जैसे घास पर पाला पड़ जाता है। उसे बड़ी शर्म आई और यहाँ तक मन में विचार हुआ कि 'इससे अच्छा तो मैं जहर खाकर मर जाऊँ, उसके पास नहीं जाऊँगा क्योंकि वह बड़ी सुन्दर है।' जब उसने यह बात अपने किसी सहृदय से प्रकट की तो उसने कहा 'यहाँ एक बहुत अच्छे वैद्य रहते हैं, वह शायद तुम्हें जवान बना दें।'

तरुणचन्द्र नाम का वैद्य वहाँ रहता था। उसको बुलाया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि 'यह अच्छा बेवकूफ मिला है जो बुढ़ापे को रोकना चाहता है !' समय की गति एक तरफ जाती है, वापिस तो जा नहीं सकती लेकिन इस बहाने से वैद्य आदि को पैसा बनाने का अच्छा मौका मिलता है। उसने विलासशील राजा से कहा 'आठ महीने लगेंगे और तब तक कल्प करवाऊँगा। एकांत में एक कमरे के अन्दर बंद रहना पड़ेगा और वहाँ और कोई आदमी नहीं रहेगा।' मंत्रियों ने सुना तो समझाया 'यह क्या करते हो ? गया हुआ यौवन कभी वापिस नहीं आता, कुछ विचार करो कि यह कैसे हो सकता है ?' लेकिन कामरूपी कवच से आच्छादित राजा की बुद्धि में मंत्रियों की यह बात नहीं घुसी, उन्होंने बहुत समझाया लेकिन राजा को नहीं जँचा। उलटा वह अपनी बुद्धि से कहने लगा 'पुराणों में पढ़ा है कि ययाति को अश्विनीकुमारों ने, धन्वन्तरि ने जवान बनाया था तो मैं क्यों नहीं बन सकता ?' मंत्रियों ने कहा 'ये सब प्राचीन ऋषियों और देव-वैद्यों की बातें हैं, आजकल के ज़माने में नहीं हो सकतीं।' उसने कहा 'यह वैद्य कहता है कि हो सकता है।' मंत्रियों ने कहा 'एक विश्वासी आदमी को तो अपने पास रहने दो।' लेकिन राजा को तो मानना था नहीं। वैद्य ने उसे अकेले ही एक बंद कमरे में रखा। वैद्य का एक नौकर साथ रहता था। खूब दवाईयों का जाल चला।

धीरे-धीरे वैद्य ने सोचा कि राजा की जगह अपना काम बनायें ! इसके लिये वह छह महीने तक ढूँढता रहा और एक दिन उसे एक लड़का मिला जिसका चेहरा राजा से मिलता-जुलता था। वैद्य

ने उससे कहा कि 'मैं तुझे राजा बना दूँगा लेकिन यह रहस्य की बात है, इसलिये गुप्त रहे।' वह लड़का गरीब था। उसने सोचा 'इससे बढ़िया और क्या काम हो सकता है।' वैद्य ने उसे ले जाकर उसी सुरंग में राजा के पास रख दिया। वह धीरे-धीरे राजा से राज्य की सारी बातें पूछता रहा कि 'आपने अपने जीवन में क्या-क्या किया है, अमुक मंत्री क्या कार्य करता है' इत्यादि। इस प्रकार उसके जीवन का सारा इतिहास ले लिया। वह लड़का वहाँ बैठा-बैठा सब सुनता रहा। आठ महीने का समय पूरा होने को आया तो एक दिन वैद्य ने रात्रि में राजा को मारकर ज़मीन में गाड़ दिया। मंत्रियों से कहा 'समय हो गया है और तुम्हारे राजा भी बिल्कुल जवान हो गये हैं, दस-पंद्रह दिन में बाहर आयेंगे। तब तक वहीं चलकर दर्शन कर लो, आप लोग खुश हो जायेंगे।' उसने ले जाकर दिखाया तो सब लोग बड़े खुश हो गये, चेहरा राजा से मिलता-जुलता था ही, वही जवान लड़का वहाँ बैठा हुआ था। सब कहने लगे कि 'तरुणचन्द्र ने असम्भव को सम्भव कर दिया।' प्रारंभ में जब कोई मिलने जाये तब तरुणचन्द्र बाहर से पहले ही कह दे 'राजन् ! अमुक आदमी आया है।' लड़का बुद्धिमान् था, धीरे-धीरे उसने सारी बातें सीख ली थीं और लोगों का चेहरा भी पहचान लिया।

वह दस दिन के बाद राजा की तरह बाहर निकला। खूब ठाठ-बाट से सारा इंतजाम था। स्वदेश गया तो सब लोग बड़े प्रसन्न हुए कि हमारे राजा बिल्कुल जवान होकर आये हैं। रात्रि में वह कमलप्रभा के पास सोने गया। कमलप्रभा केवल सुन्दरी ही नहीं, विलक्षण बुद्धि की थी। जब उसने राजा से दो-चार बातें

कीं तो सोचा कि इसका बात करने का ढंग कुछ दूसरा है, फ़र्क पता लग गया। जब दोनों एकांत में रात्रि व्यतीत करने लगे तब कमलप्रभा को दृढ निश्चय हो गया कि 'यह तो मेरा पति नहीं है।' लेकिन कहा कुछ नहीं। उसने उस दिन तो टाल दिया कि 'आप बहुत थककर बहुत दिन बाद आये हुए हैं, आज आराम करो।' सवेरे ही अपने पुरोहित को बुलाकर कहा, 'बात है तो बड़ी भयंकर और मैं किसी से कह भी नहीं सकती, क्योंकि सबको यह निश्चय है कि यह राजा है लेकिन यह राजा नहीं है, यह मेरा निश्चय है।' पुरोहित ने कहा 'कुछ बातें पूछी हैं ?' बोली—'बातें तो ये सब जानता है, मेरे शरीर के भी अंग-अंग की बात जानता है लेकिन केवल बातें जानता है। सिखाया हुआ तो पक्का है।' पुरोहित ने पूछा 'कोई प्रमाण मिला है ?' उसने कहा—'प्रमाण नहीं है, इसीलिये तो आपको बुलाया है लेकिन हृदय गवाह है और मेरा दृढ निश्चय है। आज की रात तो मैंने अपने को बचा लिया। आगे अब आप सम्भालना।' पुरोहित ने कहा—'यह तो बड़ा सरल है।'

उसने दूसरे दिन राजा से कहा 'आप तो जानते ही हैं, तारा डूबा हुआ है, इसलिये थोड़े दिन ब्रह्मचर्य रखना।' उसको क्या पता ! झट मान गया। पुरोहित ने एक बड़े यज्ञ की व्यवस्था की। लड़के को दैनिक कार्यों की बातें तो सब सिखा दी थीं लेकिन छोटी-मोटी बातें यों सीखने में नहीं आतीं। पुरोहित ने यज्ञ में जब मंत्र बोले तब किसी-किसी मंत्र में कुछ भेद करके बोला, सोचा कि अगर राजा होगा तो कहेगा कि 'पुष्प चढ़ाने के लिये आप कुछ और मंत्र कैसे बोल गये ?' या कहेंगे कि 'क्या नये मंत्र तैयार

किये हैं जिनकी शक्ति ज़्यादा है ?' इस प्रकार यज्ञ के दौरान पुरोहित ने थोड़े समय में ही यह निश्चय कर लिया कि 'रानी ठीक कहती है, यह राजा नहीं है।' मंत्रियों को बुलाकर कहा 'हमारे साथ धोखा हो गया है।' इतने दिनों में मंत्रियों के अंदर भी कुछ संदेह आ गया था कि मामला कुछ गड़बड़ है। बातें तो यह सब जानता है लेकिन जब किसी बात पर नया फैसला देता है तब जिस प्रतिभा और अनुभव से राजा फैसला देता था, वह प्रतिभा इसकी नहीं है, यह बच्चों जैसा निर्णय करता है। वह राजा साठ साल राज्य कर चुका था, वह अनुभव और प्रतिभा इसमें नहीं है, इसमें नौसिखिये की प्रक्रिया है। शरीर जवान हो जाये, यह हो सकता है लेकिन बुद्धि में तो अवस्था के अनुसार प्रौढता और पूर्णता आनी चाहिये। मंत्रियों को भी कुछ संदेह हो चुका था।

इस बीच उस राजा को भी बड़ा घमण्ड हो गया था। तरुणचन्द्र कुछ माँग करे तो कह दे कि 'इतना नहीं मिलेगा।' वह कहे 'मैंने ही तो तुझे राजा बनाया है, मेरे साथ ही ऐसा करता है?' एक दिन गुस्से में राजा ने उससे कहा 'ज़्यादा बक-बक करेगा तो जल्लाद से तेरा सर कटवा दूँगा।' तरुणचन्द्र ने समझ लिया कि खतरा हो रहा है। तब तक मंत्रियों ने तरुणचन्द्र से पूछा 'सच बता कि असली राजा कहाँ है।' वह उस लड़के से तो प्रताडित हुआ ही था, रो पड़ा। कहा—'मैं सच्ची बात बता दूँगा, लेकिन मुझे प्राणदान का वचन दो।' मंत्रियों ने कहा ठीक है, 'तुझे कुछ नहीं कहेंगे।' कहा 'यह राजा नहीं है। मैंने तो लोभ में आकर एक जवान लड़के को यह पद दिलवा दिया है।' मंत्रियों ने पूछा 'फिर राजा का क्या हुआ ?' कहा 'उन्हें मारकर गाड़ दिया।'

वहाँ जाकर खोदा तो राजा की लाश निकली, पता लगा कि यही राजा है। वापिस आकर राजा के पुत्र को राजा बनाया गया और नकली राजा को फाँसी की सजा दी गई।

जैसे यह कथा है, वैसे ही आज हमारे समाज की कथा है। जैसे विलासपुर में विलासशील राजा राज्य करता था वैसे ही हमारा भारतवर्ष परमात्मा की विलास-स्थली था। हमारे यहाँ भारतवर्ष को भगवती के विलास का स्थल बताया है। हमारे जितने नगर हैं, यहाँ परमात्मा आकर खेलता है, विलास करता है। इस विलासपुर के अन्दर रहने वाले हम लोगों ने अपने प्रमाद के कारण खुद ग़लत विलास करने वाले को अपना राजा मान लिया है। विलासशील राजा होने के कारण हमने प्रमाद अधिक करना शुरू कर दिया। प्रमाद के कारण हम अपने बुढ़ापे को छिपाते हैं। अमरीका का पता लगाये पाँच सौ साल हुए हैं और उनको आजाद हुए तीन सौ साल हुए हैं। रूस के कम्युनिज़्म को पचास साल हुए हैं। इंग्लैंड में आजादी हुए सात सौ साल हुए हैं। ये सारे हमारे सामने जवान राज्य हैं। लेकिन क्या हो गया है ? हम हैं तो बुड्ढे, इसमें कोई संदेह नहीं है। बुड्ढे होकर तरुणचन्द्र के चक्र में आ जाने से आजकल के तथाकथित उपकारक, सलाहकार हमसे आकर कहते हैं कि 'हम भारत राष्ट्र को जवान बना देंगे।' हम भी विचार नहीं करते कि हमारी बुजुर्गी कहाँ जानी है ! आज 'युवा तुर्क' हम पर शासन करते हैं। किसी समय 'तुर्क' को हम निन्दा का वचन मानते थे। महाराणा प्रताप कहा करते थे कि अकबर तुर्क ही कहा जायेगा। आज उन पर घमण्ड किया जाता है कि ये युवा तुर्क हैं। हमारे यहाँ जब कोई आदमी अत्यंत घृणित

होता था तब कहते थे कि 'यह वाममार्गी है।' आज जो जितना वाममार्गी हो उसे उतना श्रेष्ठ माना जाता है। बल्कि दक्षिणपंथी गये-बीते माने जाते हैं। हमारी भाषा में 'वाममार्गी' और 'तुर्क' अत्यंत भ्रष्ट शब्द थे, आज उन्हीं को लोग गौरवार्थक मानते हैं। आज हम यह नहीं सोचते कि यह ठीक है या गलत है, इतना ही सोचते हैं कि यह दक्षिणपंथी है या वामपंथी। हमारे देश में आदमी अच्छा-बुरा नहीं रह गया है, बल्कि किस पंथ को मानने वाला है, यही देखा जाता है।

इन सबने तरुणचन्द्र की तरह सिखा रखा है कि ये हमें जवान बना देंगे। जवान बनने के चक्कर में कुछ नहीं होना है। होना वही है जो राजा के साथ हुआ कि वह मार डाला गया। वैसे ही इन्होंने भारतवर्ष को नष्ट करके किसी दूसरी विदेशी संस्कृति को यहाँ लाकर रख देना है। हमारी संस्कृति नष्ट हो जानी है और इन्होंने कहना यह है कि 'तुमको जवान बना रहे हैं।' जैसे तरुणचन्द्र राजा को अंधेरे कमरे में बन्द कर रखता था वैसे ही इन्होंने हमारी बुद्धि को बन्द कर दिया है। हम यदि सच्ची बात कहें तो कहते हैं कि 'ये सम्प्रदायवाद की बातें हैं, प्राचीन संस्कृति की बात मत करो, ये पिछड़े हुए लोगों की बातें हैं, सम्प्रदायवाद भूल जाओ।' बच्चों को हमारी प्राचीन संस्कृति को पढ़ाने में हमें कोई गौरव नहीं है। हमारे बच्चों को कालिदास और चाणक्य पढ़ने को नहीं मिलते, वे मार्क्स और लेनिन की बातें करते हैं। जैसे तरुणचन्द्र ने जवान बनाने के चक्कर में राजा को मार डाला और किसी दूसरे को राजा बनाकर दिखा दिया, ऐसे ही ये लोग हमारे समाज को समाप्त करके किसी विदेशी समाज को लाना चाहते

हैं और कहते हैं कि 'तुमको जवान बनायेंगे।' हम भी अपनी मूर्खता और बेवकूफी के कारण सोचते हैं कि शायद जवान बन ही जायें?

जैसे उस राजा की पत्नी बड़ी सुन्दर थी, वैसे ही हमें भी आनंद नाम की पत्नी बड़ी अच्छी लगती है। सोचते हैं कि जवान होंगे तो जैसे दूसरे देश वाले तरक्की कर गये, हम भी कर जायेंगे। लेकिन हमने इस उन्नतिरूप पत्नी को पहचाना नहीं है। विलासशील उन्नतियों के लिये प्रयोग करते-करते ही बुड्ढा हो गया था। वृद्धावस्था में उसकी समझ में आया कि वास्तविक उन्नति और आनंद उन्नति के प्रयोगों में नहीं है। वह आनंद तो कमलप्रभा के साथ रहने में है जो हमारी प्राचीन संस्कृति है। इसी प्रकार हमने भी इस आनंद-पत्नी को नहीं पहचाना है। जैसे कमलप्रभा ने अपने वृद्ध पति को मृत मान करके ही उसके बाद विधवा जीवन व्यतीत कर लिया लेकिन उस नये लड़के को लेकर मौज-शौक करना उसको अच्छा नहीं लगा। इसी प्रकार आनंद नाम की हमारी पत्नी भी नई विदेशी संस्कृतियों को लेकर मौज-शौक करने वाली नहीं है। हमारी संस्कृति चाहे जितनी बुड्ढी हो, हम चाहे जितने भी बुड्ढे हों, लेकिन उस आनंद को हमसे प्रेम है। वह जवान से प्रेम करने वाली नहीं है।

संसार की जितनी दूसरी संस्कृतियाँ हैं उनमें आज तक कहीं भी आनंद की प्राप्ति नहीं है। उन्होंने बहुत उन्नति कर ली है लेकिन उनसे पूछो कि 'तुम्हें सुख मिला ?' तो कहते हैं 'कुछ नहीं'। आज इस गई गुजरी दशा में भी जितना सुख हमें है उतना उन्हें नहीं है। पदार्थ बढ़ने से कोई उन्नति नहीं होती। मूर्खता के कारण विलासशील समझता था कि केवल शरीर की जवानी से पत्नी

प्रसन्न होगी, उसका प्यार वह नहीं समझ पाया था। इसी प्रकार हम यह नहीं समझ पाते हैं कि संसार के पदार्थों से आनंद को प्रेम नहीं है। वह तो अपने पति को चाहती है, चाहे वह वृद्ध हो। जो अपनी सभ्यता है उसी को लेकर यह प्रसन्न होगी।

तरुणचन्द्र हमारे इस वैदिक पुरुष, वैदिक समाज-रचना के आधार को तोड़ने के लिये हमको जवान बनाने के चक्कर में मार डालना चाहते हैं। हमें यह बात समझनी और जाननी पड़ेगी कि आनंदरूप देवी तो वृद्ध समाजपुरुष को ही स्वीकृति देगी, और किसी को आनंद देने वाली नहीं, चाहे वह विधवा होकर बैठी रहे। अन्यथा आज तक इसने दूसरी संस्कृतियों को आनंद दिया होता। जब इस बात को समझेंगे तब पूर्णरूप से उस समाज-रचना पर दृढबद्ध होकर बैठेंगे कि आनंद होना है तो इसी समाज-रचना से होना है, और किसी रचना से नहीं।

प्रवचन - ७०

पुरुषमेध यज्ञ का प्रतिपादन करते हुए पुरुषसूक्त के द्वारा पुरुषों को यूप में बाँधकर प्रोक्षण करते हुए जिन मंत्रों को कहा जाता है, वह पुरुषसूक्त है। यज्ञ में यह नियम है कि जो बलि का पात्र होता है उसका बलिपूर्व स्तवन होता है। इसी प्रकार पुरुषमेध प्रकरण में पुरुष की ही बलि है तो पुरुष का ही स्तवन है। उस पुरुष के स्तवन करने में समग्रता का प्रतिपादन करना इसलिये आवश्यक है कि पुरुष शब्द का अर्थ ही होता है पूर्ण,

अर्थात् जो पूर्ण हो उसी को पुरुष कहते हैं। भगवान् यास्क निरुक्त में पुरुष के दो अर्थ करते हैं 'पूर्णत्वात् पुरुषः पुरि शयनाद् वा' जो पुर में सोये, वह भी पुरुष और जो पूर्ण हो, उसे भी पुरुष कहा जाता है। पुर शब्द का अर्थ शहर होता है। 'पुरुष' का मतलब हुआ शहर में रहने वाला। दूसरा शब्द है 'पुरु' जिसका मतलब 'बहुत' होता है। जैसे 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' परमात्मा अपनी माया के द्वारा 'पुरुरूप' अर्थात् अनेक रूपों को धारण करता है। 'पुरु' का अर्थ अधिक या सब है। उससे जो पुरुष शब्द बना उसका अर्थ 'पूर्णत्वात् पुरुषः' व्युत्पत्ति से कहा है। एक अर्थ परमात्मा में घटता है, दूसरा अर्थ जीवात्मा में घटता है। जो बँधा हुआ रहता है, वह शहर में रहने वाला जीव भी पुरुष कहा जाता है और कण-कण व क्षण-क्षण में जो व्यापक बना रहता है, वह पुरुरूप वाला परमात्मा भी पुरुष कहा जाता है। इस पुरुष शब्द के प्रयोग से एकता इसीलिये कही गई है कि श्रौत सिद्धान्त के अन्दर जीव और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन है। यहाँ पुरुष का स्तवन है।

उस पुरुषमेध के अंगरूप में सबसे पहले इस पुरुषयज्ञ के प्रवर्तक परमेश्वर का वर्णन किया। वही इस यज्ञ को चलाने वाला है। उसी ने इन अनेक रूपों का निर्माण किया, इसलिये वही इस यज्ञ का प्रारंभ करनेवाला अर्थात् प्रवर्त्तक है। उसके अनुत्तर रूप का संक्षेप में वर्णन किया, फिर उसके ईश्वररूप का, हिरण्यगर्भ का, विराट्रूप का और फिर प्रजापतिरूप का वर्णन किया। उसके बाद उस पुरुषयज्ञ का विधायकरूप, वेद का स्वरूप बताया 'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे'। इस पुरुषयज्ञ का

प्रवर्तक परमात्मा और विधायक अर्थात् विधि करने वाला वेद है। इसलिये सारे वेद का तात्पर्य पुरुषमेध में है। यह पुरुषसूक्त यजुर्वेद के इक्तीसवें अध्याय का नाम है। कर्म का निरूपण प्रधानतः यजुर्वेद में है। यह पुरुषसूक्त इतना परम पवित्र माना गया कि यह ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी है। इस प्रकार चारों वेदों में पुरुषसूक्त आता है, केवल एकाध मंत्र आगे पीछे का फ़र्क है। पुरुषयज्ञ की समाप्ति पर केवल एक और यज्ञ 'सर्वमेध यज्ञ' बताया जायेगा। यजुर्वेद में क्रम से सारे कर्म बताये हैं। प्रथम अध्याय में दर्शपौर्णमास बताया, फिर वाजपेय, सोमयागादि बताये। फिर पुरुषमेध और उसके बाद अन्त में सर्वमेध है। सर्वमेध जीवन्मुक्ति की अवस्था है। उसके बाद सर्वमेध यज्ञ के अंतिम अध्याय में ईशावास्योपनिषद् कहकर वेद पूर्ण हो जाता है। शुक्लयजुर्वेद में केवल चालीस अध्याय हैं। सारा कर्मकाण्ड का वेद वस्तुतः पुरुषमेध में ही गतार्थ समझो, क्योंकि आगे तो केवल सर्वमेध बचा है। ऐसे विधायक वेद का और इसके पहले प्रवर्तक का वर्णन किया।

इस यज्ञ में जिसे बलि चढ़ना है, उस पशु का भी वर्णन किया। इसमें पुरुष को ही बलि चढ़ना है। इसलिये ग्राम्य और आरण्य दो प्रकार के पशुओं को बताया। प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाले ग्राम्य और आरण्य पशु हो गये। प्रवृत्ति के द्वारा ब्रह्मलोक तक जा सकते हैं और निवृत्ति के द्वारा यहीं जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाले ग्राम्य और आरण्य पशु हैं। उस पुरुषरूप की उत्पत्ति के बाद वेदी या बलिपीठ का वर्णन किया जहाँ इस पुरुष की बलि देनी होती है। यज्ञ में बलि का

स्थल भी होता है जहाँ पुरुषपशु की बलि चढ़ायी जाती है। वह वेदी या स्थल समाज को बताया जिसका वर्णन अब तक किया। हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्था का जो समाज है, यही परम पवित्र बलिपीठ है जहाँ पुरुषपशु की बलि चढ़ाई जाती है। बलि देने वाले से यह पूछा नहीं जाता कि 'तुझे काट दें ?' इसी प्रकार यह पूछना कि 'तुम ब्राह्मण हो या क्षत्रिय' अथवा 'तुम यह काम करोगे या नहीं', यह राय पूछना नहीं बनेगा। 'तुम ब्राह्मण या क्षत्रिय हो', यह नियम करके समाज की वेदी पर बलि चढ़ा देना है। इस समाज की वेदी के ऊपर बलि चढ़ने वाले का अंग-भंग नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार जिसे इसके अन्दर श्रद्धा नहीं है, वह इस बलिवेदी पर चढ़ने लायक नहीं है। यदि ऐसा पशु किसी तरह पहुँच गया तो उसे यज्ञ मण्डप से बाहर करना पड़ता है। इसी प्रकार किसी ग़लती या भूल से यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर में अश्रद्धा वाला, अंग-भंग पशु पैदा भी हो गया तो उसे यज्ञ की वेदी से बाहर निकालकर जो यज्ञ की वेदी नहीं, उस शूद्र में भेज देना पड़ेगा। शूद्र संसार के सुख-भोग के लिये, धन-ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये स्वतंत्र है, क्योंकि वह शोक-मोह में पड़ा रहेगा। इसलिये जो अपने सुख, ऐश्वर्य, पदार्थों, धन को बढ़ाना चाहता है, वह इस बलिपीठ के ऊपर बलि होने का अधिकारी नहीं है, वह बाहर निकाल दिया गया और शूद्र हो गया। इस पुरुषयज्ञ के प्रवर्तक, विधायक, पशु और वेदी-स्थल (बलिपीठ) को बताया।

अब इसके बाद इसके द्वारा जो फलरूप देवता की प्राप्ति है, उसको बताते हैं। बारहवें मंत्र में फलरूप देवता को बतायेंगे। मूल मंत्र है—

'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोःसूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।।'

मंत्र का अक्षरार्थ समझ लो। उस परब्रह्म परमात्मा के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। सबसे पहले चन्द्रमा देवता का प्रतिपादन है अर्थात् देवतारूप फल भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ क्योंकि सब चीज़ों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही है। यही वेदान्त सिद्धान्त है कि सब चीज़ों की उत्पत्ति केवल परमात्मा से है। इसीलिये सब नामरूपों को हटाओ तो अन्दर माल एक ही है। देवता के नामरूप को हटाओ तो अन्दर माल ब्रह्म है और पुरुष पशु के नामरूप को हटाओ तो अन्दर माल ब्रह्म है। वेदों के शब्दरूप को हटाओ तो अन्दर माल ब्रह्म है, क्योंकि माल तो एक ही है, उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न बनता जा रहा है। इसलिये उस परमात्मा के मन से चन्द्रमा देवता उत्पन्न हुआ। उसके नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ। यहाँ स्पष्ट 'अजायत' और 'जात' शब्दों का प्रयोग है। पूर्व मंत्र में केवल शूद्र को उत्पन्न बताया था 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'। उसके कानों से वायु उत्पन्न हुआ जो व्यष्टिरूप से जीव में गया हुआ प्राण कहा जाता है। वायु और प्राण यहाँ दो नहीं हैं। वायु उसका समष्टिरूप जो बाहर है और वही जब शरीरों के अन्दर गया तो प्राण कहा जाता है। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यहाँ चार देवताओं की उत्पत्ति बताई।

कुछ लोग अर्थ करते हैं कि 'परमात्मा की आँख सूर्य है।' ऐसा प्रश्नोपनिषद् में है जहाँ विराट् पुरुष का ध्यान बताया है,

लेकिन वहाँ कुछ और बात है, यहाँ कुछ और बात है। ऐसे ही बहुत-से लोग कहते हैं कि चन्द्रमा परमात्मा का मन है। यदि ऐसा है तो फिर 'मनसः' में पंचमी का क्या करोगे ? यह श्रुति में उत्पत्ति-प्रकरण है, इसलिये यहाँ बता रहे हैं कि उसके मन से चन्द्रमा देवता उत्पन्न हुआ। जैसे 'सरस्वती बाई से केशवराम उत्पन्न हुआ' ऐसा कोई कहे और उसका मतलब कोई लगाये कि सरस्वती बाई केशवराम ही है तो ठीक नहीं होगा, ऐसे ही यह मंत्र चन्द्रमा परमात्मा का मन है ऐसा नहीं कह रहा है, यहाँ तो देवताओं की उत्पत्ति बताई जा रही है। चन्द्रमा मन से, सूर्य आँखों से, कानों से वायु और प्राण, मुख से अग्नि देवता उत्पन्न हुआ। यहाँ देवोत्पत्ति का प्रकरण है।

देवताओं की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य बड़ा विलक्षण है। इस उत्पत्ति-प्रकरण में अध्यात्म और अधिदैव दोनों की एकता बताते हैं। अध्यात्म मायने शरीर की कोई चीज़ और अधिदैव अर्थात् जगत् की कोई चीज़। तात्पर्य क्या है ? मन शरीर में होता है और चन्द्रमा बाहर है। इसी प्रकार आँख शरीर में और सूर्य बाहर, कान शरीर में और वायु बाहर, मुख शरीर में और अग्नि बाहर होती है। अध्यात्म और अधिदैव का प्रतिपादन किस सम्बन्ध को बताने के लिये है ? इस सृष्टिप्रक्रिया का तात्पर्य नाम, रूप, क्रिया बताने में है। जब शरीर से होने वाले अर्थात् अन्दर के परिच्छेद को अथवा अध्यात्म की परिच्छिन्नता को छोड़ देगा, तब अधिदैव-प्राप्ति हो जायेगी। अर्थात् यदि तुमने अपने व्यक्तिगत मन के परिच्छेद को छोड़ दिया तो तुम चन्द्रभाव को प्राप्त कर जाओगे, चन्द्र देवता बन जाओगे। यदि तुमने अपने चक्षु के

अभिमान को, चक्षु-परिच्छेद को छोड़ दिया तो आदित्यभाव को प्राप्त कर जाओगे। यहाँ *परिच्छेद* छोड़ना कह रहे हैं। यह नहीं कि आँख छोड़कर सूर्य बन जाओ। यदि चक्षु के अभिमान को छोड़ने में समर्थ हो गये तो आदित्यभाव को प्राप्त कर जाओगे। इसी प्रकार कान के परिच्छेद को छोड़ने से वायुभाव को और मुख के परिच्छेद को छोड़ने से अग्निभाव को प्राप्त कर जाओगे। यह देवता-भाव फल हुआ। किस फलरूप देवता को यज्ञ की कौन-कौन-सी विधि से प्राप्त करोगे, यह बताना यहाँ तात्पर्य है।

प्रश्न होता है कि कब तक हम उस परिच्छेद को छोड़ें ? यह वस्तुतः सब उपासनाओं के लिये समझना, क्योंकि अब देवतावाद आ रहा है, इसलिये उपासना का प्रकरण आ रहा है। उपासना के सारे प्रकरणों का सिद्धान्त क्या है ? यह समझ लेना कि जितनी भक्ति हम करते हैं, उस सारी भक्ति का उद्देश्य क्या है और कब तक भक्ति करनी है ? सारी उपासनाओं का सिद्धान्त भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकवार्तिक में बताया

'तमेकं सर्वभूतेषु ज्ञानकर्मफलाश्रयम्।
आस्वभावात्मविज्ञानाद् उपास्ते यः स तं व्रजेत्।।'

जब तक तुम्हारे अन्दर देवताओं में और अपने में भेद-दृष्टि है तब तक उपासना सिद्ध नहीं हुई। सारे देवता एक-दूसरे से अभिन्न और वह देवता तुम से भी अभिन्न है। जब तक यह समझते हो कि विष्णु, शंकर तथा ब्रह्मा अलग हैं, तब तक उपासना की सिद्धि कभी नहीं होती है, क्योंकि तुम देवता को व्यापक ही नहीं समझ रहे हो। जब देवता को तुमने व्यापक ही नहीं समझा तब तुमने

उसको अपने जैसा एक दूसरा जीव समझ लिया। तुमसे ज़्यादा ताकतवाला हो, लेकिन रहा तो परिच्छिन्न ही और जो परिच्छिन्न होता है, उसका नाम जीव है। इसलिये पहले उसको एक समझना है। कैसे एक समझा जाता है, यह आगे बतायेंगे। यहाँ जो चार चीज़ें—मन, आँख, कान और मुख बताईं, क्या ये चारों अलग-अलग हैं ? विचार करके देखो तो ये तुम्हारे ही शक्ति प्रकट करने के अलग-अलग तरीके हैं। आँख और कान अलग-अलग नहीं हैं। तुम्हीं जब अपनी देखने की शक्ति को प्रकट करते हो तब आँख बन जाते हो, तुम्हीं जब अपने सुनने की शक्ति को प्रकट करते हो तब कान बन जाते हो।

स्थूल शरीर के गोलक तो शक्ति प्रकट होने के स्थल हैं। यंत्र के अन्दर शक्ति प्रकट होती है। बिजली के पंखे के आर्मेचर में घूमने की शक्ति प्रकट होती है। वह आर्मेचर बिजली नहीं है। बिजली ही पंखे के आर्मेचर में घूमने की शक्ति प्रकट करती है। वही बिजली रैफ्रिजरेटर के अन्दर ठण्डक करने की शक्तिरूप में प्रकट होती है। ठण्डा वह मशीन नहीं करती है, ठण्डा तो बिजली ही करती है लेकिन जहाँ ठण्डा करने की शक्ति प्रकट होती है, उस यंत्र को रैफ्रिजरेटर कह देते हैं। उसी प्रकार जिस यंत्र में बिजली की रोशनी देने की शक्ति प्रकट होती है उसको लट्टू कहते हैं। लट्टू रोशनी नहीं देता है। रोशनी बिजली देती है। एक बिजली ही सारे रूप में प्रकट होती है। जहाँ जैसी प्रकट होती है, उन स्थलों को भी वह कार्य करने वाला कह दिया जाता है। कहते हैं कि 'यह लट्टू ज़्यादा या कम रोशनी दे रहा है।' रोशनी तो बिजली दे रही है लेकिन लट्टू में प्रकट होती है, इसलिये लट्टू को रोशनी

देने वाला कह दिया जाता है। कहते हैं यह माइक्रोफोन कम आवाज़ देता है और यह ज़्यादा आवाज देता है। माइक्रोफोन आवाज़ नहीं करता लेकिन प्रकट होने के स्थल को भी व्यवहार में अभेद से कह दिया जाता है।

एक बार हम केदार यात्रा से आ रहे थे। रास्ते में पुलिस वालों ने रोक दिया कि 'सात बज गये हैं, आगे नहीं जा सकते।' हमारे साथ के एक सज्जन कहने लगे 'इसी समय जाने के लिये कहाँ से परमिट मिलेगा ?' उन्होंने कहा 'जिलाधीश ही दे सकते हैं। पहले भी दो गाड़ियाँ इसी प्रकार गई हैं।' बात करने वाले सज्जन बड़े कुशल व्यापारी थे, कहा—'हमारे लिये तो तुम ही जिलाधीश हो, यहाँ से पंद्रह मील दूर कौन परमिट लेने जायेगा ?' उसने आज्ञा ले ली। उसके कहने से वह जिलाधीश नहीं हो गया लेकिन उसे वैसा कहकर वही काम निकल गया जो जिलाधीश से निकलता।

ऐसे ही जहाँ आत्मा की देखने की शक्ति प्रकट होती है, उस औजार को भी आँख कहते हैं, लेकिन आँख यह गोलक नहीं है, आँख तो आत्मा की देखने की शक्ति है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रुति ने उसी को दृष्टि कहा है। 'न हि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' कहते हैं कि द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं है। यह आँख तो यहीं एक सैकेण्ड में बन्द हो जाती है। द्रष्टा की दृष्टि अर्थात् द्रष्टा की शक्ति अविनाशी है, कभी नष्ट नहीं होती। जन्मजात अंधे में भी देखने की शक्ति है। उसका औजार खराब होने से प्रकट नहीं होती, यह बात दूसरी है लेकिन शक्ति तो उसी में है।

पहले समझना है कि एक परमात्मा ही भिन्न-भिन्न देव-स्थलों के अन्दर कैसे प्रकट होता है ? जैसे एक तुम ही मन के स्थल में अपनी मनन करने की शक्ति को प्रकट करते हो, आँख के स्थल में देखने की शक्ति को, कान के स्थल में सुनने की शक्ति को और मुख के स्थल में खाने की शक्ति को प्रकट करते हो, वैसे ही वह परमात्मा चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि इत्यादि स्थलों में अपनी शक्तियों को प्रकट करता है। जो बिजली को नहीं समझ पायेगा, वह लट्टू को लिये घूमता रहेगा। अपना एक अनुभव बतायें: हम बद्री-केदार की यात्रा पर गये। बद्रीनारायण में बहुत बढ़िया डाक बंगला रहने को मिल गया और बड़े प्रेम से जाकर हम वहाँ रहे। उसमें पानी गरम करने का बिजली का हमाम लगा हुआ था। दो नल थे—एक ठण्डे पानी का और एक गरम पानी का। पंखे, हीटर सब लगे हुए थे। देखकर तबियत बड़ी प्रसन्न हुई कि सरकार ने बद्रीनारायण में भी ऐसी बढ़िया जगह बनाई है। शाम का समय हुआ। बिजली जलाई तो नहीं जली। सोचा कुछ खराबी हो गई होगी, थोड़ी देर में आ जायेगी। घण्टा-आध घण्टा हुआ लेकिन बिजली नहीं आई। जाकर कहा 'तुम्हारी बिजली काम नहीं करती है, कोई खराबी होगी, ठीक करा दो।' क्योंकि दिल्ली के संस्कार पड़े हैं। कहने लगे 'यहाँ बिजली नहीं है।' हमने कहा 'कैसे नहीं है, सब यंत्र लगे हुए हैं। क्या बात है ?' कहने लगे 'ये सारे यंत्र ही लगे हैं। थोड़े दिन पहले यहाँ प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी आई थीं तो उनके लिये ही वह बंगला बना था। उनके साथ बिजली बनाने का जेनरेटर भी आया था। बद्रीनारायण में तो बिजली है नहीं। उन्हीं के लिये यह सारी तैयारी की गई थी। जब

तक वे रहीं, तब तक जेनरेटर भी रहा। दो दिन रहकर जब वे यहाँ से गईं तो जेनरेटर भी उनके साथ गया। अब तो खटके और पंखे ही हैं।' मशीनें तो सारी लगी हुई हैं, लेकिन बिजली नहीं है। ख्याल आया कि पुराने राजा लोग कैसे हुआ करते थे ? एक बार कैलास मानसरोवर की यात्रा में गये थे। उससे पहले मैसूर महाराजा वहाँ की यात्रा करने गये थे। उनके साथ बहुत भोजन-सामग्री गई, उस जमाने में भी टीन में बन्द किये हुए खाद्य-पदार्थ जैसे बिस्कुट इत्यादि भी साथ ले गये थे। उनके साथ चार-पाँच सौ आदमी थे, उस यात्रा में वे योजना से चलते थे कि अमुक-अमुक जगह कैम्पों में रहना है; वहीं छावनी पड़ जाती थी। कितने खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ेगी, इस सबका हिसाब लगा हुआ था। जहाँ भी पहुँचते थे, वहाँ हमेशा कुछ सामग्री बच जाती थी। जो सामान बच जाता था, उसको वहीं पास में यदि कोई गाँव होता था तो वहाँ के ब्राह्मणों को बुलाकर दे देते थे। लेकिन कैलास की यात्रा में चालीस दिन की यात्रा ऐसी आती है जहाँ मार्ग में कोई गाँव नहीं पड़ता। वहाँ भी उनका बहुत माल बचता था। वह सारा माल वहाँ गाड़ देते थे। यह नहीं कि वापसी में उठा ले जायेंगे; वे राजा थे, उठाईगीर नहीं थे। वह बर्फीला मुल्क है, इसलिये खराब होने की सम्भावना नहीं होती। वह सारा माल वहाँ गाड़कर एक खम्भे पर लिख देते थे कि यहाँ भोजन-सामग्री है। कैलास यात्रा पर साल में ज़्यादा से ज़्यादा सौ आदमियों को जाना हुआ। उसमें भी कोई तो वह सामान निकालकर खाये और कोई कहे कि 'यात्रा में क्यों किसी का खायें ?' हम जब गये तब भी वे पदार्थ वहाँ मिले, और महात्मा लोगों ने निकालकर

खाये। प्राचीन राजा सोचते थे कि सामान तो इस निमित्त आया ही है, आगे आने वाले यात्रियों के काम आयेगा। वर्तमान राजा अपना सुख देखते हैं और जब अपना सुख हो गया तो उठाईगीरों की तरह माल उठाकर ले जाते हैं, यह नहीं सोचा कि 'जेनरेटर दूसरों के काम आयेगा, यहीं छोड़ जाओ।' यह दृष्टि का भेद है।

जैसे वहाँ बिजली के सारे यंत्र लगे हुए हैं, लेकिन बिजली नहीं तो यंत्र होते हुए भी लाभ नहीं, केवल दीखते ही हैं। उसी प्रकार यदि आत्मा की शक्ति है तो आँख में देखने की और कान में सुनने की सामर्थ्य है। कोई एक औजार खराब हुआ तो दूसरे औजार काम करेंगे। जैसे ही वह औजार सुधार दोगे, वैसे ही फिर काम करने लगेगा। लेकिन बिजली नहीं तो कुछ नहीं। ठीक इसी प्रकार आत्मा की शक्ति है। यदि किसी कारण से आँखरूप यंत्र खराब है तो भी आत्मा की देखने की शक्ति कहीं नहीं गई। रेफ्रिजरेटर खराब होने पर बिजली की ठण्डा करने की शक्ति कहीं नहीं जाती, जैसे ही यंत्र ठीक हुआ फिर काम करने लगा। बिजली को ठीक नहीं करना है, यंत्र को सुधारना है। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति कहती है 'नहि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' आत्मा की दृष्टि (देखने की शक्ति) कहीं नहीं जाती क्योंकि वह तो कभी नष्ट होने वाली नहीं है। जैसे ही आँख, कान आदि यंत्र सुधरा, फिर देखने सुनने लगे। इसीलिये यहाँ श्रुति ने विराट् पुरुष, प्रजापति परमात्मा के विभिन्न अंगरूप से देवताओं का वर्णन यह बताने के लिये किया कि उन सबके पीछे केवल एक परमात्मा ही है। सारे भिन्न-भिन्न देवताओं के अन्दर वही अपनी शक्ति से कार्य करता है। इस बात को समझना उपासना

का पहला स्वरूप है। जो इस चीज़ को नहीं समझेगा, उसकी उपासना भक्ति नहीं बन पायेगी।

अधिकतर लोग बहुदेवतावादी होते हैं। हम समझते हैं कि हमारे शास्त्र में अनेक देव बताये हैं लेकिन हमारे यहाँ अनेक देव नहीं बताये हैं। भगवान् सायणाचार्य ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में कहते हैं 'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते' सारे भिन्न-भिन्न वैदिक मंत्रों के द्वारा एक परमात्मा को ही स्मरण किया गया है। पहले उसको एक जानो। देवताओं को पहले परमात्मा से अभिन्न जानो, वह देवता सब प्राणियों में है, इस बात को जानो। केवल एकदेश में परमात्म-देवता नहीं है, बल्कि सब देशों में, सब प्राणियों में है। इस बात को समझने के कारण ही देवताओं के साथ चोरबाजारी करते हो। सबसे ज़्यादा देवताओं के साथ ही चोरबाजारी होती है।

एक कथा आती है : एक आदमी एक नदी के किनारे पहुँचा। व्यापारी आदमी था। पहाड़ी नदी थी। जब वहाँ पहुँचा उस समय नदी में बड़े ज़ोर की बाढ़ आ गई। पहाड़ी नदी का नियम होता है कि घण्टे-दो घण्टे की बाढ़ रहेगी और फिर नाला ही रह जाता है। शाम का समय था। बेचारे को डर लगा कि 'यदि अपने गाँव में नहीं पहुँचा तो रात में कोई जंगली जानवर न खा ले।' इधर-उधर बहुत देखा लेकिन कोई सहारा नहीं दीखा। वह कभी कदाचित् सत्संग सुना करता था। उसे गीता का श्लोक याद आ गया 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' आर्त अर्थात् दुःख में परमात्मा का स्मरण करो तो परमात्मा उसकी सहायता करता है। भगवान् ने यह भी कहा है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव

भजाम्यहम्' जो जिस भाव से मेरी शरण आता है, मैं उसके उसी भाव को पूरा करता हूँ। उसने कहा—'हे भगवन् ! आप यदि इस नदी से मुझे पार कर दो तो मैं आपके पुराने मन्दिर की मरम्मत में पाँच सौ रुपये लगा दूँगा।' यह कहकर हिम्मत करके पानी में उतर गया और धीरे-धीरे नदी पार करने लगा। घुटने से ज़्यादा पानी नहीं मिला। जब आधी नदी पार कर गया तो सोचने लगा कि आधी तो पार हो ही गया। बोला, 'भगवन् ! आप तो जानते ही हो कि आजकल महंगाई का ज़माना है। मुँह से उस समय दुःख की अवस्था में निकल गया था। आप दिल की बात जानते हो, वह तो जोश में कह गया था। लेकिन ढाई सौ रुपये तो ज़रूर लगा दूँगा, नीचे का फर्श तो ठीक करवा ही दूँगा।' यह कहकर आगे चला। तीन चौथाई नदी पार हो गया, अब चौथाई नदी पार करनी रह गई। कहने लगा, 'भगवन् ! आप तो दयालु हो, दीन-दुखियों को उबारने वाले हो। आपके मन्दिर की मरम्मत करने की हम गरीबों की क्या सामर्थ्य है। आप सर्वसमर्थ हो। लड़की का ब्याह भी आ रहा है, मैं कहाँ जाऊँगा। लेकिन भगवन् ! मैं बात बदलने वाला नहीं। सवा सौ रुपये तो ज़रूर मन्दिर में लगवाऊँगा।' अब नदी तीन गज और रह गई। बोला 'शास्त्रों में सब फालतू लिखा है। कहीं कोई भगवान् बचाने नहीं आया। मैं तो पार हो गया।' भगवान् का तो नियम है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं' जो जिस भाव से मेरे पास आयेगा, मैं उसके उसी भाव को पूरा करूँगा। पहले उस आदमी का भाव था कि 'भगवान् बचायें' तो सारी नदी पार कर गया। अब भाव आया कि 'भगवान् बचाने वाला थोड़े ही है', तो जैसे ही अगला

पैर रखा, वहाँ बड़ा गड्ढा था, उसमें पैर रखते ही नदी के प्रवाह में बह गया। जिस भाव से आया, उसी भाव को प्राप्त कर गया। भगवान् ने नहीं बचाया। भगवान् तो खिलाड़ी हैं, खेल खेलते हैं।

परमात्मा के साथ चोर-बाजारी, हम लोग प्रतिक्षण करते रहते हैं। जब आपत्ति का समय आता है उस समय दृष्टि और, जब आपत्ति निकल गई तब दृष्टि भी बदल गई। परमात्मा के साथ ऐसी दृष्टि क्यों बनती है ? क्योंकि हम परमात्मा को सर्वत्र देश-काल में उपस्थित नहीं समझते। इसलिये हम समझते हैं कि इसका उन्हें क्या पता लगेगा ? बहुत-से लोग तो और भी चतुरता करते हैं—हनुमान् जी के मन्दिर में एक मुकदमा जीतने के लिये एक हज़ार रुपये के प्रसाद की बोली बोली। वह मुकदमा जीत गये, उस समय सुविधा नहीं हुई, वह एक हज़ार रुपया नहीं चढ़ाया। तीन साल निकल गये। अब लड़का बीमार हुआ तो मन संकोच करता है कि हनुमान् जी के पास कैसे जायें ? कहते हैं—'गौरीशंकर बड़े प्रधान और प्रज्ज्वलित देवता हैं।' अब उनके सामने जाकर कहते हैं कि 'लड़का ठीक हो जायेगा तो आपके सिर पर पाँच सौ रुपये का छत्र चढ़ाऊँगा।' सोचते हैं कि हनुमान् जी को धोखा दिया, इसका गौरीशंकर को क्या पता ! वहाँ की बात वहाँ और यहाँ की बात यहाँ। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जो ऐसा समझता है, वह उपासक नहीं हो पाता। जो इन भावनाओं को छोड़कर उसको ज्ञान, कर्म फल का आश्रय समझता है, वह उपासक होता है।

प्रवचन - ७१

पुरुषसूक्त के बारहवें मंत्र में भगवती श्रुति फलरूप देवता के स्वरूप का प्रतिपादन करती है। यज्ञ के अन्दर अंगों के प्रतिपादनानन्तर जो प्राप्त करना है उस देवतारूप का वर्णन किया जा रहा है। सबसे पहले परमात्मा के मन से चन्द्रमा को उत्पन्न बताया। मनशब्द का अर्थ ज्ञान होता है। दिवादिगण में पठित धातु 'मान ज्ञाने' है। लौकिक दृष्टि से भी जहाँ मन है वहाँ ज्ञान है, जहाँ मन नहीं वहाँ ज्ञान नहीं। आदमी बैठा हुआ है, उसका मन संगीत सुनने में लगा हुआ है, सामने से दूसरा व्यक्ति निकल जाता है। कोई आकर पूछता है 'इधर से कोई निकला था ?' कहता है 'पता नहीं ?' क्योंकि उसका मन आँख में नहीं था। आँख खुली हुई थी, लेकिन मन नहीं था तो ज्ञान नहीं हुआ। इसीलिये मन ज्ञान है। इन्द्रियों के बिना भी मन होता है तो ज्ञान हो जाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है।

द्वितीय विश्वमहायुद्ध के समय अमरीका के अन्दर एक औरत रात में दो बजे अपने पति को जगाकर कहने लगी 'मुझे कुछ जलने की बदबू आती है।' पति ने उठकर चारों तरफ नाक से सूँघकर कहा कि 'कहीं बदबू नहीं आती, सो जा। रात के दो बजे कहाँ से बदबू आयेगी।' बीस मिनट बाद फिर पति को जगाया कि 'मुझे मांस जलने की बदबू आ रही है, पता लगाओ।' वह फिर सारा मकान ढूँढ आया लेकिन कुछ नहीं मिला। आकर पत्नी को डाँटा कि 'सोने देगी या जान खा जायेगी, कहीं कुछ नहीं है, सब

तरफ देख आया।' आधे घण्टे बाद फिर जगाया कि 'पता नहीं क्या बात है, मुझे बड़ी बुरी बदबू आ रही है, जी बैठा जा रहा है।' उस आदमी ने सोचा कि इसका तो दिमाग ख़राब हो गया है, रात में बिना बात के जगा रही है। सवेरा हुआ। तार आया कि 'रात के दो बजे हवाई जहाज बम गिराने गया था जिसमें उसका लड़का भी था। उस हवाई जहाज को विमान-विरोधी तोप का गोला लगा, हवाई जहाज और उसमें बैठा हुआ लड़का जल गया।' समय वही दो बजे का था। बाद में मनोवैज्ञानिकों ने इस पर बड़ा अन्वेषण किया। उस औरत का मन पुत्र में था। जापान से अमरीका दस हज़ार मील दूर है। दस हज़ार मील की बदबू नाक तो ग्रहण नहीं कर सकती और उस औरत ने बदबू ग्रहण की तो उसमें अतीन्द्रिय ज्ञान ही कारण बनेगा। किसी इन्द्रिय से यह ज्ञान नहीं है। इसीलिये यदि इन्द्रिय नहीं भी है, मन है तो ज्ञान होता है। इन्द्रियों के सामने पदार्थ है भी लेकिन यदि मन नहीं है तो ज्ञान नहीं होता है। इसलिये मन ही ज्ञान में प्रधान कारण पड़ता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तो अनुमान और शब्द से होने वाला ज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। दूर धुआँ देखा। धुएँ का ज्ञान तो आँख से हुआ। लेकिन धुआँ देखकर ज्ञान हुआ कि वहाँ आग है। उस आग का ज्ञान किसी इन्द्रिय से तो नहीं हुआ पर ज्ञान ठीक हो गया। आग का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं, मन से हुआ। अनुमान मन ने ही तो किया। अतीन्द्रिय ज्ञान केवल दीर्घ दृष्टि से ही होता हो, ऐसा नहीं। विचार की दृष्टि से देखो तो अनुमान आदि प्रमाणों से होने वाला ज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं है। कहोगे

'धुआँ देखने से आग का ज्ञान हुआ।' लेकिन धुआँ देखने से आग का ज्ञान नहीं होता। धुआँ आग से सम्बद्ध है—यह तुम्हारा व्याप्ति-ज्ञान ही अग्नि-ज्ञान के प्रति कारण है। जिसे व्याप्तिज्ञान नहीं है, उसे धुआँ देखने पर भी आग का पता नहीं चलेगा। धुआँ तो आँख से दीखा लेकिन आग आँख से अनुभव नहीं हुई, व्याप्ति-ज्ञान से अनुभव हुआ। इसी प्रकार शब्द से होने वाला ज्ञान भी मूलतः अतीन्द्रिय ज्ञान है। 'कमल' शब्द बोलते ही तुम्हारे मन में तुरन्त एक लाल रंग का फूल आ जाता है। यह भी मन से ही होता है। शब्द सुनने से कमल का ज्ञान नहीं हुआ। यदि शब्द सुनने से कमल का ज्ञान हुआ होता तो संस्कृत या हिन्दी न जानने वाले को भी ज्ञान होता। यह ज्ञान उसी को होता है जिसे पद-पदार्थ का ज्ञान हो अर्थात् जिसने सीख रखा हो कि इस शब्द का अर्थ कमल है। 'कमल' बोलने से जो तुम्हें फूल का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान के प्रति कारण शब्द नहीं है, मन है। जिस मन के अन्दर पद-पदार्थ का संस्कार पड़ा हुआ है उसको तो ज्ञान होगा और जिस मन में उन शब्दों के अर्थों का संस्कार नहीं पड़ा हुआ है उसको ज्ञान नहीं होगा।

इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान मन है अर्थात् परमात्मा का मन ही ज्ञान है। उस ज्ञान से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। चन्द्र शब्द 'चदि' धातु से बनता है। 'चदि आह्लादने' धातु है। इसका अर्थ प्रसन्नता या आह्लाद होता है। जो आह्लाद का निर्माण करता है, वह चन्द्रमा है। परमात्मा का ज्ञान आह्लाद उत्पन्न करता है। चन्द्र का दूसरा अर्थ कर्पूर भी होता है। धात्वर्थ तो वहाँ भी वही है। पंचकर्पूर भोजन में डालें तो प्रसन्नता होती है। आजकल पैट्रोल

से बना हुआ कपूर तो जहर हो जायेगा। असली कर्पूर की बात है। उसकी परीक्षा है कि उसको जलाने पर काला धुआँ नहीं निकलता। पैट्रोल वाले कपूर में काला धुआँ उत्पन्न होता है। असली कर्पूर बड़ा स्वादिष्ट होता है इसलिये आह्लादजनक होने से उसको भी चन्द्र कहते हैं। अतः कर्पूर के साथ जिसका माप हो अर्थात् जिसकी तुलना हो, उसे चन्द्रमा कहते हैं। जैसे कर्पूर सफेद, वैसे ही चन्द्रमा भी सफेद होता है। कर्पूर की असली विशेषता यह है कि सुगंधि देते-देते घटता जाता है। कर्पूरखण्ड रख दो, दो साल बाद वहाँ कुछ नहीं मिलेगा। इसी प्रकार बाहर का चन्द्रमा भी घटता जाता है। जितने पदार्थों का ज्ञान होता है वह ज्ञान और उनसे होने वाला आह्लाद भी दृष्ट-नष्ट-स्वभाव है। जिस समय अनुभव हुआ, उसी समय है, उसके थोड़ी देर बाद कुछ नहीं है। संसार के सभी पदार्थ दृष्ट-नष्ट-स्वभाव हैं। जब तक देखा, जब तक अनुभव में आये, तब तक हैं और आगे-पीछे कुछ नहीं। ये दोनों ही अर्थ यहाँ समझ लेना। परमात्मा के ज्ञान से एक तो आह्लाद उत्पन्न होता है इसलिये चन्द्रमा और जितने वृत्तिज्ञान उत्पन्न होते हैं वे सारे दृष्ट-नष्ट-स्वभाव हैं। जीवों के ज्ञान वृत्तिज्ञान हैं। परमात्मा का ज्ञान अखण्ड ज्ञान है। जीवात्मा पदार्थों को वृत्तियों से ही जानता है। इसीलिये जीवात्मा का खण्ड ज्ञान और परमात्मा का अखण्ड ज्ञान है। वृत्तिज्ञान कर्पूर की तरह उड़ता चला जाता है। उड़ते काल में कर्पूर गंध देता है। गंध का दूसरा नाम संस्कृत में वास है। हिन्दी में भी कहते हैं—बास आती है। सारे वृत्तिज्ञान वासनाओं को उत्पन्न करते रहते हैं। वृत्ति ज्ञान ने वासना छोड़ी और खत्म हो गये। वे वासनायें हमारे मन के

ऊपर इकट्ठी होती रहती हैं। इसी प्रकार वासनायें उत्पन्न करके प्रतिक्षण वृत्ति ज्ञान नष्ट होता रहता है। इसलिये इन नष्ट होने वाले ज्ञानों को भी चन्द्रमा कहा और परमात्मज्ञान से आह्लाद उत्पन्न होता है, इसलिये भी उसको चन्द्रमा कहा।

इन दोनों में फ़र्क क्या है ? अधिकतर वृत्ति ज्ञान में दो चीज़ें होती हैं—एक आह्लाद उत्पन्न करने वाली और दूसरी वासना उत्पन्न करने वाली। मैंने घड़े को जाना, घटज्ञान हुआ। इसमें एक तो घटज्ञान है। घटज्ञान वासना उत्पन्न करेगा। दूसरा यह भी अनुभव है कि 'घड़ा जानने की मेरी सामर्थ्य प्रकट हुई।' यह सामर्थ्य-प्रतीति साक्षीरूप में है। यदि घड़े को जानकर तुमको आत्मा की ज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति हुई तो आह्लाद हो गया। यदि घट को जानकर तुमको केवल घट की प्रतीति रहे तो केवल वासना उत्पन्न हो गई। हमेशा ये ही दो बातें होती हैं, एक आत्मा को विषय करती है और दूसरी बाह्य पदार्थ को विषय करती है। घट की बात तो समझ गये, अब सच्ची बात समझ लो—शरीर में फोड़ा हुआ जो पीप से भरकर तना हुआ है और पिलपिला रहा है। पिलपिलाने से दुःख हो रहा है। यदि फोड़े के पिलपिलाने को देखोगे तो दुःख होगा, लेकिन यदि यह देखो कि 'मैं आत्मा (चेतन) आज इस शरीर में जीवित न होता तो यह फोड़ा कैसे पिलपिलाता। क्या बेचारी किसी दीवार को फोड़ा हो सकता है। मैं चेतन हूँ, तभी तो यह पिलपिला रहा है।' तब बड़ी प्रसन्नता होती है कि 'फोड़े का पिलपिलाना मेरे जीवित रहने को सिद्ध कर रहां है। फोड़ा तो हट जायेगा लेकिन मैं जी रहा हूँ।' क्या यह करने की हिम्मत है ?

कहीं-कहीं तो है : दुकान में बैठे हुए दस ग्राहक एक तरफ खींच रहे हैं, दस हुण्डी वाले एक तरफ खींच रहे हैं, उनका भुगतान करना है जिसके लिये रुपये बैंक से आने में देरी हो रही है, क्योंकि बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है। दिमाग के अन्दर पूरा तनाव है। तब तक टेलीफोन आया कि लड़की की सगाई वालों ने खबर भेजी है कि आज एक बजे आयेंगे, आप पहुँच जाना। उस समय तुरन्त मन में क्या आता है ? 'कैसी इल्लत में फँसे हुए हैं, व्यापार की झंझट में दुःख ही दुःख है, देखो पल्लेदार कैसे मजे में हैं।' कहें कि बड़ा सरल सीधा सौदा है, अभी यह सारी दुकान पल्लेदारों के नाम लिख दो, वे काम करना शुरू कर देंगे।' तो कभी मानोगे नहीं। यद्यपि यह सारा तनाव तुमको कष्ट दे रहा है और उस कष्ट में एक क्षण को कहते भी हो कि कैसा टण्टा है, लेकिन मन कहता है, 'अरे ! लाख रुपये का सौदा करते हो, तब तक टण्टा है, क्या बेचारा पल्लेदार करेगा ?' उन सारे तनावों को सहकर भी अन्दर से आह्लाद है। यदि सचमुच वह दुःख होता तो जैसे फोड़े के पिलपिलाने पर आप्रेशन करवाते हो, यह कभी नहीं कहते कि 'फोड़ा शरीर में आ ही गया तो पिलपिलाने दो'। इसी प्रकार यदि वस्तुतः वह चीज़ तुमको दुःख देती होती तो उसे उसी समय निकाल बाहर करते। लेकिन नहीं करते, क्योंकि हृदय में आह्लाद है। वह व्यापार जहाँ एक तरफ तुमको दुःख दे रहा है, वहीं तुम्हारी सामर्थ्य को भी प्रकट कर रहा है, इसीलिये आह्लाद देता है। संसार के सब ज्ञानों में दो चीज़ें हैं। यदि विषय की तरफ दृष्टि जाती है, तो विषय को पकड़कर वासना बनती है और विषय को प्रकाशित करने की सामर्थ्य वाले अपने स्वरूप की तरफ दृष्टि

जाती है तब आह्लाद उत्पन्न करती है।

एक हमारे बड़े प्रिय सज्जन हैं। उनको लकवे का रोग अकस्मात् हो गया। डाक्टरों ने उनको मालिश की दवाई बताई लेकिन चार-पाँच महीने तक कोई फायदा नहीं हुआ। फिर उनको एक वैद्य की दवाई दी गई। वह दवाई देने के चौथे दिन उनका नौकर खरल में दवाई घोट कर दे रहा था। घोटकर शहद के साथ वह दवाई देनी थी। नौकर के हाथ से खरल गिर गया और उनकी भुजा के ऊपर पड़ा। पत्थर की भारी खरल थी। वह बड़ी ख़ुशी से चिल्लाकर कहने लगे, 'दवाई काम कर गई।' वह खरल इतनी ज़ोर से गिरा था कि जहाँ गिरा वह जगह नीली पड़ गई। लोग पहुँचे कि क्या हो गया। प्रसन्न होकर बोले कि 'थोड़ी-थोड़ी अंगों में चेतना आ गई।' खरल गिरने से उन्हें पता लगा कि कुछ गिरा है, वरना लकवे में तो किसी चीज़ के स्पर्श का पता नहीं लगता। यद्यपि खरल गिरने से उसको तकलीफ हुई, लेकिन वह तकलीफ उसकी इस सामर्थ्य को प्रकट कर गई कि 'अब मुझे पता लगता है।' इसलिये नौकर पर बजाय नाराज़ होने के प्रसन्न हो गये। साधारणतः यदि नौकर गिरा दे तो दस गालियाँ सुनायेंगे। सामर्थ्य प्रकट होने की तरफ दृष्टि गई तो शरीर पर नील पड़ने पर भी सुख हुआ। इसी प्रकार फोड़े के पिलपिलाने पर भी यदि इस सामर्थ्य की तरफ दृष्टि जाये कि 'मैं आत्मा चेतन इसके अन्दर मौजूद हूँ, जी रहा हूँ तभी तो यह पिलपिला रहा है, क्या मुर्दे का फोड़ा पिलपिलायेगा ?' तो सुख हो जाये।

आह्लादकारी और सामर्थ्य वाला होने से परमात्मा के ज्ञान से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। यहाँ दोनों चन्द्रमा समझना : विवेकी के

लिये तो आह्लाद उत्पन्न करने वाला होगा, क्योंकि विवेकी उस ज्ञान के पीछे ज्ञाता को देखता है। अविवेकी ज्ञान के विषय ज्ञेय को देखता है इसलिये केवल कर्पूर की तरह वासना रह जाती है और वृत्तिज्ञान खत्म होता जाता है। सामर्थ्य तो कभी खत्म होती नहीं क्योंकि नित्य है। यदि हम इस उपासना को करेंगे तो अंत में इस आह्लादजनकता के साथ एक हो जायेंगे। कल यही बताना प्रारंभ किया था कि जितनी उपासनायें आगे आयेंगी, उन सारी उपासनाओं को किस रूप में जानना है ? सारे प्राणियों के अन्दर उसकी एकता को जानना है। ऐसे ही यदि आँख देखती है तो मेरी ज्ञानशक्ति प्रकट हो ही रही है, कान सुनता है तो मेरी ज्ञानशक्ति प्रकट हो रही है। कान यदि गाली और अपमान की बात सुनता है तो भी मेरी ज्ञानशक्ति प्रकट ही हो रही है, दीवार बेचारी गाली नहीं सुन सकती, मैं चेतन हूँ तो सुन सकता हूँ। कोई यदि मुझे लट्ठ मारकर स्पर्श का ज्ञान कराता है तो मेरी ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, दीवार को कोई लट्ठ मारे तो उसे चोट नहीं लगेगी ! मैं चेतनरूप हूँ, इसलिये मुझे चोट लगेगी। कोई बढ़िया सुन्दर कोमल मखमल के तकिये पर सुलाता है तो भी मेरी ज्ञानशक्ति प्रकट हो रही है। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि जितने ज्ञान हैं, उन सब ज्ञानों के अन्दर सर्वत्र उसको अपनी ही शक्ति प्रकट होती हुई दीखती है। यह उपासना का रूप हुआ। आगे आयेगा 'श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च'—वायु और प्राण क्रिया-शक्ति हैं। सारे ज्ञान, कर्म और उनका फल इन सबका आश्रय एक परब्रह्म परमात्मा सदाशिव तत्त्व ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जैसे वह सारे देवताओं में है, वैसे ही वह सारे प्राणियों में, हमारी भिन्न-भिन्न वृत्तियों और भिन्न-भिन्न क्रियाओं में भी वही है। यह उपासना का रूप है। जो उपासक नहीं है उसको तो भेदों की समाप्ति समझ में नहीं आती। जिसको भारतीय संस्कृति का पता नहीं है वह तो बेचारा यही नहीं समझ पाता है कि कश्मीर में रहने वाले, चोगा पहनकर और कांगड़ी लेकर घूमने वाले ब्राह्मण में और दक्षिण के अन्दर घुटने तक की धोती पहनकर शरीर से नंगा रहते हुए और तवे के पिछले रंग वाले ब्राह्मण में क्या एकता है, उसको दोनों बिल्कुल उलटे नज़र आते हैं। कहता है इन दोनों में क्या समानता है ? जिसको हिन्दुत्व का ज्ञान है वह उन दोनों की एकता को झट विषय कर लेता है। वह देखता है कि दोनों के भस्म त्रिपुण्ड्र, चोटी और जनेऊ पड़ा हुआ है। दूसरा इसी चक्कर में पड़ा है कि ये दोनों कितने भिन्न हैं, दोनों में कोई एकता नहीं है। जो भारतीय संस्कृति और हिन्दुत्व को समझने वाला है, वह इन भेदों के द्वारा खुश होता है कि हमारी संस्कृति कितनी फली-फूली है। तुम्हारे पेड़ में जितने फल-फूल लगेंगे, तुम उतने ही खुश होगे या एक ही आम लगेगा तो खुश होगे ? अनेक आमों में कोई आधा हरा, कोई चौथाई हरा, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई सूखा, कोई रस से भरा होगा। दो आम एक-जैसे नहीं होंगे। लेकिन जितने ज़्यादा आम होंगे, उतनी ही तुमको प्रसन्नता होगी, क्योंकि तुम जानते हो कि ये सब हमारे ही आम हैं। उसी प्रकार जो हिन्दुत्व को समझता है, वह इन सारे भेदों को देखकर अतिप्रसन्न होता है कि कितने महान् वट वृक्ष की तरह हमारा धर्म है जिसके अन्दर अनेक तरह के फूल खिल रहे हैं। जो एकता को नहीं समझने

वाला है वह झगड़ा करता है। दक्षिण वाला कहेगा कि 'यह कश्मीर का भी कोई ब्राह्मण है जो हमेशा चोगा जूता पहनकर घूमता है।' कश्मीरी कहेगा 'दक्षिण का ब्राह्मण भी कोई ब्राह्मण है।'

जो विभेदता को समझता है वह बंगाल की महिषासुर-मर्दिनी की पूजा और जम्मू की वैष्णव देवी की पूजा, पश्चिम की अम्बा जी की पूजा और दक्षिण की मीनाक्षी की पूजा को देखकर प्रसन्न होता है कि सर्वत्र भगवती की उपासना है। जो भेद रखने वाला है वह बंगाली कहेगा कि 'असली तो महिषासुर-मर्दिनी है, यह शेर पर बैठी हुई वैष्णव देवी कुछ नहीं है।' जम्मू वाला कहेगा कि 'देवी तो यही है, तुम लोग महिषासुर-मर्दिनी की मूर्ति बनाकर प्रवाह कर देते हो, हमारी देवी तो कितनी ऊँचाई पर चढ़कर जाओ तब मिलती है और हमेशा वहीं है।' जो हिन्दू संस्कृति को समझता है, वह भेद को मिटाने की कोशिश नहीं करता क्योंकि उसको तो भेद से प्रसन्नता है। जो नहीं समझता वह कहता है 'मेरे सामने का आम का फल अच्छा, बाकी सब गये-बीते।' इसलिये हिन्दू संस्कृति को समझने वाला वैदिक तैंतीस करोड़ देवताओं से न घबराकर कहता है कि तीन सौ तीस करोड़ होते तो और अच्छा होता ! जो इसको नहीं समझने वाला है वह कहता है कि 'अपने यहाँ देवताओं का तो कोई अंत ही नहीं आता।' तरह-तरह के नोटों का—एक रुपये का नोट, दो का, पाँच-दस-सौ के नोट, इन—नोटों का भेद तो उसे प्रिय है, उन नोटों में तो उसे एकता दीखती है कि 'है तो रुपया ही' लेकिन देवताओं के लिये कहता है कि 'एक ही 'ट्रेडमार्क' के क्यों नहीं निकलते, अलग-अलग क्यों ?' जितने भी अनंत ज्ञान, कर्म और उनके फल हैं, उन सबके

आश्रयरूप में परमात्मा एक है। प्रत्येक ज्ञान, क्रिया, फल में, भिन्न-भिन्न अनंत नाम-रूप-कर्मों के अन्दर वह एक परमात्मा को देखता है।

उपासना कब तक ? वार्तिक में कहा 'आ स्वभावात्मविज्ञानाद् उपास्ते यः स तं व्रजेत्।।' तब तक उपासना करता रहता है जब तक वह उसका स्वभाव नहीं बन जाती। 'आस्वभावात्' अर्थात् जब तक स्वभाव न बन जाये। स्वभाव का मतलब होता है जिसको करने में कोई परिश्रम न हो। केवल एक चीज़ करने में कभी परिश्रम नहीं होता और वह 'मैं' है। मैं हूँ—यह जानने में कभी नहीं थकते। कोई नहीं कहता कि 'इतने साल से मैं हूँ, अब तो थक गया, अब मैं न होऊँ तो अच्छा है।' आँखें भी थक जाती हैं, कहती हैं कि अब देखने की इच्छा नहीं है। कान थक जाते हैं, कहते हैं बहुत सुन लिया, अब थोड़ी देर सो लो। लेकिन 'मैं बहुत देर से हूँ, अब जाने दो'—ऐसा कोई नहीं कहता। मैं हूँ 'अहमस्मि' ऐसा ज्ञान है जिसमें कोई भी परिश्रम नहीं है। इसीलिये यही स्वाभाविक अर्थात् स्वभाव से होने वाला ज्ञान है। भगवान् आनन्दगिरि इसी बृहदारण्यक वार्तिक पर लिखते हुए 'आस्वभावात्' का अर्थ करते हैं 'अहमस्मि इत्यभिमानज्ञानाविर्भावपर्यन्तं'; कहते हैं कि 'उपासना की सीमा है कि जिस देवता के साथ, जैसे चन्द्रमा के साथ, तुम अपनी एकता की उपासना कर रहे हो उस देवता के साथ मिलकर जब तक एक न हो जाओ कि 'मैं ही वह चन्द्रमा हूँ अर्थात् मैं कुछ नहीं, चन्द्रमा ही है' जब तक ऐसे अभिमान के ज्ञान का आविर्भाव न हो तब तक उपासना करो, यह उपासना की सीमा है। जिसकी उपासना करते हो, उसके साथ एक हो

जाओ, उससे अपना भेद न रह जाये, यही उपासना की अवधि है। इस स्वभाव का क्या चीज़ रुकावट करती है ? अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान इसमें रुकावट करता है। हमारा किसी भी चीज़ के साथ एक स्वभाव इसीलिये नहीं रह पाता। जिस काल में अनुकूलता की प्रतीति है, उस काल में तो एकता बन जाती है पर जब प्रतिकूलता की प्रतीति होती है तब घबरा जाते हैं। आग जब तक दूसरी चीज़ों को जलाती है तब तक तो आग खुश है। आग का स्वभाव तो जलाना है। दूसरों को जलाकर अंत में अपने को भी जला डालेगी ! तभी वहाँ ठण्डक रहेगी। जब तक दूसरों को जलाती है, तब तक तो आग को खुशी और जब अपने को जलाने लगी तब कठिनाई महसूस होती है पर जब तक अपने को जलाये नहीं, तब तक काम नहीं बनता।

एक तोता था। उसको लोगों ने सोने के पिंजड़े में बन्द कर रखा था, क्योंकि वह बड़ी मीठी-मीठी बातें बोलता था। जो मीठा बोले, मीठा करे वह सोने के पिंजड़े में बन्द होता है ! घर में जो आदमी डटकर काम करने वाला होता है, वह यदि कहे कि मुझे दो महीने पहाड़ पर घूमने जाना है तो उसमें सब रुकावट डालते हैं। मुनीम भी कहेंगे कि 'आपके बिना नहीं चलेगा', लड़के भी कहते हैं कि 'अभी तो सीज़न का समय है, बड़ा नुकसान हो जायेगा।' दोस्तों से कहे तो वे भी कहते हैं 'इस समय कहाँ जायेगा, मेरे लड़के की शादी आ रही है, उसमें तो तुझे रहना पड़ेगा।' यह सब इसलिये कहते हैं कि भला आदमी है, काम करने वाला है, सब बाँध रहे हैं। जिसका स्वभाव गाली देने का है, जिसे काम धेले का नहीं करना और लंबरदारी करनी है, लोगों को डाँट-डपट

करनी है, वह यदि कहता है कि 'मैं दो महीने के लिये जाना चाहता हूँ' तो मुनीम भी और लड़के भी एक दूसरे को आँख मारकर कहते हैं 'आपकी तबियत खराब हो गई है, आपका जाना बिल्कुल ठीक है, सेहत है तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं।' दोस्त से कहता है कि 'जाने की तैयारी कर रहा हूँ' तो वह भी कहता है—'यार, ज़रूर जाना, मेरे लड़के का ब्याह है, कोई बात नहीं, दुःख तो होगा, लेकिन सेहत बड़ी चीज़ है'। क्योंकि वह जानता है कि यह रहेगा तो सबको तंग करेगा। लड़के भी कहते हैं, 'हाँ-हाँ पिताजी ! ज़रूर जाइये।' सारे उसकी सेहत की चिन्ता करते हैं, और वह बड़ा खुश होता है कि सब उसकी सेहत की चिन्ता करते हैं। जो भला आदमी होगा उसी के ऊपर बंधन आयेंगे, दूसरे को तो सभी जाने को कहेंगे।

वह तोता बड़ी मीठी बोली बोलने वाला था इसलिये उसको सोने के पिंजड़े में बन्द कर रखा था। लेकिन वह छूटना चाहता था। संसार में चाहे सोने का नहीं हीरे का पिंजड़ा हो, तो भी व्यक्ति उससे सुखी नहीं बल्कि छूटना चाहता है। सभी को छुट्टी बड़ी प्रिय है। छोटे-छोटे बच्चों को भी छुट्टी बड़ी प्रिय होती है। नाम सुनते ही खुश हो जाते हैं ! लेकिन छुट्टी किस दिन होती है ? तुम लोगों की रविवार को छुट्टी होती है। वैसे यह ईसाईयों की छुट्टी है लेकिन अपने तो वेदांती हैं। रवि सूर्य को कहते हैं अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्य का जब दिन या बारी आये, जब जीवन में ज्ञानरूप सूर्य की बारी आयेगी, तभी छुट्टी होगी नहीं तो और कोई छुट्टी होने का तरीका नहीं है। छुट्टी सभी चाहते हैं लेकिन छुट्टी किससे होगी, यह नहीं जानते। इतने बड़े अपने देश में सभी काम कर

रहे हैं कि लोग दुःख से छूट जायें, गरीबी से छूट जायें, छूटना ही तो चाहते हैं। लेकिन क्या कारण है कि दुःख और गरीबी दोनों बढ़ते हैं ? इसका कारण यह है कि छूटने का तरीका ज्ञान है इसका पता नहीं है। अज्ञान से न गरीबी और न दुःख हटना है। कहते हैं कि गरीबी और दुःख हटे, लेकिन बढ़ाते अज्ञान हैं। अज्ञान से उत्पन्न होते हैं कामना और कर्म। अविद्या, काम, कर्म यही भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद का सूत्र है। कामनाओं का बीज बोकर कहते हैं कि 'ये बेचारे दुःख से छूट जायें', लेकिन कभी नहीं छूटते हैं।

वह तोता भी सोने के पिंजड़े से छूटना चाहता था, लेकिन कोई रास्ता नहीं मिलता था। एक बार कोई महात्मा वहाँ आकर रहे और सत्संग करते थे। बहुत-से लोग उनके सत्संग को सुनकर बड़े प्रभावित होते थे और वापिस जाते हुए आपस में बातें करते जाते थे कि 'महात्मा ने बड़ी बढ़िया बात बताई, यह उपदेश दिया।' तोता बुद्धिमान् था, सब सुनता रहता था। वह जानता था कि 'यह सोने का पिंजड़ा मेरे लिये बंधन का कारण है, सुख का नहीं है।' अनुकूलता का ही पिंजड़ा जीव को बाँधता है। यदि तुम्हारे जीवन में घर में चारों तरफ प्रतिकूलता होने लग जाये, औरत गाली दे, लड़के भी धक्का मारें, व्यापार में भी घाटा हो तो फिर यह गृहस्थी का बधंन नहीं रहेगा। झट छूट जाओगे। जितनी अनुकूलतायें होंगी, उतना ही सोने का पिंजड़ा मज़बूत होगा। लोग अनुकूलताओं से खुश होते हैं। विचारशील जानता है कि अनुकूलता ही तो दुःख देने की चीज़ है। ठण्डा पानी पीने की इच्छा हो, रेफ्रिजरेटर है तो ठण्डा पानी पीने को मिल जाता है।

नहीं तो दिल्ली में जेठ के महीने में जहाँ दो-चार बार नल्के का पानी पिया तो सोचते हैं कि 'भागो यहाँ से।' लेकिन रैफ्रिजरेटर की अनुकूलता हो गई तो सोचता है कि 'पानी ठण्डा मिलता है, कहाँ जायें ?'

तोता विवेकी था, इसलिये अनुकूलता के पिंजड़े से भी भाग निकलना चाहता था। जब देखा कि लोग बार-बार महात्मा की प्रशंसा करते हैं कि बड़ा अच्छा उपदेश देते हैं तो एक दिन उनसे कहने लगा, 'आप बड़ा अच्छा उपदेश सुनकर आते हैं। एक बार महात्मा से पूछना कि मुझ गरीब पक्षी की मुक्ति का भी कोई उपाय है ?' लोगों ने कहा, 'ज़रूर पूछेंगे।' एक बार महात्मा एकांत में बैठे थे। लोगों ने जाकर कहा 'एक तोता सोने के पिंजड़े में बँधा हुआ है और पूछता है कि हम पक्षियों की भी मुक्ति हो सकती है ?' यह सुनने के साथ ही महात्मा को बड़े ज़ोर का चक्कर आया, गश आ गई। उनके हाथ-पैर काँपने लगे और देखते ही देखते धमाक् से नीचे गिर पड़े ! पूछने वाले सम्भालने लगे। देखा कि नाड़ी नहीं चलती, आँखें भी पथराई हुई हैं, हार्ट फेल हो गया। लोग आश्चर्य से एक-दूसरे को देखने लगे। सोचा कि 'महात्मा के बड़े-बड़े शिष्य हैं, हम लोगों को देखेंगे तो संदेह करेंगे कि इन्होंने मार डाला होगा। इसलिये यहाँ से भागो, नहीं तो मुश्किल आ जायेगी।' उस समय यह नहीं सोचा कि 'डाक्टर को बुला लें, शायद ठीक ही हो जायें।' सोचा अपनी जान बचाओ। भागते हुए जब उस तोते की तरफ निकले तो तोते ने पूछा, 'भले आदमियो ! हमारा प्रश्न पूछ आये ?' कहने लगे, 'नालायक कहीं का। तेरा प्रश्न बड़ा भयंकर था। हमने जैसे ही प्रश्न पूछा, महात्मा प्रश्न

सुनते ही हार्ट फेल होने से मर गये। इसलिये तू बड़ा नालायक है, न जाने तूने क्या पूछ लिया।' तोता कहने लगा कि बताओ तो सही कि क्या बात है ? वे बोले 'जैसे ही तेरी बात हम लोगों ने कही, बड़े ज़ोर से उनके हाथ-पैर काँपने लगे और ज़मीन पर गिर गये, नाड़ी बन्द हो गई, आँखें पथरा गईं।'

तोते ने कहा, 'महात्मन् ! आप धन्य हैं। आपने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया।' लोग तो वहाँ से भागे कि कहीं पकड़े न जायें। तोता समझ गया। रात्रि के समय जब खिलाने का समय आया और घरवालों के आने का समय हुआ तब तोता अपनी प्राण-वायु को छोड़कर आँखें पथरा कर अपने बैठने की जगह पर पिंजड़े में ही लुढ़क गया ! बच्चे आये, तोते को गिरा हुआ देखकर कहने लगे, 'मिट्ठू, बोल तो सही, क्या हुआ ?' जब तोता नहीं बोला तो माँ को बुला लाये कि तोते को क्या हो गया है। माँ ने आकर देखा कि आँखें पथरई हुई हैं, पड़ा हुआ है। प्यार से कहा, 'मिर्च तो खा ले', क्योंकि तोते को मिर्च बड़ी प्रिय होती है। लेकिन वह तो सच्चे गुरु का पक्का चेला था। नाडी को हाथ लगाकर देखा, वही भी नहीं चल रही थी। घरवालों को निश्चय हो गया कि तोता मर गया है। पिंजड़े से निकाला और कचरे में फेंक दिया। फेंकने के साथ ही तोता तो वहाँ से उड़ा। लोग चिल्लाने लगे कि 'वापिस आ जा।' लेकिन तोता बोला, 'अब तो मैं आने वाला नहीं हूँ।'

'दुर्लभा शिवभक्तिर्वा दुर्लभं गुरुदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था शिवयोगः सुदुर्लभः।।'

कहने लगा कि मेरे जीवन के सारे क्रम पूरे हो गये। परमेश्वर

की तरफ वृत्ति उत्पन्न होना बड़ा दुर्लभ है। छूटने की इच्छा कि 'मैं संसार से छूट जाऊँ, और परमात्मा की स्वतंत्रता को प्राप्त करूँ', यह इच्छा होना ही दुर्लभ है। अधिकतर आदमियों को तो यह इच्छा है ही नहीं। बेचारे सोने के पिंजड़े में ही खुश हैं। बीच-बीच में पीतल का दण्डा मिला तो सोचते हैं कि पीतल भी सोना हो जाये ! हमारी सारी प्रतिकूलतायें अनुकूलतायें बन जायें, रहें हम पिंजड़े में ही, बाहर जाने की इच्छा नहीं होती। छूटने की इच्छा दुर्लभ है। इच्छा हो जाये तो उपाय बताने वाला मुश्किल से मिलता है, कोई उपाय नहीं बताता। जो छूटने का उपाय बताये, वही गुरु है। जैसे महात्मा ने अपने व्यवहार से क्रियात्मक उपदेश दिया कि 'इस प्रकार यदि तुम *लोगों के प्रति* मर तो जाओगे—संसार के लोगों से ऐसा व्यवहार करोगे मानो तुम मर गये—तब छूट सकते हो। दुकान के टण्टे से छूटना है तो लड़कों से ऐसा व्यवहार करो कि 'मर जाऊँगा तो क्या करोगे।' लड़के पूछते हैं कि 'हिसाब तो समझा दीजिये' तो कहे कि 'मर गया होता तो क्या करते ?' थोड़े दिन बाद लड़के कहेंगे, 'मर गये होते तो अच्छा था, रोज़ रोटियाँ तो नहीं तोड़ते।' झट अपना कमण्डलु उठाओ और कहो 'मैं तो चला।' जब तक बताते रहोगे तब तक कहेगा कि 'आपके बिना नहीं चलेगा।' जब लड़कों को समझ आयेगा कि 'अब इनके बिना ही चलना है' तो कुछ नहीं कहेंगे। संसार के प्रति कैसे मर जाओ—इस बात को बताने वाला मिलना दुर्लभ है।

'दुर्लभा सहजावस्था'—फिर उसके बाद वह अवस्था ऐसी दृढ हो जाये यह मुश्किल है। जैसे उन लोगों ने कई उपाय किये,

अंगुलियों से छुआ कि किसी तरह तोता उठ जाये, इसी प्रकार सब समझायेंगे कि किसी तरह से यह मान जाये कि संसार की तरफ थोड़ा तो देखे, बिल्कुल ऐसे तो न हो जाये। यदि कहीं थोड़ी भी जान मिल गई तो कोई छोड़ने वाला नहीं है। दस साल घी की दुकान में नहीं बैठोगे तो भी फिर पकड़कर बैठा देंगे। वह सहजावस्था भी दुर्लभ है। जब संसार वालों ने निकाल दिया तब परमात्मा के साथ नित्य युक्त होना और भी कठिन है। विचार करो कि यह तोता कौन है ? अनुकूलताओं में बँधा हुआ प्रत्येक जीव ही तोता है। यदि इसे छूटने की इच्छा हो जाये तो भी बड़ी बात है, छूटने पर मार्ग मिल जाये तो और बड़ी बात और छूट जाये तो कहना ही क्या।

ज्ञान को स्वतंत्र बनाना है। अनुकूलता के बंधन को काटकर स्वतंत्र बनना है। सोने के पिंजड़े को नष्ट करके जब बाहर निकलोगे तभी ज्ञान से चन्द्रमा अर्थात् आह्लाद (आनंद) उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं।

प्रवचन - ७२

पुरुषयज्ञ के फलरूप देवता का वर्णन श्रुति कर रही है। उत्पत्ति-क्रम से वर्णन कर रही है, अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के किस अध्यात्म से कौन-सा अधिदैव उत्पन्न हुआ इसे बताती है। सर्वप्रथम परमात्मा के मनरूप अध्यात्म से उत्पन्न होने वाला

चन्द्रमा है। यहाँ मन को ही सब से प्रथम क्यों कहा ? क्योंकि मन ही सबसे प्रधान है। अध्यात्म अर्थात् शरीर में होने वाले जितने तत्त्व हैं उन सब तत्त्वों में मन ही प्रधान है। मन से आगे दूसरे सारे तत्त्व उत्पन्न होते हैं। मन स्वतः अध्यात्म तत्त्वों की उत्पत्ति का केन्द्र है। केवल उत्पत्ति ही नहीं, उनकी स्थिति और लय का भी एकमात्र स्वरूप मन ही है। इसीलिये भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं 'मनसो ह्यमनी भावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' जब मन अमन हो जाता है, जब वह मन-भाव को छोड़ देता है, तब द्वैत नाम की चीज़ नहीं रहती। मन के कारण ही यह सब द्वैत-रचना है। मन के लीन होने के साथ ही सारे द्वैत नष्ट हो जाते हैं। इसलिये मन ही इनकी उत्पत्ति का कारण है।

श्रुति ने यहाँ तक कहा है 'नासदासीद् नोसदासीत् तदानीम्' मन की उत्पत्ति के पहले कार्य-कारणभाव नहीं था। 'न असद् आसीत्' उस समय में कार्य भी नहीं, 'नो सद् आसीत्' कारण भी नहीं था। मन के उत्पन्न होने के पहले न कुछ कारण और न कोई कार्य था। असत् मायने कार्य और सत् मायने कारण। उलटा नहीं समझना कि वहाँ सत् अर्थात् सद् ब्रह्म नहीं था ! यह इसलिये कहते हैं कि संस्कृत भाषा में 'न' शब्द के कई अर्थ होते हैं। बहुत-से लोग इसे नहीं समझकर 'न' का केवल निषेध अर्थ ले लेते हैं। जैसे किसी को कहते हैं कि 'यह ब्राह्मण नहीं चाण्डाल है'; यहाँ 'यह ब्राह्मण नहीं है' का मतलब है खराब ब्राह्मण है। जैसे कहते हैं कि 'यह कोई आदमी है ! यह तो गधा है।' उसके पूँछ आदि तो नहीं हैं। मतलब है कि यह अच्छा आदमी नहीं है, बेवकूफ है। इसलिये यहाँ 'अ' निषेधार्थ में नहीं, कुत्सितार्थ में

है। 'न' के कई अर्थ भाषा में भी होते हैं। कहीं पर इसका अर्थ 'बहुत कम' होता है। नल पर नहाने के लिये गये। नल खुला है, एक बूँद पानी गिरा, बन्द हो गया। फिर पंद्रह सैकेण्ड के बाद पानी की दूसरी बूँद गिरी, फिर पंद्रह सैकेण्ड बाद कुछ बूँद पानी गिरा। चिल्लाते हो 'नलके में पानी नहीं आ रहा है, नीचे के तल्ले का नलका बन्द करो।' पंद्रह सैकेण्ड में एक बूँद पानी तो आ रहा है, चाहे एक-एक बूँद करके आ रहा है। फिर भी जब कहते हो कि 'पानी नहीं आ रहा है' तो उसका मतलब है कि बहुत कम पानी आ रहा है। 'न' का अर्थ कहीं बुरा, कहीं कम और कहीं निषेध होता है। इसी प्रकार असत् का मतलब 'सत् नहीं' ऐसा नहीं बल्कि जैसे कारण बहुत समय तक रहता है, ऐसे कार्य बहुत समय तक नहीं रहता है, थोड़े समय तक रहता है अतः वह असत् है। जब मन नहीं था उस समय न कार्य था और न कारण था।

कार्य उत्पन्न होने से पहले कारण नहीं हुआ करता। जैसे संतान उत्पन्न होने के पहले *माता-पिता* नहीं हुआ करते। बेटा पैदा होगा तब माँ बनेगी अर्थात् बेटा पैदा होने के पहले औरत, लड़की, पत्नी है, लेकिन माँ नहीं है। माँ तो उस दिन बनेगी जिस दिन बेटा पैदा होगा। इसी प्रकार जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होगा तब तक कारण भी नहीं है। कार्य उत्पन्न होने के बाद ही तो कारण होगा। इसलिये उस काल में न कार्य था, न कारण था। उस काल में सत् भी नहीं की तरह था और असत् भी नहीं की तरह था। सत्-असत् दोनों भावों से रहित उस समय परमात्मा ही था। न वहाँ सत् और न असत् था।

मन का स्वरूप समझ लो। जैसे घट, पट आदि में रूप, रस आदि होते हैं, ऐसे मन में नहीं हैं। मन का कोई रूप, रस आदि नहीं है। मन को रूप, रस आदि वाला नहीं कह सकते, इसलिये 'मन है' ऐसा नहीं कह सकते। लोक में यदि किसी चीज़ को 'है' कहते हैं तो तुरन्त प्रश्न होता है कि लम्बा है, चौड़ा है, ऊँचा है, काला है, गोरा है, सुगन्ध है, दुर्गन्ध है ? अर्थात् कुछ न कुछ गुण-क्रिया बतायेंगे तभी तो 'चीज़ है' कह सकते हैं। रूप, रस आदि से रहित होने के कारण मन नहीं है की तरह है। सीधे ही नहीं कह सकते कि मन नहीं है। संसार में चार्वाक तथा अन्य भौतिकवादी मानते हैं कि मन है ही नहीं। आजकल के कुछ लोग कहते हैं कि दिमाग के अन्दर कुछ रस निकलते हैं, उनका ही नाम मन है, मन कोई चीज़ नहीं है। श्रुति कहती है कि यह नहीं कह सकते कि मन नहीं है क्योंकि जो चीज़ नहीं होती उसकी कभी प्रतीति नहीं होती। 'है' इसलिये नहीं कह सकते कि उसमें रूप, रस आदि नहीं हैं और 'नहीं है' इसलिये नहीं कह सकते कि उसकी प्रतीति होती है। पहले मन की प्रतीति, तब संसार की, और किसी चीज़ की प्रतीति होगी। मन के बिना किसी चीज़ की कभी भी प्रतीति नहीं। मन नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीति होती है। 'है' कहें तो उसका रूप, रस आदि बताना पड़े, वह कुछ है नहीं। इसलिये मन सत्-असत् दोनों भावों से रहित है।

संसार में जितने सृज्यमान पदार्थ हैं, उन सबको आविर्भाव करने की इच्छा मन की होती है। संसार के सब पदार्थों को उत्पन्न करने वाला मन चूँकि संसार के सब पदार्थों को उत्पन्न करने पर

भी समाप्त नहीं होता, इसलिये संसार के सब पदार्थों के मिलने पर भी कभी इसकी तृप्ती नहीं हो सकती। यह निश्चित याद रखना कि चाहे जितने पदार्थ इसे दे दो, इसे कभी तृप्ति नहीं होनी है, क्योंकि जितने पदार्थ तुम इसको दे सकते हो, वे सब पदार्थ तो इसने खुद पैदा किये हैं, बल्कि उससे बहुत ज़्यादा पैदा किये हैं जो तुम इसे नहीं दे सकते ! मन कह देगा 'दस करोड़ रुपया चाहिये।' तुम चार जन्म कोशिश कर उतना दे भी दो पर वह तो अगले ही क्षण कहेगा 'दस नहीं पचास करोड़ चाहिये।' मन की सारी ख्वाइश कभी पूरी नहीं की जा सकती। इसलिये मन की कभी तृप्ति नहीं होती। लोग मन की तृप्ति के लिये लगे रहते हैं और बहुत परेशान रहते हैं।

एक ब्राह्मण था। उसके पितरों को किसी राजा ने एक अग्रहार दान में दे दिया था। जो गाँव और उससे लगी हुई ज़मीन ब्राह्मण को दे दी जाये कि 'इस गाँव में सिवाय ब्राह्मण के और कोई नहीं बसेगा', उसका लगान भी माफ हो, उसको अग्रहार कहते हैं। बड़े-बड़े अग्रहार हुआ करते थे जहाँ ब्राह्मण रहकर तत्त्व-चिन्तन करते थे।

आजकल विधान-सभा के सदस्यों के लिये एक अलग बस्ती बसाई जाती है, जहाँ रहकर वे लोग आनन्द से शराब पीकर जुआ खेलते रहते हैं। ये आधुनिक लोगों के अग्रहार हैं। प्राचीन काल में घर में कोई आता था तो उसको बढ़िया गरम दूध पिलाते थे। अब शासकों से कहते हैं 'बच्चों को दूध नहीं मिलता' तो पूछते हैं, 'तुम लोग दूध क्यों पीते हो ?' हम पूछते हैं, 'फिर क्या पियें?' तो कहते हैं 'शराब पियो।' सभ्य पुरुषों के घरों में पीने को शराब

देते हैं। कोई सज्जन हमको बता रहे, वे जो बेचारे सत्संगी हैं। उनकी लड़की की सगाई फौज के किसी बड़े अफसर के लड़के के साथ हुई। उनकी एक पार्टी में ये गये हुए थे। वहाँ बड़े-बड़े अफसर आये हुए थे। रक्षा विभाग के मंत्री साहब भी वहाँ आये हुए थे। फौज के अफ़सर लोग मोर्चे पर जा रहे थे, उनकी विदाई के लिये पार्टी हुई थी। उसमें शराब की बोतलें खोलकर शराब बाँटी गई। इनको अंदाज़ नहीं था। इनके हाथ में भी गिलास पकड़ा दिया। इन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया कि 'हम नहीं पीते।' वहाँ वालों ने कहा 'मंत्री साहब की तौहीन हो जायेगी।' इन्होंने कहा 'मैंने कभी नहीं पीं।' तब तक होने वाला जँवाई कहता है 'हम इसे अपशकुन मानते हैं। हम मोर्चे पर जा रहे हैं, आप नहीं पियेंगे तो अपशकुन हो जायेगा।' इनका मुँह छोटा हो गया। कैसे कहें कि 'तेरा अपशकुन हो' ? उसके साथ लड़की का ब्याह होने वाला है ! पी ली और ऐसे बीमार हुए कि चार दिन तक सत्संग में भी नहीं आ सके। यह आधुनिक संस्कृति है। जैसे हम लोग प्यार से कहते थे, 'थोड़ा दूध तो पी लो', वैसे ही आधुनिक मंत्रीगण बड़े प्यार से कहते हैं कि 'थोड़ी शराब तो पी लो, नहीं तो अपशकुन हो जायेगा।' हमारे यहाँ जब यात्रा पर जाते थे तो दही और गुड़ खिलाते थे, यह हमारी संस्कृति थी।

प्राचीन काल में अग्रहार दिये जाते थे जहाँ ब्राह्मण बैठकर वेदपाठ और अग्नि-होत्र करते थे। उस अग्रहार का नाम यज्ञस्थल रखा गया था। जिसे अग्रहार दिया जाता था वह ब्राह्मण उस अग्रहार का मालिक रहता था लेकिन उस गाँव में जितने ब्राह्मण रहें उन सबका पोषण उसे करना होता था। 'स्वयंदासाः तपस्विनः'

ब्राह्मण खुद ही अपना काम कर लेता है। एक बार वह जंगल में लकड़ी काटने को गया। लकड़ी काटते हुए लकड़ी का एक टुकड़ा उछलकर उसकी जाँघ में लग गया और इतनी ज़ोर से लगा कि जाँघ में घुस गया, कटी हुई लकड़ी बड़ी तेज़ होती है, जाँघ से खून की धारा बह निकली। उस पीडा को सहन न करने के कारण उसको मूर्च्छा आ गई। थोड़ी देर मूर्च्छा में पड़ा रहा। तब तक कोई परिचित व्यक्ति उधर से निकला और उसको पहचान लिया कि यह अमुक अग्रहार के पंडित जी हैं। उसको अपने कन्धे पर लेकर उसके घर पहुँचाया। घर पहुँचने पर पत्नी बड़ी घबराई, उसने घाव धोया, पट्टी बाँधी। गरम पानी में शहद डालकर पीने को दिया। मुँह के अन्दर जब शहद और गरम पानी पड़ा तब उसे कुछ होश आया। पत्नी ने बड़ा ढाढस दिया कि 'घबराने की कोई बात नहीं है, ठीक हो जाओगे।' गाँव के वैद्य को बुलाया गया, उन्होंने कुछ काढ़ा इत्यादि पिलाया लेकिन कई दिन तक तबियत ठीक नहीं हुई और घाव नहीं भरा। दिनों दिन कमज़ोर होता गया, क्योंकि अन्दर ही अन्दर वह लकड़ी का छिलका पड़ा था, जब तक वह न निकले घाव कैसे पूरा हो। कई दिन तक दवाई होती रही लेकिन घाव वैसा का वैसा बना रहा।

एक बार उधर से कोई महात्मा निकले जो उसके परिचित थे। महात्मा ने कहा कि 'तेरा घाव बिल्कुल ठीक नहीं होता और तू बड़े कष्ट में है तो लगता है कि यह घाव मानवीय उपचारों से ठीक नहीं होगा। मैं तुमको एक ऐसा मंत्र बताता हूँ जिससे एक पिशाच तुम्हारे हाथ में आ जायेगा और वह इसे ठीक कर देगा। अमुक व्यक्ति के पास धन नहीं था, उसने उसी पिशाच

को वश में किया तो वह ठीक हो गया। उसको धन मिल गया। तेरे को भी यह पिशाच ठीक कर देगा।' उसकी पत्नी बड़ी प्रसन्न हो गई। कहा—'मंत्र बता दो ताकि रोग दूर हो जाये।' महात्मा ने कहा कि पिशाच को वश में करने का तरीका है कि 'आधी रात में बाल खोलकर और बिल्कुल नंगा होकर दोनों मुट्ठियों में चावल भरकर चौराहे पर जाकर दोनों मुट्ठियाँ चावल छोड़ दे। जाते हुए मंत्र का जप करे और वापसी में भी मंत्र का जप करता आये और जब चावल छोड़कर आये तब घूम कर पीछे की तरफ न देखे। मौन रखे और उतने दिनों तक यह क्रम चलाता रहे जब तक पिशाच आकर न कहे कि 'मैं तेरे लिये क्या करूँ।' जब पिशाच ऐसा कहे तो उस समय उसकी बात को मानकर कह देना कि 'मेरा घाव ठीक कर दो' तो वह ठीक कर देगा। ब्राह्मण भी बड़ा खुश हो गया और रोज़ महात्मा के कहने के अनुसार करने लगा।

थोड़े समय में ही वह पिशाच प्रतिदिन के उस चावल-दान से खुश हो गया। एक दिन जब वह वापिस आ रहा था तब पिशाच ने पीछे से आकर कहा कि 'एक बात सुनो, मैं तुझ पर खुश हो गया हूँ, बता तेरे लिये क्या करूँ ?' उसने कहा, 'और कुछ नहीं, मेरा यह घाव ठीक कर दो।' अपना घाव दिखा दिया। पिशाच ने कहा 'मैं शाम को आकर ठीक कर दूँगा।' उसी समय वह पिशाच हिमालय पर चला गया। पिशाचों में बड़ी ताकत होती है। वहाँ से बहुत-सी संजीवनी बूटी ले आया। शाम को सीधे ही ब्राह्मण के पास जाकर कहा, 'मैं संजीवनी ले आया, अब तू अपना घाव खोल, लगाते ही ठीक हो जायेगा।' उसने अपनी पट्टी खोली और पिशाच ने संजीवनी बूटी लगा दी। लगाने के साथ ही वह घाव

भर गया। ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हो गया कि घाव बड़ी जल्दी ठीक हो गया और दबाकर देखा कि दर्द भी नहीं रहा। लेकिन पिशाच ने कहा 'अब दूसरा घाव बनाओ, क्योंकि इतनी सारी बूटी लाया हूँ। उसे भी ठीक करूँगा।' ब्राह्मण ने कहा, 'यही घाव ठीक करना था, सो हो गया।' पिशाच ने कहा, 'ऐसा कैसे होगा ? मैं इतनी संजीवनी जो लाया हूँ। इसलिये दूसरा घाव करना ही पड़ेगा नहीं तो जान से मार डालूँगा।' ब्राह्मण बेचारा डर गया। उसने घबराकर कहा 'सातवें दिन आनां, दूसरा घाव भी ठीक कर देना।' जब आदमी फँस जाता है तो टालने की बात करता है, उसने भी पिशाच को टाल दिया। पिशाच वहाँ से चला गया।

इस चिन्ता के मारे ब्राह्मण बेचारे का भोजन भी छूटा, कुछ खाने को उसका मन न करे, उसके प्राण उड़े-उड़े रहें, किसी से क्या कहे ? दिल के अन्दर बड़ा दुःख था। जब चार दिन हो गये तो घरवालों ने पूछा 'घाव तो ठीक हो गया लेकिन कमज़ोरी पहले से भी बढ़ गई है', क्योंकि खा पी नहीं रहा था और बात भी कुछ न बताये। उसने सोचा बात सुनकर इन लोगों को दुःख होगा। जब पाँचवाँ दिन भी बीता तो उसके मन में बात नहीं टिकी। सोचा अब दो दिन का खेल है, फिर पिशाच आकर मार डालेगा, इसलिये घरवालों को बता दें कि किस समस्या में फँसा हूँ। अब तक तो कोई उपाय सोच रहा था लेकिन कोई उपाय नहीं मिला। सब घरवालों को बता दिया। लोगों से कहा कि 'यह भयंकर काम हो गया। बचने का कोई उपाय नहीं मिल रहा है। अब तो मरना ही पड़ेगा, इसलिये सबको खबर देनी चाहिये। ताकि मरने के पहले सब को मिल लिया जाये।'

सबको खबर दी गई, लड़कियाँ भी आ गईं। सबने आकर पूछा कि 'क्या बात हो गई ?' उसने कहा कि 'मैं कल मरने वाला हूँ।' लोगों ने कहा 'घाव तो ठीक हो गया, अब किसलिये मरना है ?' उसने बताया 'पिशाच कहता है कि कोई दूसरा घाव दो तब मानूँगा, नहीं तो मार डालूँगा। दूसरा घाव ठीक करेगा तो फिर कहेगा और घाव दो। तो अपने तो ऐसे ही मर जायेंगे।' उसकी एक विधवा लड़की बड़ी विदुषी थी। उसने पिता से कहा 'आप मत घबराओ, मैं पिशाच से सुलट लूँगी। जब पिशाच आये तो कहना कि पहले मेरी इस लड़की का घाव ठीक कर दे। फिर मैं उससे सुलट लूँगी।'

अगले दिन पिशाच आया और कहने लगा कि 'घाव दो।' उस ब्राह्मण ने कह दिया 'पहले मेरी लड़की का घाव ठीक कर; फिर दूसरा घाव बताऊँगा।' लड़की रजस्वला थी, उसे ही उसने घाव कहकर पिशाच से ठीक करने को कहा। उसने वह संजीवनी लगा दी। बड़ा प्रयत्न किया लेकिन उसका घाव ठीक नहीं हुआ। पिशाच दौड़कर गया और दुबारा संजीवनी ले आया, वह भी लगा दी। लेकिन ठीक नहीं हुआ। इस प्रकार पाँच-सात बार दौड़कर गया और संजीवनी लाया, लेकिन घाव ठीक नहीं हुआ। लड़की कहे 'जल्दी ठीक करो।' पिशाच मूर्ख तो था ही, घबराने लगा। उसने घाव को ध्यान से देखा तो नीचे एक और घाव नज़र आया। सोचा गज़ब हो गया। एक घ़ाव तो ठीक नहीं हुआ, दूसरा और आ गया। फिर सोचने लगा कि 'जिस घाव से सारे संसार के लोग विश्व में आते हैं और मरते हैं, उस घाव को मैं पिशाच कहाँ से ठीक कर सकता हूँ ?' बेचारा डरा, सारे जीवों के आने के रास्ते

का घाव संजीवनी बूटी से बन्द होने वाला नहीं है। घबरा कर बेचारा भाग गया क्योंकि यह घाव तो उससे भरना नहीं था। जब चार-पाँच दिन तक पिशाच नहीं आया तब ब्राह्मण को शान्ति, संतोष हुआ। ब्राह्मण का घाव ठीक हो ही गया था, बड़े आनंद से रहने लगा।

विचार करो कि जीवन के केन्द्र का घाव पिशाच से भरने वाला नहीं है, चाहे जो बूटी लगा लो। उस ब्राह्मण की जगह जीव को समझना। यह जीव यज्ञस्थल का मालिक है। मनुष्य देह यज्ञस्थल है। इसीलिये इसको गीता में धर्मक्षेत्र कहा है। यह मनुष्य शरीर यज्ञ करने का स्थल है। यही अग्रहार है जहाँ से मनुष्य आगे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति तक जा सकता है। यहाँ केवल उन विचारवान् लोगों को ही रहना है जो परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहें। इसलिये मनुष्य शरीर ही यज्ञ-स्थल है और जीव ही इस अग्रहार का मालिक है। इस जीव को किसी काल में दुःख हो जाता है। जैसे ब्राह्मण को लकड़ी का टुकड़ा घुसकर दर्द कर रहा था और जाँघ में घाव हो गया था, इसी प्रकार इस जीव को किसी कारण से रोटी, लड्डू आदि छोटे-छोटे पदार्थों की इच्छा हो जाती है। उस घाव को तो यह मनरूप पिशाच पदार्थों के द्वारा ठीक कर सकता है। जिस पदार्थ की इच्छा हुई, वह पदार्थ संजीवनी बूटी की जगह पर हुआ। भूख लगी, खाने की इच्छा हुई। जैसे पिशाच ने संजीवनी लगा दी तो घाव भर गया ऐसे ही खाने की इच्छा हुई, रसगुल्ला आ गया, खा लिया और भूख मिट गई। मन का कार्य ही था, पूरा हो गया।

लेकिन एक बार मनरूप पिशाच को सिद्ध कर लिया तो यह

पिशाच कहता है कि 'कोई न कोई कामना करो और उसके लिये कोशिश करते रहो।' आजकल लोग यह बात सबको सिखाते हैं कि हमेशा अपने सामने कुछ पाने की महत्त्वाकांक्षा रखो, कुछ करने की चाह रखो। इसे लोगों ने बहुत बड़ी तरक्की मान रखी है। जापान वालों ने इतनी तरक्की की, हम पीछे रह गये—एक दूसरे को देखकर दौड़ते हैं। साथ वाले ने दस लाख कमा लिये, मुझे बीस लाख चाहिये। मनरूपी पिशाच कहता है कि कोई न कोई कामना का घाव बनाओ, नहीं तो दुःखी करता रहूँगा। किसी काल में थोड़े-बहुत घाव को भरने के लिये पिशाच को सिद्ध किया लेकिन मनरूप पिशाच हावी हो गया। बेचारा जीव रात-दिन दुःखी है और घबरा रहा है। लेकिन मनरूप पिशाच उसे नहीं छोड़ता।

अंत में जैसे उसकी विधवा पुत्री विदुषी थी, उसने कहा कि इस पिशाच को कभी न भरने वाले घाव को ही ठीक करने के लिये कहा जाये; इसी प्रकार इस मन से कहो कि 'तुम अनंत आनंद ला कर दो, हमें परिच्छिन्न आनंद नहीं चाहिये।' अब मन बेचारा कोई भी संजीवनी बूटी और पदार्थ लाता है तो तुम कहते हो कि 'यह तो परिच्छिन्न आनंद दे रहा है, यह नहीं चाहिये। अनंत आनंद ही लाओ।' मन फिर दौड़कर जाता है और फिर कुछ पदार्थ लाता हैं। तुम कहते हो 'ये भी परिच्छिन्न हैं, हमें तो अनंत आनंद ही चाहिये' और उस अनंत आनंद के सुख से तुम्हें मन कभी भर नहीं सकता। परिच्छिन्न सुख को सामने रखोगे तो हमेशा रहेगा 'और लाओ, और घाव करो अर्थात् और किसी चीज़ की कामना करो।' यदि तुम ब्रह्म के आनंद की कामना कर लो कि मुझे तो अनंत आनंद, ब्रह्म ही चाहिये तो मन हार जायेगा क्योंकि वह

जो लायेगा परिच्छिन्न ही होगा। जैसे पिशाच ने कहा कि 'यही तो संसार के निकलने का रास्ता है, इसे कौन बंद कर सकता है ?' ऐसे ही यह मन रूपी पिशाच कहता है कि इस ब्रह्म से तो सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, 'इस ब्रह्म के आनंद को मैं कहाँ से ला सकता हूँ ?'

अब वह घबरा कर भाग जाता है। 'मनसो हि अमनी भावे'—मन कहता है कि 'यहाँ से भागो क्योंकि इसे तो आनंद चाहिये और यह मुझे लगाये रखेगा।' बार-बार मन को कहते हो कि 'ब्रह्म का चिन्तन कर।' मन कहता है कि 'और किसी चीज़ की कामना करो।' जब बार-बार निदिध्यासन करवाते हो तब मन अमन हो जाता है। मन से कभी वह आनंद नहीं आना है। इसलिये मन बेचारा वहाँ से भाग जाता है। जैसे ही मन भागा, वैसे ही 'द्वैतं नैवोपलभ्यते' द्वैत नष्ट हो जाता है, ब्रह्म का आनंद मिल जाता है जैसे ब्राह्मण बाद में सुख से रहा। मन का अमनीभवन वस्तुतः चन्द्रमारूप आह्लाद को उत्पन्न करता है।

प्रवचन - ७३

पुरुषसूक्त के विचार में फलावस्था की दृष्टि से मन की उत्पत्ति बताई, मन से होने वाला चन्द्रमा है यह बताया। अन्यत्र श्रुति तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहती है 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव' यह जो कुछ भी प्रतीयमान जगत् है, यह मन के वश में ही उत्पन्न होता है। इसीलिये मन प्रथम या प्रधान है। संसार के यावत्पदार्थ मन के अधीन हो कर ही उत्पन्न होते हैं। मन का यदि सम्यक् प्रकार

से अध्ययन कर लिया जाये, नियंत्रण कर लिया जाये तो सारे विश्व की गुत्थी सुलझ जाती है। कल बताया कि मन न रूप, रस, गंध वाला होने से सत् कहा जा सकता है और न प्रतीयमान होने के कारण असत् कहा जा सकता है। इस मन की परिच्छिन्न भूखों को तो विषय मिटा लेते हैं लेकिन इसकी अपरिच्छिन्न, व्यापक, भूमा ब्रह्मानन्द की भूख नहीं मिटती। यह भूख क्यों नहीं मिटती, इसका कारण तैत्तिरीय ब्राह्मण ने समझाया कि जो अधिपति हुआ करता है वह अधीन के द्वारा तृप्त नहीं होता। यह नियम है। जो जिसका मालिक है वह उससे तृप्त नहीं किया जा सकता। जैसे हमारे बगीचे के अन्दर एक हज़ार सेब लगे हुए हैं, उन सेबों में से पाँच सेब तोड़कर तुम हमें दो, तो क्या हमें प्रसन्नता हो सकती है ? हम तो पहले ही उनके मालिक हैं। इसी प्रकार जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सारे मन के अधीन हैं। इसीलिये उन पदार्थों से मन की तृप्ति सम्भव नहीं है।

उसकी तृप्ति तब हो जब मन के परे जो है, वह उसे मिले। मन के पदार्थों से उसकी तृप्ति नहीं, वरन् मन के परे की प्राप्ति होने पर उसकी तृप्ति सम्भव है। प्रायः हम मन को मन से बने हुए पदार्थों के द्वारा तृप्त करना चाहते हैं लेकिन वह कभी तृप्त नहीं होता। मन के परे केवल एक है जिसने इस मन का निर्माण किया है, वह परमात्मा ही एकमात्र मन के परे है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में लिखते हैं

'परं तत्त्वं प्रदृश्यैवं मनस्यद्वैततां गते।
विज्ञानं केवलं शुद्धं स्वात्मन्येवावतिष्ठते।।'

इस मन के पंजे से कब छूटो ? जब मन के परे जो पर तत्त्व है

उसे देखो। प्रश्नोपनिषद् में जब भगवान् पिप्पलाद से छह ऋषि प्रश्न करते हैं तब सबका जवाब देते हुए अंत में आत्मतत्त्व का निरूपण करने के बाद ऋषि कहते हैं 'नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्' इससे परे और कोई चीज़ जानने लायक नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी 'पर तत्त्व' इसलिये कहा कि उससे परे, आगे, और कुछ नहीं है। यमराज नचिकेता को उपदेश करते हुए कठोपनिषद् में कहते हैं 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' उस आत्मपुरुष के आगे कुछ जानने को नहीं है। श्रुति क्यों बार-बार निषेध करती है कि उससे परे और कुछ नहीं है? क्योंकि मनुष्य के हृदय में एक विलक्षण खुजली रहती है कि 'क्या इससे भी आगे कुछ है ? इससे आगे कुछ है ?' यही अदार्ढ्य उसको संतोष और शांति नहीं लेने देता। बढ़िया से बढ़िया रेशम की या फ्रैन्च शिफान की साड़ी पहने हुए हैं, बड़ा सुख दे रही है, उसमें किसी त्रुटि का अनुभव नहीं हो रहा है। लेकिन यदि कोई कहता है कि 'नया ऑर्लोन फाइबर निकला है जो अभी हिन्दुस्तान में नहीं आया', तो यह सुनने मात्र से मनुष्य को वह शिफान की साड़ी सुख नहीं दे पाती, क्योंकि खुजली चल गई कि 'इससे परे वह इससे भी श्रेष्ठ होगी।'

जहाँ यह बोध आया कि 'इससे परे कुछ श्रेष्ठ है', वहाँ फिर वर्तमान सुखप्रद नहीं रह जाता। यह हमारे सारे व्यवहारों का बीज है। केवल कपड़े और केवल भोजन का ही नहीं, सारे व्यवहारों का यही बीज है। कोई आकर कहता है कि मेरा लड़का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है तो तुरंत माँ जवाब देती है कि 'मेरा लड़का भी उत्तीर्ण हुआ है।' तुमसे पूछा किसने था ? कोई मुँह से कहता

है, कोई नहीं कहता। एक कदम और आगे चलो, उसने कहा 'मेरा लड़का विश्वविद्यालय में प्रथम आया है और उसे स्वर्ण पदक मिला है।' तो कहती है कि 'मेरा लड़का तो केवल प्रथम श्रेणी में ही आया है। क्या बताऊँ, बुद्धि तो उसकी भी तेज़ है, मेहनत करता तो ज़रूर प्रथम आ जाता।' 'मेरा लड़का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है'—इसके आनन्द को यह दबा देता है कि पड़ोसी के लड़के ने स्वर्ण पदक प्राप्त कर लिया। 'इससे कुछ श्रेष्ठ है'—यह ज्ञान मनुष्य को स्थिर नहीं होने देता।

जब वेद आदि सच्छास्त्रों के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन करते है, तब वहाँ चित्त स्थिर क्यों नहीं हो पाता ? विचार से जब यह निर्णय और निश्चय करा दिया कि जगत् के पदार्थों में किसी प्रकार की सत्यता नहीं है, फिर जगत् के पदार्थ क्यों खींचते हैं ? क्योंकि उनका मिथ्यात्व आखिरी है, ऐसा अन्दर का निश्चय नहीं है। लगता है कि—'शायद जिस मिथ्यात्व को ये बताते हैं और जिस मिथ्यात्व को हम समझते हैं, उनमें कुछ फ़र्क है। शायद कोई और ढंग का मिथ्यात्व होता होगा, सर्वथा रस्सी में साँप की तरह थोड़े ही संसार झूठा होगा। वह फिर कभी समझ में आयेगा।'—यही भाव हमको स्थिर नहीं होने देता। इसीलिये श्रुतियों ने बार-बार कहा कि वह परम है, उससे आगे कुछ नहीं है। जब अनेक संत-महात्माओं के ग्रंथ देखते हैं तब विलक्षण कल्पनायें मिलती हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से तुरीय अधिक है। पर 'तुरीय' नाम पड़ गया तो लोग कहते हैं कि उस तुरीय से आगे तुरीयातीत है। फिर कोई कहता है कि उससे भी आगे तुरीयातीतातीत है। ऐसे ही हृदय, भ्रामरी आदि गुफाओं के तारतम्य का वर्णन आता है। जहाँ

भी तुम हो, उससे आगे कुछ-न-कुछ प्रतीत कराना यही ऐसे साहित्य में मिलता है। ग्रंथकारों का मूल भाव चाहे परमता, निरपेक्षता बताना हो किन्तु साधारण साधक उनके वर्णन से स्वयं कभी स्थिरता महसूस न कर चक्कर में पड़ जाता है।

कैसे इस चक्कर में पड़े रहते हैं ? काशी में एक ब्राह्मण ने चौबीस वर्ष तक खूब अध्ययन किया। सामान्य नियम बारह वर्ष अध्ययन का है, लेकिन उसने दुगुने काल तक अध्ययन किया। अध्ययन करके वापिस घर आ रहा था, सभी किताबें अपने छकड़े पर लादकर ला रहा था, प्राचीन काल था। रात में एक गाँव में टिका। उस गाँव में भी एक पण्डित था लेकिन अंगूठा छाप पंडित था। ऐसे पंडित भी होते हैं।

एक बार हमें साक्षात् अनुभव हुआ। पहाड़ में गये हुए थे। एक दिन एक पण्डित ने आकर कहा, 'स्वामी जी ! आजकल कौन-सी तिथि चल रही है ?' हमें आश्चर्य हुआ कि 'चल रही है' का क्या मतलब ? हमने पूछा 'तुम्हारे हिसाब से कौन-सी तिथि है ?' बोला 'हमारे हिसाब से तो षष्ठी पड़ती है।' उस दिन पूर्णिमा थी। हमने कहा, 'भले आदमी ! एकाध दिन आगे-पीछे हो जाये, नौ दिन का फ़र्क कैसे हो सकता है ?' हाथ जोड़कर कहने लगा, 'आपसे क्या छिपाना है, आपसे पूछ ही रहा हूँ। मुझे पढ़ना नहीं आता। मैंने पंद्रह सलाईयाँ रख छोड़ी हैं। रोज़ एक तरफ से उठाकर दूसरी तरफ एक सलाई रख देता हूँ। पन्द्रह दिन पूरे हो गये तो पूनम हो जाती है और फिर उधर से उठाकर रोज एक-एक सलाई इधर रखता हूँ। जहाँ सलाईयाँ रखता हूँ, वहाँ एक दिन बिल्ली ने झपट्टा मारा तो सलाईयाँ मिल गईं। तब से तिथि का पता ही

नहीं चला और इधर से कोई विद्वान् भी नहीं निकला जिससे पूछूँ।' हमने कहा, 'आज तुमने छठ बताई होगी तो कल एकम कैसे बताओगे ?' बोला 'उसमें क्या है ! तिथियाँ क्षय हो जाती हैं। नौ तिथियाँ क्षय हो गईं तो छठ के बाद एकम आ गई।' ग्रामीण व्यवहार ऐसे ही चल जाता है।

उस गाँव का पण्डित भी इस प्रकार का था। गाँव वालों ने पंडित से कहा 'आप बड़े विद्वान् और पुराने हैं। यह काशी से आया हुआ नया छोकरा है, आप ज़रा इससे शास्त्रार्थ करो तो हम भी सुनें।' उस पंडित ने कहा, 'ज़रूर शास्त्रार्थ करूँगा।' न करें तो कल से यजमानी चली जाये ! गाँव वालों ने काशी के पंडित से कहा 'हमारे पंडित जी से शास्त्रार्थ करो।' नये पढ़े-लिखों में जोश तो होता ही है, झट मान गया और दूसरे दिन सवेरे शास्त्रार्थ में बैठे। गाँव के लोग ही निर्णायक बने कि इनमें से कौन श्रेष्ठ है और जीतता है। आजकल के ज़माने में भी बड़े से बड़े विद्वान् का निर्णय करने के लिये मूर्ख जनता इकट्ठी होकर वोट देती है, जिसे ज़्यादा वोट मिलें वही विद्वान् है। कहते हैं, 'यह ठीक है, बाकी सब बेवकूफ हैं।' वहाँ भी गाँव की जनता निर्णय के लिये इकट्ठी हो गई। जनता ने कहा कि जो हारेगा, उसकी सारी किताबें जीता हुआ ले जायेगा।' शास्त्रार्थ शुरू हुआ। बुजुर्ग पंडित ने कहा, 'मैं पहले सवाल करता हूँ। बता ! वेद कितने होते हैं?' लड़का पढ़कर आया ही था, सोचा—गजब हो गया ! शास्त्रार्थ में यह ऐसी साधारण बातें पूछता है, यह तो साधारण आदमी भी जानता है। चलो, जो भी पूछे, मुझ तो जवाब देना है। कहा—'वेद चार होते हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।' बुजुर्ग

पंडित सारे गाँव की जनता की तरफ हाथ करके कहने लगा—'देखो यह काशी से पढ़कर आया है। तुम लोग भी जानते हो कि हमारे इतने पुराने वेद हैं। क्या उनको शादी के लिये लड़की नहीं मिली होगी ? वेद आठ हैं—ऋग्वेद-वेदनी, यजुर्वेद-वेदनी, सामवेद-वेदनी और अथर्ववेद-वेदनी।' गाँव वालों ने भी कहा, 'पंडित जी ठीक कहते हैं, इतने बुड्ढे वेद, सारे लोग उन्हें पूज्य मानते हैं, उन्हें कोई लड़की क्यों नहीं देगा ? बिना ब्याह के क्वारे बैठे रहेंगे यह कैसे हो सकता है ? कोई न कोई अपनी लड़की देगा ही।' सबने निर्णय कर दिया कि नया पढ़ा हुआ पंडित मूर्ख है और उसकी सारी किताबें छीन लीं। वह बेचारा क्या करता, गाँव में सारे एकमत थे।

पाँच-सात दिन की यात्रा के बाद घर पहुँचा। उसे देखकर पिताजी को बड़ा दुःख हुआ। कहा—'तेरा चेहरा उतरा हुआ है?' विद्या से तेज और ओज होता है। किसी भी बात का ज्ञान होता है तब चेहरे में चमक रहती है। 'तेरा चेहरा इतना उदास क्यों है ? क्या पढ़कर आया है ?' उसने कहा—'वेद-वेदांग सब पढ़कर आया हूँ।' पिता ने कहा—'फिर उदास क्यों है ? क्या वहाँ से कुछ ग्रंथ लिखकर नहीं लाया ?' पुराने ज़माने में किताबें छपती नहीं थीं। गुरु बोलते थे और शिष्य लिखते जाते थे। उसने बताया कि 'रास्ते में एक महामूर्ख ब्राह्मण मिल गया और उसने मेरी किताबें छीन लीं, इज़्ज़त भी ले ली।' पिता ने पूछा, 'तू नया-नया पढ़कर आया था, तुझे तो याद होना चाहिये था।' जब उसने सारी बात बताई तब उसके पिता ने कहा कि 'अब तो मुझे जाना पड़ेगा। उससे ज़ोर मैं कर सकूँगा, क्योंकि पढ़ा-लिखा आदमी मूर्ख से नहीं

जीत सकता।'

उसने खूब ईंटें इकट्ठी करके उन पर कपड़ा बाँधा और एक छकड़ा भरकर तैयार किया। पाँच-सात दिन की यात्रा करके उसी गाँव में पहुँचा। गाँव वालों ने आकर पूछा, 'किधर से आये ? कहा, 'काशी का पंडित हूँ।' गाँव वालों ने कहा, 'भले आये, यहाँ पहले भी एक काशी से आया था।' उस पंडित ने कहा 'तुम्हारे यहाँ ठहरेंगे, कुछ इन्तजाम करो।' छकड़े को धक्का देने लगे तो कहा 'यह बहुत बड़ा पंडित है क्योंकि इसके छकड़े का बोझ बहुत ज़्यादा है। 'मूर्ख लोग किताब भी खरीदते हैं तो देखते हैं कि कितनी मोटी है। उसमें क्या लिखा है—इसकी उन्हें बुद्धि नहीं है, समझते हैं कि जितनी मोटी किताब हो, उतनां ही अच्छा है। छकड़े का वजन देखकर गाँव वालों पर कुछ प्रभाव पड़ा। उससे कहा—'हमारे गाँव के पंडित से शास्त्रार्थ करोगे ?' पंडित ने कहा, 'इसी के लिये तो घूमता फिरता हूँ।'

दूसरे दिन फिर शास्त्रार्थ का इंतजाम हुआ। वहाँ तो जनता ही निर्णय करने वाली थी। दोनों पंडित बैठे। लड़के के बाप ने कहा 'मैं बुजुर्ग हूँ, पहले मैं सवाल करूँगा।' लोगों ने कहा—'ठीक है, पहले शास्त्रार्थ में हमारे पंडित बुजुर्ग थे तो इन्होंने ही पहले प्रश्न किया था।' वही निश्चय हुआ कि जो जीत जायेगा वह हारे हुए व्यक्ति की सारी किताबें ले जायेगा। गाँव के पंडित ने कहा—'बड़े देखे हैं, अभी-अभी एक को हरा चुका हूँ। पूछ, क्या प्रश्न है ?' उसने कहा, 'बता, वेद कितने होते हैं ?' लोगों ने सोचा, 'इसने ठीक पूछा, 'हमारे पंडित ने भी लड़के से यही प्रश्न पूछा था। हमारा पंडित जीत जायेगा।' गाँव के पंडित ने कह दिया,

'वेद आठ होते हैं।' उस पंडित ने कहा, 'बेवकूफ कहीं का। बता कौन-कौन से होते हैं ?' बोला, 'मैं ब्याह किये हुए वेदों को जानता हूँ—ऋग्वेद-वेदनी, यजुर्वेद-वेदनी, सामवेद-वेदनी, अथर्ववेद-वेदनी।' सवाल पूछने वाले पंडित ने उठकर गाँव के पंडित को एक झापड़ मारा और कहा—'शरम नहीं आती, पंडित बना फिरता है !' गाँव वालों पर बड़ा प्रभाव पड़ा कि यह पंडित बड़ा रुआबदार है। उसने कहा—'इतने बूढ़े वेद क्या हीजड़े हैं जो उनके संतान नहीं होगी? अरे, वेद सोलह होते हैं, ऋग्वेद-वेदनी, बेटा, बेटी—चार। यजुर्वेद-वेदनी, बेटा, बेटी—चार। सामवेद-वेदनी, बेटा, बेटी—चार। अथर्ववेद-वेदनी, बेटा, बेटी—चार। सोलह हो गये।' गाँव वाले कहने लगे—'धन्य हो महाराज ! आपको ही असली पता है। बात बिल्कुल ठीक है—इतने पुराने वेद, उनके बेटा-बेटी न हों, कैसे हो सकता है।'गाँव का पंडित बेचारा चुप हो गया और वह पंडित अपने लड़के की सारी किताबें लेकर घर गया। लड़के से कहा—'भले आदमी ! तू अभी लड़का है। शास्त्रार्थ करने से पहले समझ लिया कर कि सामने वाला मूर्ख है या नहीं। मूर्ख हो तो भाग जाया कर। जाट से जाट ही जीत सकता है, दूसरा नहीं सक सकता।

विचार करो : जैसे यहाँ वेद के विषय को न जानने वाले के मन में होता है कि वेद के वेदनी और बेटा-बेटी होंगे। इसी प्रकार कोई कहता है—'अरे तुरीय के ऊपर तुरीयातीत है' तो सोचते हो कि ज़रूर होगा। फिर किसी ने कहा कि 'तुरीयातीतातीत है', तो सोचते हो कि वह भी ज़रूर होगा। इनका तो कोई अंत आना नहीं है। अनेक विचारक भी इसी प्रकार की दुनिया भर की

कल्पनायें करते रहते हैं। तुम कहो 'तीसरी गुफा में प्रवेश किया' तो वे कहेंगे 'छठी तक पहुँचना है।' अभी कोई किताब दे गया था, उसमें लिखा था कि 'आत्मा से आगे ब्रह्म है। बहुत से लोग ब्रह्म में अटक जाते हैं, लेकिन ब्रह्म से आगे एक और है।' उन्होंने कोई कल्पना कर ली। श्रुति जानती थी कि इस प्रकार की धोखाधड़ी की सम्भावना है, इसीलिये श्रुति ने कह दिया 'नातःपरं वेदितव्यं हि किंचित्' समझ लेना कि इसके आगे कुछ नहीं है। जो कहता है कि इससे परे कोई तत्त्व है वह भ्रम में पड़ा हुआ है और दूसरे को भ्रम में डालता है। मनुष्य के मन में बैठा हुआ है कि 'शायद इसके आगे कुछ हो।' वही इसे शान्त और तृप्त नहीं होने देता। इसलिये श्रुति ने कहा कि मन के आगे केवल एक ही चीज़ है—केवल परमात्मा, उसके आगे कुछ औरनहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जब मन उस परमात्मा की तरफ चला जाता है, तब उस पर तत्त्व का दर्शन हो जाता है।

'मनस्यद्वैततां गते'—जहाँ इस परम तत्त्व को दिखाया वहाँ मन लीन हो जाता है। मन परम तत्त्व को *देखता* नहीं है बल्कि परम तत्त्व को *दिखाता* है, क्योंकि मन चोर है ! इसकी यह हिम्मत नहीं है कि यह पुलिस के, परमात्मा के सामने आ जाये। एक कथा आती है : एक भले आदमी को चोरों ने पकड़ लिया। चोर भी सब एक-जैसे नहीं होते, कोई अच्छा, कोई बुरा चोर होता है। उन चोरों ने उस भले आदमी का सारा माल लूट लिया तो एक चोर ने कहा 'इसे मार डालो, नहीं तो क्या पता पुलिस में रिपोर्ट लिखा दे।' दूसरा चोर बोला 'माल तो अपने को मिल ही गया है, क्यों हत्या करते हो ? हाँ इसके हाथ-पैर बाँधकर यहीं छोड़

दो। दो-एक दिन बाद कोई इधर से जायेगा तो इसे बचा लेगा, तब तक हम भाग जायेंगे।' चोरों ने उसे वहीं बाँध दिया। तीसरा चोर भला आदमी था। उस समय तो वह अपने साथियों के साथ चला गया लेकिन उसके मन में रहा 'जंगल का मामला है, कोई शेर आदि हिंसक प्राणी आकर उसे खा लेगा या कोई साँप डस लेगा।' चला तो गया लेकिन घण्टे-दो घण्टे बाद कोई बहाना बनाकर वापिस आ गया, उसके आँख, हाथ पैर खोल दिये और उसको एक सड़क पर ले जाकर कहा कि 'यहाँ से सीधे चले जाना, तेरा घर मिल जायेगा।' वह आदमी हाथ जोड़कर बोला 'तूने मेरा बड़ा उपकार किया, नहीं तो मैं मर गया होता। इसलिये मेरे साथ चल, मैं तेरा सत्कार करूँगा।' वह चोर हँसकर बोला, 'मैं भी चोर हूँ इसलिये गाँव में तेरे घर जाने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। यहीं से रास्ता दिखा देता हूँ। यह नहीं हो सकता कि मैं तुम्हारे साथ चलूँ। मैंने तो तुझे लूटा है।'

ठीक इसी प्रकार हमें जो सच्चिदानंदरूप धन मिला है, इस माल को सब लोगों ने लूट लिया, शरीर, इन्द्रिय और मन ने भी लूट रखा है। शरीर के कारण सच्चिदानंद का भान नहीं है। ध्यान करने बैठो तो थोड़ी देर में घुटना दर्द करता है और चोरी कर लेता है। कभी कमर दर्द करके चोरी करती है। इन्द्रियाँ भी चोरी करती हैं। तुम ध्यान में बैठे, कहीं चूहा खुड़का, कान कहता है कि 'बर्फी पड़ी है, खा जायेगा।' या कहीं से थोड़ी-सी बदबू आई तो नाक कहेगी 'हाय ! यह बदबू कहाँ से आ रही है।' मन भी चुराता है, कहता है कि 'दीवाली आ गई, मुनीम से पूरा ब्यौरा तैयार करने को कहा था, लेकिन उसने अब तक तैयार नहीं

की।' मन ने ध्यान के आनंद की चोरी कर ली। इस प्रकार शरीर, मन, इन्द्रियाँ तीनों ही चोर हैं, क्योंकि तुम ध्यान लगाते तो आनंद आता, लेकिन इन सबने चोरी कर ली। लेकिन इन तीनों में कुछ फ़र्क है। शरीर तो कहता है कि 'ऐसी चोरी करो कि यह बिल्कुल मर ही जाये।' शरीर सर्वथा जड बना देता है। शरीर ही सबसे ज्यादा जड़ है, इसीलिये शरीर ने तो इस की सर्वथा चोरी कर रखी है। जो शरीर के अन्दर दृढ अध्यास वाला होता है, वह तो परमात्मा की तरफ चले जाने की इच्छा भी नहीं करता। आजकल बड़े-बड़े लोग यही उपदेश करते हैं कि 'पहले देश की भूख-प्यास मिट जाये, लोगों के पास पैसा हो जाये, फिर परमात्मा का, अध्यात्मवाद का चिन्तन करेंगे। जब तक पेट नहीं भरा, तब तक अध्यात्मवाद कहाँ से सूझेगा ! इसलिये पहले देश की उन्नति में उतर जाओ।' अर्थात् परमात्मा के लिये सर्वथा मर जाओ। उनसे पूछो कि यह पेट तो वशिष्ठ, विश्वामित्र के युग से लेकर आज तक किसी का नहीं भरा। अमरीका वालों के पास इतना धन हो गया तो उनका पेट भी नहीं भरा, वे भी रोते रहते हैं। 'शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी तब परमात्मा की तरफ जायेंगे,' यह कहने वाले का आंतरिक भाव है कि परमात्मा की तरफ न जाओ। ऐसे ही घर के लोग भी कहते हैं कि 'पहले बाल-बच्चों का फिकर कर लो, फिर परमात्मा की तरफ जाना।' वह काम कभी खत्म नहीं होना है। किसी लड़के की नौकरी छूटेगी, किसी की पत्नी बीमार हो जायेगी, कोई स्कूल में फेल हो जायेगा। कुछ न कुछ तो चलते ही रहना है। इसलिये यह कहना कि 'सारे काम समाप्त होने के बाद चिन्तन करेंगे', धोखाधड़ी का मामला है,

क्योंकि न ये कभी खत्म होने हैं और न कभी परमात्मा की तरफ जाना है। इसलिये शरीर के अध्यास वाले तो हमें सर्वथा अध्यात्म मार्ग की तरफ से मारना चाहते हैं। आजकल जितना भी नेतृवर्ग है, उनमें से किसी को भी क्षण भर को यह चिन्ता नहीं कि परमात्मा की वृत्ति का क्या होगा। सारे शरीर के भोगों में ही लगे हुए हैं और उसी को उन्नति मान रखा है।

शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ कुछ अच्छी हैं। इन्द्रियाँ बाँधती तो हैं लेकिन समय-समय पर थोड़ा सुख भी देती हैं, शरीर तो कुछ सुख नहीं देता। कोई अच्छा रूप देखने को मिला तो क्षण-मात्र को सुख हो गया। अच्छा संगीत सुनने को मिला तो थोड़ी देर के लिये मन सुखी हो गया। इसलिये इन्द्रियाँ क्षणिक सुख तो देती हैं। ये कहती हैं कि 'इसको बाँध दो, बिल्कुल मत मारो।'

मन इनसे भी आगे है। है तो यह भी सुख का साधन क्योंकि मन मनुष्य में विचार उत्पन्न करता है और विचार उत्पन्न करने पर कभी न कभी मन शुद्ध हो जायेगा। शुद्ध मन परमात्मा को दिखा देता है, देखता नहीं है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' मन केवल दूर से दिखा देता है। कहता है—'देख, मैं तो भोक्ता हूँ, लेकिन मेरे लीन होने पर जो रहेगा, बस यही तत्त्व है, यह समझ लेना।' इन्द्रियाँ शुद्ध होकर परमात्मा को नहीं दिखातीं, शरीर भी नहीं दिखाता, केवल मन दिखाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा 'को देवो? यो मनःसाक्षी' देव कौन है ? कोई किसी को तो कोई किसी को देव बताता है। लेकिन वैदिक सिद्धान्त कहता है कि वह देव है जो मन का साक्षी है, जो मन को जानता है। यही बात सामवेद की तलवकार शाखा ने कही 'मनसो मनः' वह मन का मन है।

यह इसलिये कहा कि मन उसको दूर से दिखा देता है, देखता नहीं है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जब मन लीन हो गया तब अद्वितीय भाव आ गया, अद्वैत की प्राप्ति हो गई। मन के कारण ही दोनों के बीच दीवार बनी हुई है। मन गया तो दीवार गई, फिर क्या रहेगा ? केवल अनुभव ही रह जायेगा। संसार के मत-मतांतरों, सब धर्म और दर्शनों से वेदांत की विलक्षणता यही है कि बाकी जितने हैं वे सब कहते हैं कि परमात्मा का रूप आगे प्राप्त होगा। यहाँ तक कि तथाकथित साम्यवादी भी कहते हैं कि 'जब कुछ पीढ़ियों तक तुम लोग काम करोगे, तब आगे आने वाले किसी को साम्यवाद का फल मिलेगा।' क्योंकि वे खुद कहते हैं कि अभी रूस में साम्यवाद नहीं आया। लेनिन, स्टालिन और खुश्चेव तीन पीढ़ियाँ मर गईं, अभी तक वहाँ साम्यवाद नहीं आया ! कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट सारे घोर अंधविश्वासी हैं, जो विश्वास करते हैं कि आगे किसी लोक में वह मिलेगा। जैसे वैष्णव कहते हैं कि परमात्मा किसी गोलोक आदि में है, ईसाई कहते हैं (Heaven) 'हैवन' में और मुसलमान कहते हैं कि मरकर बहिश्त में मिलेगा। ऐसे ही इन लोगों ने कहा कि तुम्हारे मरने के सौ-दो सौ साल बाद तुम्हारे पोते-पड़पोतों को सुख मिलेगा।

एकमात्र वेदांत कहता है 'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या।' भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि ब्रह्मविद्या किसी अंधविश्वास को नहीं मानती। यह ब्रह्मविद्या अनुभव में समाप्त होती है। यही इसकी विशेषता है। यह नहीं कि मरने के बाद आगे कुछ होना है। ब्रह्मविद्या के अन्दर भी कई लोग अपने

अंधविश्वास को लाते हैं। जैसे उन्होंने आगे के जन्म माने, वैसे ही इन्होंने मान लिया कि कोई प्रारब्ध नाम की चीज़ है जो खत्म होगी, तब हमें अनुभव होगा। यह वेदांत सिद्धान्त नहीं है। प्रारब्ध तो हमारे यहाँ बच्चों का खेल माना है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'बालानां सुखबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः' जो बालक-बुद्धि के लोग हैं, उनको समझाने के लिये प्रारब्ध है, विवेकी के लिये प्रारब्ध नहीं है। ब्रह्मविद्या अनुभव में अवसान वाली है। उस अनुभव के अन्दर द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं है। अन्यत्र तो ज्ञान किसी *का* होता है और किसी *को* होता है। जैसे 'मुझे घड़े का ज्ञान है' इसमें आश्रय और विषय दोनों होते हैं। और यहाँ विज्ञान केवल है अर्थात् इस ज्ञान का न आश्रय है और न विषय है, केवल ज्ञान ही है। यह ज्ञान, अनुभव शुद्ध है। शुद्ध इसलिये है कि अन्य सब ज्ञान किसी न किसी प्रकार की वासनाओं को उत्पन्न करते हैं लेकिन यह किसी वासना को उत्पन्न नहीं करता। यह स्वात्मा के अन्दर ही स्थिर हो जाता है। मन को इस प्रकार अमन भाव को प्राप्त कराना है। जब यह इस प्रकार से लीन होता है तब इसकी प्राप्ति होती है। बाह्य कुछ भी पदार्थ दो, इसकी तृप्ति नहीं होती है।

अब श्रुति कहती है कि यह मन इस परमात्मा के सिवाय बाकी संसार के पदार्थों से वश में नहीं आयेगा। 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यवशं मनः' कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि किसी दूसरे के द्वारा यह मन वश में नहीं आ सकता। हम मन को रूप, रस आदि पदार्थों के द्वारा बहलाते हैं कि यह मन किसी तरह वश में आ जाये। जैसे जब बच्चा कहता है कि

'मम्मी कहाँ गई, मुझे भूख लगी है।' तब बेचारा पिता क्या करे ! मम्मी तो किसी से मिलने गई है। यहाँ *मम्मी* कह रहे हैं, क्योंकि माता तो बच्चे को साथ लेकर जाती है और मम्मी बच्चे को पीछे छोड़कर जाती है। मम्मी के अन्दर अभिमान है कि 'सुन्दर वस्त्रों के द्वारा आच्छादित ऊँची ऐड़ी की जूती पहनने वाली 'युवती' हूँ।' ऐसी अभिमान वाली को किसी दोष या ग़लती के कारण बच्चा पैदा हो गया और वह बेचारी मम्मी बन गई। हृदय से तो वह सुन्दरी, सुन्दर वस्त्र पहनकर जाने वाली युवती है। बच्चे को साथ लेकर जाये तो पोल खुल जायेगी। माता को इस बात का गर्व है कि 'मैं कोई बाँझ नहीं हूँ। मेरी साड़ी बच्चे के पेशाब से भीगी है तो मुझे किस बात की शरम। शरम तो वह करे जिसकी गोद सूनी पड़ी है।' यह माता और मम्मी में फ़र्क है। मम्मी तो किसी से मिलनी चली गई। पिता कभी उसको बिस्कुट देता है कि 'खा ले बेटा।' थोड़ी देर के लिये चुप हो गया लेकिन फिर कहता है 'भूख लगी है।' पिता उसको कभी खिलौनों से, कभी मोटर से बहला रहा है। लेकिन इस तरह से बच्चा कितनी देर बहलेगा? जो भी बहलावा दो, एक-आध मिनट को वृत्ति उधर जाती है, फिर रोता है कि 'मुझे तो खाना चाहिये।'

ऐसे ही मन को तो परमात्मा की भूख है, लेकिन तुम उसे अनेक चीज़ों से बहलाते हो। कभी कहते हो, 'दुकान का हिसाब लिख', कभी कहते हो—'हज़ार रुपये का फायदा हो गया', कभी कहते हो 'बैण्ड बजाकर तेरी शादी कर दूँगा।' मन बेचारा साल-छह महीने बहलकर फिर कहता है 'इससे मुझ कुछ नहीं हुआ।' कहाँ तक उसे बहलाओगे? अंत में एक स्थिति ऐसी आती है जब

वह बच्चा इतनी भूख का अनुभव करता है कि किसी चीज़ को देखता भी नहीं, आँखें बन्द करके, हाथ-पैर पछाड़कर रोता है। कोई चीज़ दो, नहीं मानता है, उलटा कहता है कि 'मुझे तो खाना चाहिये।' उस समय चाहे पड़ौसी के पास से लाकर दो, खाना देना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जब मन को बहलाते-बहलाते अंत में जीव इस निर्णय पर आ जाता है कि 'अब तो मुझे सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं चाहिये।' तब आँख बन्द कर लेता है। कठोपनिषद् कहती है—

'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुःपरमां गतिम्।।'

पाँचों इन्द्रियाँ ऐसी स्थिर हो गई हैं कि उनको कुछ भी दो, वृत्ति उधर से नहीं हटती। जिस समय ध्यान की गम्भीरता होती है उस समय चाहे चूहा खड़-खड़ ही नहीं करे बल्कि जाँघ पर मुँह भी मार दे तो पता नहीं लगता। जैसे बच्चा तेज़ भूख लगने पर आँख खोलकर नहीं देखता। इसी प्रकार यहाँ भी चाहे जैसी परिस्थिति आये, विषय को ग्रहण ही नहीं करता। मन से भी किसी चीज़ की इच्छा ही उसे नहीं होती है। चाहे बड़े से बड़े पदार्थ सामने आ जायें लेकिन वह नहीं लेता। कहो 'बढ़िया कथा सुनाता हूँ।' वह कहता है—'बहुत सुन ली, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल ब्रह्म ही चाहिये।' यह चाहे जिस अभ्यास से हो, चाहे परमात्मा के प्रेम से हो, चाहे बार-बार वैराग्य से हो, योगाभ्यास से हो, किसी तरह से हो; जब बाकी सब चीज़ों के प्रति वितृष्णा हो जायेगी तब परम गति, परमात्मा की प्राप्ति सरल हो जाती है। यह जो अवस्थिति है, इसकी प्राप्ति करनी है।

प्रवचन - ७४

पुरुषसूक्त के बारहवें मंत्र में भगवती श्रुति परमात्मा के अध्यात्म से अधिदैव की उत्पत्ति को बता रही है। सर्वप्रथम मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति को बताया। मन प्रधान है क्योंकि मन के द्वारा ही बाकी सब उत्पन्न होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के आधार पर कहा कि मन के वश में सब है और मन अन्य किसी के वश में नहीं है। यह मन कैसा है ? इसे कैसे समाप्त किया जाता है?—इस पर आज विचार करेंगे।

भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक उपनिषद् में मन के समाप्त होने का उपाय बताते हुए कहते हैं

'दाह्यं दग्ध्वा यथा वह्निर्दाह्यनाशमनु स्वयम्।
नश्यतीदं मनस्तद्वद् द्वैतमद्वैतरूपताम्।।
आपाद्य विषयं सम्यक् स्वयमेव प्रलीयते।।'

अग्नि के नष्ट होने की तरह मन नष्ट होता है। दृष्टांत से उपाय बताते हैं : आग क्या करती है ? जिसको जलाना होता है, उसको जलाकर खत्म कर देती है। आग को यदि तुमने कपड़े के साथ सम्बन्धित किया तो आग पहला काम कपड़े को जलाने का करेगी। जब कपड़े को जला चुकी, जब दाह्य को नष्ट कर दिया, तब उसके 'अनु' अर्थात् पश्चात् स्वयं अपने को नष्ट कर देती है। यदि कोई कहे कि 'कपड़ा बचा रहे और अग्नि अपने को जलाकर खत्म कर दे' तो यह कभी नहीं होने वाला है। यह मन के नाश का सूत्र है।

प्रायः हम लोग साधना में इसलिये गलती करते हैं कि मन के विषय बनाये रखकर हम मन को नष्ट करना चाहते हैं। दाह्य-नाश अर्थात् जो जलाने वाली चीज़ है, उसके नष्ट होने के बाद ही मन नष्ट होगा। यही मन का स्वरूप है। यह मन कब नष्ट हो ? जब मन जिसको विषय कर रहा है, उस विषय को पहले जलाये, क्योंकि विषय-उपस्थिति काल में यह सम्भव नहीं है कि मन समाप्त हो। यह मनोनाश का आधार है। होता यह है कि तुम अपने मन को बाकी सब जगह से एकाग्र करके किसी एक विषय में लगाते हो तो उस विषय से मन को हटाना नहीं चाहते।

रामकृष्ण परमहंस के जीवन में आता है : वे काली के बड़े भक्त थे, उनको काली का साक्षात्कार होता था। और वे उनसे वैसे ही बातचीत करते थे, जैसे आप लोग अपने माँ-बाप से बातचीत करते हो। उन्हें सगुण ऐसा साक्षात् था। एक बार यात्रा पर घूमते हुए स्वामी तोतापुरी जी उधर से निकले तो गंगा के किनारे भगवान् शंकर और देवी का बढ़िया मन्दिर देखकर वहाँ टिक गये। उस ज़माने में रानी ने वहाँ खाने-पीने का सब इंतज़ाम भी कर रखा था और वहाँ आये-गये पाँच-सात सौ साधुओं को रोज़ भोजन मिलता था। तब तक देश के लोगों का हृदय पाश्चात्य शिक्षा से इतना दरिद्र नहीं हो गया था कि दूसरे को भोजन देने में भी समझें कि 'हम कुछ कर रहे हैं।' वह युग अभी नहीं आया था। कान्वेण्ट स्कूलों में पढ़े हुए बच्चे अभी इतने बड़े नहीं हुए थे।

श्राद्ध के अंत में जब पितरों को बिदा देते हैं तब उसमें बोलते

हैं कि 'रोज़ हमारे घर में बहुत अतिथि आयें।' यह प्रार्थना पितरों से करते हैं। हम अतिथि का आना अपना भाग्य समझते हैं। आज अतिथि हमें 'कुछ ले जाने वाला' दीखता है। अतिथि के प्रति हमें शत्रु-भावना होती गई, इसलिये प्रसन्नता नहीं होती कि 'धन्य भाग्य मेरे घर अतिथि आये।' यह दृष्टिकोण का फ़र्क समझ लेना चाहिये। वैदिक संस्कृति में अतिथि देवतुल्य है। मध्यकाल के किसी संत ने कहा भी है कि मुझे ज़्यादा धन नहीं चाहिये, बस इतना ही मिले कि 'मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाये।' मुझे भूखा न रहना पड़े और आया-गया अतिथि साधु भूखा न चला जाये। आज जिनके घरों में एयरकण्डिशनर, टेलीविजन लगे हुए हैं, उन्हें यह कहते हुए शरम नहीं आती कि 'कैसे अतिथि को खिलायें, कैसे किसी को भोजन दें ? इस महँगाई के ज़माने में कैसे चले ?' महँगाई एयरकण्डिशनर और टेलिवीजन के लिये नहीं है, साधु-अतिथि आ गया तो बोझा हो गया ! श्राद्ध के अंत में प्रार्थना करनी पड़ेगी कि हमारे घर में अतिथि आयें। इसीलिये आज के लोग श्राद्ध नहीं करते। पुराने लोग कहते थे कि जिसके घर में अतिथि आते हैं, वह घर भाग्यशाली होता है। आज अतिथि को रास्ता दिखाते हैं। पहले क्यों ऐसा कहते थे ? इसके पीछे क्या दृष्टि थी, क्या कारण था ? अतिथि के आने से हमारे मन के अन्दर समाज के प्रति अद्वैत भावना आती थी। यह अद्वैती की दृष्टि है। हम एक बार पेटलाद गये हुए थे। वहाँ के सेठ जी, जिनके यहाँ ठहरे हुए थे, कहने लगे कि 'हमारे पिता जी कहा करते थे कि जो दूसरे पर खर्च करो, वह तो खर्च है और जो अपने पर खर्च करो वह नाश है। वह तो नष्ट हो गया क्योंकि वह कहीं

सुकार्य में नहीं लगा, खाकर खत्म हो गया। जो दूसरे पर खर्च क़रते हो, वह खर्च है, क्योंकि वह सचमुच तुमने किसी काम में लगाया।' यह अद्वैत की दृष्टि जैसे-जैसे मनुष्य में बढ़ेगी, वैसे-वैसे वह श्राद्ध के अंत में दिल से कह सकेगा कि अतिथि प्राप्त हों।

हम चाहते हैं कि विषय वैसे के वैसे बने रहें और मन समाप्त हो जाये, लेकिन यह नहीं हो सकता। पहले विषय जलेंगे, तब मन जलेगा। उसके पहले मन नष्ट होने वाला नहीं है। जब मन इस प्रकार से नष्ट होगा तब जिसको अब तक अद्वैत *समझते* थे वह अद्वैतरूपता *प्राप्त* होगी। यह मन को नष्ट करने का उपाय है। मन तब तक नष्ट नहीं हो सकता जब तक पहले विषयों की तरफ इसके नाश की दृष्टि न बने। संस्कृत में 'नश् अदर्शने' धातु है। अर्थात् जब तक मन विषयों के दर्शन करता रहेगा तब तक मन नष्ट नहीं हो सकता। जब विषय-दर्शन छोड़ेगा, तभी मन नष्ट होगा। मन विषय-दर्शन करना कैसे छोड़े ? इस साधना को समझ लिया जाये, तब अंत में मन नष्ट होगा, नहीं तो मन नष्ट होने वाला नहीं है।

विषय-दर्शन मायने क्या ? विषय-दर्शन का स्वरूप क्या है? विषय-दर्शन का मतलब होता है कि अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रियों के द्वारा निकलकर विषय-देश में जाये। यह एक प्रकार है। अथवा बिना ही इन्द्रियों की वृत्ति गये हुए अन्दर ही अन्दर मन विषयरूपता को धारण करे। इतना याद रखना कि बाहर जाकर वृत्ति जिन विषयों को देखती है, वे कम हैं। अंदर ही अंदर मन जिन विषयों को बनाता रहता है, उनकी सीमा बहुत ज़्यादा है। बाहर के विषय तो कम हैं, लेकिन अंदर के विषय असीम हैं।

ये अंदर के विषय कैसे खत्म हों ?

तोतापुरी स्वामीजी वहाँ एक-दो दिन रहे। भोजन की व्यवस्था हुई। तब तक रामकृष्ण परमहंस नहीं बने थे, तब उनका नाम गदाधर भट्टाचार्य था, ब्राह्मण थे। एक दिन स्वामी जी ने गदाधर को ऊपर नीचे देखा तो उनकी समझ में आया कि यह बड़ा अच्छा साधक है। साधना मनुष्य की आँख से, मुख से झलकती है। एक चिह्न याद रखना; जितना मनुष्य का अंतःकरण शुद्ध होगा, उतना ही उसके चेहरे पर शान्ति, सौम्यता और प्रसन्नता झलकेगी। जिसके चेहरे पर प्रसन्नता न झलके, समझ लो वह परमात्मा से दूर है। बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि चेहरा तो जैसा माँ-बाप से बना है वैसा ही रहेगा। ऐसी बात नहीं है। श्रुति स्पष्ट बताती है कि मनुष्य का रंग तक साधना से बदल जाता है, स्वर बदल जाता है, खाना-पीना बदल जाता है, शरीर में हल्कापन आता है 'लघुत्वमारोग्यमलोलुप्त्वं मूत्रपुरीषमल्पं' वह जल्दी रोग से ग्रस्त नहीं होता, कोई भी विषय हो, उसे देखकर उसकी जीभ या मन लपलपाता नहीं है, भोजन का फ़र्क पड़ जाता है। इसलिये मूत्र, पुरीष भी उसका कम हो जाता है। ऐसा बड़ी साधना के बाद होता हो यह नहीं वरन् श्रुति कहती है 'योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति' साधना के ये पहले चिह्न हैं ! जिस व्यक्ति के चेहरे पर सौम्यता, शान्ति और सुख न हो, समझो कि वह परमात्मा की तरफ अभी मुँह ही नहीं किये हुए है।

गदाधर बड़े उत्तम कोटि के साधक थे। उनके चेहरे को देखकर स्वामी तोतापुरी समझ गये कि यह उत्तम साधक है। उससे कहने लगे कि 'मैं तुझे अद्वैत ज्ञान देना चाहता हूँ, लेगा ?' उन्होंने कहा,

'दे दो।' स्वामी जी ने कहा 'पहली बात यह है कि अद्वैत निष्ठा के लिये श्रुति ने संन्यास का विधान किया है। श्रुति ने स्पष्ट कहा कि उपरत होवे तब आत्मा को देखे। उपरत अर्थात् संन्यासी, इसलिये तुझे संन्यास लेना पड़ेगा, तब अद्वैत ज्ञान दूँगा। तेरा विवाह तो नहीं हुआ ?' गदाधर ने कहा 'विवाह तो हो गया है और मेरी पत्नी यहीं रहती है।' गुरु ने कहा—'अपनी पत्नी से पूछ लो।' गदाधर ने कहा 'पहले मैं माँ से पूछ आऊँ ?' स्वामी जी ने सोचा कि इसकी माँ होगी, उससे पूछ आयेगा। कहा—'मैं तेरे साथ चलता हूँ, तेरी माँ को समझा दूँगा।' गदाधर कहने लगे, 'माँ समझी-समझाई हैं।' पूछा, 'किधर है ?' तो उन्होंने मन्दिर की मूर्ति की तरफ संकेत कर दिया कि यह मेरी माँ है। यह उत्तम कोटि का साधक है, जाकर काली माँ से पूछा—'भगवती ! महात्मा जी आये हैं, कहते हैं अद्वैत ज्ञान ले ले, मैं ले लूँ ?' भगवती ने कहा—'मैंने ही यह इंतजाम किया है, इसलिये मेरी ही प्रेरणा से आये हैं, संन्यास ले ले।' पत्नी भी बहुत अच्छी थी, उससे पूछा तो उसने भी कह दिया कि 'ले लो।' तब आकर स्वामी ज़ी से कहा—'मैं संन्यास ले लूँगा।' उत्तम दिन देखकर स्वामी जी ने उनको संन्यास दिया और उसके बाद अद्वैत के गुह्य रहस्य को उनके सामने प्रकट किया और कहा कि अब ध्यान कर।

ध्यान करने बैठे। उनकी समाधि सविकल्प तो हुई, लेकिन निर्विकल्प नहीं होती थी। स्वामी जी ने कहा—'मन की सारी भावनायें हटा दे।' थोड़ी देर बाद कहा—'पलकें बताती हैं कि अभी निर्विकल्प समाधि नहीं हुई, अभी सविकल्प ही है।' तोतापुरी पंजाब के थे। ज़ोर से गाली सुनाकर कहा 'हटा दे मन से।'

रामकृष्ण ने कहा—'भगवन् ! बाकी चीज़ें तो मन में नहीं आतीं लेकिन माँ की मूर्ति सामने आती है।' 'उसको भी हटा।' रामकृष्ण ने कहा—'नहीं होता है।' उन्होंने कहा—'जो दीखता है, वह दृश्य होने से मिथ्या है, इस युक्तिरूप तलवार से उसे काट दे।' तीसरी बार जब उन्होंने कहा तब गदाधर कहने लगे 'मैं अद्वैत ज्ञान के लायक नहीं। बड़ी कोशिश की लेकिन नहीं बैठता। जाने दो। बाकी सब हट जाता है। माँ की मूर्ति नहीं हटती।'

स्वामी जी तो पंजाब के थे ही, उन्होंने काँच का एक टुकड़ा, उनके दिमाग के मध्य केन्द्र के अन्दर (जो जीव का केन्द्र है) ठोक दिया। कहा—'अब इसी दर्द को देख।' फिर उसको युक्ति बताई। अब उन्होंने ध्यान किया तो निर्विकल्प समाधि में लीन हो गये, अद्वैत निष्ठा में लीन हो गये। जब स्वामी जी ने देखा कि अब इसकी अद्वैत निष्ठा हो गई है तब बाहर आकर जंजीर चढ़ाकर ताला बन्द कर दिया ताकि कोई इसको विक्षेप न करे। तीन दिन तक वे वैसी ही स्थिति में बैठे रहे और स्वामी जी रोज़ सवेरे-शाम देखते रहते थे। इधर हल्ला मच गया कि 'इन्होंने क्या किया, पता नहीं, मार डाला होगा।' लेकिन वे भी लम्बे-चौड़े और तगड़े पंजाबी बाबा थे, कोई भी पास आये तो चीमटा उठाकर कहें—'मैं नागा बाबा हूँ, मारकर ठीक कर दूँगा।' वे लोग बंगाली ठहरे, डरें कि सचमुच मार डालेगा। तीन दिन बाद उन्होंने उन्हें समाधि से नीचे उतारा। उठते ही गदाधर गुरु के पैरों में पड़ गये, कहा—'मेरी स्थिति हो गई।'

मन जब बाह्य विषयों से हटता भी है तो अंत में जिस साधन को मन पकड़े रहता है, उसको नहीं छोड़ता। इसलिये

सविकल्प से निर्विकल्प में जाना कठिन होता है, क्योंकि मन एक विषय को पकड़ लेता है। मन को समाप्त करने के लिये उसको एक विषय में लगाना ज़रूरी होता है। लेकिन उस एक विषय की भी जब तक उसमें विषयरूपता है, तब तक मन नष्ट नहीं होता, और निर्विकल्प अद्वैत रूप को प्राप्त नहीं कर पाता। मन में जब भगवान् का दिव्य विग्रहरूप एक विषय भी रह जाता है तब तक अद्वैतरूपता की प्राप्ति नहीं होती है। जिनको पत्नी और बच्चे याद आयें, क्या उनकी अद्वैत में स्थिति होनी है ! समग्र देह की भावनाओं को प्रतिक्षण सोचते हुए देहाध्यास की निवृत्ति की कल्पना वैसी ही है, जैसे किसी को एक सौ चार अंश का बुखार हो, वह उसमें तप रहा हो, फिर कहे 'मैं तो बरफ की तरह ठण्डा हूँ।' अथवा सर्दी में दाँत बज रहे हों, मारे सर्दी के घिग्घी बंधी हुई हो, हाथ-पैर और सारा शरीर झर-झर कर काँप रहा हो और ऐसा व्यक्ति कहे कि 'बड़ी गर्मी लग रही है' तो हँसी की बात होती है। उसी प्रकार परमात्मा के एकमात्र सगुण साकार दिव्य विग्रह के भी सामने रहने पर अद्वैत भाव की प्राप्ति नहीं है तो रात-दिन पत्नी, पुत्र, मकान-जायदाद, न जाने किन-किन चीज़ों को याद करते हुए, यदि कोई कहता है कि 'मेरी अद्वैत में स्थिति है' तो वैसी ही हास्यास्पद बात है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि कपड़ा जलकर राख हो गया, उसके बाद ही अग्नि शांत होती है। जिस चीज़ को आग जला रही है, वह यदि बच गयी तो अग्नि खत्म नहीं होती। उसी प्रकार जितना यह द्वैत का आपादन करने वाला जगत् है, इसका सर्वथा अदर्शन हो जाये, तभी मन समाप्त होगा, नहीं तो नहीं होगा।

मन को इस प्रकार समाप्त करना है कि मन जो बुद्धि से विषयों का द्वैतदर्शन करता है, उसे समाप्त करना है। इसके लिये मन को सर्वप्रथम किसी एक आलम्बन में लगाना पड़ता है।

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।'

अतिधन्य वेद मार्ग बताता है कि ओंकाररूप धनुष को लो। लक्ष्यवेध करने के लिये धनुष बाण सब तगड़े होने चाहिये। कमज़ोर धनुष से तगड़ा बाण नहीं छूटता, यह नियम है। लोक में भी देख लो कि बंदूक की ताकत के हिसाब से ही गोली उसमें चलेगी। बंदूक की ताकत से ज़्यादा ताकत की गोली बंदूक से नहीं चल सकती, वह तो बंदूक की नाली में ही फँसकर रह जायेगी। गोली की ताकत के परिमाण से ही बंदूक की भी ताकत होनी चाहिये।

एक जगह मिट्टी का टीबा था। राजस्थान में बाड़मेर इत्यादि में ऐसे टीबे होते हैं जो बालू का बड़ा भारी ढेर होता है। उस टीबे के ऊपर का हिस्सा ओस इत्यादि के द्वारा बिल्कुल पक्का हो गया था और उस पर दो-चार पत्थर भी थे। उसके नीचे गहरा कुआँ था। मारवाड़ में प्रायः बड़े-बड़े तालाब आदि की प्राप्ति तो होती नहीं। नहाने वाले कुएँ में ही डुबकी लगा लेते हैं। कुछ लोगों ने सोचा कि ऊपर से कूदें तो नीचे जाने में बड़ा आनन्द आयेगा। कूदते समय पीछे की तरफ पैर का धक्का मारना पड़ता है। वहाँ से जैसे ही कूदे, ज़ोर से धक्का लगा तो टीबे की बालू खिसक गई। जितना ज़ोर लगाना था, वह नहीं लगा। आधा ज़ोर लगने

से बजाय कुएँ में गिरने के कुएँ के थल पर ही धड़ाम से जा गिरे। जिस जगह से कूदे, यदि वह जगह ही कमज़ोर हो तो चाहे जितना अच्छा कूदने वाला हो, गड़बड़ हो जाती है। चाहे कूदने का स्थल समझो, चाहे बंदूक समझो और चाहे धनुष समझो; बाण के लिये तो धनुष ही कूदने की जगह है।

'प्रणवः धनुः' ओंकार रूपी धनुष ही आत्मा को झेल सकता है। बाकी कोई धनुष इसको नहीं झेल सकता। इसका कारण है कि ओंकार का मतलब 'अव माम्' होता है। अव धातु से ही ॐ बनता है। अर्थात् 'हे परमात्मा ! मेरा रक्षण कर।' सामान्यतः गृहस्थ को ओंकार का जप करने को नहीं कहते। जीव को बन्धन में डालने वाली चीज़ मन और विषय हैं। यदि हृदय से ॐ का उच्चारण करके परमात्मा को कह दिया 'अव माम्' तो परमात्मा कहता है कि 'अभी रक्षण करता हूँ।' कहेगा कि सबसे ज़्यादा इसे धन-दौलत बहुत दुःख देती है, इसे इसी का विचार करते रहना पड़ता है तो पहले इसकी इसी से रक्षा करें। भागवत में बताया है कि जब भगवान् से सच्ची प्रार्थना करते हो तो भगवान् कहते हैं 'अनुगृह्णाम्यहं येषां हरिष्ये तद्धनं शनैः' जिन पर मेरी कृपा होती है मैं उनके धन को उनसे दूर कर लेता हूँ अर्थात् धन का हरण कर लेता हूँ। साधारण लोग धन का *आना* परमात्मा की कृपा समझते हैं, लेकिन शास्त्र कहता है कि धन का *जाना* परमात्मा की कृपा है ! इसी प्रकार भगवान् ने देखा कि इसका पुत्र बड़ा अच्छा है। अच्छा होने के नाते इसका मन उसमें ज़्यादा है तो निर्णय करते हैं कि इसे हटा लो ताकि इसका रक्षण हो। गृहस्थी जब कहता है कि 'रक्षण हो' तो उसका मतलब *मेरा* रक्षण

नहीं, वरन् 'मेरी चीज़ों का रक्षण हो'। 'मैं' तो शरीर नहीं हूँ, इसलिये यदि शरीर का रक्षण हुआ तो मेरा थोड़े ही हुआ, वह तो शरीर का रक्षण हुआ। यहाँ तक कि मन भी मेरा है, 'मैं' मन नहीं हूँ। कई बार साधक के जीवन में देखा होगा कि उनको ऐसा असह्य मरणांत कष्ट होता है कि मन तड़प जाता है, उनके ऊपर बाहर और अंदर की बड़ी-बड़ी भयंकर कठिनाईयाँ आती हैं, समाज का विरोध और अपमान सहन करना पड़ता है। मीरा इतने भयंकर अपमान और कष्ट सहन करने पर भी जानती थी कि 'यह मन मेरा है, मैं मन नहीं। इस अपमान और दुःख से मन तड़प रहा है तो तड़पे, मैं मन थोड़े ही हूँ।' जो यहाँ तक पहुँचा है, वही कह सकता है 'ॐ' अर्थात् हे परमात्मन् ! मेरा रक्षण करो। और जिसको देह आदि पदार्थों की किंचित भी अभी कामना है, देह-सम्बन्धी पदार्थों को जो सर्वथा सुरक्षित रखना चाहता है, वह आत्मा रूपी बाण को चलाने का अधिकारी नहीं है।

अगर कमज़ोर धनुष से बाण चल गया तो लक्ष्य पर नहीं पहुँचेगा, बीच में ही गिर जायेगा। एक तरह का साँप होता है जो मेंढक को पकड़ता है। मेंढक दो तरह के होते हैं—साधारण और जहरीले। मेंढक के पिछले हिस्से में जहर होता है। जब वह मेंढ़क को पकड़ लेता है और उसे मालूम पड़ता है कि यह जहरीला है, तब सोचता है कि 'इसे खा जाऊँगा तो मर जाऊँगा और छोड़ दूँगा तो जब यह मेंढक उछलेगा तब उसके पिछले हिस्से का जहर मेरी आँख में पड़ने से मैं अन्धा हो जाऊँगा।' उसने पकड़ तो लिया लेकिन अब न छोड़ ही पाता है और न खा पाता है। खाने में मरे और छोड़ने में अंधा हो। साँप और मेंढक दोनों दुःखी हैं कि

कहाँ फँस गये। फणधर साँप भी ऐसे मेंढक को पकड़ता है। उसमें इतना भयंकर विष होता है कि पकड़ने के साथ ही वह मेंढक वहीं मर जाता है। वह मेंढक भी मानो सुखी कि मर गया। कमज़ोर साँप के द्वारा पकड़े जाने पर चिल्ला रहा था अर्थात् दुःखी था। और वह साँप भी सुखी। ठीक इसी प्रकार से जिसने देह, प्राण आदि सारे धर्मों को वस्तुतः छोड़ दिया है, वह तो फणधर सर्प की तरह है। जैसे ही उसका ध्यान अद्वितीय आत्मतत्त्व की तरफ जाता है, वैसे ही उसके सारे विषय निवृत्त होकर वह परम आनंद में मग्न हो जाता है, उसकी तो अद्वैतता में स्थिति हो जाती है। जो कमज़ोर साँप की तरह संसार की कौड़ी-कौड़ी को देखने वाला है, उसे जब अद्वैत-ज्ञान की दृष्टि दी जाती है तब वह भी चिल्लाता है कि कहाँ फँस गये। सोचता है कि 'संसार के पदार्थों को छोड़ूँगा तो व्यवहार कैसे चलेगा ?' उसे व्यवहार भी दीखता है जो चलाना है। खा इसलिये नहीं पाता कि खाने के साथ ही मर जायेंगे। न वह अद्वैत ज्ञान को छोड़ पाता है और न उसे स्थित ही कर पाता है। वह और 'अहं ब्रह्मास्मि' वाले वाक्य दोनों ही रोते-चिल्लाते हैं कि किसके मुँह में पड़ गये ! वह मुँह से जब कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो वैदिक वाक्य कहता है कि 'किसके मुँह में पड़ गया जो बार-बार मुँह से बोले जाता है।' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य जप्य नहीं हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि संसार या ब्रह्म में से एक को तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा। उपदेशसाहस्री में लिखते हैं

'अहं ब्रह्मास्मि कर्त्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाःस्युर्न संशयः।।'

किसी काल में तो कहता है कि 'मैं ब्रह्मरूप हूँ, निर्विकल्प, शुद्ध और चिन्मात्र हूँ,' फिर थोड़ी देर में कहता है कि 'यह तो प्रारब्ध की बात है, व्यवहार की दृष्टि से तो मैं काम करूँगा तभी होगा'। ऐसा व्यक्ति ज्ञान और कर्म दोनों से नष्ट हो जाता है, वह बिना किसी संशय के सचमुच नास्तिक हो जाता है। ध्यान, उपासना के संबंध में तो वह कहता है कि 'वह कौन है जिसकी मैं उपासना करूँ, क्या वह मुझ से भिन्न है ?' लेकिन दुकान करते समय यह नहीं सोचता कि 'माल ले जाकर रुपया न देने वाला मुझ से भिन्न नहीं है, उसके घर में माल पड़ा हो तो क्या और मेरे घर रुपया आया तो क्या।' ऐसा नहीं होता। उपासना के समय अभेद और सांसारिक व्यवहार के समय भेद समझता है।

वही आदमी इस आत्मा रूपी बाण को चला सकेगा जिसने यह निश्चय कर लिया कि एकमात्र मैं अपने सिवाय और किसी चीज़ का रक्षण नहीं चाहता। हे परमात्मन् ! केवल तुझे ही चाहता हूँ। मेरे मन को, मेरे घर को न बचा, मेरे धन को न बचा। ये सब तो मेरा बंधन करने वाले हैं। ये बचेंगे तो मैं नहीं बचूँगा! यदि इनके रहते मैं बचा होता तो अब तक बच गया होता। भगवान् भाष्यकार तो कहते हैं कि ये सारे ज्ञानरत्नापहारी हैं, धन, कुटुम्ब से लेकर अपने शरीर और मन तक जितनी चीज़ें हैं। सब आत्मज्ञान का अपहरण करने वाली हैं, चुराने वाली हैं क्योंकि जितने क्षण इनकी दृष्टि बनी, उतने क्षण आत्मदृष्टि नहीं रही। इसलिये वह कहता है कि 'इनकी रक्षा न करो, मेरी रक्षा करो।'

जो इस प्रणवरूपी धनुष को उठा सकेगा, 'ॐ' ऐसा कह

सकेगा, उसी के लिये 'शरो ह्यात्मा' आत्मा रूपी बाण इसके ऊपर चढ़ेगा नहीं तो आत्मारूप बाण को चलाने लायक धनुष नहीं रहेगा। 'अत सातत्यगमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है अर्थात् जो सतत चले, किसी भी काल में जिसका चलना बन्द न हो। अन्यत्र वेद में आता है 'भग चरैवेति' भाग्यवान् जीव हमेशा चलता रहेगा, कभी रुकेगा नहीं। गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं। इसलिये आत्मा सतत ज्ञानस्वरूप है।

द्रोणाचार्य ने पाण्डवों और कौरवों को खूब धनुर्विद्या सिखाई। एक दिन सोचा कि इनकी परीक्षा लें। पेड़ पर एक चिड़िया रख दी और कहा कि 'इसकी आँख में बाण मारना है।' दुर्योधन से कहा—'देख बेटा ! इसकी आँख में मारना है।' कहा—'हाँ गुरु जी, मारूँगा।' द्रोणाचार्य ने आँख ऐसे यंत्र से जोड़ रखी थी कि बहुत धीरे-धीरे हिलती रहती थी। द्रोणाचार्य ने कहा 'तेरे को आँख, चिड़िया, पेड़ दीख रहा है ?' कहा—'सब दीख रहा है, कहिये अभी बाण मारता हूँ।' द्रोणाचार्य ने फिर पूछा—'सारा पेड़ दीख रहा है?' अब दुर्योधन को गुस्सा आ गया, कहा—'आप समझते हैं मेरा बाप अंधा है तो मैं भी अंधा हो जाऊँ ? बार-बार क्यों पूछ रहे हो? सब दीखता है।' द्रोणाचार्य ने सिर हिला कर कहा—'अच्छा, तो मार बाण।' लेकिन वह बाण तो कहीं दूसरी तरफ जा लगा। ऐसे ही कईयों की परीक्षा हुई। युधिष्ठिर की बारी आई तो पूछा—'चिड़िया दीखती है ?' कहा—'हाँ जी, गुरु जी।' पूछा—'डाल भी दीखती है ?' कहा—'हाँ जी, डाल पर बड़े सुन्दर पत्ते लगे हुए हैं।' फिर सिर हिलाकर कहा—'अच्छा, मारो बाण।' निशाने पर नहीं लगा क्योंकि आँख ऐसे चलती थी कि किसी

को पता नहीं लगता था कि चल रही है, वह धीरे-धीरे अपना स्थान बदलती रहती थी। अंत में अर्जुन का नाम आया। द्रोणाचार्य ने प्रेम से कहा, 'बेटा ! इसकी आँख में बाण मारना है।' कहा—'हाँ गुरुजी, जैसी आपकी आज्ञा।' पूछा—'तुझे आँख तो दीखती है।' अर्जुन ने कहा, 'नहीं गुरुजी ! आँख के बीच का कण दीखता है। आज्ञा दीजिये, अब इधर-उधर नज़र न करवाईये। मुझे और कुछ नहीं दीखता; केवल उसकी कणी दीख रही है।' बड़े प्रसन्न होकर द्रोणाचार्य ने कहा—'बेटा ! मार बाण।' अर्जुन की दृष्टि तो केवल कणी पर स्थित थी, वह धीरे-धीरे चलती थी तो स्वतः अर्जुन की नज़र उसी पर जाती थी। जिसको सारी चिड़िया दीखे, कणी हिलने का उसे कैसे पता लगेगा ? दूसरों को तो सामान्य विचार रहा कि आँख है। द्रोणाचार्य ने बड़े प्रेम से अर्जुन को अपनी छाती से चिपकाया और कहा, 'पार्थ एव धर्नुधरः' 'अगर धनुष उठाने वाला कोई है तो तू ही है। बाक़ी तो सब ऐसे ही हैं।

द्रोणाचार्य की जगह पर गुरु है। केवल धनुष-बाण सिखाने वाला ही गुरु नहीं बनता। आत्म-तत्त्व का गुरु भी परीक्षा करता है। वह कहता है कि प्रणवरूपी धनुष के ऊपर आत्मा रूपी बाण चढ़ाकर ब्रह्म को बींधना है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। गुरु पूछते हैं कि 'शरीर आदि का भान तो ठीक है ?' कहता है, 'हाँ जी।' गुरुजी कहते हैं, 'बेटा, पत्नी आदि सब हैं ?' कहता है—'हाँ जी !' ऐसा व्यक्ति सूक्ष्म मन के अन्दर की गति को नहीं पकड़ पायेगा। मन प्रतिक्षण वृत्ति बनाता है और बहुत धीरे-धीरे चलता है अतः जब बाण मारो तो कहीं और चला जाता है। गुरु समझ लेते हैं कि इससे बाण लगने वाला नहीं है। गुरुजी कहते हैं—'पुत्र, पौत्र

आदि देखते हो ?' कहता है—'आप कैसी बातें करते हैं ! पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन सबको दूर छोड़ आया हूँ, ये कहीं कुछ नहीं दीखतीं।' कहते हैं—'ज़रा शरीर को तो अच्छी तरह रखना, प्राणायाम आदि का प्रयोग रखना, फायदा करेगा, शरीर से ही तो साधना होती है।' वह कहता है, 'गुरुजी ! शरीर कहीं नज़र नहीं आ रहा है। जैसे इस दीवार की परवाह की, वैसे इस शरीर की परवाह की, दोनों में कोई फरक नहीं है।' कहते हैं—'अच्छा मन को स्थिर करके रखना, मन से ही सब कुछ प्राप्त होता है। मन से ही भगवत्प्राप्ति भी है।' कहता है—'गुरुजी, अभी भी कुछ नहीं दीखता, इधर-उधर की बात न कीजिये, सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं दीख रहा। कितना भी देखता हूँ, सूँघता हूँ, शरीर से कुछ भी हो रहा है, मेरे को कुछ नहीं दीख रहा है, कुछ नहीं सुन रहा हूँ, मेरे को सिवाय ब्रह्म के और कुछ नज़र नहीं आ रहा है।' अब गुरुजी कहते हैं 'चला बाण।' जब इस प्रकार प्रमादरहित होकर बाण चलाता है, तब आत्मा ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। प्रणव के रूपक द्वारा श्रुति कहती है कि ओंकार रूपी धनुष पर आत्मा रूपी बाण को इस प्रकार एकाग्र होकर चलाना है। इस तरीके से खुद आत्मा ही प्रविलीन हो जाता है।

प्रवचन - ७५

भगवती श्रुति परमात्म-तत्त्व के अध्यात्म से अधिदैव की सृष्टि का प्रतिपादन कर रही है। सर्वप्रथम मन का प्रतिपादन मन की

प्रथमता अर्थात् प्रधानता लेकर है। जब तक यह मन नष्ट नहीं होता तब तक ज्ञान स्थिर नहीं होता। यह कैसे नष्ट होता है ? जब यह एक वृत्ति में लगाया जा कर उस वृत्ति के विषय को भी छोड़ देता है तब आत्ममात्र में स्थिर होने पर नष्ट होता है। पहले इसकी स्थिरता एक वृत्ति में करनी पड़ती है। जब वृत्ति के साथ तादात्म्य हो जाता है, विषय और विषयाकार वृत्ति में जब भेद नहीं रह जाता है अर्थात् ध्यान करने वाला और जिसका ध्यान कर रहा है उन दोनों में जब अभेद हो जाता है, तब इस अभिन्नता की सिद्धि होने पर मन नष्ट हो जाता है। जब तक भिन्नता है तब तक मन की स्थिति है और जब भिन्नता नहीं तब मन की स्थिति नहीं है। इसमें अग्नि का दृष्टांत दिया कि दाह्य जलाकर ही दाहक शांत होता है। अथवा सुषुप्ति का दृष्टांत समझ लो– गहरी नींद के अन्दर कोई भेद नहीं तो वहाँ मन भी नहीं है। भेद तो गहरी नींद में भी मिटा, लेकिन अज्ञान से मिटा। भेद निर्विकल्प समाधि में भी मिटता है, लेकिन ज्ञान से मिटता है। ध्यान करने वाला और जिसका ध्यान करते हो, यदि वे जानकर एक हुए तो समाधि है और बिना जाने एक हुए तो वह सुषुप्ति है। गहरी नींद, प्रलय आदि अनेक शब्दों से उसे कह सकते हैं। यदि जानकर एकता है तो उसी का नाम समाधि हो जाता है।

जब मन लीन हो जाता है तब सुख का अतिशय उत्पन्न होता है, क्योंकि मन ही तो सुख का आच्छादन करने वाला है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य आगे कहते हैं 'मनस्यस्मिन् विलीने तु यत्सुखं स्वात्मसाक्षिकम्' अर्थात् जब मन परमात्मा में लीन हो जाता है, उससे एक हो जाता है, उस समय सुख होता है। मन ही आनंद

को ढाँकता है। झट-झट वृत्ति बदलता है। उसका बदलना ही आनंद को ढाँकता है। 'मन का न रहना' अर्थात् मन के अन्दर वृत्तियों का उत्पन्न न होना। मन द्वारा आत्मतत्त्व के आच्छादन का अर्थ है कि अत्यंत शीघ्रता से वृत्ति के परिवर्तन के कारण मन उसको नहीं देखने देता। एक प्रयोग कभी घर में करके देखना। अंधेरे कमरे में तेज़ रोशनी वाला अलात (टार्च) लेकर सामने किसी आदमी को खड़ा कर लेना, फिर उस अलात को बार-बार जल्दी-जल्दी जलाना और बुझाना। देखोगे कि चाहे घण्टा भर तक जलाते- बुझाते रहो, तुमको वह आदमी साफ नहीं दीखेगा, क्योंकि अंधेरे से जब तेज़ रोशनी होगी तब आँखें बंद हो जायेंगी और जब एक क्षण में आँख सम्भले, तब तक बत्ती बुझ जायेगी। यहाँ सामने वाले आदमी को ढाँकने वाली चीज़ क्या है ? रोशनी तो तुमने घण्टे भर तक की, यदि एक-एक क्षण में जलाते-बुझाते भी रहे तो आधा घण्टा रोशनी रही, लेकिन वह आधे घण्टे की रोशनी भी उस आदमी का ज्ञान नहीं करायेगी। अब उसके बाद केवल दस सैकेण्ड के लिये उस बत्ती को जलाकर रखना तो उतने में ही उस आदमी को पूरी तरह देख लोगे। बीस मिनट अर्थात् अठारह सौ सैकेण्ड तक बत्ती को जलाने-बुझाने पर जो ज्ञान नहीं हो पाया, वह केवल दस सैकेण्ड में हो जायेगा। इसका कारण यह है कि अतिशीघ्र परिवर्तित होने वाली रोशनी उस पदार्थ को ढँक देती है, प्रकट नहीं करती। रोशनी जितनी तेज़ होगी उतना ही तुमको जल्दी बुझाने और जलाने में ज्ञान कम होगा। यदि रोशनी बड़ी हल्की होगी तब तो कुछ भान हो भी जायेगा। यह वेदांत का प्रयोग है। जितनी रोशनी तेज़ होगी उतने यदि स्थिर रहोगे

तो ज्ञान जल्दी और साफ होगा।

इसी प्रकार अत्यंत तीव्र रोशनी आत्मप्रकाश की है, जिसके सामने दूसरा कोई प्रकाश नहीं टिकता। अर्जुन जैसा महावीर जिसने भगवान् शंकर से मल्लयुद्ध किया, वह कितना वीर रहा होगा। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि सब मिलकर विराट् नगर में आये थे, उस समय अकेले ही सबको हराया था, कोई फौज साथ नहीं थी। ऐसा अर्जुन भी जब उस तेज को देखता है तो कहता है 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे' मेरा मन भय से व्यथित हो गया है। अपने को सम्भाल नहीं पा रहा है :

'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।।'

मानो हज़ारों सूर्य उदय हो गये हों—यदि ऐसा सम्भव हो जाये तब उस परब्रह्म परमात्मा के तेज के जैसा तेज कहेंगे। आत्मप्रकाश अतितीव्र है और अज्ञानांधकार भी अत्यंत घोर है, जिस अंधेरे को तुम देखते हो उससे भी करोड़ों गुणा घोर अज्ञान का अंधकार है। दोनों का आपस में विरोध है। आत्मा के जैसा प्रकाश कोई नहीं और अज्ञान के जैसा अंधकार कोई नहीं। श्रुति कहती है कि वह अंधकार कैसा है ? ऋग्वेद में बताया कि वह घनघोर से घनघोर है। अंधकार भी ज़्यादा भयंकर अंधकार है। इस अज्ञानांधकार के सामने मन जल्दी चमकता चला जाता है। मन का काम आत्मा के प्रकाश को अज्ञानांधकार के अन्दर चमकाना है, अज्ञान और ज्ञान का संबंध कायम करना है। मोटी भाषा में जड और चेतन को मिलाने वाली चीज़ मन ही है। जड ही अज्ञान

और चेतन ही आत्मज्ञान है, लेकिन चूँकि वह मन 'टार्च' की तरह झट-झट बुझता-जगता जाता है, इसलिये हमको ज्ञान नहीं हो पाता।

यदि यह मन क्षणभर के लिये टिक जाये तो कुछ उस सच्चिदानंद के आनंद का भान हो जाये। जिसे लोग विषयानंद कहते हैं, जो संसार के पदार्थों का आनंद है, वह आनंद क्या है? जिस समय मन किसी विषय की तीव्र इच्छा करता है और वह विषय मिल जाता है तब दो-तीन क्षण के लिये मन स्तब्ध हो जाता है, इससे ज़्यादा नहीं। उसी आनंद को मनुष्य संसार का बड़े से बड़ा आनंद समझता है। वहाँ भी आनंद आत्मा का ही है। दो साल से कलकत्ते के नवीनचन्द्र का संदेश नहीं खाया और बड़ी इच्छा हो रही है कि संदेश खायें, उस समय जब संदेश सामने आता है तब आनन्द आ जाता है, लेकिन यह तब है, जब हम कलकत्ते में हैं। लोग कलकत्ते का संदेश रेफ्रिजरेटर में रखकर कहते हैं—'खाओ, कलकत्ते से आया है' तो दिल ही जलाते हैं। जब उसकी शक्ल देखते हैं कि कलकत्ते से आया है तो इच्छा और तीव्र होती है, जैसे दीपक की लपट तेज हो जाती है। लेकिन मुँह में डालते ही खटास और कड़वापन आता है, ठण्डे पड़ जाते हैं। कहते हैं कि इससे तो बूँदी का लड्डू अच्छा है। आजकल रेफ्रिजरेटर के ज़माने में बड़ा धोखा होता है। कोल्ड स्टोरेज ने आकर सब्जियों में धोखां देना शुरू किया। गोभी का फूल बड़ा बढ़िया दीखता है लेकिन मुँह में स्वाद बिल्कुल फीका आता है। गैस ने आम के मज़े को खत्म कर दिया। पहले आम को देखकर पता चलता था कि कैसा है। अब आम को देखें तो बड़ा सुन्दर

दीखता है, सोचते हैं मज़ा आयेगा। बड़े प्रेम से काटकर मुँह में डालते हैं तो बिल्कुल फीका। एक गैस आती है, उससे इन फलों को पकाया जाता है इसलिये उनमें स्वाद नहीं मिलता। एक नये ढंग की दवाई गेहूँ और चावल को बचाकर रखने की सोच रहे हैं कि अब ये भी बीस साल के सड़े हुए खाने को मिलें। यह आधुनिक प्रणाली है कि पहनने को टैरालीन और खाने को सड़ी हुई चीज़ें ताकि डाक्टरों, दवाई बेचने वालों और दवाई के कारखानों की उन्नति हो, क्योंकि जब ज़्यादा बीमार पड़ो तभी दवाईयों और डाक्टरों आदि की उन्नति हो। आदमी हृष्ट-पुष्ट घूम रहा हो, ठण्डी हवा चल रही है, स्वेटर भी नहीं पहने हुए है, फिर भी मस्ती से नंगे बदन घूम रहा है तो कहते हैं कि 'यह पिछड़ा हुआ आदमी है।' जहाँ थोड़ी-सी बरसात हुई, आदमी स्वेटर, हाथ-पैर के मोजे, ओवरकोट पहन लेता है, कहता है 'बड़ी ठण्डी आ गई' और लोग भी उसके कोट और स्वेटर को देखकर कहते हैं कि बहुत बढ़िया है, खुश हो जाते हैं। लेकिन शरीर के अन्दर की गर्मी को देखकर खुश नहीं होते, क्योंकि यह पिछड़े हुए लोगों का लक्षण है। अलग-अलग लक्षण होते हैं। इसी प्रकार खाने की तीव्र इच्छा है, लेकिन रेफ्रिजरेटर की चीज़ देखकर मन और खराब होता है।

बिल्कुल ताजी आई हुई चीज़ को मुख में डालते हो तो वृत्ति दो-तीन क्षण के लिये स्तब्ध हो जाती है, पता लगता है कि आनंद आया। वह आनंद मन के स्तब्ध हो जाने से परमात्मा की जो प्रतीति हुई उसका आनंद है। यदि मन दो-तीन क्षण के लिये विलीन होता है तो इतना बड़ा सुख देता है। मन सर्वथा मग्न हो जाये और अपने इष्ट में सर्वथा लीन हो जाये तो विचार करो कि कितना

बड़ा सुख होगा ! यह सुख किसी को दिया नहीं जा सकता। यह सुख 'स्वात्मसाक्षिक' होता है, इसको खुद ही आत्मा जानता है। जिस प्रकार से हमारी तीव्र इच्छा है और उस तीव्र इच्छा से हमने संदेश खाया, बड़ा अच्छा लगा और आनंद आ गया। स्वाभाविक है कि अपना प्रिय पुत्र और प्रिय पत्नी पास में बैठे हों तो झट उन्हें देते हो, कहते हो—'खा कर देख, कैसा बढ़िया है।' वह खाकर कहता है—'हाँ जी, अच्छा है।' उसका वह 'हाँ जी, अच्छा है' तुम्हारे हृदय को चीर देता है, कहते हो 'मजा नहीं आया।' वह कहता है—'मुझे संदेश खाने की आदत कम है, फीका- फीका-सा लगता है, बर्फी ज़्यादा अच्छी लगती है, क्योंकि ठोस होती है। पनीर की बनी हुई चीज़ अच्छी नहीं लगती। ' अपना ही एक अनुभव है। दूध से बना हुए एक पदार्थ 'डच चीज' (Dutch Cheese) आता है, बड़ा कीमती माना जाता है। हमने किसी को खाने को दिया। बेचारा एक कौर भी नहीं खा सका। ऐसे ही पंजाब में ढींगरी आती है, जिसका भाव आजकल ७०-८० रुपये किलो होगा। मारवाड़ की एक स्त्री को हमने ढींगरी दे दी। वह बेचारी अगले दिन कहने लगी कि 'कल वाला प्रसाद नहीं देना, प्रसाद मानकर खा तो गई लेकिन अच्छी नहीं लगी।' कई चीज़ें खाने का तरीका होता है, वह तरीका न हो तो उनके स्वाद का क्या पता लगे। तुम संदेश खाकर आनंद में मग्न हो जाने के कारण अपने अतिप्रिय व्यक्ति को भी वह संदेश उठाकर देते हो कि यह भी आनंद में मग्न हो जायेगा। उसे पूरा मजा नहीं आता। यदि संदेश में आनंद होता तो उसे भी वह आनंद आता। लेकिन आनंद संदेश में नहीं है। आनंद मन की विलीनावस्था में है। तुम संदेश खाकर अपने अत्यंत

प्रिय व्यक्ति को उसका सुख नहीं दे सकते। स्वयं अपने आत्मा की गवाही से ही अपने आप को बताते हो कि कितना बड़ा सुख हुआ। किसी दूसरे को वह सुख नहीं दिया जा सकता। जब संदेश का ही सुख नहीं दिया जा सकता तो उस परम आनंदस्वरूप परमात्मा के साथ जो एक होने का सुख है, वह कैसे दूसरे को दे सकते हो ? इसलिये कहा कि वह सुख स्वात्मसाक्षिक है। दूसरा कहता है कि 'मुझे भी उस परमात्मा के सुख का ज़रा स्वाद चखाओ तो सही', लेकिन कहाँ से चखाओगे ? संसार में अनेक वादी और मत-मतांतर वाले कहते हैं कि तुमको परमात्मा का आनंद चखायेंगे। निश्चित समझना कि सारे धोखा देते हैं। यदि कहें कि 'मैंने परम आनंद चखा है' तब तो ठीक है। 'तुम्हारी वृत्ति भी जब किसी चीज़ में स्थिर होगी तब परम आनंद जानोगे'—यदि यह कहता है तो भी ठीक है। लेकिन अपनी वृत्ति को तुम ही स्थिर कर सकते हो, दूसरा कोई नहीं कर सकता।

आगे भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'योगावस्थां पराम् आहुः एतां योगविदो जनाः।' यही योग की परम अवस्था है। योगावस्था, योग की परावस्था जिसे कहते हैं, वह यही है—मन के विलीन हो जाने से सुख मिलता है। कहोगे कि थोड़ी देर मन विलीन रहकर फिर आ जाता होगा ? औपनिषद योग में बस यही फ़र्क है। पातंजल योग को, जड समाधि को करने वाले का मन तो फिर आ जाता है, लेकिन चेतन समाधि लगाने वाले का मन फिर लौटकर नहीं आता। भगवान् सुरेश्वराचार्य बड़ा सुन्दर दृष्टांत देते हैं—

'भूमौ यथाहितं लोहं भूमित्वमुपगच्छति।
मनोऽक्षरे धृतं तद्वद् अक्षरत्वं निगच्छति।।'

बृहदारण्यकवार्तिक में कहते हैं कि जैसे लोहे के टुकड़े को भूमि में दबा दो तो वह थोड़े समय के बाद भूमि-भाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् मिट्टी ही बन जाता है। फिर उसमें से लोहा नहीं निकाल सकते। उसी प्रकार मन को जब अक्षर ब्रह्म के अन्दर रख दिया तो फिर वहाँ केवल अक्षर ब्रह्म ही रह जाता है, और कुछ नही रहता। यही पातंजल योग और वेदांत का मूलगत भेद है। सांख्यवाद से प्रभावित होने के कारण पातंजल योगवादी की दृष्टि है कि किसी काल में परमार्थ है और किसी काल में व्यवहार है। इसी सांख्यवाद से प्रभावित होकर बहुत-से वेदांती भी कहते हैं कि विचार काल में परमार्थ और बाकी काल में व्यवहार है। कहते हैं—'यह व्यवहार की बात है, इसमें परमार्थ को मत लाओ।' लेकिन ऐसा मानोगे तो तुम्हारे यहाँ भी दो हो जायेंगे, फिर अद्वैत कहाँ रहेगा ? परमार्थ के अन्दर शनैः शनैः व्यवहार लुप्त हो जायेगा और परमार्थ शनैःशनैः व्यवहार के अन्दर रिझ जायेगा। इसलिये दोनों तरफ या बीच वाला मामला नहीं चलने वाला है। लेकिन लोहे को भूमि में कुछ दबाकर रखना पड़ता है। ऐसा नहीं कि लोहे को भूमि में डाला और झट निकालकर देखो कि मिट्टी हुआ या नहीं। उसे भूमि के अन्दर कुछ समय तक शान्तिपूर्वक रखना पड़ेगा, तब लोहा मिट्टी होगा। इसी प्रकार यदि हर आधे घण्टे के बाद कढ़ी हिलाने की याद करते रहेंगे तो मन कभी स्थिर होने वाला नहीं है, मन कभी अक्षर रूप नहीं बनेगा। इसीलिये शास्त्र कहते हैं

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तद् अंतःकरणेन गृह्यते।।'

समाधि के द्वारा बार-बार अच्छी तरह से मन को धोना पड़ेगा। जितना पुराना गंदा कपड़ा होता है, उतना ही उसको धीरे-धीरे धोना पड़ता है। बंगाल के अंदर कपड़े धोने वाले धोबी दो तरह का कपड़ा धोते हैं। एक को 'खड़ा घाट' और दूसरे को 'पक्का घाट' कहते हैं। 'खड़ा घाट' का मतलब है कि कपड़े को एक बार धोकर सुखा दिया। कपड़ा सफेद हो जाये, यह उनकी जिम्मेवारी नहीं है। एक बार धोने से जितना सफेद हो सके सो हो जाये। 'पक्के घाट' में उनकी जिम्मेवारी होती है कि कपड़ा चाहे फट जाये लेकिन सफेद किये बिना वापिस नहीं लाते ! उसका दुगुना दाम लेते हैं। कपड़ा धोया, कूटा, मसाला डाला, फिर रगड़ा और कूटा। इस प्रकार से बार-बार मसाला डालकर रगड़ते रहते हैं और कूटर-कूटकर धोते रहते हैं, जब तक बगुले के पाँख जैसी सफेदी न आ जाये। इसका नाम 'निर्धूत' है अर्थात् खूब अच्छी तरह से धोया गया।

इसी प्रकार अनेक साधक 'खड़े घाट' मन को धुलाना चाहते हैं, कहते हैं 'हमारा मन बिल्कुल शुद्ध न हो जाये', क्योंकि हमको इस मन से बाजार का काम भी करना है, झूठ बोलकर रुपया भी कमाना है, टैक्स की चोरी भी करनी है। मन को ऐसा नहीं धो देना कि यह सब चला जाये, कुछ बचा रखना और कुछ धो भी देना।' ऐसे खड़े घाट वाले तो एक बार कपड़ा धोकर बाहर

निकाल देते हैं। मान लो कोई बड़े आदमी का लड़का है और वह खड़े घाट से धुली हुई धोती पहनकर निकले तो जहाँ जायेगा, वहाँ लोग पूछेंगे 'यार ! किस धोबी से धुलवाते हो ?' क्योंकि वह मैला कपड़ा है। वह कहेगा 'गंगू धोबी के यहाँ से धुलवाता हूँ।' जितने भी दोस्त हैं, सब निर्णय कर लेंगे कि 'गंगू के यहाँ कपड़ा नहीं देना।' कभी घरवाली कहेगी कि 'गंगू के यहाँ कपड़े भेज दो' तो कहेंगे 'नहीं, मेरा दोस्त वहाँ से धुलवाता है, लेकिन वह अच्छे नहीं धोता है।' तुम्हारे कपड़े की भी इज़्ज़त गई और धोबी की इज़्ज़त भी खत्म हो गई। यदि 'पक्के घाट' का बढ़िया धोया हुआ कपड़ा पहनकर घूमोगे तो तुम्हारी भी इज़्ज़त, तुम्हारा प्रभाव भी पड़ेगा और तुम्हारे धोबी की भी इज़्ज़त। इसी प्रकार से यदि अंतःकरण को तुमने समाधिनिर्धूत करके अच्छी तरह से साफ कर लिया और ऐसे अंतःकरण के अन्दर वेदांत का ज्ञान हो तो तुम्हारी शोभा होगी, लोग तुमको देखेंगे।

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।'

भगवान् कहते हैं—अर्जुन ! तू मेरा चेला बना है, यह सूत्र याद कर ले कि व्यवहार में चाहे बड़े से बड़ा सुख मिल जाये या बड़े से बड़ा दुःख मिल जाये, दोनों हालतों में चिन्ता नहीं कर। न सुख एक क्षण से ज़्यादा रहता है और न दुःख एक क्षण से ज़्यादा रहता है। तू सुख-दुःख की समता में यदि रह गया तो मेरी और वेदांत शास्त्र की वाहवाही होगी कि 'देखो कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया तो यह कैसा चमकता है।' तेरा सुख-दुःख तो एक क्षण रहना है। लेकिन इस शास्त्र और गुरु की महिमा अनंत काल

तक होगी। नहीं तो लोग कहेंगे—'अरे ! यह कृष्ण से पढ़ा हुआ भी रोता ही है, वहाँ जाने से क्या फायदा ?' लाभ हो जाये या अलाभ हो जाये, दोनों में स्थिर रहने वाला बनो। लाभ होकर करोड़ों रुपया कमायेगा तो भी जब मर कर जायेगा तब कुछ साथ नहीं जाना है और यदि दुकान का दीवाला पिट गया तो भी जब यहाँ से जायेगा तब दीवालिया नहीं जायेगा, वह दीवालियापना भी पीछे रह जाना है। लाभ, अलाभ दोनों नहीं रहेंगे। लेकिन वेदांत शास्त्र और गुरु की मर्यादा रहेगी। बड़ी-बड़ी विजयें हों या हार हो जाये, समभाव से विचलित मत होना। रामचन्द्र जी ने रावण जैसे लंका के अधिपति को मारा और अंत में सरयू में डूबकर उनके प्राण गये ! इतनी बड़ी विजय से क्या हुआ ? अर्जुन ने इतना बड़ा महाभारत का युद्ध जीता, अंत में हिमालय पहाड़ की बरफ में जाकर गल गया, क्या हुआ ! इसलिये भगवान् कहते हैं कि जीत से भी कुछ नहीं और पराजय से भी कुछ नहीं होता है। इनको सर्वथा एक समझकर तू इस युद्ध में जुट जा, लाभ और अलाभ के लिये, जय और पराजय के लिये नहीं।

जो परमात्मा को मानने वाला है, वह दुकान परमात्मा के लिये कर सकता है, नफे के लिये नहीं कर सकता। नफे के लिये दुकान करने वाला हृदय से नास्तिक है। परमात्मा को मानने वाला कर्तव्य-बुद्धि से व्यापार करेगा। वह उसके अन्दर परमात्मा की महिमा प्रकट करने के लिये करेगा। इसीलिये कई बार आचार्य लोग जब कहते हैं कि संसार के पदार्थों की प्राप्ति प्रारब्ध के अनुसार होगी तो वहाँ 'संसार के पदार्थों' का मतलब तुम्हारे भोग के पदार्थों की प्राप्ति से है। तुम तो समाज की उन्नति के लिये

करते हो वह संसार के पदार्थों की प्राप्ति नहीं कही जाती, स्वार्थ-बुद्धि से जो करते हो, उसे कहा जाता है कि प्रारब्ध से ही प्राप्ति होगी। स्वार्थ-बुद्धि से चाहे जितना कर लो, केवल पाप-पुण्य ही तुम्हारे पल्ले पड़ने वाला है, भोग तुम्हें एक कण ज़्यादा नहीं मिलेगा। परमार्थ या परार्थ बुद्ध्या जिस काम को करते हो, वह चूँकि स्वार्थ- प्रेरित होकर नहीं किया गया है, इसलिये वह तुम्हें प्रतिक्षण आगे बढ़ाता जायेगा। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जब इन लाभादि दृष्टियों को छोड़कर केवल परमात्मा के प्रेम के लिये करोगे तब तुम्हें कभी पाप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

विचार करो : भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैंने तुझे उपदेश दिया तो तू अंतःकरण को 'पक्के घाट' से घुला, समाधिनिर्धूत बना। अन्यथा वेदान्त-शास्त्र और गुरु दोनों के प्रति क्या भाव प्रकट होगा ? यदि परम शुद्ध नहीं बनेगा तो गुरु और वेदांत-शास्त्र के प्रति अपने द्वेष को प्रकट करेगा। भला आदमी जहाँ से उपकार पाता है, उसकी कीर्ति को फैलाता है और जिसके हृदय में द्वेष भरा होता है वह जिससे फायदा उठाता है, उसी की बदनामी करता है। यदि वेदांत शास्त्र और गुरु के द्वारा इस रहस्य को प्राप्त करके इनकी बदनामी करवाते हो तो अपना द्वेष प्रकट करते हो या प्रेम प्रकट करते हो ? लोगों के अन्दर यह भावना पैदा करते हो कि यह सब करने से क्या होता है। तुम्हारे पुत्रों तक को यह भाव नहीं होता कि तुमको सत्संग से कोई लाभ हुआ! उनके मन में यह जिज्ञासा नहीं जग रही है कि 'पिता जी इतना सत्संग करते हैं तो कितने आनंद में मग्न हैं, हम भी तो उस आनंद को सीखें।' जब पुत्रों के अन्दर ही यह श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो पाती

तो अन्यत्र कहीं होनी है ?

इसीलिये कहते हैं कि इस प्रकार समाधि के अभ्यास से अंतःकरण को सर्वथा धोना है, प्रक्षालित करवा देना है। यहाँ तक दृढ निश्चय रखना है कि 'कपड़ा चाहे फट जाये, लेकिन तब तक पीटता, कूटता और मसाला डालता रहूँगा जब तक साफ न हो जाये।' इसका नाम बुद्धि का निश्चय है। इस निश्चय के द्वारा ही यह आत्मा उपकृत होता है। जैसे कृष्ण सारथि थे, वैसे ही वेदों ने बुद्धि को सारथि कहा है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहवान् नरः' और 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।' आत्मा रथी अर्थात् अर्जुन है। शरीर रथ है और इसके ऊपर कृष्ण रूपी बुद्धि सारथि है। यदि इस बुद्धि से तुमने ठीक निश्चय कर लिया कि 'बिना इस अंतःकरण को शुद्ध किये मुझे रहना ही नहीं है', तब तो काम बन जायेगा। और यदि बुद्धि धोखा देनेवाली और फिसलाने वाली हुई तो क्या हाल होगा ? इस पर दृष्टांत दे देते हैं :

युद्ध के मैदान में भीष्म पितामह दस दिन महायुद्ध करके शर-शैया पर गिर गये और उसके बाद पाँच दिन तक घनघोर युद्ध करने के बाद द्रोणाचार्य भी ब्रह्मलीन हो गये। अब अगला सेनाध्यक्ष कर्ण को बनाया गया। लोगों ने खूब बाजे बजाये कि कर्ण ज़रूर जीतेगा। दुर्योधन को भी उस पर बड़ा गर्व था और कर्ण को अपने ऊपर बड़ा घमण्ड था। दुर्योधन ने कहा कि 'अब तो ज़रूर विजयी होंगे।' लेकिन सभा-मंडप के अंदर बैठकर बात करना और होता है, युद्ध के मैदान में लड़ना कुछ और होता है। सत्संग-भवन के अन्दर संसार को मिथ्या कहना और है, दुकान

के अन्दर बैठकर संसार को मिथ्या जानना कुछ और होता है। विद्वद्गोष्ठी के अन्दर बोलना और होता है, व्यवहार में उन आदर्शों को घटाना और होता है। जो असली रथ और योद्धा हुआ करते हैं वे युद्ध के मैदान में अपना परिचय देते हैं, बातों से अपना परिचय नहीं कराते। जो वास्तविक योद्धा नहीं होता है, वह बातें तो बहुत करता है लेकिन जिस समय मोर्चे पर जाना होता है तब दायें-बायें देखने लगता है।

भीष्म ने इसीलिये कर्ण को अर्द्धरथी गिना था। कर्ण शस्त्र-विद्या का बड़ा भारी ज्ञाता था, वस्तुतः अर्जुन से ज़्यादा शस्त्र -विद्या जानता था, क्योंकि कर्ण भगवान् परशुराम से पढ़ा था। परशुराम ने भीष्म को पढ़ाया था। इसलिये अर्जुन की अपेक्षा कर्ण का शस्त्रविद्या का ज्ञान ज़्यादा था। लेकिन उसके अंदर दम नहीं था। जानने में कोई कमी न होने पर भी इस कमज़ोरी का कारण यह था कि उसने झूठ बोलकर परशुराम से विद्या सीखी थी। परशुराम से जाकर कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ।' परशुराम ब्राह्मण के सिवाय किसी दूसरे को नहीं पढ़ाते थे। परशुराम भोले-भाले थे, ज़्यादा चतुर ब्राह्मण नहीं थे; जैसे ब्राह्मण हुआ करते हैं। किसी ने थोड़े भी हाथ-पैर दबा दिये तो झट प्रसन्न हो गये और भला आदमी समझ लिया। बाद में चाहे गुस्सा आने पर उसकी गर्दन काट दें, लेकिन पहले नहीं समझते। कर्ण ने जाकर सेवा की तो परशुराम ने प्रसन्न होकर उसे दिव्य अस्त्र सिखा दिये। एक दिन परशुराम कर्ण की गोद में लेटे हुए थे। कर्ण की जाँघ को एक भौंरे ने काट खाया। कुछ उपपुराणों के मत में तो इन्द्र ने ही भौंरा बनकर काटा था, जो भी हो। भौंरे के काटने पर उसकी जाँघ

से खून की धारा बह निकली। कर्ण दाँत भींचकर वैसा का वैसा बैठा रहा। खून बहकर परशुराम के शरीर में गरम लगा, उन्होंने उठकर देखा कि कर्ण की जाँघ से खून बह रहा है। पूछा– 'अरे ! तुझे भौंरे ने काटा और इतना खून निकला, तू हिला भी नहीं ? झूठा कहीं का ! तू ब्राह्मण नहीं हो सकता, क्योंकि भौंरा इतना काट ले और ब्राह्मण चुपचाप बैठा रहे, यह नहीं हो सकता।' तब कर्ण हाथ-पैर जोड़कर कहने लगा कि 'बात तो आपकी ठीक है, मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र जाति के रथकार का सूतपुत्र हूँ।' परशुराम ने कहा–'गज़ब हो गया, मैंने कैसे अनधिकारी को दिव्यास्त्रों की शिक्षा दे दी।' फरसा लिया कि 'इसे मार दूँ क्योंकि न जाने आगे चलकर यह क्या दुरुपयोग कर लेगा।' कर्ण बड़ा पैरों में पड़कर रोने लगा कि 'मैं तो आपका दास हूँ।' परशुराम ब्राह्मण रहे, फिर उस पर दया आ गयी। कहा–'अच्छा, जा तुझे मारता तो नहीं हूँ, लेकिन यह कहता हूँ कि तू इन शस्त्रों को जान सकता है, सिखा सकता है क्योंकि तू ब्राह्मण बनकर आया है और ब्राह्मण का काम पढ़ाना होता है, इसलिये यह विद्या तुझे याद तो रहेगी। लेकिन युद्ध के मैदान में तू इसे भूल जायेगा।' यह इसलिये कहा कि शुद्र है, न जाने कहाँ कैसा दुरुपयोग कर ले।

जैसे कर्ण का परशुराम के पास ब्राह्मण बनकर जाना और शस्त्र-विद्या सीख लेना, ऐसे ही कई बार वैराग्यहीन व्यक्ति बाहर से वैराग्य दिखाकर वेदांत के गुह्य रहस्यों को प्राप्त कर लेता है। उसके दिल में तो वैराग्य है नहीं, दिल में संसार के पदार्थों का राग भरा है। परशुराम सीधे-साधे ब्राह्मण थे, सोचा, सच्चा ही होगा। इसी प्रकार वैराग्यहीन साधक ने गुरु से धोखे से वेदांत

के ज्ञान को प्राप्त तो कर लिया लेकिन कभी गुरु देखते हैं कि विषयों के दाँत जब इसे काटते हैं तब इसे दुःख नहीं होता। जब इसे संसार के भोग प्राप्त होते हैं तब यह तड़प नहीं उठता। भौंरे की जगह विषयभोग हैं। बल्कि उनको सहन करके अंदर से सोचता है कि 'मैंने कैसा अच्छा काम कर लिया।' जब गुरु देखते हैं कि यह विषयों की प्राप्ति से सुखी होता है, इनसे इसे तड़प नहीं हो रही है, तब समझ जाते हैं कि यह ब्राह्मण अर्थात् वैराग्यवान् नहीं है। उपदेश तो दे दिया, अब क्या करें ? जैसे कर्ण की सीखी हुई विद्या युद्ध के मैदान में काम नहीं आयी, इसी प्रकार वैराग्यहीन व्यक्ति जब व्यवहार करता है तब उसका ज्ञान स्थिर नहीं रहता। जब हृदय के अन्दर दैवी और आसुरी सम्पत्ति का युद्ध होता है, मन के अन्दर अच्छे और बुरे विचारों का संघर्ष होता है, उस समय इसको शस्त्र चलाना नहीं आता, उस समय यह सुख-दुःख को एक नहीं कर पाता, लाभ-हानि, जय-पराजय को एक नहीं कर पाता। अंततोगत्वा जीवन के अंतिम क्षण में भी चूँकि उसे अद्वैत के द्वारा एक नहीं कर पाता, इसलिये जो कर्ण का हाल हुआ कि युद्ध के मैदान में मारा गया, यह भी जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटता। यदि बुद्धि सारथि दृढ हो तब काम बने। कर्ण की बुद्धि दृढ नहीं हो पाई।

युद्ध का मैदान तैयार हो गया। जब कर्ण को सेनाध्यक्ष बनाया गया तो उसके पैर ज़रा हिले। भीष्म सारी घटना को जानते थे क्योंकि परशुराम के शिष्य थे, उन्होंने भीष्म से कहा था कि 'ऐसा लड़का आया था जो झूठ बोलकर विद्या सीख गया है।' भीष्म ने कहा 'मैं जानता हूँ, वही हमारे यहाँ कर्ण है।' जब युद्ध के

मैदान में भीष्म को महासेनाध्यक्ष बनाया गया तब उन्होंने बताया कि कौन कैसा है। महारथी, अतिरथी, रथी सबको गिनाते गये लेकिन कहीं कर्ण का नाम नहीं लिया। जब अर्द्धरथियों की गिनती की तब उसमें कर्ण को भी गिना। आजकल के ज़माने में समझ लो कि फील्ड मार्शल, जनरल, लैफ्टिनैंट जनरल में कहीं कर्ण का नाम नहीं आया, मेजर जनरल में कर्ण को गिन दिया। कर्ण को बड़ा गुस्सा आया, कहने लगा—'आपके मन में बड़ा द्वेष है, मुझे अर्द्धरथी गिनते हो ?' दुर्योधन ने भी देखा तो क़हा 'आप इसे भूल गये होंगे, यह तो महारथी है।' भीष्म कहने लगे—'मैं इतना बुड्ढा थोड़े ही हूँ कि महारथियों को भूल जाऊँ।' महाभारत युद्ध के समय भीष्म की केवल डेढ़ सौ साल की उम्र थी ! दुर्योधन ने कहा—'फिर इसे कैसे छोड़ दिया ?' कर्ण ने कहा, 'मुझे कौन-सा अस्त्र चलाना नहीं आता ?' कहने लगे—'तू सब जानता है। तू दूसरों से तो छिपा सकता है, मुझसे नहीं छिपा सकता। जिस समय हनुमान् की ध्वजा-पताका को देखते हुए तेरे बाण अर्जुन के पास जायेंगे तब अर्जुन के बाणों के सामने ये काम आने वाले नहीं हैं। यहीं दुर्योधन के सामने तेरे बाण काम आने वाले हैं ! इसलिये मैंने तुझे अर्द्धरथियों में ठीक ही गिना है।' कर्ण को इतना गुस्सा आया कि उसने कहा—'मैं आपके महासेनापतित्व में लड़ूँगा ही नहीं।' भीष्म ने कहा—'तू क्या लड़ेगा, मैंने पहले ही कह दिया है कि तू शकुनि की तरह जुए का या शास्त्रार्थ का इंतज़ाम कर, उसमें तू बहादुर है, उसमें तू जीत जायेगा। तू अर्जुन से ज़्यादा जानता है। लेकिन यह युद्ध का मैदान है। इसमें पितरों का तर्पण खून से करना पड़ेगा। यहाँ तेरा काम नहीं चलने वाला है।'

वही हुआ। भीष्म ने डेढ़ सौ साल के होकर अठारह दिनों के महाभारत युद्ध में दस दिनों तक और द्रोणाचार्य ने पाँच दिनों तक मोर्चा संभाला। इन दोनों पर दुर्योधन को भरोसा नहीं था, सोचता था 'ये बुड्ढे क्या करेंगे।' लेकिन इनकी इतनी दृढ कर्तव्य-निष्ठा थी कि पाण्डवों की जीत चाहते हुए भी पंद्रह दिन तक पूरी निष्ठा से युद्ध किया। उसके बाद कर्ण की बारी आई। वह केवल डेढ़ दिन तक लड़ा और खत्म हो गया। द्रोणाचार्य के मरने पर जब सेनापति बनाने की बात आई तब दुर्योधन की पूरी बात चली, कर्ण को सेनापति बनाया गया और कहा कि 'अब हम ज़रूर जीतेंगे।' कर्ण को इधर-उधर की बात याद आने लगी। बोला, 'मैं पाण्डवों को ज़रूर मार लेता लेकिन मेरा सारथि अच्छा नहीं है।' जिसे हिन्दी भाषा वाले कहते हैं 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा।' कहने लगा—'अर्जुन के सारथि तो कृष्ण हैं और मेरा सारथि खास कुशल नहीं है।' दुर्योधन ने कहा—'अब कृष्ण को तो कहाँ से लाऊँ। और कोई बात बता। रथ अच्छा नहीं है तो और मज़बूत बना दें, लेकिन सारथि कहाँ से लाऊँ, कोई नज़र में हो तो बता।' कर्ण ने कहा, 'मेरी नज़र में शल्य कृष्ण जैसे ही सारथि हैं। ये मेरा सारथि बनना स्वीकार करें तो मैं अर्जुन को ज़रूर मार लूँगा।' शल्य महारथी थे, कर्ण की बात सुनते ही उन्हें क्रोध आया कि अर्द्धरथी होते हुए ऐसा कहता है। दुर्योधन आदि ने बहुत समझाया कि इसकी बात मान लो। शल्य कहने लगा—'मैं मान तो लूँगा, क्योंकि युद्ध के समय मैं धोखा नहीं देता, लेकिन मैं युद्ध में सच बोलता रहूँगा, यह मेरी ज़बान पर लगाम नहीं रख सकता। बाकी सब चीज़ों पर तुम रुकावट डाल सकते हो।' बोली के बल का

कर्ण को पता नहीं था, इसलिये मान गया। शल्य युद्ध के मैदान में स्पष्ट कह देते थे–'अरे ! इन्द्रपुत्र के साथ तू क्या जीतेगा ! विराट् के यहाँ अर्जुन ने अकेले ही तुम्हें हरा दिया था। फिर आज तो पाँचों भाई फौज लेकर आये हुए हैं।' शल्य सच्ची बात कहते थे। अंत में जो होना था, वही हुआ।

संस्कृत भाषा में शल्य काँटे को कहते हैं। कर्ण सोच रहा था कि शल्य को सारथि बनाऊँगा, लेकिन वह तो काँटा है इस बात को नहीं जानता था। ठीक इसी प्रकार देवासुर संग्राम है जिसमें अर्जुन रूपी महारथी के साथ बुद्धि रूपी कृष्ण है तो वह बुद्धि निष्ठा वाली और दृढ निश्चय वाली होती है। उसे तो इस युद्ध के अन्दर देवभाव की ही विजय करनी है। जो कृष्ण की तरह दृढ निश्चय वाली है, हिलने वाली नहीं है, वह बुद्धि तो विजयी होती है। और जो बुद्धि शल्य हो गई है अर्थात् निश्चय वाली नहीं है, वह उलटा दुःख देती है, ऐसी बुद्धि वाला पराजित हो जाता है। 'कर्ण' नाम कान का है अर्थात् जिसने केवल कानों से ही सुन रखा है, वस्तुतः वह महारथी नहीं है। संस्कृत भाषा में ऋजु धातु से अर्जुन शब्द बनता है जिसका अर्थ 'सरल' होता है।

जिसका अंतःकरण सरल है और बुद्धि कृष्ण की तरह निश्चय वाली है, वह तो जीतता है और जिसने वेदांत-सिद्धान्त को केवल कर्ण (कान) से सुन रखा है, उसकी बुद्धि में सफाई नहीं आई, अंतःकरण समाधि के द्वारा निर्धूत नहीं हुआ, उसकी बुद्धि निश्चय वाली नहीं होती। उलटा उसके लिये काँटे का काम करती है, क्योंकि वह विषय-भोगों की तरफ जाता है तो कहता है कि 'ये

विषय हैं तो क्षणिक, लेकिन लगते मीठे हैं' और यदि बैठकर आत्मचिंतन करता है तो वहाँ भी काँटे का काम करती है कि 'आत्मा तो मैं नित्य एक-जैसा हूँ ही, दुकान को तो सुधार लूँ। आत्मा में क्या फ़र्क पड़ना है, पुण्य-पाप दोनों में आत्मा को तो एक जैसा रहना है, इसलिये पहले दुकान का काम सुधार लेने में कोई हर्जा नहीं है, वह चाहे झूठ बोलकर, चाहे ठगी करके ही करूँ।' ऐसा व्यक्ति धर्म का भी आचरण नहीं कर पाता। वहाँ भी बुद्धि काँटे की तरह चलती है, कहता है—'पुण्य का फल भी तो क्षय वाला ही है।' संसार के पदार्थों को क्षय वाला कहते हुए भी व्यवहार में नित्य समझता है तभी तो उनकी तरफ रोज़ दौड़ता है। ऐसी बुद्धि काँटे की तरह काम करती है। अंत में जैसे कर्ण मारा जाता है, वैसे ही कर्ण से प्राप्त किये हुए अर्थात् केवल सुने हुए ज्ञान को जिसने समाधि के 'पक्के घाट' में धो नहीं लिया, वह कभी जीवन-मरण के चक्र से छूट नहीं पाता।

जब मन अक्षर ब्रह्म के अन्दर दीर्घ काल तक समाधि के अभ्यास से स्थिर रखा जाता है, तब तो सर्वथा लीन हो जाता है। अन्यथा वह अपने लिये भी दुःख का कारण और शास्त्र एवं गुरु के लिये भी निन्दा का कारण बनता है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि इस अक्षरानंद, ब्रह्मानंद की प्राप्ति इस मन को समाधि के अभ्यास से सर्वथा धो देने से ही होगी, अन्यथा नहीं।

प्रवचन - ७६

श्रुति परमात्मा के अध्यात्म से बाह्य सृष्टि में अधिदैव की उत्पत्ति का प्रतिपादन कर रही है। सर्वप्रथम मन के द्वारा चन्द्रमा की उत्पत्ति बताई। विचार करते हुए देखा कि किस प्रकार जब तक मन अमन नहीं हो जाता तब तक चन्द्रमा रूपी आह्लाद की प्राप्ति सम्भव नहीं। मन को अमन बनाने का उपाय बताया कि मन को किसी एक अवलम्ब में लगाकर फिर उस अवलम्ब से एकता की प्राप्ति करना आवश्यक है। जिस एक के साथ उसकी प्राप्ति करनी है, उसका अधिदैव रूप अगले पाद में बताया 'चक्षोःसूर्यो अजायत।' उस परमात्मा के चक्षु से अधिदैव सूर्य की उत्पत्ति हुई।

जाग्रत् अवस्था में जीव की स्थिति दाहिनी आँख में रहती है। 'चक्षोः सूर्यो अजायत' चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति हुई अर्थात् परमात्मदर्शन के लिये जिस साधन को अपनाना है उसमें चक्षु को आदित्य में अर्थात् सूर्य में स्थित करना है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य 'चक्षोः सूर्यो अजायत' की उपासना का निरूपण करते हुए बृहदारण्यक-वार्तिक में लिखते हैं

'अक्ष्याऽऽदित्याख्यनीडस्थौ स्थानमात्रप्रभेदतः।
भिन्नाविव समीक्ष्येते देवतैकैव सा सती।।'

आँख और आदित्य के इस अध्यात्म और अधिदैव सम्बन्ध को कैसे प्राप्त किया जाये, इसको स्पष्ट बताते हैं। यह उपासना का विषय है। उपासना के विषय में समझना ज़्यादा नहीं होता है,

करना ज़्यादा होता है। कहते हैं कि आँख और सूर्य दोनों नीड अर्थात् घोंसले हैं। घोंसले की विशेषता होती है कि वह पक्षी का घर (रहने की जगह) होता है। घोंसले और घर में कुछ भेद होता है। घर स्थिर ज़मीन पर बनता है और घोंसला अस्थिर पेड़ की डाल पर बनता है। इसी प्रकार यहाँ नीड शब्द का प्रयोग करके भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि आँख और सूर्य दोनों में रहने वाले आत्म-तत्त्व का यह अधिष्ठान या सदा रहने वाला वास मत समझना। यदि घर या अधिष्ठान कहते तो सम्भवतः सदा रहने वाला वास समझ लिया जाता। इसलिये कह दिया कि आँख और सूर्य दोनों घोंसले हैं। इन दोनों घोंसलों में रहने वाला देवता एक ही है। यह उपासना की बात है अर्थात् सूर्य बिम्ब का प्रातःकाल ध्यान करते हुए आँख और सूर्य के अन्दर एकता को प्राप्त कराना चाहिये। गायत्री की उपासना यद्यपि परमात्मा की उपासना है, फिर भी ऋग्वेद के अन्दर उसका देवता सविता अर्थात् सूर्य को बताया है क्योंकि ध्यान करने के लिये प्रातःकाल और सायंकाल सूर्य मुख्य बिम्ब रूप होता है। संध्यावंदन तो दोनों काल में करेंगे, इन दोनों कालों में बिम्ब रूप का ध्यान बड़ी सरलता से होता है। बाकी समय सूर्य के तेज को आँख सहन कर भी सकती है, नहीं भी कर सकती है लेकिन प्रातःकाल और सायंकाल सूर्य का बिम्ब अति स्पष्ट हो जाता है।

संध्यावंदन का कौन-सा काल है ? 'उत्तमा तारकोपेता' प्रातःकाल जिस समय बादल न हों और तारे दीख रहे हों, उस समय संध्यावंदन करने बैठ जाये और फिर सूर्योदय होने पर्यन्त करे। सायंकाल जब सूर्य दीख रहा हो, तब बैठे और जब तक

तारे दीखने न लग जायें, तब तक करे। यही संध्यावंदन का उत्तम काल माना गया है। इन दोनों कालों में क्या होता है ? प्रातःकाल जब संध्यावंदन करने बैठे हो तो हृदय में क्षण-क्षण के अन्दर प्रतीक्षा का उदय होता है कि कब सूर्य बाहर निकले। यह तो निश्चित होता है कि सूर्य बाहर निकलेगा, लेकिन हृदय के अन्दर प्रतीक्षा करने के उद्वेग का अनुभव होता है। प्रतीक्षा काल में हृदय के अन्दर जो प्रेम का एक उद्वेग है, उससे युक्त होकर वह उस सूर्य बिम्ब को उदय होते हुए देखता है। सायंकाल जिस समय सूर्य है, उस समय उसको देखे और धीरे-धीरे जैसे-जैसे सूर्य डूबता चला जाये, वैसे-वैसे हृदय के अन्दर विरह-वेदना के अन्दर युक्त हुआ तारे उदय होने पर्यन्त देखता रहे। सूर्य अस्त हो गया, उसमें विरह-वेदना पूर्ण रूप से उत्पन्न हो गई। अंत में जब तारे निकल गये, तब चित्त ने उस विरह को अपने हृदय में एक संवेदन के रूप में संग्रह कर लिया। प्रतीक्षा और विरह दोनों ही उपासना को तीव्र करने के साधन हैं।

आजकल हम लोग प्रकृति से अतिदूर हो गये हैं। प्रकृति से दूर होने वाला मनुष्य सूर्य को देखकर उस संवेदना का अनुभव नहीं कर पाता। हम लोगों को बार-बार सिखा-पढ़ा दिया गया है कि सूर्य एक आग का गोला है। यह कह-कहकर हमारे दिमाग से अनुभूति के तत्त्व को निकाल दिया गया है। सही बात रोककर ग़लत बात भी बार-बार कही जाये तो प्रायः दिमाग़ में बैठ जाती है। इस कमज़ोरी का लाभ नाज़ियों, कम्युनिस्टों आदि ने उठाया, यह प्रसिद्ध ही है, आधुनिक शिक्षा पद्धति से पाश्चात्य लोग भी वही कर रहे हैं। जब सूर्य को आग का गोला कहा तो उसका

नतीजा सामने आया कि उसमें देवरूप को नहीं समझ पाते। जैसे पानी पर पड़ा हुआ तेल फैलता है ऐसे ही जडात्मता का बोध फैलता चला जायेगा। सूर्य को जड कहते हुए तुमको बड़ी प्रसन्नता होती है। उसको विज्ञान समझा जाता है। फिर जब लड़का तुमसे कुछ नाहक बात कहता है, तब तुम नाराज़ होते हो 'मैंने क्या तुझे इसीलिये पैदा किया था ?' वह कहता है, 'तुम कामुक बनकर मेरी माँ के पास गये थे, मेरा क्या उपकार किया ?' वह भी वैज्ञानिक सत्य कह रहा है, झूठ बिल्कुल नहीं बोल रहा है। लेकिन जब तुमको जड मानकर कहता है कि 'अपनी कामुक प्रवृत्ति से तुमने जड शरीर की उत्पत्ति की थी,' तब तुम्हें चोट लगती है। लेकिन जिस दिन तुमने यह सीखना शुरू किया था कि सूर्य आग का गोला है, उस समय तुम्हें प्रिय लगा था। यह एक दृष्टि है कि जडात्मता को एक बार प्रारंभ करोगे तो वह जडात्मता कहीं भी रुकनी नहीं है, सर्वत्र फैलती चली जायेगी।

एक बार हार्वर्ड विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्राध्यापक डा० वाइल्ड और उस समय के अमेरिकन फिलासफिकल एसोसियेशन के अध्यक्ष डा० ब्राइटमैन में बातें हो रही थीं। डॉ. वाइल्ड ने कहा—'ब्राईटमैन ! तुम ईश्वर में इतना विश्वास करते हो इसका कारण यह है कि तुम्हारी एड्रिनल ग्रन्थि से ज़्यादा स्राव होता है। हार्मोन्स ज़्यादा निकलते हैं, इसलिये तुम्हें ईश्वर पर विश्वास हो जाता है।' जडात्मक दृष्टिकोण तो यही कह सकता है और बात भी ग़लत नहीं है; ग़लत इस दृष्टि से नहीं है कि हम लोग शरीर के अन्दर औषधियों का प्रयोग करके मनुष्य के मन के विचारों को परिवर्तित करते हैं। यह कोई नई बात नहीं

है क्योंकि दुःखी आदमी भांग पीकर मस्त होता ही था। अब कुछ और औषधियाँ निकल आई हैं, लेकिन सिद्धान्त वही है। डा० ब्राइटमैन ने जवाब दिया 'इस युक्ति से सिद्ध कुछ नहीं होता है क्योंकि अगर यह ठीक है कि मेरे अंदर वह स्राव ज़्यादा होने से मेरा ईश्वर में विश्वास है तो उसकी कमी से ही तुम्हें ईश्वर में अविश्वास है ! लेकिन इससे *सत्य* कैसे सिद्ध होगा ? स्राव का ज़्यादा होना ठीक है या कम होना ठीक है ?'

एक तरफ यदि जडात्मकता स्वीकार कर लेते हैं तो पानी पर पड़े हुए तेल की तरह यह फैलती चली जाती है और जब वह जडात्मकता घूमकर अपने सिर पर आती है तब मनुष्य घबराता है। सूर्य को जब आग का गोला कहा जाता है तब तुम्हें प्रिय लगता है, लेकिन माता को जब 'पीपरुधिर का गोला' कहा जायेगा तो माँ कहेगी कि लड़के बिगड़ गये हैं। हमें माँ आँखों से नहीं दीखती है। आँखों से तो हड्डी, माँस, टट्टी-पेशाब का थैला ही दीखता है। माँ हृदय से, भावना से दीखेगी। लोग कह देते हैं कि 'ये तो भाव हैं।' बिल्कुल ठीक है, लेकिन भाव ही हमें कैमरा से अलग करता है। जो हमारी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई है, वह तो भायंत्र (कैमरा) के अन्दर जैसी आ जाती है आँख के अन्दर भी वैसी ही आती है। बहुत से किताब वाले तो लिख भी देते हैं कि आँख एक फोटोग्राफिक कैमरा है क्योंकि वे जडवादी हैं, जड उनको अच्छा लगता है। यदि कोई हिन्दू ग्रंथकार है तो लिखता है 'कैमरा आँख की तरह है।' समानता तो दोनों देखते हैं, लेकिन फ़र्क इतना है। हमारा दृष्टिकोण होता है कि 'यह औरत मेरी माँ है', क्योंकि माँ को भाव से ग्रहण करते हैं, और विदेशी दृष्टि है कि 'मेरी माँ

एक औरत है।' हमारी दृष्टि है कि कैमरा आँख की तरह है और उनकी दृष्टि है कि आँख कैमरे की तरह है; बस इतना ही फ़र्क है। इसी दृष्टि के कारण हमारा जीवन रसमय था और उनका जीवन नीरस है। आज भी यही हाल है। जड दृष्टि वाले को कभी सरसता की प्राप्ति नहीं है।

हमारे यहाँ भी वेदांत से अतिरिक्त जो दार्शनिक थे उनमें से किसी ने संसार को परमाणुपुंज माना, किसी ने सत्त्व, रज और तम का खेल माना। नतीजा यह हुआ कि उनके हृदय से रस निकलता चला गया। यह नहीं समझना कि यहाँ इन चीज़ों का विचार नहीं हुआ। जैसे पश्चिम वाले आज कहते हैं कि 'शरीर में अमुक रस बढ़ गया तो मनुष्य में क्रोध बढ़ गया', उसका प्रयोग करके दिखाते हैं, अथवा 'शरीर के अन्दर अमुक रस बढ़ गया तो कामना ज़्यादा हो गयी।' ठीक इसी प्रकार भारत में भी कभीं सांख्यवाद ने हमें यह सिखाया था कि रजोगुण बढ़ गया तो क्रोध, तमोगुण बढ़ता है तो शोक और सत्त्व गुण बढ़ गया तो सुख हो गया। 'सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण बढ़ गया तो मैं क्या करूँ'—यह जड दृष्टि थी। वेदांती ने कहा—'अरे भले आदमी ! तुम उलटे चल रहे हो। जब तुमने काम की तरफ प्रवृत्ति की, तब —एक औजार तैयार हुआ। जब तुमने क्रोध की तरफ प्रवृत्ति की तब दूसरा औज़ार रजोगुण तैयार हुआ। तुम जंड हो या प्रकृति जड है ? यह सारी विचारधारा जडवाद की है कि मन इत्यादि तो मानो स्वतंत्र होकर काम करते हैं और गया-बीता केवल चेतन है ! मन की मर्ज़ी के अनुसार मन वृत्ति बनायेगा और चेतन बेचारा क्या करे, उसके पंजे में पड़ा-पड़ा केवल कहेगा कि 'मैं इसका

साक्षी हूँ।' सांख्यवादी कभी नहीं समझ सका कि प्रकृति इतनी जड होकर कार्य कैसे करेगी ?

उन्होंने ऐसा क्यों समझा ? इसका कारण यह है कि श्रुतियों के अर्थ को वे लगा नहीं पाते। कौषीतक्युपनिषद् में एक जगह आया है—'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।' जिसे वह ऊँचा ले जाना चाहता है, उससे अच्छे कर्म करवाता है और जिसे नीचे ले जाना चाहता है, उससे बुरे कर्म करवाता है। यह वाक्य वहाँ आया। झट से द्वैतवादी, सांख्यवादी ने सोच लिया कि सब करवाने वाली प्रकृति हो गई। जैसे मध्यकाल के बहुत-से वैष्णवों ने समझ लिया कि भला-बुरा सब ईश्वर ही करवाता है, ऐसे सांख्यवादी ने प्रकृति को कराने वाला माना। सांख्यवादी ने यह नहीं सोचा कि प्रकृति चेतन तो है नहीं, फिर जड कैसे करवायेगा ? वैष्णव ने यह नहीं सोचा कि ईश्वर बुरे कर्म करवायेगा तो दण्डा उसे मारना चाहिये ! करवाने वाला ईश्वर है और दण्डे बेचारे जीव को पड़ते हैं। कहो कि श्रुति ने क्यों कहा? श्रुति तो आत्मा को कराने वाला कह रही है। श्रुतियों के अंदर दो आत्मायें नहीं हैं। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भाष्य में लिखते हैं 'कुर्वन्तमेव कारयति' जब तुम करने लगते हो, तब करवाता है। जब तुमने निश्चय किया कि 'मुझे शुभ कर्म करना है, मुझे ऊपर जाना है' तब तदनुकूल ही तुम्हें सारे साधन मिल जायेंगे। वे साधन दिलाने वाला ईश्वर को मानो, प्रकृति को मानो, यह आगे का विचार रहा। हर हालत में श्रुति कहती है और यही भगवान् भाष्यकार कहते हैं, कि जो करने के

लिये तैयार हुआ है, उससे करवाता है। वेदों के अन्दर एक ही आत्मा माना है और तुम्हीं तो वह आत्मा हो। इसलिये जब तुम ऊपर जाना चाहते हो तब शुभ कर्म करने के सारे साधन मिल जाते हैं और जब तुम अशुभ कर्म करना चाहते हो तब उसके सारे साधन मिल जाते हैं। उलटा नहीं कि मन में रजोगुण आया इसलिये क्रोध आया, वरन् तुमने क्रोध करने का निश्चय किया तब उसका साधन मन के अन्दर रजोगुण आया। दोनों के अन्दर जडात्मकता और चेतनात्मकता का भेद है। जैसे प्राचीन काल में लोगों ने परमाणुपुंज से जगत् को मान लिया और कुछ लोगों ने गुणों का पुंज प्रकृति से उत्पन्न मान लिया, उसी प्रकार से आज के लोगों ने सूर्य को आग का गोला मान लिया। दृष्टि एक ही है, कोई फ़र्क नहीं है।

ऐसे लोगों ने राष्ट्र को ज़मीन का टुकड़ा माना। उनको यह कहते शरम नहीं आती कि छोटा-सा ज़मीन का टुकड़ा इधर से उधर चला गया तो क्या हुआ ? किसी समय नेहरू जी ने तिब्बत के लिये कहा था कि हिमालय के उस प्रान्त की तरफ पैदा ही क्या होता है ! यह बात लोकसभा में कही थी, तब कृपलानी ने जवाब दिया था कि 'आपकी बात मानी जाये तो मेरा सिर गंजा है, इस पर बाल नहीं उगते तो इसे भी किसी को ले जाने दिया जाये।' यह नेहरू जी की गलती नहीं थी, समाजवाद की ग़लती है जो पैसे और धन को महत्त्व देता है। इसलिये जिस प्रान्त में धन और चीज़ें ज़्यादा पैदा न हों, और थोड़े-से लोग हों, वे भी गरीब, वह राज्य राष्ट्र का अंग थोड़े ही है, उनको मरने दो। कोई खास अंग हो जो ज़्यादा पैसा कमाने वाला हो, उसकी रक्षा करो।

एक बार जहाँ जडात्मकता प्रारंभ हुई वहाँ फिर न माता-पिता, न राष्ट्र और न देवता रहते हैं। माता को कैमरे की आँख नहीं देखेगी। हृदय के अन्दर की आँख माता को देखती है जो बुड्ढी है, झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं, दाँत टूटे हुए हैं, लकड़ी लेकर चलती है, यहाँ तक कि अपने नहाने का कार्य करने में भी खुद असमर्थ हो गई है। जिसके हृदय के अन्दर देखने की शक्ति है, वह कहता है—'डाक्टर साहब ! चाहे हजारों रुपये खर्च हो जायें लेकिन माँ को आराम मिल जाये।' जडवादी कहता है 'अरे ! ऐसी बुड्ढी पर क्यों पैसे बरबाद करते हो ? इसे तो जवानों पर खर्च करो। यह तो पैसे की बरबादी है। इसको ठीक करोगे तो भी इसे बचना थोड़े ही है।' जब बहू यह बात समझती है तो सास को बड़ा गुस्सा आता है। लेकिन वह यह नहीं सोचती कि उसे जो जडात्मकता की शिक्षा दी गई, उसके कारण उसको वहाँ माता नहीं दीख रही है। बल्कि उससे क्या पैदा होगा, यह दीख रहा है। यह एक दृष्टि है।

यह शिक्षा तुमने बहू को कब दी ? सास ने ही दी है। घर के अन्दर रहने वाली गाय जिस दिन सूखी हो गई, बुड्ढी हो गई, साल भर से गर्भ में कुछ नहीं आया तब सास भी बहू या बेटे को कहती है कि 'यह गाय दूध देने वाली नहीं है, इसे निकालो और बेच दो, क्योंकि अब यह किसी काम की नहीं है।' वह गाय किसको बेचोगे ? जब दस साल तक उसका दूध पीने के बाद भी तुम उसे नहीं बचा सके तो क्या दूसरा कोई लेकर उसे रखेगा? अब तो कोई उसे मारने वाला ही लेगा। अर्थात् तुमने निर्णय कर लिया कि चाहे जितना जिसने उपकार किया हो, जिस दिन वह

धन देने की सामर्थ्य वाला नहीं है तब वह खत्म करने के लायक है। उसको बचाना आधुनिक अर्थशास्त्र नहीं सिखाता। उसी शिक्षा को लेकर बहू कहती है कि 'सास सत्तर से ऊपर चली गई, न रोटियाँ बना सकती है, खाली रोटी खा-खाकर देश का और घर का पैसा बरबाद कर रही है तो इसे हरिओम तत्सत् कराओ'—तो बुरा लगता है। ठीक इसी प्रकार जब सूर्य को आग का गोला कहा था तो बड़ा प्रिय लगता था और अब जब पिता को कामुक प्राणी कहा जाता है तो उसे बुरा लगता है। दृष्टिकोण तो वही है, उसमें कोई फ़र्क नहीं है।

वेदांत ठीक इसके विपरीत है। वेदांती कहता है कि जो तुमको भावना से दीखता है, वह ज़्यादा सत्य है और जो तुमको आँख से दीखता है, वह मिथ्या है। वेदांत की विचित्र दृष्टि है। वह कहता है कि तुमको आँख से तो झुर्रियाँ पड़ी हुई औरत दीखती है लेकिन हृदय कहता है 'वह मेरी अत्यंत प्रिय स्नेहमयी माता है।' आँख से सूर्य का गोला दीखता है लेकिन यह वही सूर्य है जो प्रतिक्षण हमारे भूमण्डल को गर्मी देता है और जिसके कारण वृष्टि होती है और जो एकमात्र सारी शक्तियों को बरसाने वाला है। बाहर से यद्यपि आग का गोला है लेकिन भीतर से हमारे ऊपर कितनी कृपा कर रहा है और निरंतर कृपा कर रहा है। यह दृष्टि भावनामयी दृष्टि है। वेदांत इसको प्रधान मानता है, बाहर दीखने वाली चीज़ को प्रधान नहीं मानता। जो वेदांत के रहस्य को नहीं समझता, वह भावना के गले को घोंटने लग जाता है। उपासना के विषय में जब चेतन सत्ता को सर्वत्र देखने का विषय आता है उस समय भावहीन व्यक्ति चेतन को केवल अपने शरीर में

संकुचित समझता है। इसलिये सूर्य का ध्यान करते समय उनके मन में होता है कि यह सब देवतावाद किसी काम का नहीं है। देवता तो एक ही है, जो हमारे अन्दर विद्यमान है ! चूँकि सर्वत्र चेतन सत्ता नहीं दीखती, इसलिये बाकी जितने भी उनके व्यवहार होते हैं, वे सारे जडमूलक होते हैं। हृदय से वहाँ वेदांत की दृष्टि नहीं है।

आप लोग दीवाली मनायेंगे तो लक्ष्मी जी का पूजन करेंगे। हम लोग सोने की अशर्फी और चाँदी का रुपया रखवाकर पूजा करवाते हैं। लोग हमसे पूछते हैं कि चन्द्रमा देवता थोड़े ही हैं। हम कहते हैं कि तुम यह तो नहीं पूछते कि 'गिन्नी और रुपये की पूजा क्यों करवाते हो ?' यह पूजा तो कर लेते हो। गिन्नी पूजने में शंका नहीं पर चंद्र पूजते समय शंका होती है कि यह देवता कैसे ! श्रावण के सोमवार को शिवजी की पूजा करने में जितना ज़ोर पड़ता है, दीवाली को लक्ष्मीपूजन में गिन्नी या रुपये की पूजा करना उतना ही प्रिय लगता है। दृष्टि की विशेषता है। दृष्टि में भाव प्रधान होता है।

इस भाव की प्रधानता को लेकर जब संध्यावंदन करोगे तब प्रातःकाल का संध्यावंदन प्रतीक्षा-भाव से पूर्ण होगा और सायंकाल का संध्यावंदन विरह-भाव से पूर्ण होगा। जिसकी वह दृष्टि या भाव ही नहीं है वह यंत्र की तरह संध्या पूरी करेगा। जितना-जितना व्यक्ति और समाज प्रकृति से दूर जाता है, उतना-उतना प्राकृत पदार्थों से दूर होकर उसमें चेतनता की दृष्टि खत्म हो होती जाती है। जितनी चेतनता की दृष्टि ख़त्म होगी उतना ही भाव-राज्य सूखेगा और उतनी ही नीरसता बढ़ेगी। जीवन के अन्दर रस ही

सार है। आजकल तो चलते-फिरते ऐसे यंत्र बन गये हैं जिनको 'आटोमेटोन' कहते हैं जो मनुष्य से ज़्यादा काम करते हैं और मनुष्य से ज़्यादा अच्छा सोचते हैं। हिसाब करने के लिये ऐसे यंत्र बने हैं जो झट से जोड़ देते हैं और सारा हिसाब लगाकर बताते हैं। ये यंत्र जल्दी और अच्छा काम करते हैं, लेकिन यदि उन्हीं की प्रधानता रखते रहते हैं तो हम अपने भावना-राज्य को सुखा देते हैं।

बता रहे थे कि किस प्रकार आँख से देखने में और कैमरे से देखने में फ़र्क है। आँख से देखते हैं तो रसमय होकर देखते हैं। बड़े से बड़ा यंत्र अच्छा हो सकता है, कैमरा अच्छे से अच्छा हो सकता है लेकिन उसके *दर्शन* में रस नहीं होता। कैसे ? तुम अपनी पत्नी से हिसाब कर रहे हो। उसमें तेरह रुपये साढ़े सात आने और ऊपर से एक पाई आती है तो पौने आठ आने बन जाते हैं लेकिन यदि तुम अपने व्यापारी से हिसाब कर रहे हो, उसमें ऊपर से एक पाई आती है तो वहाँ साढ़े सात आने ही रह जाते हैं। पत्नी को देते समय तो वह पाई एक पैसा बन जाती है और दूसरे को देते समय एक पाई शून्य बन जाती है। पुत्र को भोजन कराते समय फुलका हल्का और पतला हो जाता है। एक बार हम कहीं भोजन करने गये। पहले-पहल जो पूड़ी आई बड़ी पतली, बिल्कुल गोल और बढ़िया सिकी थी, दूसरी पूड़ी भी वैसी ही थी। तीसरी पूड़ी मोटी और सिकी भी कम थी। हमने समझ लिया कि इन्होंने हमारी दो ही पूड़ी की खुराक समझी है। बाद में पता लगा कि पहली दो पूड़ियाँ घर की मालकिन ने बनाकर भेजी थीं और फिर रसोइये की बनायी आ रही थीं। फुलका और

पूड़ी दोनों एक ही आटे और घी के बनते हैं। यंत्र से बनाओगे तो चाहे कितनी बढ़िया से बढ़िया माडर्न बेकरी लगा दो, इन्दिरा गांधी के लिये और तुम्हारे लिये किसी अन्य ढंग की रोटी निकलने वाली नहीं है। क्योंकि मशीन को कभी पता नहीं लग सकता कि कहाँ रस टपकाना है और कहाँ नहीं!

यही तो हममें और यन्त्र में भेद है। हमारा भावराज्य है। इसीलिये वेदांत इस भावराज्य अधिदैव की उपासना को बाह्य कर्मकाण्ड से अधिक महत्त्व और प्रश्रय देता है। भावना से किया हुआ अत्यल्प भी बहुत और बिना भाव के किया हुआ बड़े से बड़ा काम भी व्यर्थ है। भावना के अनुकूल ही शरीर आदि विकार हो जाते हैं। बम्बई में एक अच्छे मध्यमवर्गीय सज्जन थे। उनको एक बार इनफ्लुएन्जा बुंखार हुआ। डाक्टर के पास गये। उसने पूरी तरह परीक्षा करके कहा कि 'ऐसी कोई खास बात नहीं है, मिक्श्चर दे रहा हूँ, लेते रहना।' उनके टट्टी-पेशाब की परीक्षा हो गई और एक्स-रे ले लिया। उन्होंने कहा—'रिपोर्ट दे दीजिये।' डाक्टर ने कहा, 'इस समय मैं व्यस्त हूँ और किसी रोगी को देखने जाना है। आपकी रिपोर्ट डाक से भिजवा दूँगा।' वे घर आ गये। दूसरे दिन डाक से उनकी रिपोर्ट आ गई। मध्यवर्गीय नौकरीपेशा पढ़े लिखे आदमी, झट खोलकर देखा कि क्या लिखा है। उसमें लिखा था कि 'आपके दोनों फेफड़ों में बहुत संक्रामक रोग हो गया है, इसलिये बचने की सम्भावना कम है।' हृदय-रोग विशेषज्ञ की रिपोर्ट थी कि 'इनके हृदय के अन्दर एक प्रकार का एन्जाइना का रोग हो गया है जिससे कई बार छोटे-मोटे झटके लगकर उसमें कमज़ोरी आ गई है। अब यदि कुछ भी झटका लगा तो बर्दाश्त

नहीं कर सकेंगे।' इन दोनों विकारों को मिलाकर चिकित्सक ने लिखा था कि 'अब बचने की सम्भावना कम है, इसलिये इनको अस्पताल में भर्ती मत कराना क्योंकि मरने वाले आदमी को भर्ती करके भी क्या होगा !' जैसे ही बाँचा, इनका मुँह फटा रह गया। चेहरा पीला पड़ गया और पैरों से सिर तक झनझनाहट हो गई। बैठे-बैठे ही बिस्तरे पर पड़ गये। थोड़ी देर में घरवाली आई तो सोचा कि बुखार कुछ तेज होगा; हाथ लगाकर पूछा—'कुछ सिर दर्द है ?' कहा—'कुछ नहीं है, तुम लोग जाओ।' सोचा कि इनका 'मूड' (mood) खराब हो गया होगा। घरवाली चली गई। वे बैठे-बैठे मन में सोचते रहे कि लड़की का ब्याह नहीं किया, प्राविडेण्ड फण्ड की लिखा-पढ़ी कर देनी चाहिये। उसी समय दूरभाष करके वकील को बुलाया और दरवाजा बन्द करके कहा कि 'मेरी अंतिम वसीयत लिख दो। बस, अब दो-चार दिन का ही मेहमान हूँ।' वकील ने कहा—'भले आदमी ! क्या हो गया, कुछ भी खबर नहीं लगी।' डाक्टर की रिपोर्ट निकालकर दिखाते हुए कहा—'घरवालों से कुछ न कहना।' वकील ने देखकर कहा 'नवग्रह की पूजा कराओ, शनि आ गया होगा। बात तो ठीक है कि अब चिकित्सकों के हाथ का मामला नहीं रहा लेकिन भगवान् की कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है।' सोचा पंडित से अभिषेक करवायें। फिर दूरभाष किया और पंडित जी आ गये। घरवाले घबराने लगे कि क्या बात हो गई, पहले वकील आ गया, अब ज्योतिषी आ गया है। ज्योतिषी बेचारे ने बड़ा मत्था मारकर कहा कि 'अगर पत्री ठीक है तो मार्केश कोई बनता नहीं है।' उन्होंने कहा—'ठीक है या नहीं, लेकिन अब तो मामला ही खत्म

है।' ज्योतिषी ने हस्तरेखा भी देखी और कहने लगा 'यह जिम्मेवारी तो मैं लेता हूँ कि तुम मरने वाले नहीं हो। तकलीफ क्या है ?' कहा—'अब बाकी कुछ नहीं रह गया है।' वकील साहब ने कहा, 'चलो, मृत्युंजय का जप तो शुरू करा ही दो।' जब सब लोग चले गये तब घरवालों ने पूछा—'बात क्या है ?' कहा—'कुछ नहीं है।' बेचारा टाल रहा था कि इनको सुनकर दुःख न हो। लेकिन अन्दर ही अन्दर घुट रहा था। दूसरे दिन हालत और खराब हो गई, हाथ-पैर ठण्डे पड़ गये। घरवालों ने डाक्टर को बुलाया कि आकर देख जाओ। हालत बड़ी खराब हो गई है। डाक्टर ने कहा कि 'मैं मिक्श्चर बनाकर भेज देता हूँ या यहीं भेज दो।' कहा—'उनकी हालत तो बिल्कुल नाजुक हो गई है।' डाक्टर को आश्चर्य हुआ, कहा—'मैं अभी आता हूँ।' चिकित्सक महोदय वहाँ पहुँचे और परीक्षा करके कहा कि 'बुखार भी पहले से कम हो गया है।' तकलीफ क्या है ?' कहने लगे—'डाक्टर साहब ! छिपाते क्यों हो ?' रिपोट निकालकर दिखाई, कहा 'मैंने बाँच लिया है लेकिन घरवालों से छिपा रखा है।' डाक्टर ने रिपोर्ट देखकर कहा कि 'यह रिपोर्ट तो सेठ कृपाल सिंह की है। तुम्हारे पास कैसे आ गई? लगता है कि लिफाफे में गड़बड़ हो गई। यह रिपोर्ट तुम्हारी रिपोर्ट से पहले आई थी। तुम्हारी रिपोर्ट में तो कुछ नहीं था इन्फ्लुएन्ज़ा ही था।' उसी समय दूरभाष किया और कम्पाउण्डर को डाँटा और कहा कि 'इनकी रिपोर्ट निकाल कर भेज दो।' वहाँ से आदमी मोटर में जाकर रिपोर्ट ले आया। देखकर निश्चय हो गया। दो ही दिन में हालत बुरी हो गई थी, पेट, छाती और सिर में जलन होने लगी थी।

विचार करो कि क्या कुछ रोग था ? केवल रोग की भावना थी। यदि रोग की भावना भी हो जाती है तो मनुष्य के अन्दर रोग उतना ही सत्य हो जाता है। रोग हो और उसकी भावना न हो तो मनुष्य काफी दिनों तक शरीर को खींचता रहता है। यह बात ठीक है कि यदि शरीर में रोग है तो एक न एक दिन प्रकट होगा। सूर्य के अन्दर यदि गर्मी न होती तब तो तुम्हारी भावना से भी तुम्हारे ऊपर उपकार कहाँ से करता ! लेकिन जहाँ उपकार होता है वहाँ भावना साथ में है तो सूर्य को देखते ही रस की उत्पत्ति होती है कि 'हमारे भूमण्डल को सारी शक्तियों को देने वाला परब्रह्म परमात्मा का रूप है जो वृष्टि, अग्नि और गर्मी देता है और सारी शक्तियों का केन्द्र प्रत्यक्ष परमात्मरूप दीख रहा है।'

दोनों समय संध्यावंदन करो तो प्रातःकाल सूर्य को देखते हुए समझो कि परमात्मा की चक्षु से पैदा हुआ है। यह उपासना की भावमयी सृष्टि है, इससे सूर्य उत्पन्न हुआ। सामने आता प्रतीत होगा। हृदय के अन्दर प्रतीक्षा होगी कि 'कब आये, कब आये, अब आया, अब आया।' प्रिय पत्नी गई हुई हो और तीन महीने से टिक्कड़ ठोकक्कर खाने पड़ें। अब चिट्ठी आ गई। लेकिन आज की तरह रेल वाला मामला नहीं है। इसमें तो हमारी भावना कुंठित हो जाती है। चिट्टी में लिखा है कि 'वह बैलगाड़ी से आ रही है।' उसका आने का समय कछ निर्धारित नहीं है। अब सवेरे से बैठे हुए प्रतीक्षा हो रही है कि 'कब आये, कब आये। अब आई, अब आई।' ठीक ऐसे ही जब सूर्य के उदय होने पर तुम्हारे हृदय में प्रतीक्षा होगी, तब संध्या के काल में वृत्ति सर्वथा एकाग्र हो जायेगी। यही उसके साथ भावना की एकता है। प्रतीक्षा और

विरह के द्वारा एकता की प्राप्ति है। यहाँ प्रतीक्षा की प्राप्ति बताई। विरह की प्राप्ति आगे बतायेंगे।

प्रवचन - ७७

अध्यात्म और अधिदैव के स्वरूप को बताते हुए मुख्यरूप से मन का चन्द्रमा अर्थात् आह्लाद के साथ सम्बन्ध बताया। मन के नियंत्रण के साधन को बताने के लिये चक्षु और आदित्य की उपासना समझायी। आँख और सूर्य के घोंसले में रहने वाला देवता एक ही है। यह कल बृहदारण्यक-वार्तिक से बताया। चक्षु और आदित्य दोनों घोंसले हैं। इनमें रहने वाला केवल स्थान के भेद से एक जगह चक्षु और एक जगह आदित्य कह दिया गया। केवल स्थानमात्र के भेद से मनुष्य के अन्दर भी भेद देखा जाता है। एक ही मनुष्य एक स्थान पर बैठा हुआ 'कमिश्नर, मेरठ डिविज़न' कहा जाता है, उसके हाथ में सामर्थ्य भी बहुत देखी जाती है। वही व्यक्ति किसी अन्य समय में 'फाइनेन्स सैक्रेटेरियट में एडवाइज़र' बना हुआ सब शक्तियों से रहित भी देखा जाता है। यह स्थान का ही भेद है। जब कमिश्नर है, तब उसके हाथ में जितनी शक्ति और सामर्थ्य देखने में आती है, उसका हज़ारवाँ हिस्सा भी उस समय देखने में नहीं आता जब वह एडवाइजर है।

अथवा लोक में एक ही सूर्य जब उत्तर की तरफ प्रकाशित

होता है, उस समय वह प्रचण्ड गर्मी देता है और वही सूर्य जब दक्षिण की ओर प्रकाशित होता है तब धूप में बैठने पर भी गर्मी नहीं आती। सूर्य हमेशा पूर्व में उदय नहीं होता है, साल में केवल दो दिन ही ठीक पूर्व में उदय होता है। बाकी दिन या उत्तर को या दक्षिण को मुँह किये होता है। इसीलिये उसको उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। कभी ध्यान दो तो इसका पता चलेगा। गर्मी में एक तरफ की खिड़की और सर्दी में दूसरी तरफ की खिड़की से धूप आती है। जितना सूर्य दक्षिण स्थान की ओर जाता है, उतनी तुमको उत्तर गोल में गर्मी कम दे पाता है। सूर्य में कोई फ़र्क नहीं है, उसकी गर्मी भी कम नहीं हो जाती है, केवल स्थान का भेद है। जितना उत्तर को जाता है, उतनी गर्मी बढ़ती जाती है। सूर्य की गर्मी नहीं बढ़ती है, केवल स्थानभेद से ही भेद है। इसी प्रकार एक ही देवता आँख में बैठा हुआ थोड़े-से पदार्थों को प्रकाशित कर पाता है और वहीं आदित्य में बैठा हुआ समग्र ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। देवता एक ही है। आँख में आ जाने से उसकी शक्ति में कमी नहीं आती, जैसे सूर्य के दक्षिण में चले जाने से उसकी शक्ति में कमी नहीं आती, लेकिन जिस प्रकार स्थान के कारण वह उतनी गर्मी देने में समर्थ नहीं होता ठीक उसी प्रकार आँख में आ जाने से सूर्य की दीप्ति (प्रकाश करने की सामर्थ्य) कम नहीं हो जाती, बल्कि उसकी शक्ति संकुचित हुई प्रतीत होती है। शक्ति अन्दर होने पर भी जब तक प्रतीत नहीं होती, तब तक उसको शक्तिवाला नहीं कहा जाता। शक्ति वाला तब कहा जायेगा जब उसकी शक्ति प्रकट हो या प्रतीत हो। बिजली की शक्ति जब लट्टू या पंखे में प्रतीत होती है, तभी

उसको माना जाता है। इसी प्रकार से चक्षु के अन्दर उसकी शक्ति कम नहीं होती बल्कि प्रतीत कम हो रही है।

पूरी प्रतीत न होने का कारण यह है कि एक उपाधि में परिछिन्नता और दूसरे में अपरिछिन्नता है। बस इतना ही भेद है। इसलिये स्वयं भगवती श्रुति यजुर्वेद की बृहदारण्यक उपनिषद् में कहती है–'अथ चक्षुरत्यवहत्। तद् यदा मृत्युम् अत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्। सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति।' चक्षु को अतिवहन किया गया। किस प्रकार से किया गया ? आँख अत्यधिक बढ़कर पहुँच गई। मतलब है कि चक्षु अत्यंत उन्नत स्थान तक लादकर ले जाई गई या ढोई गई। इसके द्वारा कहते हैं कि जब तक अभिमानपूर्वक करोगे, तब तक व्यापकता नहीं आयेगी। जैसे-जैसे उपासना का गाम्भीर्य आता है, वैसे-वैसे अपने आप ही आदित्यभाव की तरफ चक्षु चली जाती है। यह साधना का एक रहस्य याद रखना। बहुत बार साधक कहता है कि 'पता नहीं लगता कि आगे बढ़ रहे हैं या नहीं' और हमारा कहना रहता है कि यह पता न लगना ही आगे बढ़ने का लक्षण है। बहते पानी में तुम स्थिर नहीं रह सकते, उसमें या तो धार की तरफ या धार से विपरीत जा रहे हो। बहते पानी में कोई कहे कि 'तुम स्थिर हो या कोई भी चीज़ स्थिर है,' तो नहीं रह सकती। इतना बड़ा लंगर डाला हुआ जहाज भी बहते पानी में स्थिर नहीं रहता। कभी लंगर के बाईं तरफ, कभी दाईं तरफ, फिर बीच में आ जाता है। इस प्रकार हिलता रहता है। इसी प्रकार विश्व के अन्दर संसार की असद् भावनाओं के प्रवाह में तुम स्थिर नहीं रह सकते। प्रवाह के साथ या असत् पदार्थों की तरफ बढ़ोगे या उसके विपरीत असत्

पदार्थों से दूर बहोगे। कभी बरफ के पहाड़ पर चढ़े होगे तो देखा होगा। कि बर्फीले पहाड़ पर खड़े नहीं रह सकते। खड़े रहे तो नीचे फिसलोगे। इसलिये या आगे चलो या नीचे उतरो। ऐसे ही यदि तुम कहते हो कि 'हम स्थिर हैं' तो इसका मतलब है कि तुम सत् पदार्थ की तरफ प्रवृत्ति कर रहे हो। सत् पदार्थ की तरफ प्रवृत्ति बड़ी धीमी होती है, क्योंकि प्रवाह के विपरीत जाना है। गति धीमी होती है अतः पता नहीं लगता। कभी पानी में तैरे होगे तो पता होगा। बहते पानी में तुम्हें प्रवाह के विपरीत खींच लें और उसके बाद तुम्हारा हाथ छोड़ें तो तुम नीचे की तरफ जाओगे। कभी तैरे नहीं तो रस्सा खींचा होगा—दो जने रस्सा खींच रहे हैं। हम तुम्हें अपनी तरफ खींच रहे हैं। जब हम रस्सा छोड़ेंगे तब तुम पीछे की तरफ जाओगे या गिर भी जाओगे। इसी प्रकार यदि किसी साधक को किसी तीव्र वेग के द्वारा खींचा जायेगा तो वह उसकी उन्नति का कारण नहीं होगा। पहले तो उसे लगेगा कि हमारी उन्नति हुई लेकिन वह उन्नति चूँकि अपने स्वाधीन होकर नहीं है, इसलिये जैसे ही वह सहारा हटेगा वैसे ही फिर पीछे की तरफ जाओगे। उसमें उन्नति *पता* लगती है, लेकिन *होती* नहीं है। और जो सच्चा शिक्षक होता है, वह उन्नति देखने नहीं देता, वह स्वतः ही साधक को प्रवृत्त कराता है, उसे प्रेरित करता है कि वह स्वयं तैरे। साधक समझता है कि 'मेरी उन्नति नहीं हो रही है।' जितने उसके साथी और घरवाले हैं, उन्हें पता लगता है। एक नियम याद रखना कि जो व्यक्ति जिस के साथ रात-दिन रहता है, वही वस्तुतः उस व्यक्ति की सच्ची स्थिति को समझता है। साधक कहता है कि 'मेरी उन्नति नहीं हो रही है' और घरवाली,

मुनीम और अपने बच्चे सोचते हैं कि 'हमारे हाथ से निकला जा रहा है।' उन सबकी प्रतीति है कि यह हम लोगों के घंजे से छूट रहा है और इसीलिये वे हाथ-पैर मारकर उसको रोकने का परिश्रम करते हैं। यही बताता है कि तुम्हारी उन्नति हो रही है। यदि सब घर के और पड़ोसी समझें कि यह ठीक चल रहा है तब मन में खटका करना चाहिये कि संसारी लोगों की दृष्टि में ठीक चल रहे हो इसका मतलब है कि असत् पदार्थों की ओर जा रहे हो। प्रायः मनुष्य सोचता है कि संसार का व्यवहार ठीक वैसे ही चलता रहे और परमार्थ का व्यवहार भी बन जाये। यह नहीं होने वाला है, क्योंकि यह विपरीत धारा में जाना है। यदि घरवाले और दोस्त सोचते हैं कि इसका व्यवहार ठीक है, तब तो साधक को हमेशा सावधान रहना चाहिये कि 'मैं जरूर असत् संसार की तरफ जा रहा हूँ, तभी इनका दिल संतुष्ट हैं।' यदि उनके हृदय में घबराहट है तब समझना चाहिये कि 'मैं सत् की तरफ जा रहा हूँ। इसलिये ये सोचते हैं कि हमारे शिकंजे से निकल रहा है।' स्वतः अपने को पता नहीं लगता। अतः श्रुति ने कहा कि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा बहाया जा रहा है, ऊपर की तरफ बहाया जा रहा है।

अंत में यह चक्षु मृत्यु से सर्वथा छूट जायेगा। वेदांत में द्वैत-दर्शन ही मृत्यु है 'मृत्योः स मृत्यमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' जहाँ दूसरे को दूसरा समझा, वहीं मृत्यु हो गई। वेदांती को यमराज भी नहीं मार सकता क्योंकि जब यमराज आता है, कहता है 'मेरे साथ चलो।' वह कहता है—'मैं तो तेरे अन्दर बैठा हूँ। अब तक इस शरीर में था, आज तेरे में सही।' यमराज तब मारे जब पहले तुम्हारे में द्वैत-दृष्टि हो, तुम आग्रह करके शरीर में रहना चाहो

और यमराज अपने ज़ोर से तुम्हें शरीर से अलग करे। जब उसे अपना आत्मा मानते हो तब यमराज क्या मार सकेगा ? दुकान को आग कब जलाती है ? जब तुम ने कपड़े और आग में द्वैत-दृष्टि की है तभी आग कपड़े को जलायेगी। यदि तुमको आग और कपड़े में अद्वैत दृष्टि है कि 'जो कपड़ा है, वही आग है' तो अब आग तुम्हारे कपड़े को नहीं जला सकती क्योंकि आग कपड़े से एक है। दो हों तो आग कपड़े को जलाती है। जहाँ आग और कपड़ा पहले ही एक हैं वहाँ आग क्या जलायेगी ? जितनी क्रियायें हैं वे सारी द्वैत को लेकर हैं। जहाँ अद्वैत आया, वहाँ यमराज भी तुमको मार नहीं सकता। विचार करो : तुम अपने पल्लेदार से कहते हो कि 'ये चार गाँठें उठाकर सीताराम हरीराम के यहाँ पहुँचा देना।' रात्रि में तुम्हारे बिना कहे हुए एक व्यक्ति गाँठें उठाकर सीताराम हरीराम के यहाँ रख आता है। दोनों में कोई फ़र्क तो नहीं है, केवल इतना फ़र्क है कि एक को तुम्हें कहने का परिश्रम करना पड़ा और दूसरे बेचारे ने तुम्हारे बिना कहे काम कर दिया। यदि तुम्हारी द्वैत दृष्टि है कि 'यह पल्लेदार मेरे पास रुपये लेकर आयेगा और दूसरा पल्लेदार रख आया तो उसका रुपया मेरे पास नहीं आयेगा।' तभी एक पर तुम छाप मारोगे कि 'यह चोर है' और दूसरे पर छाप मारोगे कि 'यह बड़ा ईमानदार है।' काम तो दोनों ने एक ही किया। द्वैत-दृष्टि होने पर चोरी हो सकती है, अद्वैत दृष्टि में चोरी सम्भव नहीं है।

वेदांत की दृष्टि में नानात्व-दर्शन ही मृत्यु है। नानात्व-दर्शन नहीं तो जैसे इस शरीर में, वैसे ही यमराज के हाथ में, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसलिये श्रुति कहती है कि जब मृत्यु से अतिमुक्ति

हो गई अर्थात् चक्षु का अव्यापक भाव, परिच्छिन्न भाव, द्वैत दृष्टि हट गई तब वही चक्षु आदित्य हो जाता है। आदित्य चक्षु से भिन्न कुछ नहीं है। परिच्छिन्न भाव को प्राप्त किया तो चक्षु है और व्यापक भाव को प्राप्त किया तब आदित्य है। यही वेदांत का सिद्धान्त है। जीव, ईश्वर दो नहीं हैं। जब अपने को साढ़े तीन हाथ के शरीर के साथ सम्बन्धित किया तब जीव और जब अपने को अनंत ब्रह्माण्डों में व्यापक समझा, अपने को साढ़े तीन हाथ के शरीर से ऊपर उठाया तब ईश्वर नाम पड़ गया। इसी प्रकार जब परिच्छिन्न भाव को आँख ने प्राप्त किया तब उसका नाम चक्षु और जब अपरिच्छिन्न व्यापक भाव को प्राप्त किया तब उसी का नाम आदित्य है। व्यापक और अव्यापक भाव का ही भेद है।

सायंकाल सूर्य का ध्यान करने बैठते हो जबकि सूर्य मौजूद है। उसके बाद हर क्षण तुम्हारे हृदय में विरह की ज्वाला जलने लगी कि 'अब यह सूर्य मेरी आँखों से ओझल होने वाला है।' सूर्य परमात्मा का प्रतीक है। 'अभी सूर्य मुझे दीख रहा है, मेरी आँख से एक हुआ है लेकिन थोड़े समय बाद इसके साथ मेरा विरह हो जायेगा।' जैसे-जैसे सूर्य एक-एक सूत नीचे जाता है, वैसे-वैसे हृदय के अन्दर विरह की अग्नि अधिकाधिक प्रकट होती है। इस विरह की सम्भावना में भी उतनी ही उद्दीप्ति (उत्तेजना) होती है जितनी प्रातःकाल प्रतीक्षा में थी। कल बताया कि इस प्रकार यह विरह मनुष्य के हृदय में एक ऐसा उद्वेग उत्पन्न करता है जिसमें वृत्ति सर्वथा अपने स्वरूप में स्थिर होने लगती है। कबीर ने विरह को इतना महत्त्व दिया है कि कहते हैं कि जिसने विरह

नहीं देखा वह मनुष्य नहीं पत्थर है ! विरह का उद्देश्य बाहर स्थित को अन्दर से एक करने में है। यह सिद्धान्त का विषय है। विरह बहुत ज़रूरी है। जिसने परमात्मा से विरह का अनुभव नहीं किया, वह परमात्मा की तरफ जा ही नहीं सकता। वेदांत श्रवण का अधिकारी मुमुक्षु है, जिसे मोक्ष की इच्छा है। मोक्ष की इच्छा का मतलब है कि वह परमात्मा के साथ एक नहीं है; यही बंधन है। वह परमात्मा हमारी आँखों से ओझल है, यही बंधन है। जब उसका आँखों से ओझल होना सहन नहीं होता है, तब उसका नाम मुमुक्षा है।

वेदांत सिद्धान्त में ब्रह्म मोक्ष का स्वरूप है। मोक्ष और ब्रह्म दो चीज़ें नहीं हैं। ब्रह्म से ओझल होकर रहना, यह विरहावस्था ही बंधन है। इस विरह से दूर होकर ब्रह्म-सम्भोग हो जाना ही मोक्ष है। विरह होने पर भी साधारण पुरुष को इस विरह का भान नहीं है। विरह तो है लेकिन उसको पता ही नहीं है कि मुझे विरह है। जिस चीज़ का ज्ञान नहीं है, वह चीज़ तुमको प्रवृत्त नहीं कर सकती। इसलिये 'मैं परमात्मा से अलग होकर विरहाग्नि में जल रहा हूँ' इस बात को जानना पड़ेगा। तुमको जितना दुःख, शोक और भय है, वह सब किससे है ? 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' भगवान् वेदव्यास महाभारत में कहते हैं कि यह सब तुम्हारी चोरी का नतीजा है। परमात्मा के साथ तुम्हारा जो विरह है, उस विरह को तुमने चुरा लिया, इस बात का तुमको ज्ञान भी नहीं है कि परमात्मा से विरह है !

बहुत-से लोग भ्रान्ति से कहते हैं कि 'परमात्मा हमारा नित्यस्वरूप है, फिर विरह की सम्भावना कैसे ?' स्वरूप से यदि

विरह की सम्भावना नहीं तो स्वरूप से दूसरा दीखता कैसे ? यदि हम कहते हैं कि 'हमें केवलराम दीख रहा है' तो इसका मतलब है कि हरीराम नहीं दीख रहा है। यदि हमको नानात्व-दर्शन होता है तो इसका मतलब है कि हमको अभेद-दर्शन नहीं है। चाहे तुमको हरीराम ही केवलराम के कपड़े पहनकर दीख रहा हो, लेकिन तुमको तो केवलराम ही दीख रहा है। वह स्वरूप से हरीराम है, इस बात से कोई मतलब नहीं है। मतलब तो इस बात से है कि तुमको क्या दीख रहा है। हमको जगत् दीख रहा है, जगत् के पदार्थ दीख रहे हैं, चाहे जगत् के पदार्थ ब्रह्म के आकार के ही हों, ठीक है, लेकिन अनुभव तो यह है कि जगत् है और जगत् के पदार्थ हैं। जगत् के पदार्थों का अनुभव है तो ब्रह्म से विरह हुआ। लेकिन तुम यह भूल गये हो कि ब्रह्म से विरह है।

जब तक इस विरहाग्नि को नहीं समझोगे, तब तक ब्रह्म-सम्भोग की प्राप्ति की सम्भावना ही नहीं। इसलिये कहा कि मुमुक्षा तब हो जब पहले यह समझो कि 'मैं बद्ध हूँ।' 'मैं बद्ध हूँ'—जिसने यह नहीं जाना, उसके लिये मुमुक्षा और मोक्ष आकाश-कुसुम की तरह व्यर्थ हैं। 'मैं बद्ध हूँ' जिसे यह ज्ञान नहीं है, उसमें मोक्ष की इच्छा ही नहीं होगी तो उसकी मुक्ति क्या होनी है ! हम केवल परमात्मा से अलग हो गये हैं, इतना ही नहीं, यह भी भूल गये हैं कि परमात्मा से अलग हो गये हैं। बहुत बार इस बद्ध-भावना को, इस विरहाग्नि को लोग उद्दीप्त होने से दबा देते हैं। कहते हैं कि ऐसा भान ही मत करो कि 'मैं बद्ध हूँ'। जब विरह का ही भान नहीं तो सम्भोग की सम्भावना ही नहीं। जितनी अपनी बद्ध भावना की तीव्र अनुभूति होगी, उतना ही आगे मुक्ति

के लिये तीव्र वेग से प्रयत्न होगा। इसलिये अनेक आचार्यों ने विरह के ऊपर इतना बल दिया है कि उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि परमात्मा की प्राप्ति से भी ऊँचा परमात्मा का विरह है ! उनका तात्पर्य कुछ और था, लेकिन लोग कुछ और समझे। उनका तात्पर्य तो यह था कि विरह का ज्ञान परमात्मा के ज्ञान से भी बड़ा है, क्योंकि यदि परमात्मा के सत् चित् आनंद रूप को तुमने जान भी लिया, लेकिन तुम उससे विरहित हो, अलग हो, इस बात को नहीं जाना तो वह सच्चिदानंदरूपता का ज्ञान तुमसे आगे प्रवृत्ति नहीं कराता।

विचार करो : तुम्हारा प्रिय पति युद्ध के मैदान में गया हुआ है। चिट्ठी आई है कि 'तुम्हारा पति जर्मनी की लड़ाई लड़कर तीन साल के बाद एक हाथ और एक पैर कटवा कर विक्टोरिया क्रास लेकर आ रहा है।' घर के लोग कहते हैं कि 'स्टेशन जाओगी?' तुम कहती हो 'स्टेशन क्या जाना है, मुझे झाड़ू लगाना है, रास्ता जानते हैं, आ जायेंगे।' कोई कहे 'दरवाजा खोल दो, आ गये हैं' तो कहती हो, 'उन्हें पता है कि घण्टी लगी है, बजाने दो।' इससे सिद्ध हुआ कि तुम्हारा पति के प्रति प्रेम नहीं है। तुम दूसरे-दूसरे कामों में लगी हुई हो, जैसे कुर्सी साफ करनी है, पड़ोसी की कढ़ाई लौटानी है। पति आ गया है, पास आकर कहता है कि 'मैं आ गया' तो कहती है, 'कोई बात नहीं, कोयले की बोरी माँगने वाला आया है, उसे निपटा दूँ।' मानना पड़ेगा कि तुम्हारा पति के प्रति प्रेम नहीं है। यदि प्रेम होता तो चाहे ज़रूरी से ज़रूरी काम होता उसे छोड़कर दौड़कर वहाँ पहुँचती, रहा ही नहीं जाता। ठीक इसी प्रकार यदि हम कहते हैं कि 'परमात्मा से हमारा प्रेम

तो है लेकिन अभी लड़के की पढ़ाई का काम करना है। फिर परमात्मा को तो देखना ही है। आज दुकान का इन्कमटैक्स का रिटर्न भरना है, व्यापार को तो देखना ही है, फिर वह तो अपना स्वरूप है, प्राणों से प्रिय है !' यह बताता है कि विरह का अनुभव ही नहीं है। पता ही नहीं कि वह हमारा प्राणों से प्यारा कैसा है।

इसलिये कुछ आचार्यों ने कहा कि विरह, विप्रलंभ, सम्प्रयोग से भी अधिक उपयोग की चीज़ है। उनकी इस बात को दूसरे नहीं समझ सके और विरह पर ही ज़ोर देते चले गये, यह बात दूसरी है। यह विरहानुभूति तब हो जब हम उसके सौन्दर्य को, उसके आनंद को समझें। संसार के सारे कार्य आखिर क्यों करते हो ? आनंद लेने के लिये ही करते हो। भोजन-पानी इसलिये करते हो कि इससे सुख मिलता है। पैसा कमाने में सुख, लड़के का ब्याह करने में सुख, लड़के को काम पर लगाते हो तो सुख मिलता है। कहोगे कि कर्तव्य मानकर करते हैं; तो कर्तव्य भी इसलिये करते हो कि आगे जाकर स्वर्ग आदि उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी, अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलेगा। यदि पता है कि परम आनंद तो केवल शुद्ध चिन्मात्र है तो क्या उसके आनंद को छोड़कर दूसरी तरफ जाओगे ?

आप लोग सप्तशती का पाठ करते होंगे, उसमें भगवती का रूप बताया है 'सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी' मार्कण्डेय पुराण के लेखक को इतना कहकर संतोष नहीं हुआ कि भगवती सौम्य और अत्यंत सुन्दरी है। सौम्य अर्थात् प्रियदर्शन—जिसे देखकर हृदय में प्रेम उमड़ पड़े। संवित् भगवती, चित्शक्ति का स्वरूप है कि देखने से ही हृदय आनंद से भर जायेगा। लेकिन

प्रेम एक बड़ी विचित्र चीज़ है। यह पागलपन होता है। जब तक बुद्धि के विलास में रहोगे, तब तक हृदय की तीव्र कामना बाहर नहीं फूटेगी। 'सौम्य' कहकर ही संतुष्ट हो गये तो मतलब है कि बुद्धि से ही समझा। मान लो किसी से प्रेम है, एक बार कह दिया कि 'तू बड़ी सुन्दर है' इससे संतुष्ट हो जाना चाहिये। लेकिन कभी प्रेम किया होगा तो पता होगा कि इतने से संतुष्टि नहीं होती। बार-बार तरह-तरह से कहते जाते हो। क्रिकेट के किसी अच्छे बल्लेबाज़ खिलाड़ी को देखते हो तो एक बार नहीं कहते कि 'अच्छा खिलाड़ी है', कहते हो, 'वाह-वाह ! आज तो तूने कमाल कर दिया, चित्त प्रसन्न कर दिया।' तात्पर्य वही है। लेकिन बिना कहे नहीं रहा जाता। 'वाह-वाह' भी दो बार कह देते हो। बुद्धि से सोचने वाला कहेगा कि 'अच्छा खेलता है' इतना ही कहना बहुत है और अगर वह खिलाड़ी पास नहीं खड़ा तो कुछ भी कहना बेकार है !' इसका मतलब है कि वह खेल के रस में नहीं डूबा। इसी प्रकार यहाँ सौम्य कह देना ही काफी था, लेकिन लेखक से नहीं रहा गया। कहा—'सौम्यतर है, अत्यधिक सौम्य है।' केवल सौम्य कहने से होता कि संसार के अन्दर और भी पदार्थ हैं जिनको देखकर सौम्यता का अनुभव होता होगा। लोग कहते हैं कि सत्संग में जाते हो, ठीक है मना नहीं करते, लेकिन घर का काम ज़रूरी है। सप्तशतीकार को सहन नहीं हुआ। जैसे घर के अन्दर यदि पति बीमार पड़ा है और उसे घण्टे-घण्टे में दवाई-अनुपान देना पड़ रहा है, उस काल में पत्नी को बाजार करना या दीवाली की मिठाई लेना नहीं सूझेगा। नौकर से कह देगी कि 'बच्चों के लिये तुम ले आओ।' कोई कहे 'नौकर पैसा खा जायेगा' तो कहेगी,

'खा जायेगा दो-चार आने तो खा जाने दो, मैं इनको छोड़कर कैसे जाऊँ?' बच्चे 'सौम्य' हैं, लेकिन पति 'सौम्यतर' है। इसी प्रकार अद्वैत दृष्टि वाले को कहते हैं कि 'मुनीम लूट रहे हैं' तो वह कहता है 'मैं इस आनंद को छोड़कर कैसे जाऊँ ? खायेंगे, खाने दो।'

'सौम्यतरा' कहकर भी लेखक का दिल नहीं भरा तो आगे कहते हैं 'अशेषसौम्येभ्यस्तु अतिसुन्दरी' संसार में कोई चीज़ मुझे ऐसी नहीं लगती जहाँ एक बार भी दृष्टि दूँ। उस सुन्दरता और प्रियदर्शनीय के सामने कोई भी एक ऐसा नामरूप दीखे तो सही जिस पर नज़र डालूँ। दक्षिण भारत के अन्दर सारे लोग पलटे तवे से दिखाई देंगे। मान लो वहाँ कोई काश्मीरी या पंजाबी अपनी पत्नी को लेकर जाये तो वह अपनी पत्नी को छोड़कर कहीं इधर-उधर नज़र नहीं डालेगा ! वे लोग ज़बरदस्ती रेल के डिब्बे में आकर बैठ जाते हैं, मछली मांसादि बेचना ही उनका पेशा है। उनके कपड़ों से, शरीर से इतनी बदबू आती है कि नाक बंद किये हुए बैठना पड़ता है। दक्षिण के कुछ क्षेत्रों की औरतें कपड़ा भी पूरा नहीं पहनतीं, केवल नाभि से घुटने तक 'मिनीस्कर्ट' से भी छोटा कपड़ा होता है। उसी को लेकर एक बार प्रधानमंत्री ने कहा था कि 'हमारी भारतीय दृष्टि में 'टापलैस' चलता रहा है' लेकिन प्रधानमंत्री यह भूल गईं कि कहाँ किन लोगों में चलता रहा है। मछलीमारों का वह चलन रहा है। ऐसी जगह पंजाब का पति अपनी पत्नी को छोड़कर क्या उनकी तरफ नज़र डालेगा ? इसी प्रकार जिन्होंने शक्ति के, संवित् भगवती के चेहरे को देख रखा है, क्या वह इस संसार के नामरूप की तरफ, परिच्छिन्न पदार्थों की तरफ दृष्टि डालेगा जहाँ से बदबू आ रही है ? यहाँ प्रत्येक

पदार्थ वासना उत्पन्न करता है। यदि वह व्यक्ति उस तरफ देखता है तो समझ लो कि अपनी पत्नी की तरफ उसने आज तक देखा ही नहीं। इसी प्रकार यदि यहाँ भी संसार के नाम-रूप, परिच्छिन्न पदार्थों की तरफ देखता है तो उसने अभी तक उस संवित् के सौन्दर्य को देखा ही नहीं है।

एक कथा आती है : एक राजकुमार बचपन में कुसंग में पड़ गया और गणिकाओं के यहाँ जाया करता था। बड़ा हुआ तो राजा ने उसका विवाह एक अत्यंत सुन्दर लड़की के साथ कर दिया। सोचा ब्याह के बाद सुधर जायेगा, वैसे भी उसका ब्याह तो करना ही था। उसके दोस्तों और गणिकाओं ने समझाया कि 'राजकुमारियाँ बिल्कुल किसी काम की नहीं होतीं, केवल राज्य के ज़ोर से ही इन्हें माना जाता है, और उनमें कुछ नहीं होता।' रात-दिन उनके साथ रहने से उसमें वे ही संस्कार पड़ गये। पहली ही रात राजकुमारी आई, उसके चेहरे पर घूँघट था क्योंकि वह कुलवधू थी, उसकी आँखों में शरम थी। राजकुमार ने देखकर कहा 'मेरा ब्याह तेरे साथ हो गया है, तू रानी हो गई, लेकिन यह सब राज्य के कामों के लिये ही है। बाकी, तेरा-मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' वह बेचारी शरम के मारे क्या करे ? वहाँ से उठकर चली गई। साल-दो साल राजकुमार का इसी तरह का व्यवहार चला कि रात्रि में बारह बजे चले जाना और सवेरे देर से लौटना। वह बड़ी दुःखी हो गई। अंत में उसने पीहर में जाकर अपने गुरुजी से कहा कि 'सब तरह का प्रयत्न कर लिया है, लेकिन वह कभी मेरी तरफ देखकर बोलें तो आगे कोई बात भी हो।' गुरुजी ने सारी परिस्थिति समझी और कहा 'ऐसे काम नहीं होगा,

मैं तेरे साथ चलकर इस बात की व्यवस्था करता हूँ।'

वे उसके साथ गये लेकिन जाकर राजा के घर नहीं ठहरे, स्वतंत्र ही ठहरे। धीरे-धीरे उन्होंने वेश्याओं के पास ही एक मकान भी ले लिया और धीरे-धीरे यह प्रसिद्धि कर दी कि 'हमारे यहाँ एक नये देश की गणिका आई हुई है। जो बहुत अधिक धन देगा, उसी को वह अपना नाच दिखायेगी।' धीरे-धीरे यह बात राजकुमार के कानों में पड़ी। कहा—'चाहे कुछ भी खर्च हो जाये, मैं वहाँ जाऊँगा।' वहाँ पहुँचा। उन्होंने काफी बड़ी रकम बताई कि 'इतना दोगे तभी उसे देख सकोगे।' राजकुमार के मन में और जिज्ञासा हुई, सब बात तय हो गई। पहले ही दिन वहाँ पहुँचा तो उसको देखकर स्तब्ध रह गया। ऐसा सौन्दर्य उसने पहले कभी देखा भी नहीं था। गुरुजी ने उसे सिखा रखा था कि अब शरम का काम नहीं है। हमेशा हँसमुख रहना पड़ेगा, नाचना-गाना सब कुछ करना पड़ेगा। राजकुमार उसे देखकर बड़ा खुश हो गया। जाने लगा तो कहा कि 'कल भी आऊँगा।' उन्होंने कहा 'रोज़-रोज़ दाम बढ़ जाता है।' उसने कहा—'चाहे जो भी हो, आऊँगा मैं ही और कोई न आये।' महीने भर तक वह बराबर वहाँ जाता रहा और बाकी सब को उसने छोड़ दिया। गुरुजी ने भी नियम कर दिया था कि जो इतना पैसा देगा, केवल वही वहाँ आ सकता है, दूसरा नहीं आ सकता। धीरे-धीरे उसके साथी कहने लगे कि 'हमें भी ले जाओ।' उसने कहा 'यह बड़ा टेढ़ा मामला है, लेकिन मैं उसे नहीं छोड़ सकता।' धीरे-धीरे उसके साथी छूट गये। गुरुजी ने पहले ही नियम बना रखा था कि इसके सामने कोई शराब पी कर नहीं आ सकता। उसकी शराब भी छूट गई।

महीने-दो-महीने बाद एक दिन कहने लगा 'दिन में आने की इच्छा रहती है, लेकिन पता ही नहीं लगता कि कहाँ रहती है।' उन्होंने कहा 'दिन में मैं इसे छिपाकर रखता हूँ। यदि दिन में भी तुम्हारा आने की इच्छा है तो तुम्हें प्रतिज्ञायें लिखनी पड़ेंगी।' वह कहने लगा कि 'चाहे कुछ भी लिखा लो।' जब देख लिया कि पूरी तरह से पंजे में आ गया है तब कहा, 'इस पते पर आ जाना।' कहने लगा—'दिमाग़ तो खराब नहीं हो गया है ? यह मेरे मकान का पता है।' उन्होंने कहा, 'मेरा दिमाग़ ठीक है, वहाँ जाकर देखना।' दूसरे दिन सवेरे ही देखता है कि पत्नी के कमरे में वह बैठी हुई है। उससे पूछा, 'तू यहाँ कैसे आ गई, मेरी पत्नी कहाँ गई है ?' वह बोली, 'जब आपको कुलवधूपन पसंद नहीं आया तो फिर यही सही।' उसने कहा—'फिर इतने दिन तक दूर कैसे रही ?' रानी ने कहा—'आप मेरी तरफ देखते, तभी तो आपको कुछ ज्ञान होता। मैं तो आपसे दूर नहीं थी लेकिन आपकी नज़र ज़रूर दूसरी तरफ थी, तो मैं क्या कर सकती थी ?' अब राजकुमार को पता लगा कि 'मैंने जीवन में कितनी बड़ी गलती की जो इतनी बड़ी सुन्दरी को नहीं पहचाना।'

राजकुमार की जगह जीव है जो असत् पदार्थों के संग में पड़ा हुआ है। असत् पदार्थों का संग भी है और उनमें रहने वाले लोगों ने भी संस्कार डाल रखे हैं कि 'संसार के पदार्थों में बड़ा मज़ा है। परमात्मा में क्या रखा है ! वह तो जब मरेंगे तब काम आयेगा या बुढ़ापे में काम आयेगा। अभी जवानी की मौज के लिये तो संसार की ज़रूरत है, उसके लिये संसार के पदार्थ चाहिये।' संविद् ही इस बेचारे की पत्नी है। वह है तो इसके पास ही, कहीं गई

नहीं है, लेकिन यह उसकी तरफ तो नज़र ही नहीं करना चाहता। वह चूँकि कुलवधू है, इसलिये ज़बरदस्ती अपने को प्रकट भी नहीं करेगी। अंत में जब उपासना के द्वारा चक्षु को आदित्य से एक करते हो तब यह पर्दा उघड़ता है। तब पता लगे कि 'सौम्या सौम्यतराशेष-सौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।' संसार के जितने पदार्थ हैं, सारे के सारे गणिकाओं की तरह हैं। उन सबकी अपेक्षा केवल संवित् शक्ति ही अत्यंत सुन्दरी है। उसके बाद हो नहीं सकता कि फिर वह उन कुलटाओं के यहाँ जाये। अब वह संभावना ख़त्म हो गयी। जब उसे विरह का ज्ञान होता है, जब पहली बार पता लगता है कि 'यही मेरी पत्नी है' तब उसकी छाती जल जाती है कि 'मैंने इतने साल व्यर्थ गँवाये जो संसार के पदार्थों में लगा रहा। वे सारे क्षण व्यर्थ खो दिये।' अब कहता है—'हे परमात्मन्! अब तक कहाँ थे ?' वे कहते हैं 'मैं तो यहीं था, मेरी तरफ तू नज़र ही नहीं डाल रहा था तो मैं क्या करता ?' तब उसे इस विरह की पीडा का अनुभव होता है। जैसे ही यह अनुभव हुआ, वैसे ही मनुष्य में मुमुक्षा तीव्र होती है और परमात्मा की तरफ चला जाता है। इसलिये कहते हैं कि यह मनुष्य-देह तब तक व्यर्थ है जब तक इसने विरह का अनुभव नहीं किया।

प्रवचन - ७८

श्रुति ने परमात्मा के अध्यात्म और अधिदेव स्वरूप की एकता का प्रतिपादन किया। पहले मन और चन्द्रमा के अद्वैत का

प्रतिपादन किया। किस प्रकार मन आह्लादजनक बने, इसके साधनरूप से चक्षु और सूर्य की एकता का विधान किया। चक्षु और सूर्य की एकता का स्वरूप गायत्री के द्वारा सूर्य के उदय और अस्तकालीन ध्यान को लेकर बताया। उसमें भी अस्तकाल में विरहानुभूति की प्रधानता इस दृष्टि से बताई कि प्रातःकालीन उपासना में प्रतीक्षा की समाप्ति पर संयोग प्राप्त होने पर भी व्यवहार के अन्दर जाने पर निरंतर सूर्य दीखने पर भी न दीखने जैसा हुआ करता है। रात्रि के समय सूर्य न दीखने पर भी विरहानुभूति के कारण लोक-व्यवहार के न्यून, न्यूनतर और न्यूनतम होने के कारण उसकी अनुभूति की तीव्रता बढ़ जाती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे सूर्य अस्त होता गया, वैसे-वैसे विरह की तीव्रता बढ़ती चली जाती है। जैसे-जैसे तीव्रता बढ़ती है, वैसे-वैसे मनुष्य की अवस्थायें भी स्वतः परिवर्तित होती चली जाती हैं।

प्रायः अनुभव किया होगा कि पदार्थों की अनुभूति आँख से एक तरह की और भावना से दूसरी तरह की होती है। बंगाल देश के अन्दर राम प्रसाद नाम के भगवती के बड़े भक्त हुए हैं। उनको जब बादल दिखाई देते थे तब बादल को देखते ही उन्हें काली का स्मरण होता था, क्योंकि बादल और काली दोनों काले रंग के हैं। बंगला भाषा में उनका एक गीत है : जब वह बादल को देखकर काली का स्मरण करते हैं तब उनका कोई हमदर्द उनसे कहता है कि 'तेरा दिमाग खराब हुआ है, तू पागल हो गया है।' यह नियम है कि जगत् के लोग उसको पागल समझते हैं जो परमात्मा की तरफ वृत्ति वाला बने। इसलिये रामप्रसाद कहते हैं कि 'मुझे बादल में काली दिखाई देती है,

इसलिये तुम मुझे पागल कहते हो तो ठीक ही है। मेरे पिता शिव भी मत्त (पागल) हैं और मेरी माँ काली भी मत्ता है, उससे उत्पन्न होने वाला पुत्र मैं मत्त ही तो हो सकता हूँ। मत्त और मत्ता से उत्पन्न मत्त ही हो सकता है।'

इस बात को प्रायः सभी साधकों के अनुभव से पुष्टि मिलती है। ईसाईयों के अन्दर ईसामसीह की एक उक्ति है कि 'जब तक संसार के लिये मर नहीं जाओगे तब तक परमात्मा के यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकते।' सर्वत्र यह नियम है कि जब तक संसार के पदार्थों के लिये नहीं मरोगे, तब तक परमात्मा में उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अभी किससे पैदा हुए हो ? माता-पिता के रज-वीर्य से (जड से) उत्पन्न हुए हो इसलिये देह और जड में ही बँधे हुए, देह के रिश्तों को ही अपना रिश्ता मान रहे हो अर्थात् जड रज-वीर्य से उत्पन्न जड देह के अन्दर बँधे हुए रिश्तों को ही अपना रिश्ता मानते हो। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर बृहदारण्यकभाष्य में पूर्वपक्षी के द्वारा एक प्रश्न उठाते हैं। वहाँ प्रश्न यह हुआ कि संन्यासी श्रवण-मनन करेगा, वैसे ही हम भी घर के अन्दर सर्वथा आसक्तिरहित होकर श्रवण-मनन करेंगे, संन्यास से क्या लाभ? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि नियमतः एक गृह में ही भोजन करना आसक्ति का प्रतीक है। यह नहीं कहते कि 'तुम उस घर में भोजन न करो अथवा न रहो।' लेकिन संसार के सारे घरों की अपेक्षा आग्रह और नियमपूर्वक एक ही घर में रहकर ही उसी घर का भोजन करना बताता है कि आसक्ति विद्यमान है। इसीलिये श्रुति ने नियम किया 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' यही देह और देहाध्यास और देह-सम्बन्धियों के प्रति मरना है। जब तक

इस जड उत्पत्ति में नहीं मरोगे तब तक चेतन में उत्पन्न होना नहीं बनेगा। जड और चेतन एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। जड में भी रहो और चेतन में भी रहो—यह कभी नहीं होता, दोनों का आपस में अत्यंत विरोध है। संसार के जितने भी विचारक और महापुरुष हुए, सब इस विषय में एकमत हैं कि इस शरीर में जब तक अपने को बँधा हुआ देखोगे तब तक चेतन में उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इसीलिये श्रुति ने कहा कि यद्यपि चक्षु और आदित्य के अन्दर एक ही देवता है, लेकिन वह भिन्न प्रतीत हो रहा है और जब वह इस मृत्यु से छूटेगा अर्थात् जब वह अध्यात्म का परिच्छेद छोड़ेगा तब आदित्यभाव को प्राप्त हो जायेगा। अतिधन्य वेद कहता है कि वह आदित्यभाव को प्राप्त हुआ मृत्यु को अतिदूर छोड़कर प्रकाशित हो रहा है। परिच्छिन्नभाव को छोड़ने के बाद प्रकाशरूप से स्थिति स्वतः होती है। यों चक्षु और आदित्य की एकता का स्वरूप बताया। विरह से इस एकता की कमी का भान होता है।

रामप्रसाद जब बादल को देखकर काली का स्मरण करते हैं तब आँख से देखने वालों को मत्त लगते हैं। लेकिन भाव से देखने वालों को पता है कि वे मत्त नहीं हैं। मत्त वे हैं जिनको बादल दीखता है। उन्हें बादल इसलिये दीखता है कि वे अविद्या की गहरी शराब पिये बैठे हैं। महाराजा भर्तृहरि लिखते हैं—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम् उन्मत्तभूतं जगत्' मोह अर्थात् अज्ञान की शराब को पीकर प्रमाद को प्राप्त हुए संसार के लोग पागल हैं। ऐसे सांसारिक लोग तुमसे कहते हैं कि 'तुमको बादल में सदाशिव दीखता है तो

तेरी आँख खराब है', उनको यह पता नहीं कि वे खुद पागल हैं। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि 'दुनिया का उपकार करोगे तो तुम पागल हो, पहले घरवालों का उपकार तो कर लो।' उनकी दृष्टि में घरवालों का उपकार नहीं करते, इसलिये तुम पागल हो। कुछ दिन पहले हम काशी में थे। वहाँ का श्रम विभाग का एक बड़ा अफसर हमसे कहने लगा—हमारे यहाँ के एक क्लर्क ने इस्तीफा दिया। जब हम लोगों ने उसे समझाया कि 'तेरी दो-ढाई सौ रुपये महीने की तन्ख्वाह है, तू छोड़कर क्या करेगा ?' तब उसने कहा कि वह नक्सलवादी बन गया है। यद्यपि उसका सिद्धान्त ग़लत है, लेकिन उसने कहा कि वह अपने सिद्धान्त के लिये कार्य करेगा और ज़रूरत हुई तो मर जायेगा। घर गया तो माता-पिता, बहन सब रोने लगे कि 'कल से घर का खर्चा कैसे चलेगा, नौकरी रख ले।' उसने जवाब दिया कि 'सब सुन लो, इस भारतवर्ष के अन्दर कम से कम पचास लाख मातायें ऐसी हैं जिनको यह पता नहीं कि कल का भोजन कहाँ से आयेगा। तुम पचास लाख एकवीं होगी, अकेली नहीं होगी। जब उनको भोजन मिलेगा तब तुमको भी मिलेगा। आज तक तुमने अन्याय का खाया है। इतने लोग भूखे रहे, तुम खाते रहे। आज तक मैंने गलती की है जिसे अब ठीक करने जा रहा हूँ।'

वे जडवादी हैं, इसलिये उनका सिद्धान्त ग़लत है, लेकिन जो ऐसी दृष्टि अर्थात् सर्वत्र एकता की दृष्टि वाला होगा, वह कहेगा कि 'मैं केवल एक सीमित क्षेत्र में कार्य करके असीमित क्षेत्र से दूर रहूँ, यह मेरे लिये सम्भव नहीं है।' संसार के लोग कहेंगे कि 'घरवालों को सम्भालो' वह कहेगा 'क्या सारी सृष्टि के कण-कण

और क्षण-क्षण में मेरे घरवाले नहीं हैं ? जब मैं उनके लिये करता हूँ तो वे कुछ ज़्यादा दूर और ये कुछ कम दूर हैं ?' यह नज़दीक और दूर का दृष्टिकोण है। जब अद्वितीय आत्मबोध के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव हो तब मनुष्य के अन्दर यह ज्ञान पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है और वह इस सीमित मृत्यु को पार कर जाता है। जब तक यह नहीं होता, तब तक सीमित मृत्यु का अतिक्रमण नहीं होता, मृत्यु के पार मनुष्य नहीं जाता, क्योंकि देह और देह-सम्बन्धियों के अन्दर उसका जडता में उत्पन्न होना नहीं जाता।

मोटे दृष्टांत से समझो : कोई आकर तुमको प्रमाण के साथ भी कह दे कि 'मैं पूर्व जन्म में तेरा बाप लगता था, तू अपनी कमाई करके मुझे दे।' लेकिन तुम नहीं दोगे, कहोगे कि 'वह वह जन्म था, यह यह जन्म है।' क्योंकि जन्म बदल गया तो पूर्व जन्म के रिश्तेदारों के साथ सम्बन्ध भी टूट गया। वह दीखते हुए भी कुछ विशेष रिश्ते वाला नज़र नहीं आता। जैसे दूसरे हैं, वैसे वह भी है। इसी प्रकार यदि जड देह को छोड़कर चेतन में उत्पन्न हो गये तो जड के सम्बन्ध तुमको पूर्व जन्म के बाप की तरह नज़र आयेंगे। यदि ऐसी दृष्टि नहीं बनती तो इसका मतलब है कि अभी चेतन के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ। जड के साथ इतना आग्रह रखना ही चेतन से दूर कर देता है। इसलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं कि जब तक देह के अध्यास की निवृत्ति ऐसी ही दृढ नहीं हो जाती जैसी उस देह में अध्यास की सत्ता थी, तब तक यह दृष्टि नहीं बनती।

भगवान् सुरेश्वराचार्य तो बड़ा विचित्र और कुछ बीभत्स-सा दृष्टांत देते हैं—कहते हैं 'वर्चस्के संपरित्यक्ते' प्रातःकाल उठकर

तुमने अपने पेट से वर्चस्क (मल) बाहर निकाल दिया। वह मल तुम्हारे शरीर से दूर होकर क्षण भर भी तुम्हारे अध्यास का कारण नहीं बनता। वहाँ बाधितानुवृत्ति नहीं बनती कि 'मेरा मल है, पता तो लग गया कि दूर हो गया, फिर भी कुछ तो इसकी सुरक्षा कर दूँ।' जैसे प्रातःकाल मल शरीर से निकला, उसके प्रति सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही अपने देह और देह-सम्बन्धियों के प्रति निवृत्ति हो जाती है जब अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। यह स्थिति उसके अद्वितीय आत्मज्ञान की स्थिति है, यही मृत्यु का अतिक्रमण है। श्रुति ने ज़्यादा सम्भव दृष्टांत दिया है, लेकिन अनुभव से इतना नज़दीक नहीं है। श्रुति की अपेक्षा भगवान् सुरेश्वराचार्य घर के नज़दीक की चीज़ सामने ले आते हैं। श्रुति कहती है कि जैसे साँप अपनी केंचुली छोड़ देता है, अब उस पर किसी का पैर पड़े या वह किसी वेद की किताब में रख दी जाये (किताबों में साँप की केंचुली रखने से उसमें कीड़े नहीं पड़ते), सर्प को उन दोनों अवस्थाओं में कुछ प्रतीति नहीं है। चूँकि हम लोग साँप की केंचुली को कुछ नहीं समझते इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने घर का ही दृष्टांत दे दिया;जो तुम छोड़ देते हो उसमें पहले तुम्हें मैं-बुद्धि थी पर बाहर निकलते ही मैं-बुद्धि पूर्णतः निवृत्त हो जाती है, याद भी नहीं रहता कि 'अब तक इसमें मुझे मैं-बुद्धि थी।' ऐसे सारा द्वैत जगत् तत्त्वबोध से छूट जाता है। अथवा वृक्ष का पत्ता जैसे वृक्ष से झड़ गया तो अब वह चाहे किसी राजा की अट्टालिका पर लगे या किसी चाण्डाल की नाली में जा पड़े, वृक्ष को कुछ नहीं होता। इसी प्रकार की भावना जब अपनी देह के प्रति हो जाये, तब मनुष्य चेतन में उत्पन्न होता है। 'स्वशरीरं

शवमिव परित्यजेत्' देवर्षि नारद लिखते हैं कि वह अपने शरीर को जीवित ही शव की तरह समझे। यही सबसे उत्तम तप है। जैसी दृष्टि साँप छोड़ी हुई केंचुली के प्रति करता है या वृक्ष अपने झड़े हुए पत्ते के प्रति करता है, ऐसी ही दृष्टि अपने शरीर के प्रति करनी है। यह तभी होती है जब विरह की तीव्रता होती है। तभी मनुष्य को देह का भान नहीं रहता। देह उसके लिये झड़े हुए पत्ते की तरह हो जाता है। यहाँ तक पहुँचना पड़ता है।

ऐसे व्यक्ति को लोग कहेंगे कि पागल हो गया है। जैसे रामप्रसाद को कहते थे क्योंकि उसे बादल देखकर काली याद आती थी। सम्भवतः कभी-कभी बादल दीखते हों, तब उनको लोग पागल समझते होंगे, लेकिन हम शैवों की दशा तो उनसे भी गई-बीती है क्योंकि

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः।
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।'

आचार्य पुष्पदंत कहते हैं कि भगवान् शंकर की आठ मूर्तियाँ हैं—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा अर्थात् मैं खुद। कोई भी चीज़ देखोगे तो सूर्य और चन्द्र के प्रकाश में देखोगे। इसी प्रकार भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश से उत्पन्न जो-जो चीज़ मुझे दीखेगी सर्वत्र वही दीख रहा है। सब तरफ से आँखें बन्द करके बैठ जाया करें, उस समय शिव नहीं दीखता होगा ? पुष्पदंत कहते हैं कि ध्यान करने वाला भी शिव ही है। वह तो तद्रूप ही दीखता है। कोई कहे कि 'ज़रा विचार कम किया करो। कपड़ा देखो तो कपड़ा धागे से, धागा रूई से और

रूई पृथ्वी से बनी और पृथ्वी मिट्टी है—इतना विचार न किया करो। कपड़ा देखकर कपड़ा ही समझा करो, बस। फिर पागल नहीं बनना पड़ेगा।' तो आचार्य पुष्पदंत कहते हैं कि मेरा मर्ज़ शैवों से भी आगे चला गया

'परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणाता बिभ्रतु गिरम्।
न विद्मस्तत् तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।।'

कहते हैं ये सब चीज़ें पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्रमा को आत्मा में परिणत करना भी मुझे परिच्छिन्न विचारधारा दीखती है। वह तत्त्व ही हमारी समझ में नहीं आ पाता जहाँ तुम न हो। कपड़ा देखकर मिट्टी तक चिन्तन करके मुझे तुम नहीं दिखाई देते हो, सीधे ही कपड़ा दिखाई देता है तो सत्, चित् रूप से तुम पहले ही दीख जाते हो। जब इस रूप से तुम्हें देख लिया तो उससे ऐसा चिपट जाता हूँ कि आगे कपड़ा देखने तक की याद नहीं रह जाती।

विचार करो: अपना प्रिय पति पाँच साल बाद विदेश से वापिस आया हो, इन पाँच सालों में प्रिय पत्नी को भी नहीं बुला सका और खुद भी नहीं आ सका। वह जहाज से उतरता है, बड़े प्रेम से पत्नी को देखता रहता है। पीछे से आकर झट आँख बन्द कर दो और पूछो—'पत्नी को देख लिया तो बता उसकी साड़ी किस रंग की है ?' यदि पत्नी से प्रेम है तो उसकी साड़ी नहीं देखी होगी। यद्यपि पत्नी तो वहाँ कपड़ा पहनकर ही आई है, नंगी नहीं आई, लेकिन उस समय विरहजन्य उत्तेजना है, इसलिये उस समय उसके चेहरे को देखने के अन्दर तुम्हारी सारी वृत्तियाँ इतनी एकाग्र हैं कि साड़ी देखते हुए भी नहीं दीखती। आँख बन्द करने वाले

से कहते हो—'साड़ी का पता नहीं, इस समय तो चेहरा ही देखा है।' इसी प्रकार जब भी तुम्हारे सामने कोई पदार्थ आता है तब वह किसी न किसी नामरूप की साड़ी पहनकर आता है लेकिन इतने दीर्घ जन्मों के विरह-ताप से—पति-पत्नी का तो पाँच साल का विरह है, यह अनादि काल का विरह है, उस विरह से—तड़पकर जब तुम अपनी प्रिय संवित् शक्ति की तरफ देखते हो तो क्या उस समय नामरूप की याद रहेगी ? तुमने कपड़ा देखा। लोग समझते हैं कि सामने कपड़ा दीखा, इसे क्या हो गया ? लेकिन उसको तो संवित् की सत्ता-चित्ता दीखी। उसके साथ वह इतना मग्न हो गया है कि नाम-रूप दीखते हुए भी नहीं दीख रहे हैं।

जहाँ विरह नहीं है, विदेश जाकर किसी और के साथ जो कुछ करना है कर-करा लिया है, वह आये, उससे कोई साड़ी का रंग पूछे तो झट बता देगा, क्योंकि विरहजन्य ताप नहीं है। उलटा वह साड़ी को देखकर सोचता है कि 'आज के मौसम में यह नीले रंग की साड़ी पहनकर क्यों आई है ?' उसकी आँख पीछे से कोई बंद करके पूछे कि 'तूने पत्नी को देख लिया, बता उसके चेहरे पर ललाई या पिलाई ज़्यादा आई है ?' कहता है, 'इतने ध्यान से नहीं देखा लेकिन यह बेमौसम की साड़ी पहनकर आई है।' यह विरह और विरह न होने का भेद है। इसी प्रकार जहाँ विरह नहीं है, वहाँ नामरूप पदार्थ दीख रहे हों तो ये सत्, चित् रूप से हैं तो उसकी पत्नी ही लेकिन उसको नाम-रूप की प्रतीति अधिक है, संवित् की प्रतीति कम है।

जहाँ विरह है वहाँ संवित् की प्रतीति है, नामरूप की प्रतीति होते हुए भी नहीं है। बन्धन अवस्था के अन्दर सत् चित् आनंद

दीखता हुआ भी नहीं दीखता जैसा है। मुक्तावस्था के अन्दर नाम-रूप दीखता हुआ भी नहीं दीखता जैसा है। सब मिलकर ही दीखेगा लेकिन किसको ग्रहण करते हो, इसी का भेद है। जब तक नाम-रूप का ग्रहण पूर्ण रूप से नहीं होता है और सत्, चित् का *विचार* करना पड़ता है, तब तक बंधन है। जब सत् चित् का ग्रहण होता है और बड़े परिश्रम से नाम-रूप को लाना पड़ता है, तब मुक्ति की अवस्था है। इसीलिये आचार्य पुष्पदंत ने कहा कि हम तो उस तत्त्व को ही नहीं जानते जो आप न हों। विचार करके हम पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्रमा तक नहीं जाते। ऐसा कोई साधक कहता है कि इन अष्टमूर्तियों के रूप को भी जब हम पार करके वहाँ पहुँचे तो अपने से श्रेष्ठ पुरुष के सामने हम बोल भी नहीं पाते। पूज्य लोग समझाने आये कि किसी तरह से इसे दवाई दो, इसका दिमाग खराब हो गया है, क्योंकि इसे सब जगह एक ही चीज़ दीखती है। इस समय के लिये साधक कहता है कि 'मैं अब उन पूज्यों के सामने क्या बोलूँ ?' मेरी सामर्थ्य नहीं है कि उनको समझ सकूँ। बड़े लोग कहते हैं कि 'दवाई ले लो, बड़े कमज़ोर हो रहे हो।' लेकिन बड़े से बड़ा वैद्य हमारी दवाई कहाँ से करेगा। हम तो विरह की आग में जले हुए हैं। बाहर की आग से जले होते तो बरनोल इत्यादि लगाकर काम बन जाता। यहाँ तो तुम्हारी कोई दवाई नहीं लगने वाली है। जिसको इस सत्, चित् की विरह रूपी अग्नि ने जला दिया है, उसके जितने भी पाप आदि हैं, वे सब इसी तपस्या से क्षीण हो जाते हैं। विरहाग्नि में जलना बड़ी जबरदस्त तपस्या है, क्योंकि विरह का बोध होना ही कठिन है।

विरह-बोध की भिन्न-भिन्न अवस्थायें शास्त्रों में बताई हैं। शुरू-शुरू में विरह का बोध हल्का होता है। जब प्रिय चला गया तब थोड़ा-थोड़ा विरह का बोध होता है। विरह की प्रथम अवस्था में खाली आँख की पलकें गीली हो जाती हैं, गाल लाल हो जाते हैं और मनुष्य की नाक के अन्दर पानी भर गया लगता है। जब विरह की उससे तीक्ष्ण अवस्था होती है तब मनुष्य की बोली नहीं निकलती। ये साधक की भिन्न-भिन्न अवस्थायें इसलिये बताते हैं जिससे पता लगे कि हमारे अन्दर कितनी विरहाग्नि जल रही है। आँख के अन्दर घुमड़-घुमड़ कर पानी आता है, निकलता नहीं है लेकिन आँख से सब चीज़ें धुँधली दीखती हैं, नाम-रूप क्षीण होने लगते हैं। दीखता तो है कि कुछ आया लेकिन चेहरे में जितनी सफाई होनी चाहिये, उतनी नहीं है। प्रथम में तो पलकें गीली हैं, चीज़ दीखती है, नाम-रूप दीखता है लेकिन कुछ गीलापन आया हुआ है कि 'हाय ! नाम-रूप देखा, इसके अन्दर सच्चिदानंदरूपता नहीं दीखी।' नतीजा यह होता है कि शरीर के अन्दर खून दौड़ जाता है। मनुष्य को कोई चोट लगती है अथवा क्रोध में या भय में भी खून दौड़ता है, अपमान में भी गाल लाल हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हमको नाम रूप दीखे तो पलकें गीली हुईं कि 'सच्चिदानंद की तरफ ध्यान नहीं गया', तो चोट लगी कि यह क्या हो गया। मेरे सत् चित् आनंद रूप को नाम रूप ने ढँक लिया।

फिर आगे की अवस्था में निरुद्धता, आँख में घुमड़-घुमड़ कर बादल आ रहे हैं, इसलिये नाम-रूप दीखता है लेकिन उसमें स्पष्टता नहीं आती, कुछ धुँधला-धुँधला नज़र आता है। मुँह से जब बोलने लगता है तो गला गद्गद् हो जाता है। क्रियाओं को

जब वह प्रकट करने जाता है तब क्रियायें पूरी तरह से प्रकट नहीं होतीं, क्योंकि नाम-रूप की तरफ वृत्ति ले जाती है, उसको वहाँ सत्, चित्, आनंद की प्रतीति हो गई लगती है इसलिये क्रिया में आता है कि; 'क्या कर रहा हूँ' क्योंकि द्वितीयता आ रही है। 'ह्रिया सद्यो गूढः' दस आदमियों के बीच बैठे हो। पत्नी बहुत दिनों से बाहर गई हुई है, उसकी याद आ रही है। आँखें भी गीली हैं, दुःख के मारे गला रुँध गया है लेकिन शरम आती है कि 'लोग क्या कहेंगे कि पत्नी की याद आ गई।' इसी प्रकार यहाँ पदार्थ साफ नहीं दीखता, क्रिया ठीक नहीं होती तो लोग कहते हैं कि 'तुझे क्या हो गया है, तू खोया-खोया रहता है ?' ह्री नाम लज्जा का है। उसको शरम आती है, वह झट अपने को छिपाना चाहता है। कहता है—'कुछ नहीं हुआ।' वह कैसे कहे कि उस सत् चित् आनंद की याद के कारण, संवित् शक्ति के कारण सब चीज़ें धुँधली हो रही हैं। इसलिये शरम आ जाती है। लेकिन उस लज्जा को उसने अपने अन्दर रोका, उसको न सम्भालने के कारण शरीर काँपता नज़र आता है। दूसरे लोग कहते हैं कि इसे बुखार हो गया, लेकिन कुछ नहीं हुआ, संवित् शक्ति की तरफ उसकी नज़र जो चली गई, उसके कारण उसको जो शरम आई और अन्दर ही अन्दर रोकने का प्रयत्न किया, नहीं रोक पाया तो शरीर के कम्पनरूप में उदय हो गया। जैसे यदि अकस्मात् शरीर पर ठण्डा पानी डाल दो और सहन न हो तो शरीर काँप जाता है।

उससे भी आगे अवस्था बढ़ती है—अब तक तो कुछ रोक थी। तृतीय अवस्था में जाता है तो अब उससे आँख ही नहीं खुल रही है। पहले में धुँधला दीख रहा था। अब तो उसकी देखने

की भी सामर्थ्य नहीं। यदि आँख खुलती भी है तो उससे कुछ नहीं दीखता। पहले तो नाम-रूप कीं तरफ आँख खुलती ही नहीं, वहाँ दीखती ही सच्चिदानंदरूपता है। कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर पाती। लोग कहते हैं कि उसकी समाधि हो रही है लेकिन उसको कुछ नहीं हो रहा है। न उसकी समाधि है और न संसार ही दीख रहा है। उसकी अवस्था को देखकर योगी ने एक 'प्रत्याहार' शब्द पकड़ा। योगी ध्यान के अन्दर इन्द्रियों को विषयों से खींचता है। यह ज्ञानी का मार्ग नहीं है क्योंकि ज्ञानी इन्द्रियों को *खींचता* नहीं। साधारण आदमी हो तो वहाँ विषय देख ले, लेकिन उसे तो वहाँ केवल संवित् दीखती है। उसके आँसू ऐसे बहते हैं मानो परनाले बह रहे हों। भगवान् भाष्यकार तो यहाँ तक लिखते हैं कि उसके गालों पर बह रहे आँसुओं को पानी का झरना समझकर शकुनि (एक छोटा पक्षी) वहाँ बैठकर पानी पीता रहता है ! यह उसकी परिपक्व अवस्था है।

अंत में उसके शरीर से पसीना निकलता है। पहले केवल कम्पन था। यदि किसी कारण से अथवा बल से उसको संसार के विषयों की तरफ लाने का प्रयत्न भी किया जाये तो शरीर से पसीना छूटता है। वह स्वयं तो विषय नहीं कर पाता। जब इस प्रकार से विरहाग्नि मनुष्य को जलाती है, जब वह मुमुक्षा आती है तब संसारी लोगों की दृष्टि में वह उन्मत्त है। अब वह सत्य को देखता है या मिथ्या को, क्या सत्य है क्या मिथ्या है, इसका निर्णय कौन करे ? वोटों से निर्णय कराओगे तो नाम-रूप को देखने वाले ही जीतेंगे क्योंकि उनकी संख्या बहुत ज़्यादा है। इसलिये भगवान् ने पहले ही गीता में कह दिया कि वोटों में मत

जाना। वहाँ भगवान् ने बड़ा अनुपात बताया है–

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।' (७-३)

हज़ारों मनुष्यों के अन्दर कोई एक तो इधर प्रवृत्ति करता है। इसलिये पहले ही अत्यल्प मत तो हमारा हो गया, क्योंकि इस रास्ते पर चलने वाला कोई नहीं है। जो इस रास्ते चल पड़ा है, वह भी देहाध्यास को न छोड़ने के कारण, उसमें बँधे रहने के कारण तत्त्व से मुझे नहीं जानता। चूँकि वह तत्त्व से मुझे नहीं जानता, इसलिये वह भी कहेगा, और सब भी उसे उपदेश देंगे कि बीच में पड़ाव डालो, क्योंकि वे खुद बीच से आगे नहीं जा पाते। दूसरे भी कहते हैं कि 'इतने आगे न जाओ, इहलोक और परलोक दोनों को साध लो।' भगवान् कहते हैं कि कोई ही मुझे समझता है अर्थात् वास्तविक मैं क्या हूँ, इसे समझ पाता है।

जब इस प्रकार विरहाग्नि की पूर्णता में रात्रि बिताता है, तब प्रातःकाल सूर्य का उदय होता है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'भिन्नाविव समीक्ष्येते देवतैकैव सा सती।
उपकार्योपकारित्वसम्बन्धेनेतरेतरम्।
प्रतिष्ठितौ तावध्यात्मे चक्षुष्यादित्य एव च।।'

एक ही देवता चक्षु और आदित्य में भिन्नरूप से प्रतीत होता है। जब तक मृत्युरूप है तब तक चक्षु में परिच्छिन्न और जब मृत्यु का अतिक्रमण किया तब आदित्यरूप से है। इसी प्रकार जब ध्यान की परिपूर्णता आती है तब चक्षु की आदित्यरूप में स्थिति

हो जाती है, अब चक्षुदृष्टि नहीं रहती, केवल व्यापक ही दृष्टि रह जाती है। यह कैसे हो अथवा इसकी स्थिति कैसे हो? जिसके अन्दर प्रेम का उदय हो गया वह उत्साह से यह भावनात्मक दृष्टि बना सकता है, जैसे जिसके अन्दर ज्ञान का उदय हो जाये वह निश्चयात्मक व्यापक दृष्टि बना लेता है। मन की वृत्ति से भी आह्लाद की प्राप्ति हो जाती है जब मन टिक जाता है।

जिसका मन न टिके उसको श्रुति ने दूसरा साधन बताया। वह उपासना करे 'चक्षोः सूर्यो अजायत'।

जो चक्षु और आदित्य की उपासना भी न कर सके, वह क्या करे ? तीसरा साधन बताया 'श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च' प्राण और वायु की एकता का साधन करे अर्थात् प्राण और वायु को एक करे। वेद कहता है 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।' हे वायु ! तुझे नमस्कार है क्योंकि तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है, कल्पना का ब्रह्म नहीं है। स्पष्ट देखते हैं कि जिस समय तू शरीर में प्रवाह किये हुए रहता है तब तक यह चेतन है और तू गया तो यह शरीर जड हो जाता है। इसलिये वायु प्रत्यक्ष ब्रह्म है।' यह वायु श्रोत्र से उत्पन्न होता है। इसके द्वारा बता दिया कि किस प्रकार वायु और प्राण की एकता है और प्राण के नियंत्रण से परमात्मा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

हठयोग केवल प्राणों का नियंत्रण करता है। वेदांत की दृष्टि से योग की साधना करने वाला प्राणरूप अध्यात्म और वायु-रूप से बाह्य समष्टि—दोनों की एकता को सामने रखते हुए फिर

प्राणायाम का अभ्यास करता है। उसके साथ श्रोत्र अर्थात् इस प्राण और वायु को या तो सुषुम्ना के द्वारा धीरे-धीरे वीणा इत्यादि स्वरों को सुनने में या प्रणव को सुनने में लगाता है। अध्यात्म श्रोत्र ही बाह्य वायु और प्राण है। इसलिये हठयोगी के और वेदांती के प्राण-नियंत्रण में बहुत फ़र्क है। वेदांती के प्राण-नियंत्रण को बताते हुए अनुभवपंचक में कहा है

> 'अर्द्धोद्घाटितलोचनं स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणं
> चन्द्रार्कावपि लीनताम् उपगतौ निःस्पन्दभावान्तरे।
> ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परं
> तत्त्वं तत्पदमेति।।'

उसकी आँखें आधी बन्द और आधी खुली हैं। यही बात भगवान् ने गीता में कही है : आँख पूरी बंद करो या खोलो तो या विषयदर्शन होगा या विषय-लोप से अंधेरा हो जायेगा। इसलिये कहा मन को स्थिर करके नासिका के अग्रभाग में उस दृष्टि को स्थिर करके रखे। चन्द्र और सूर्य दोनों को लीन किये हुए अर्थात् प्राण और अपान दोनों लीन करके केवल कुंभक का अभ्यास करते हुए कर्त्ता, कर्म, करण; ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीन प्रकार के स्पन्दों के भाव के द्वारा एक देखता हुआ परम तत्त्व को पाता है। उस ज्योति का स्वरूप अशेष है अर्थात् बाहर की किसी ज्योति से मिलता ही नहीं है, बिल्कुल दूसरे प्रकार का है। संसार की सारी ज्योतियाँ अग्निरूप हैं, इसलिये गर्मी पैदा करती हैं। आन्तर ज्योति (आत्म-ज्योति) उसके ठीक विपरीत ठण्डक लाती है, शीतलता उत्पन्न करती है। वही परम तत्त्व है जिसको वह प्राप्त करता है। आचार्य कहते हैं कि यह ज़्यादा बोलने की चीज़ नहीं है, अनुभव के द्वारा करने

की है। इसलिये वायु और प्राण का ओंकार या दशनाद के साथ सम्बन्ध करके फिर चक्षु और आदित्य की एकता पर आये। जिसमें प्रेम भी न हो, उसके लिये यह अभ्यास बताया।

यह भी न कर सके तो क्या करे ? 'मुखादग्निरजायत'—मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। उसके लिये बताया कि मुख से उत्पन्न होने वाली अध्यात्मरूप अग्नि, अर्थात् ज्ञान उत्पन्न करने वाले शास्त्रीय मंत्रों का जप करे। यहाँ क्रम से एक-एक साधन बता दिया। यदि मन से आह्लाद में स्थिर हो गया तो बहुत ठीक। वह नहीं हुआ तो उपासना और प्रेम से; वह भी नहीं हुआ तो योगाभ्यास, और वह भी नहीं हुआ तो कम से कम जप अर्थात् वेद के उन मंत्रों का बार-बार जप, जिसके द्वारा अंतःकरण शुद्ध होकर धीरे-धीरे एक-एक योग्यता को प्राप्त करता जाये। यह संक्षेप में साधना का प्रकार बता दिया।

संक्षेप में बता देते हैं कि अब तक पुरुषसूक्त के विचार में क्या विषय आये—पहले चार मंत्रों में परमात्मा के विभिन्न अनुत्तर आदि रूपों को बताया। फिर आगे पंचम मंत्र से सृष्टि-प्रक्रिया प्रारंभ हुई। पुरुषसूक्त की प्रक्रिया वस्तुतः क्या है ? जिसे यहाँ भगवान् सुरेश्वराचार्य ने 'उपकार्योपकारी भाव' कहा। यदि हमको यह पता लग जाता है कि जगत् का कारण क्या है, तो अभेद-दृष्टि बनती है। सृष्टि की उत्पत्ति बताने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। सृष्टि परमात्मा के अतिरिक्त और कहीं से उत्पन्न नहीं हुई, यह बताने में तात्पर्य है। इससे मनुष्य का भाव परमात्मा की तरफ जायेगा। परमात्मा को सब का कारण मानेगा तो परमात्मा को कभी छोड़ नहीं सकेगा। जैसा कि हमारे एक प्रिय मित्र कहा करते

हैं कि 'हमें इस बात का पता है कि संसार की सब चीज़ें पैसे से मिलती हैं, इसलिये हम पैसा कमाने में लगे हुए हैं। खाना, कपड़ा, रहना सब पैसे से मिल जाता है।' यहाँ वे चूँकि पैसे को ही सबका कारण जानते हैं, इसलिये उसी में लगे हुए हैं। यदि कल से यह नियम हो जाये कि पैसे से बाजार में चीज़ें नहीं मिलेंगी—जैसे कि लियाकत अली ने कर दिया था कि एक हज़ार के नोट से बाजार में चीज़ें नहीं मिलेंगी—तो उस समय हज़ार के नोट चार सौ में बिकते देखे गये और अंत में उन्हें लोग जलाते भी देखे गये। पदार्थों की प्राप्ति में पैसा कारण है इसलिये पैसे की तरफ लगे हैं। ऐसे ही जब यह पता लगेगा कि परमार्थ मार्ग के अन्दर चलने पर सब चीज़ों का कारण केवल परमात्मा ही है, उसकी कृपा से ही सब कुछ मिलता है और उसकी कृपा के बिना कुछ नहीं, तब परमात्मा कैसे छूटेगा ! इतना याद रखना कि तुम्हारा पैसे नाम का सिक्का संसार में भी खोटा है। यहाँ के रुपये जापान में नहीं चलते और जापान के रुपये यहाँ नहीं चलते, इसलिये खोटे ही हुए। इतना ही नहीं, एक पण्डित जी विदेश गये और वहाँ से डालर नाम का रुपया लेकर आ रहे थे तो पुलिस वालों ने उन्हें पकड़ लिया और जेल में बन्द कर दिया। पैसे नाम का पदार्थ एक देश से दूसरे देश में नहीं चलता, उलटा कभी लेकर आओ तो दण्डे खाने पड़ते हैं। परमात्मा ऐसा नहीं है। उसकी कृपा सब देश, सब काल में चलती है और उसकी कृपा के बदले में कभी दण्डे नहीं खाने पड़ते। वही जगत् का वास्तविक कारण है, बाकी सब कारण मिथ्या हैं।

यहाँ जगत् की कारणता पुरुष नाम से इसलिये प्रतिपादित

की कि वही एकमात्र कारण है। यह निश्चय हो जाने पर दूसरी चीज़ों से निवृत्ति हो जाती है। जब लोग यात्रा में जाते हैं तो कोई कहता है कि 'कपड़े ले लो', कोई कहता है कि 'आटा दाल साथ बाँध लो।' जो आधुनिक होता है, वह कहता है कि 'आजकल सब चीज़ें सब जगह मिल जाती हैं, पैसा साथ में ले लो।' एक बार हम उनके चक्कर में आये हुए हैं, तभी हम उनके इस पैसे नाम के पदार्थ का विश्वास नहीं करते। एक बार यात्रा में एक जगह फँस गये थे, सामने और पीछे दोनों तरफ पहाड़ गिर गये थे। हम लोग बीच में ही रह गये। उस समय हमारे साथ ऐसे-ऐसे लोग थे जिनके पास दस-पंद्रह हज़ार रुपये थे। वहाँ आटा लिया तो सब मिट्टी से मिला हुआ था। बड़े-बड़े लोग उसी को खा रहे थे। हमने कहा कि 'तुम लोग पैसा लाये हो, कोई अच्छी पूड़ियाँ खिलाओ। हम लोग कहीं जाते हैं तो मठरी-सत्तू साथ रखते हैं, इससे तो वही अच्छा था। हम तुम्हारी बात मानकर धोखा खा गये।' संसार के पदार्थों का यह रूप है। फिर हमने उनसे कहा कि 'हमें तो यह मिट्टी मिला आटा खाना नहीं है।' उन्होंने कहा कि 'फिर क्या होगा ?' हमने कहा 'यह तो पता नहीं लेकिन यह निश्चित है कि इसे नहीं खायेंगे।' घण्टे-दो घण्टे में हम घूमने निकले। गाँव के लोग वहाँ आ गये। बाकी सिक्के तो कहीं चलते हैं, कहीं नहीं चलते लेकिन परमात्मा का सिक्का सब जगह चलता है ! उन लोगों ने कुछ परमात्मविषयक प्रश्न किये। थोड़ी देर वहाँ सत्संग हुआ तब कोई खीर ले आया और कोई मडुवा नाम के अनाज की बढ़िया रोटी ले आया। कुछ हमने खाई और कुछ जो बेचारे हमारे साथ थे उनके लिये लाये, उन्होंने खाई। साथ के

लोग पूछने लगे कि 'कहाँ से लाये, हम भी जा कर ले आयें।' हमने कहा कि वहाँ तुम्हारे पैसे से माल नहीं मिलता, वहाँ तुम्हारा वाला सिक्का नहीं चलेगा।

कई बार ऐसा अनुभव होता है। एक बार कुल्लू में पहुँचे। महादेव के दर्शन करने गये, मण्डली के सब महात्मा भी साथ थे। हमने कहा कि दूध ले आओ। महात्मा लोग गये और घूमकर वापिस आ गये, कहा कि 'यहाँ के लोग कहते हैं कि हम ही लोगों के लिये दूध नहीं है, तुम्हें कहाँ से दें ?' हमने कहा—अब भगवान् का भजन करो। रात्रि के नौ बजे थे। वहाँ बहुत-से लोग आ गये। दस-साढ़े दस बजे तक सत्संग चलता रहा। फिर लोगों ने कहा कि 'कुछ सेवा बताओ।' हमने कहा कि दूध मिल जाता तो अच्छा था। कहने लगे कि 'दूध की कोई कमी नहीं है।' हमने कहा कि हमारे महात्मा सब जगह घूम आये, इन्हें दूध कहीं नहीं मिला। कहने लगे कि 'ये दूध *खरीदने* गये थे। दूध बेचने को नहीं है, पीने को तो है ही।' सब महात्माओं के लिये दूध ले आये। महात्मा भी पैसा लेकर जायें तो भूखा रहना पड़े।

लेकिन परमात्मा का सिक्का सब देश, सब काल में चलता है। उसकी कृपा हो तो कहीं पर भी सिवाय आनंद के कुछ नहीं मिलना है और उसकी कृपा नहीं है तो सब कुछ काम आने वाला नहीं है। जहाँ संसार के पदार्थों के द्वारा भी कुछ प्राप्त होता हुआ दीखता है, वहाँ भी पदार्थों की प्राप्ति उससे नहीं होती, परमात्मा की कृपा से ही होती है। लेकिन पदार्थों को देखते हुए हम यह भूल जाते हैं कि किस की कृपा से प्राप्त हुए हैं। नाम-रूप की तरफ दृष्टि चली जाती है कि पदार्थ ने सुख दिया। मडुवे के आटे

ने सुख दिया। उस आटे के पीछे परमात्मा की कृपा-दृष्टि नहीं दीख पाती, इसलिये सुख की पूर्णता नहीं आती। परमात्मा ही जगत् के प्रत्येक पदार्थ के प्रति कारणता वाला है—इस बात को समझने पर अन्य चीज़ों से आस्था हट जायेगी। इसलिये सृष्टि के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है वरन् कारण परमेश्वर को बताने में है।

विराट् पुरुष को बताया। फिर विराट् के अन्दर प्रतिबिम्ब बताया। फिर कहा कि जीवरूप से अतिसृष्टि कैसे होती है और फिर वह सृष्टि पार्थिव शरीरमें कैसे आती है। तत्पश्चात् किस प्रकार से बलिदान के द्वारा ही यह उन्नति हो सकती है, इसलिये यज्ञपुरुष को बताया। उस यज्ञपुरुष के ग्राम्य और आरण्य (प्रवृत्ति और निवृत्ति) दो प्रकार के पशुओं को बताते हुए दो धर्म वाला पशु बताया। इन दोनों की बलि देनी है।

इस बलि को देने का उपाय बताने वाले चारों वेदों की उत्पत्ति सातवें मंत्र में बताई। आठवें मंत्र के अंदर प्रवृत्ति या निवृत्ति वाले के दोनों तरफ से खाने वाले अश्व क्या हैं, और गाय इत्यादि सबका रूप बताया। अज (बकरी), अवि (भेड़) आदि भिन्न प्रकार की सृष्टि कैसी है, कैसा पशु है, इसे बताते हुए कहा कि यह पशु कोई बाह्य नहीं है। नवम मंत्र में बताया कि पुरुष ही वस्तुतः वह पशु है क्योंकि यहाँ पुरुषमेध को बताना है। दसवें और ग्यारहवें मंत्र के अन्दर पुरुष अपनी बलि जिस समाजरूपी बलिवेदी पर देता है उस समाजपुरुष का वर्णन किया। फिर उस वर्णाश्रम पुरुष को बताया जिसमें उसकी पूर्णता आती है। वर्णाश्रम का आधार बलि देना है। अपनी कामनाओं की, इच्छाओं की बलि देने वाला

व्यक्ति वर्णों में आता हे जबकि अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहने वाला अवर्ण अर्थात् शूद्र है। 'मुझे क्या फ़ायदा होगा ?'—इसी को देखकर प्रवृत्त-निवृत्त होने वाले शूद्र हैं। 'समाज-पुरुष को क्या दूँ ?'—इसी से प्रेरित होने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य अर्थात् वर्णी है। शूद्र बनने के अधिकारी सभी हैं, वर्णी बनने में रुकावटें हैं। यह बलि देने के लिये तैयारी कैसे की जाये ?—इसके लिये उपासनाओं का वर्णन संक्षेप में बारहवें मंत्र में किया। साधनमार्ग में धर्म की अपेक्षा रहती है। पुरुषसूक्त के बारह मंत्रों का विचार यहाँ तक हुआ।